

गीता
एक सूत्र में

डॉ. लक्ष्मी नारायण धूत

गीता
एक सूत्र में

डॉ. लक्ष्मी नारायण धूत

गीता

एक सूत्र में

लेखक : डॉ. लक्ष्मीनारायण धूत

संस्करण : 2020

प्रकाशक : पुनीत एडवरटाइजिंग प्राइवेट लिमिटेड
पता : 201/5 श्रीपुरम, ओल्ड पलासिया,
इंदौर- 452018, (म.प्र.) भारत
मोबाइल : +91 99931 99911
ई-मेल : punit@punitadvertising.com
वेबसाइट : https://punitadvertising.com

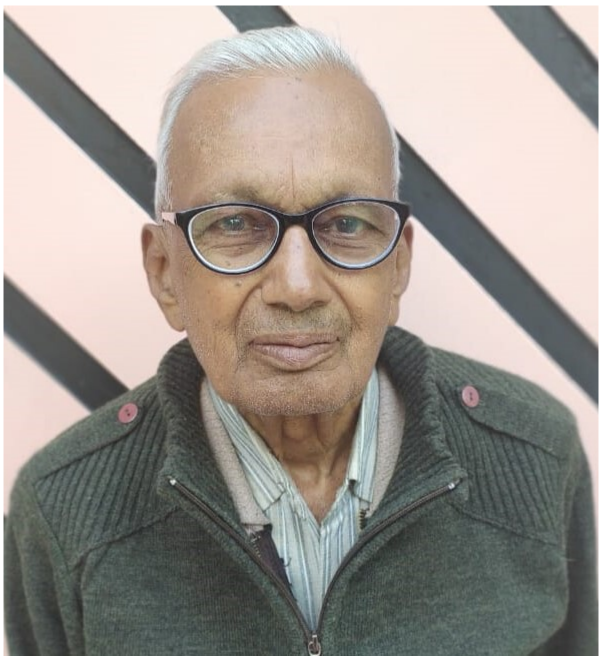
PUNiT
ADVERTISING PVT. LTD.

समर्पित

उन युवाओं को जो श्रीमद्भगवद्गीता जैसे अद्‌भुत ग्रंथ के प्रति उदासीन हैं क्योंकि वह उन्हें वैज्ञानिक सोच से विपरीत अथवा निरर्थक दिखाई देता है। तथा उन प्रौढ़, वृद्धजनों और धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों को जो बच्चों की इस उदासीनता से खिन्न है।

लेखक परिचय

प्रो. लक्ष्मीनारायण धूत



कार्य: लेखक, समाजसेवी, सेवानिवृत्त-प्राचार्य (स्नाकोत्तर महाविद्यालय),
शिक्षा: बी.एस.सी, एम.एस.सी (भौतिकशास्त्र), एम.एस.सी (रसायनशास्त्र), पी.एच.डी.
प्रकाशन: दैनिक भास्कर, नईदुनिया एवं अन्य दैनिक समाचार पत्रों में १५ बड़े लेख, तुलसी मानसभारती, ब्रह्मात्मशक्ति आदि, विभिन्न पत्रिकाओं में प्राचीन आध्यात्मिक ग्रंथों की विज्ञान पोषित विवेचना वाले १०० से अधिक लेख।

हिन्दू धर्म का मूल स्वरुप, महाभारत के पात्रों का आध्यात्मिक स्वरुप, गीता एक सूत्र में, गीता में प्रकृति-पुरुष, प्रकाशित पुस्तकें।

सम्पर्क-
मोबाइल : +91 8871420820

ईमेल: lndhoot @gmail.com
पता: ३ श्रीपुरम, ओल्ड पलासिया, इंदौर, भारत

सामग्रियाँ

प्राक्कथन

भगवद्-वचन रूपी मणियों को बांधने वालासूत्र

गीता पर इस टीका का प्रयोजन है गीता के १८ अध्यायों में निहित उस एक सूत्र को पकड़ने का प्रयास करना जिसमें गीता के ७०० श्लोक मणियों के सदृश्य पिरोए हुए हैं। 'सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मनी गणा एव - यह सारा (जगत) सूत्र में मणियों के सदृश्य मुझ (परमात्मा) में गुथा हुआ है'- भगवान कृष्ण के इन वचनों के अनुरूप उनके वचन भी एक सूत्र में बंधे होने चाहिए, और भगवत गीता में हमें उस सूत्र को ही देखने का प्रयास करना चाहिये। उस सूत्र को बिना जाने भगवान के वचन रूप मणियों को जीवन में धारण करना अत्यंत कठिन जान पड़ता है। गीता को यदि हम अपने जीवन के लिए उपयोगी बनाना चाहते हैं, गीता को जीवन में धारण करना चाहते हैं, तो उस सूत्र में पिरोई हुई मणियों की माला को ही धारण करना होगा।

वस्तुतः गीता विभिन्न विषयों, विचारों अथवा साधनाओं का वर्णन करने वाला संग्रहात्मक ग्रंथ नहीं है। वह 'स्वरुचि भोज' नहीं है कि जिसे जो प्रिय लगे उसे वह चुन ले। गीता एक सूत्र में बंधा एक शास्त्रीय ग्रंथ है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में कहे गए 'संकल्प वाक्य' में उसे योग शास्त्र कहा गया है। किसी ग्रंथ को शास्त्र तभी कहा जाता है जब सर्वप्रथम उसमें कोई समस्या प्रस्तुत की गई हो, फिर समस्या का कारण बताया गया हो और तब उसका सुव्यवस्थित क्रम बद्ध रूप में निवारण प्रस्तुत किया गया हो। इस प्रकार शास्त्रीय ग्रंथ एक सूत्र में बंधा हुआ होता है। गीता शास्त्र है क्योंकि इसमें प्रारंभ में ही एक समस्या स्पष्ट रूप से रख दी गई है। समस्या है कर्तव्य निर्णय में अर्जुन की भ्रम और अनिर्णय की स्थिति। समस्या का कारण था उसकी रागात्मक मोह दृष्टि। श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन की मोह दृष्टि का निवारण जिस प्रकार किया वह हीं क्रमबद्ध रूप में गीता में वर्णित है।

क्रमबद्धता में जो अवरोध दिखते है उसके दो कारण हैं- १. कहीं-कहीं अर्जुन के उप-प्रश्न और श्रीकृष्ण द्वारा उनके समाधान से मुख्य विषय के धाराप्रवाह में तात्कालिक रुप से अवरोध-सा प्रतीत होता है किंतु इन प्रसंगों को अलग करके देखने पर क्रमबद्धता पुनः स्थापित हो जाती है। २. इसके अतिरिक्त भी कहीं-कहीं क्रमबद्धता का अभाव दिखता है किंतु लेखक का यह अनुभव रहा है कि विषय-क्रम में ये अवरोध श्लोकों के अर्थ को ठीक से नहीं समझ पाने तक ही रहते है, ठीक-ठीक अर्थ पकड़ में आने पर क्रमबद्धता अपने आप बन जाती है। वस्तुतः क्रमबद्धता की स्थापना, अर्थ के ठीक होने की समपुष्टि होती है और इस प्रकार प्राप्त हुए अर्थ में ही गीता का वह सूत्र भी दृष्टि में स्पष्ट होने लगता है जिसकी हमें चाहत है।

सूत्र की हमारी तलाश और मुख्य बाधा

गीता के अध्ययन में हमारे लिए तो यह एक विडंबना ही रही कि उस सूत्र की तलाश के लिए उपलब्ध टीकाओं के अध्ययन से हम विशेष लाभ नहीं प्राप्त कर सके बल्कि अधिकांश प्रकरणों में संभ्रम तथा उलझन ही अधिक बढ़ी। वस्तुतः ऐसा लगा कि टीकाकार, गीताकार के मंतव्य की तलाश न करते हुए वह स्वयं की पूर्व बना ली गई धारना की पुष्टि करने का ही प्रयास कर रहा है। अतः हमने यहां कुछ श्लोंको की व्याख्या में, अन्य भाष्यों से काफी भिन्न अर्थ किया है। इस संबंध में कुछ गीता प्रेमी मित्रों ने यह प्रश्न उठाया था कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने महात्माओं और विद्वानों को भला वह विसंगतियां क्यों नहीं दिखीं जिन्हें देखकर हम सर्वथा नया अर्थ कर रहे है। इस विषय में हमारा मत है कि गीता की उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन शांकर भाष्य है जिसे उन अवतारी महापुरुष आदि-शंकराचार्य द्वारा प्रणीत माना जाता है जिन्होंने ९वी शताब्दी के प्रारंभ में अकेले ही अपने ज्ञान, बुद्धि-कौशल और अथक परिश्रम से संपूर्ण भारत में भ्रमण करते हुए, उस काल में विकृति को प्राप्त हो चुके बौद्ध धर्म को भारत से उखाड़ फेंक सनातन वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी। उनकी उत्कृष्ट रचनाओ- 'अपरोक्षानुभूति', 'विवेक चूड़ामणि', 'भज गोविंदम', 'दक्षिणामूर्ति', 'सौंदर्य लहरी' तथा अनेक सुंदर स्त्रोतों- से जब हम गीता और उपनिषदों के शांकर भाष्यों की तुलना करते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भाष्य स्वयं भगवान शंकराचार्य द्वारा नहीं किए गए होंगे। इन

भाष्य ग्रंथों में यत्रतत्र ऐसी विसंगतियाँ देखने में आती है जो आदिगुरु के लेखन में हो ही नहीं सकती; कुछ उदाहरण-

१. गीता के श्लोक ३.१७, १८ का यह भाष्य कि ‘आत्मा की अनुभूति कर लेने वाले के लिए कर्तव्य कर्म नहीं है’ (किंतु हे अर्जुन! तूने अभी वह स्थिति प्राप्त नहीं की है इसलिए तुझे कर्तव्य कर्म रूप युद्ध करना है,- श्लोक १९ का भावार्थ);

२. श्लोक ८.२४ से २६ में वर्णित देवयान-पितृयान गतियों का यह विचित्र अर्थ किया गया है कि व्यक्ति को देवयान गति अथवा पितृयान गति की प्राप्ति इस बात से निर्धारित होती है कि उसका देह त्याग किस काल में होता है; यदि वह अग्नि, दिन, शुक्ल-पक्ष, उत्तरायण की कालावधि में शरीर त्यागता है तो इन कालों के अभिमानी देवता उसे अनावर्ती गति प्रदान करते हुए ब्रह्म की उपलब्धि करा देते हैं, और यदि वह धूम, रात्रि, कृष्ण-पक्ष और दक्षिणायन काल में शरीर त्यागता है तो वह संसार में बार-बार जन्म वाली (आवर्ती, पितृयान) गति को प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि इन कलावधियों के अभिमानी देवता जीवात्मा को उक्त मार्गों पर ले जाते हैं;

३. श्लोक ९.३२, ३३ की स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को पाप योनी बताने वाली व्याख्या (जिसे जयदयाल जी गोयन्दका जैसे उनके भक्तों को भी अमान्य करना पड़ा)।

ये गीता के उन अनेक उदाहरणों में से कुछ है जो स्पष्ट ही भगवान शंकर द्वारा प्रणीत नहीं हो सकते।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद में प्राण-रयि की विवेचना के सिलसिले में एक ऋचा १.१३ का यह बेतुका अर्थ मिलता है कि जो दिन में संभोग (स्त्री सहवास) करते हैं वह अपने प्राणो को क्षीण करते हैं और जो रात्रि में सहवास करते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। वस्तुतः विषय प्राण-रयि अर्थात प्रकृति-पुरुष का था जिसके द्वारा मानव जीवन के उद्देश्य की ओर संकेत किया जा रहा था जिसे न समझते हुए किसी अज्ञानी ने उपरोक्त बेढब अर्थ कर दिया दिखता है। उक्त असंगत अर्थ का आधार संभवतः ऋचा में प्रयुक्त ‘प्रस्कन्दन्ति' शब्द रहा होगा जिसका सही अर्थ ‘कूद जाना / पार चले जाना’ न लेते हुए ‘क्षीण कर देते हैं’ यह अर्थ लेकर ऋचा का मनगढ़ंत बेतुका अर्थ कर दिया गया है। ऐसे असम्बद्ध अर्थ भगवान शंकर प्रणीत न होकर संभवत: उनके किसी अपरिपक्व शिष्य द्वारा किये गए होना चाहिये।

ऊपर उद्‌धृत उदाहरण तो उन अनेक प्रकरणों में कुछ ही हैं जो यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होंगे कि यह भाष्य भगवद्‌पाद आदि-शंकराचार्य द्वारा किए हुए नहीं हो सकते। इस संबंध में हमारा भली प्रकार विचारित मत है कि मूलतः व्यैक्तिक साधना वाले बौद्ध धर्म को कालांतर में जब मत के अति उत्साही अनुयायियों द्वारा लौकिक स्वरूप प्रदान किया गया तो भविष्य में देश और समाज के अंतर-बाह्य संतुलन के लिए इसके विनाशकारी परिणामों को भांप कर भगवान शंकर ने भारत से इसके उन्मूलन और सनातन (वैदिक) धर्म की पुनर्स्थापना के ‘हरक्यूलियन टास्क’ में अपने को पूर्णत: समर्पित कर दिया था।

वैदिक ज्ञान की व्याख्या ‘वेदांत’ के रूप में कर उसके प्रचार-प्रसार का कार्य उन्होंने दो स्तरों पर किया। वह स्वयं तो राज्य सभाओ में बौद्ध विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें वेदांत दर्शन स्वीकार करवाने का काम देशभर में भ्रमण करते हुए कर रहे थे और उक्त दर्शन को सनातन धर्म के विद्वानों से भी मान्य कराने का कार्य उन्होंने अपने शिष्यों को सौंपा था। उन दिनों सनातन वैदिक धर्म के मान्य विद्वानों का प्रमुख केंद्र काशी था और इन विद्वानों ने एक परिषद का गठन किया हुआ था जो किसी भी नए दार्शनिक व्याख्या को वेदानुकूल मान्य करने या न करने का निर्णय एक प्रणाली के अंतर्गत करती थी जिसके अनुसार उस दर्शन के प्रणेता को वैदिक ज्ञान के प्रमुख ग्रंथों- प्रमुख उपनिषदों, ब्रह्म सूत्र तथा गीता (इन सब के लिए प्रस्थान -त्रई नाम प्रचलित था) की व्याख्यायें प्रस्तुत करना होती थी। यह कार्य भगवान शंकराचार्य के शिष्यों द्वारा किया गया होना चाहिए। हमारी इस परिकल्पना के दो आधार हैं। - १. केवल भाष्य ग्रंथों में ही कुछ दुरूह श्लोंको की असंगत/बेढब व्याख्यायें देखने को मिलती है जबकि भगवान शंकर की अन्य उपरोक्त (विवेक -चूड़ामणि आदि) रचनाओ में कहीं कोई ऐसी विसंगति दिखाई नहीं देती; २. इन भाष्य ग्रंथों के ‘शांकर भाष्य’ नाम भी हमारे इस दावे की पुष्टि करते है। यदि यह भगवान शंकर द्वारा प्रणीत होते तो वे इन ग्रंथों को और कुछ नामो से विभूषित करते, इनके शंकर-भाष्य नाम नहीं होते। भगवान शंकर के साहित्य के संबंध में उपरोक्त विवेचना करने के पीछे हमारा उद्देश्य यह बतलाना है कि गीता के शांकर-भाष्य को प्रमाणिक मानकर परवर्ती काल में जो अधिकांश भाष्य हुए हैं उनमें शांकर भाष्य को भगवान शंकर की रचना मानकर टीकाकारों ने उन बेढब व्याख्याओं को अपनी टीकाओं में स्थान देकर गीता को दुरूह बना दिया है। विनोबा जैसे सावधान विचारको ने इन व्याख्याओं पर प्रश्न चिन्ह तो लगाये है किन्तु उनकी टीका में भी समुचित समाधान नहीं मिलता, कारण वहाँ ‘एक सूत्र‘ की तलाश नहीं थी। हमने अपने अध्ययन में पाया कि

श्लोंको के भावार्थ को प्रकरण के अनुरूप लेने पर विसंगतियां तो समाप्त हो ही जाती है, भाव की तारतम्यता और विषय की एकसूत्रता बनी रहने से गीता सरल और रुचिकर हो जाती है।

गीता में अनुष्यूत सूत्र का स्वरूप

व्यक्ति समष्टि का एक अंश है और समष्टि (अर्थात संपूर्ण व्यक्त सृष्टि) प्रकृति-पुरुष रूप दो तत्वों से निर्मित है। प्रकृति = जड़ पदार्थ (भौतिक ऊर्जा का ही संघनित रूप), मूलतः ज्ञान-शुन्य; पुरुष तत्त्व = ज्ञान शक्ति , मूलतः क्रिया-शक्ति-शुन्य। किसी वस्तु में प्रकृतिस्थ पुरुष तत्व का मुख्य कार्य उसमें प्रकृति के उपयुक्त अवयवों को जोड़कर (Integrate) क्रम-विकास (Evolution) करना है। उक्त क्रमविकास की कड़ी के रूप में ही वह मनुष्य शरीर में जीवात्मा बनकर पहले मानसिक स्तर पर विकसित होते हुए पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा परामानसिक स्तर को भी प्राप्त कर सकता है। इन स्तरों का परिचय गीता में इन्हें क्रमशः अर्जुन और श्रीकृष्ण के रूप में निरूपित कर के दिया गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं को महेश्वर कहते हुए उक्त परामानसिक स्तर का ही स्थान-स्थान पर परिचय दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि वह स्तर उन्होंने अनेक जन्मों के बाद प्राप्त किया है और इसे प्राप्त करने का लक्ष्य अर्जुन (अर्थात प्रत्येक मनुष्य) को निर्धारित करना चाहिये।

हमारी बुद्धि को तो गीता में इसी सूत्र के दर्शन हुए हैं। प्रस्तुत टीका में हम गीता के अध्याय, विषय और विशिष्ट श्लोकों की जो विवेचना प्रस्तुत करेंगे, उसमें यह सूत्र अधिक विस्तार से प्रकट होकर गीता को हृदयंगम करने में सहायक होगा, ऐसी हमें आशा है।

◆ ◆ ◆

गीता का सार-संदेश

जीवन के क्रम-विकास की एक उच्च कड़ी के रूप में मनुष्य का आविर्भाव हुआ- यह एक ऐसा तथ्य है जो ऋषि-मुनियों ने कई हजार वर्ष पूर्व उद्-घोषित किया और आधुनिक विज्ञान भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस तथ्य की पुष्टि कर चुका है (चार्ल्स डार्विन, १८०९-८२)। संसार के मनीषियों ने माना है कि शारीरिक विकास की दृष्टि से तो मनुष्य को अवश्य ही सर्वोच्चता प्राप्त हो गई है किंतु मनोबौद्धिक और परा मानसिक/ आध्यात्मिक विकास के पथ पर अभी उसे बहुत कुछ प्राप्त करना शेष है। यद्यपि योगी श्री अरविंद ने भविष्य में मनुष्य की आध्यात्मिक प्रजाति के आविर्भाव की भी बात की है किंतु वह तो अभी ' दूर की कौड़ी' प्रतीत होती है। तब तक तो मनुष्य को व्यक्ति स्तर पर ही आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्नशील होना होगा।वस्तुतः संसार में मनीषी और महात्मा इस और आगे बढ़े हैं और उन्होंने उच्च स्थान प्राप्त किए हैं।

गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने उक्त आध्यात्मिक विकास प्राप्त करने के मार्गो को दो संवर्ग में बांटते हुए उनका संक्षिप्त परिचय (श्लोक-३.३) दो निष्ठाओं के रूप में देकर आगे उनकी विवेचना गीता के कई अध्यायों में विस्तारपूर्वक की है। यह दो निष्ठायें/मार्ग है- १. ज्ञान/सांख्य/तप/पातञ्जल योग/विपश्यना आदि; २. कर्मयोग अर्थात निष्काम सेवा / भक्ति अर्थात भगवद् भाव से सेवा। इन दोनों प्रकार के साधन मार्गों की तुलनात्मक विवेचना गीता के अधिकांश अध्यायों में की गई है। किंतु उस विवेचना से पूर्व भगवान ने (अध्ययन-२ में) आधारभूत ज्ञान के रूप में मानवीय व्यक्तित्व के दो भिन्न संरचनात्मक अंशों- देह और देही का अंतर बताते हुए कहा है कि मानव में देह की प्राणिक चेतना तो अन्य सभी प्राणियों की प्राणी चेतना के समान नाशवान ही है किंतु मानव में इस नाशवान चेतना के अतिरिक्त एक अविनाशी चेतन सत्ता का भी आविर्भाव हुआ है जिसे गीता ने 'देही' कहा है और जिसे अब अधिकांश आध्यात्मिक साहित्य में 'जीवत्मा' नाम से संबोधित किया जाता है। इस अविनाशी

सत्ता को 'अमृत' भी कहा गया है। इसे पुनर्जन्म प्रक्रिया के द्वारा उत्तरोत्तर अधिक आध्यात्मिक ज्ञान रूप एकत्व की अनुभूति प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त है। आध्यात्मिक विकास का यह मार्ग केवल मनुष्य/ जीवात्मा को ही उपलब्ध है। जिस मनुष्य में उक्त आध्यात्मिक विकास प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होकर प्रबल से प्रबलतर हो जाती है और उसमें जीवात्मा से उच्चतर एक और चेतन सत्ता भी क्रियाशील होना प्रारंभ होने लगती है जो जीवात्मा को उसके स्व-केंद्रित अहम भाव (अहंकार) से मुक्ति तथा सर्वोत्तम चेतना की अनुभूति की और प्रेरित करती है।

वेदों तथा उपनिषदों में जीवात्मा और इस उच्च चेतन सत्ता को 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया....' वाले प्रसिद्ध मंत्र में वर्णित किया है और गीता ने भी इस आध्यात्मिक विकास को अनेक स्थलों पर कहीं इंगित, कहीं वर्णित, किया है (दृष्टव्य: श्लोक -५.२९; ९.१८; १०.१० तथा ११; १३.२२, १५.१८ एवं इन स्थलों पर टिप्पणियें)।

उपरोक्त वर्णनों / विवेचनों द्वारा श्री कृष्ण ने सत्व गुण में स्थित और शरणागत हुए भक्त अर्जुन को गीता ज्ञान के रूप में जो मार्गदर्शन प्रदान किया है उसका सार यह है कि ऊपर कही गई दोनों प्रकार के आध्यात्मिक निष्ठाओं (मार्गों) में से जहां ज्ञान मार्ग वाली साधनायें अति कठिन और फिसलन भरी भी है (दृष्टव्य: श्लोक ८.२३ से २७ और उनकी विवेचना), क्योंकि इन साधकों का निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति वाला लक्ष्य तब ही सिद्ध हो पाता है जब साधक का 'अहम' ब्रह्म में सर्वथा विलीन हो जाए, जो अत्य इसलिए हो जाता है क्योंकि यह साधक तो ' मुझे ब्रह्म प्राप्ति हो जाए' इस भाव को लेकर ही बहुदा बैठा होता है। दूसरी ओर, भगवत भाव से कर्मयोग (अर्थात भक्ति) मार्ग में साधक को अपने अहम् का सम्पूर्ण विसर्जन नहीं करना होता है, उसे निरंतर भगवद भाव से प्राणियों की सेवा करते हुए अपने अहम को सर्वव्यापी परमात्मा का सेवक बनना होता है (१८.४६)।

हमारी समझ अनुसार गीता का सार-संक्षेप यही है।

◆ ◆ ◆

गीता के अध्यायों की विषय-वस्तु से संगति

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम दुर्योधन की हताशा पूर्ण मनो स्थिति का वर्णन करते हुए इस तथ्य को प्रकाशित किया गया है कि उसकी अपने पक्ष की विजय की आशा केवल भीष्म पितामह पर टिकी थी, यहाँ तक कि गुरु द्रोण के प्रति भी वह आश्वस्त नहीं था। इसके विपरीत अर्जुन अपने पक्ष की विजय के प्रति पूर्ण आश्वस्त था और वह भगवान श्रीकृष्ण से अपने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य इस हेतु से खड़ा करने के लिए कहता है ताकि वह अपने पक्ष की विजय सुनिश्चित करने हेतु यह निर्णय करलें कि स्वयं उसे शत्रु पक्ष के किस-किस योद्धा से युद्ध करना चाहिए। किंतु निरीक्षण करने पर जब उसे यह स्पष्ट अहसास होता है कि पितामह भीष्म और गुरु द्रोण जो कि कौरव सेना में क्रमशः सेनापति और उप सेनापति के रूप में उपस्थित थे, उनसे तो उसे स्वयं ही युद्ध करके उनका हनन करना होगा, और यद्यपि उस गुरुतर कार्य की चुनौती से तो वह किंचित भी विचलित नहीं था क्योंकि इससे पूर्व कौरवों द्वारा विराट राज्य पर किए गए आक्रमण के समय भीष्म और गुरु द्रोण को भी वह हरा चुका था, किंतु इस (महाभारत) युद्ध में तो उन्हें केवल परास्त नहीं वरन् उनका हनन किया जाना आवश्यक था क्योंकि इसके बिना युद्ध का निर्णायक परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इस परिस्थिति ने अर्जुन को जिस प्रकार युद्ध से विरत होकर, संन्यास साधना द्वारा आध्यात्मिक पथ अपना लेने के विचार की ओर प्रेरित किया उसका वर्णन प्रथम अध्याय का विषय है।

अर्जुन को इस मनोदशा से उबारकर समष्टि-हित वाले निष्काम कर्म रूप सच्चे आध्यात्मिक पथ का जो निर्देश भगवान श्रीकृष्ण ने दिया है उसकी भूमिका अध्याय-२ में वर्णित है। इस हेतु से भगवान ने सर्वप्रथम उसे इस आध्यात्मिक तथ्य से अवगत कराया है कि मनुष्य स्तर पर जीव, जीवात्मा के रूप में, अमरणशील स्थिति ग्रहण

कर लेता है जो पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा उत्तरोत्तर ज्ञान संवर्धन करता हुआ मानसिक और आध्यात्मिक विकास पथ पर आगे बढ़ सकता है।

इस हेतु से उसे मानवीय व्यक्तित्व के चारों स्तरों- शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का ज्ञान (श्लोक-२.२२ से २५ द्वारा) कराते हुए, साधना पथ के मुख्य दो मार्गों का परिचय कराया गया है- १. उस काल में प्रमुख रूप से प्रचलित संन्यास पथ जिसके अंतर्गत साधक को कर्तव्य कर्मों का भी त्याग करते हुए ध्यान/तप द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करना होता है। २. कर्मयोग/निष्काम कर्मों द्वारा उसे अपनी स्वार्थवृत्ति का क्षमन करके जीवन को समष्टिनिष्ठ बनाना होता है। इस दूसरी साधना को ही गीता में कर्मयोग कहा गया है।

अध्याय-३ में भगवान ने कर्मयोग की विवेचना यज्ञ के रूपक द्वारा की है। उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्ति और विकास का वर्णन पंचयज्ञों के रूपक में वर्णित है। गीता ने उसी रूपक का विस्तार करते हुए व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के मार्ग का निरूपण भी यज्ञ के रूपक के अंतर्गत वर्णित किया है। निस्वार्थ कर्म के रूप में यज्ञ को परिभाषित करते हुए भगवान कृष्ण ने यज्ञ रूप निस्वार्थ सेवा द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों का उत्थान होना सुनिश्चित बताया है। इस हेतु से यज्ञ को सृष्टि विकास का मूल नियम बताते हुए मनुष्य को भी उस नियम का अनुपालन करने से ही सुख-समृद्धि की प्राप्ति और आध्यात्मिक उन्नति होने की बात कही गई है।

अध्याय-४ के प्रथम श्लोक में सूर्य द्वारा स्वयं जलकर सृष्टि विकास के कार्य को संपन्न करने का प्राथमिक उदाहरण सहित इसी परंपरा के अन्य उदाहरण देकर 'यज्ञ' को सृष्टि के मूल नियम के रूप में प्रतिपादित किया है। आगे कहा गया है कि जब-जब भी मनुष्य लोक में इस नियम का अधिक उल्लंघन होने से अधर्म बढ़कर सृष्टि विकास में बाधा खड़ी हो जाती है तो 'मैं' अर्थात् परमात्म सत्ता अवतार ग्रहण करके धर्म रूप इस नियम की पुनर्स्थापना कर देता हूँ। भगवान ने यज्ञ रूप कर्मों की दूसरी विशेषता यह बताई कि इन कर्मों से कर्म-बंधन नहीं होता वरन् कर्ता आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करता जाता है। इस हेतु से भगवान ने व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की स्थिति के अनुरूप १२ प्रकार के यज्ञों का क्रम वर्णित किया है। इन यज्ञ रूप कर्मों के द्वारा मनुष्य का जीवन स्वार्थ वृत्ति से मुक्त होता हुआ ज्ञान प्राप्ति के योग्य होता जाता है। (श्लोक-२४ से ३३) परमात्म तत्व का ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति पूर्व कृत कर्मों के फल से भी मुक्त हो जाता है। पूर्व में उसने कितने भी पाप

किए हों वह ज्ञान रुप नौका द्वारा उस पाप समुद्र से तर जाता है (उन पाप कर्मों के फल से भी मुक्त हो जाता है) वस्तुतः परमात्मा ज्ञान की प्राप्ति में मुख्य बाधा व्यक्ति की स्वार्थ वृत्ति है और कर्मयोग के समुचित अभ्यास से जब वह भस्मसात हो जाती है तो वह योग सिद्ध व्यक्ति उस ज्ञान को प्राप्त हो जाता है (श्लोक-३७,३८)।

भगवान से यज्ञ रूप कर्मों द्वारा ज्ञान प्राप्ति की बात सुनकर अर्जुन पुनः संशय में पड़ जाता है क्योंकि संन्यासियों से तो उसने यही सुन रखा था कि कर्म का रास्ता व्यक्ति को संसार में उलझाता है और संन्यास मार्ग की ज्ञान साधना उसे मुक्ति दिलाती है। अतः वह भगवान से स्पष्टीकरण हेतु प्रार्थना करता है।

पांचवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन के इस भ्रम को यह कहकर दूर किया कि सकाम कर्म ही व्यक्ति की मुक्ति के मार्ग में रोड़े बनते हैं जबकि यज्ञ रूप निष्काम कर्म तो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्गों की अंतिम उपलब्धि तो एक ही है कि साधक सब में परमात्मा की उपस्थिति जानकर सब के प्रति उसमें करुणा और प्रेम जाग्रत हो जाए किन्तु यह उपलब्धि कर्मयोग मार्ग द्वारा निश्चित रूप से शीघ्र प्राप्त होती है क्योंकि निस्वार्थ कर्म साधना द्वारा स्वार्थ वृत्ति का शमन होना स्वयं सिद्ध है। दूसरी ओर, सांख्य/संन्यास साधना द्वारा यह परिणाम प्राप्त होने में कुछ मूलभूत कठिनाइयां हैं। एक तो, कर्मयोग में सिद्ध हुए बिना संन्यास में सिद्धि प्राप्त करना संभव ही नहीं है(श्लोक-५.६)। इसके अतिरिक्त संन्यास की सिद्धि के मापदंड अत्यंत कठिन है। उदाहरणार्थ, इस मार्ग के साधक को उस प्रकार की समदर्शी अवस्था प्राप्त करना आवश्यक होती है जिसके लिए कहा गया है कि विद्वान ब्राह्मण और चांडाल के प्रति, तथा गऊ, हाथी और कुत्ते के प्रति भी उसकी दृष्टि सम ही रहती है(श्लोक-५.१८)। कर्मयोग में यह कठिनाई नहीं है। कर्मयोग के साधक को सभी के प्रति उनकी यथा योग्य सेवा का लक्ष्य रखना होता है।

छठे अध्याय में भगवान ने ध्यान साधना जो कि संन्यास मार्ग की सर्वाधिक लोकप्रिय साधना है, उसका पूरा विगत वार वर्णन किया है। किंतु यहाँ भी प्रारंभ में ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि इस साधना में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को कर्म योग साधना द्वारा अपनी स्वार्थ वृत्तियों का शमन करके आत्म शुद्धि कर लेना आवश्यक है(श्लोक-३,४)। यदि वह कर्मयोग की साधना में आरूढता (प्राथमिक) सिद्धि प्राप्त किए बिना ध्यान साधना में सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करेगा तो वह कभी सफल

नहीं हो सकेगा (श्लोक-६.३,४) क्योंकि ध्यान साधना भी तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक चित्त में पड़े स्वार्थवृत्ति के संस्कारों से साधक मोटे रूप में मुक्त ना हो जाए। भगवान ने दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कही कि यह साधना उसके लिए तो ठीक है जिनका मूलभाव स्वयं का उद्धार करना हो (श्लोक-६.५) और जो शरीर तथा मन के सुख-दुख के प्रति सम रहने, जितेंद्रिय होने तथा सब लोगों के प्रति सम-बुद्धि होने हेतु संकल्पवान हो(श्लोक-६.६ से ९)। इस साधक को मन-बुद्धि पर पूर्ण नियंत्रण करके आत्मा/परमात्मा पर एकाग्र होने की ऐसी क्षमता प्राप्त करनी होती है कि ब्रह्मा भाव में स्थित होकर उसे उत्तम सुख की अनुभूति होने लगे(श्लोक-६.१० से २८)। जब उसे सब प्राणियों के सुख-दुख अपने ही सुख-दुख प्रतीत होने लगे तभी उस साधक को सिद्धि प्राप्त हुई है, ऐसा मानना उचित होगा।

ध्यान योग की उपरोक्त विवेचना सुनकर अर्जुन सोच में पड़ गया। वह भगवान से कहता है कि मन तो बड़ा चंचल है, उसको वश में करना तो असंभव सा दिखता है, अतः इस साधना में कोई कैसे सफल होगा? भगवान ने कहा कि निसंदेह यह मार्ग अति दुर्गम है किन्तु वैराग्य और अभ्यास से इसका वश में हो जाना संभव हो जाता है, यदि एक जन्म में न हो पाए तो अगला जन्म पुण्यवानों/योगियों के घर लेकर, जो कि बहुत दुर्लभता से ही प्राप्त हो पाता है, वह अध्यात्म की अपनी यात्रा अन्ततः सिद्ध कर लेगा (श्लोक-६.४३,४४)। अंत में भगवान अपना निष्कर्ष सुनाते हैं कि ध्यान आदि साधनाओं की उपरोक्त कठिनाइयों को देखते हुए सर्वोत्तम मार्ग कर्मयोग का ही है और यह मार्ग उनके लिए और भी सरल हो जाता है जो मुझ परमेश्वर की भक्ति के रूप में निष्काम-कर्म रूप सेवा को अपनाता है (श्लोक-६.४७)।

७वें अध्याय से १०वें तक भगवान ने अपने उस सर्वव्यापी सत्ता का वर्णन किया है जिस की उपासना करके व्यक्ति उन्हें प्राप्त कर सकता है।

७वें अध्याय में भगवान ने ज्ञान अर्थात् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में परमात्म सत्ता की उपस्थिति और उसके कारण ही उस में होने वाले विकास का वर्णन किया है। प्रथम चरण में अपरा प्रकृति के ८ तत्वों- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार- का निर्माण, दूसरे चरण में इनसे निर्मित शरीरों में परा प्रकृति रूप चेतना के संचार द्वारा जीव जगत जो निर्माण हुआ है, तथा इस सब के निर्माण, विनाश और पुनर्निर्माण की सतत प्रक्रिया द्वारा विकास की जो प्रक्रिया संचालित है वह 'मेरी'

परमात्मा शक्ति से ही है। वस्तुतः यह सारा जड़-चेतन जगत मणियों की माला सद्दश्य मेरी जोड़क शक्ति (integrating power) रूप धागे से गुथा है।

जड़ पदार्थों के वे गुण जिन्हें मनुष्य अपनी पंच-इंद्रियों द्वारा अनुभव करता है (उदाहरण- जल में रस, प्रकाश में जड़ वस्तु को द्दश्य बनाने की शक्ति, आदि), वें 'मेरी' शक्ति द्वारा ही अद्‌भुत है। इसी प्रकार बुद्धिमानों की बुद्धि में और तेजस्वीओं के तेज में मेरी ही अभिव्यक्ति हैं(श्लोक-७.८ से १०) । वस्तुतः मनुष्यों में जो तामस, राजस अथवा सात्त्विक भाव होते हैं वें उनके मन-बुद्धि में मेरी शक्ति की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति के कारण होते हैं और इस 'माया' के कारण ही मनुष्य मेरी त्रिगुणातीत सत्ता को नहीं जान पाता। इस माया से मुक्त होने का उपाय है- मेरी सत्ता को सब में उपस्थित जान भक्ति रूप में उनकी सेवा। इस प्रकार, सत कर्मों द्वारा उसमें मेरा प्रभाव बढ़ता जाता है और वह भक्ति की निम्न से उच्चतम श्रेणी अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी और ज्ञानी-भक्त अर्थात सेवक इन स्थितियों को प्राप्त करता जाता है (श्लोक-७.१२ से १९)। किंतु जो कामना पूर्ति हेतु देवताओं को पूजते हैं, उनकी कामना पूर्ति तो हो जाती है क्योंकि देवता भी मेरी शक्ति के ही कामना-पूर्ति करने वाले रूप हैं किंतु देवता-पूजक वे लोग कामनाओं के चक्र में ही फंसे रहते हैं, वे मेरी कालातीत अविनाशी सत्ता की प्राप्ति की ओर नहीं बढ़ते। जब वे श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करके राग-द्वेष जनित मोह से विमुक्त हो जाते हैं तब वे मेरी उस सत्ता को जो सृष्टि में ब्रह्म, अध्यात्म और 'कर्म' के रूप में, तथा व्यक्ति में अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के रूप में जानकर मेरी प्राप्ति हेतु प्रयासरत होते हैं। इन पारिभाषिक शब्दों से वे अपनी सत्ता के किन पहलुओं पर प्रकाश डाल रहे हैं इसका वर्णन उन्होंने आठवें अध्याय में किया है।

८वां अध्याय ७वें का ही अनुपूरक है। ७वें के अंत में भगवान ने जिन पारिभाषिक शब्दों में सृष्टि और व्यष्टि का संचालन करने वाली परमात्म सत्ता के विभिन्न पहलुओं का परिचय दिया था, उनकी व्याख्या करते हुए इस अध्याय में इस विषय की जानकारी दी गई है कि व्यक्ति परमात्मा को समग्रतः कैसे प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्म क्या है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा कि जो अविनाशी परम तत्व है उसे ही ब्रह्म कहा जाता है। उसका मूल स्वरूप अव्यक्त है और सर्वव्यापी है किंतु जब महा विस्फोट (big bang) द्वारा उत्पन्न और फैलकर ठंडी हुई प्रकृति से इसका कोई अंश संपर्क में आता है तो वह उससे जगत का निर्माण करता हुआ उसमें ही अनुष्यूत

(निर्बाध रूप से मिला हुआ) हो जाता है। यह वर्णन भगवान अध्याय-७ में और अपरा, परा और फिर त्रिगुणी प्रकृति (माया) के रूप में कर चुके हैं।

इस विकास को संपन्न करने वाली सगुण ब्रह्म रूप परमेश्वर की जो चेतन शक्ति है उसे भगवान ने 'कर्म' कहा है। दूसरे शब्दों में भूत प्राणियों को अस्तित्व में लाने वाली सृजन शक्ति को 'कर्म' कहा गया है। भूत प्राणियों में सर्वाधिक विकसित प्राणी मनुष्य है जिसमें 'मेरी' सत्ता का अधिक चैतन्य अंश अमृतत्व धारण कर जीवात्मा रूप में क्रियाशील है जिसे अपने होने का भाव वाला गुण भी प्राप्त होने से उसे भगवान ने 'स्वभाव' कहा है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में मेरी चैतन्य शक्ति तीन और रूपों में अभिव्यक्त हो रही है जिन्हें अधिभूत (प्राण), अधिदैव (मन, बुद्धि, अहंकार) और अधियज्ञ (अर्थात जीवात्मा से उच्चतर सत्ता- महेश्वर/ श्रीकृष्ण- जो चैतन्य हो जाने पर उसे त्याग/सेवा/सहायता कार्यों को करने की प्रेरणा देती है) कहा जाता है।

उपरोक्त वर्णन के बाद उस परम सत्ता को समग्र रूप में प्राप्त करने के मुख्य-मुख्य उपायों की विवेचना की है। ज्ञान मार्गीयों के संदर्भ में कहा गया है कि जो मेरे ब्रह्म स्वरुप को प्राप्त करने की इच्छा से अंत समय उस स्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह उसे प्राप्त कर लेता है। इस संदर्भ से भगवान ने ज्ञान मार्ग के साधकों द्वारा अपनाया जाने वाले इस उपाय का गठन किया है कि वे साधक अनंत काल में योग बल से प्राणों को वश में करके भौहों के मध्य आज्ञा चक्र पर उसे स्थापित करके मेरे ब्रह्म स्वरूप का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करते हैं। इसी प्रकार योग धारणा का दूसरा मार्ग है प्राणों को मस्तक में (सहस्रार चक्र) पर स्थापित करके 'ॐ' के उच्चारण द्वारा मेरा स्मरण करता हुआ देह का त्याग करता है, वह अपने परम लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करता है। संन्यास मार्ग की यह दोनों साधनाऐं अत्यंत कठिन है और फिसलन भरी हैं। इस तथ्य को शुक्ल और कृष्ण मार्ग संबंधी श्लोक-२३ से २७ द्वारा प्रकाशित किया गया है। इनके विपरीत कर्मयोग साधना में इस प्रकार की दुर्गमता नहीं है। इस साधक का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति न होकर सगुण भगवत सत्ता का सेवक बनना (अर्थात् अनन्य भक्ति) होता है, वह तो अपने लिए कुछ भी, यहाँ तक कि मुक्ति भी नहीं चाहता। उसका एकमात्र लक्ष्य अनन्य भक्ति अर्थात भगवत सेवा के रूप में जगत हितार्थ कर्मों में रत रहना होता है। इस मार्ग को ही भगवान ने सर्वश्रेष्ठ बताया है।

अध्याय-९ में भगवान ने विज्ञान अर्थात् भगवत सत्ता के निर्देशन में प्रकृति में होने वाले क्रियाकलापों का वर्णन किया है। विषय की तारतम्यता को देखें तो यह ७वें अध्याय का विस्तार इस रूप में है कि वहाँ भगवान ने ज्ञान अर्थात् जगत में परमात्म सत्ता की उपस्थिति का वर्णन किया था, यहाँ जगत के निर्माण और विकास में वे उस सत्ता की भूमिका का दिगदर्शन करा रहे हैं।

भूत समुदाय को सृजन में भगवत सत्ता की महत्वपूर्ण भूमिका का वर्णन करते से पूर्व भगवान ने अपनी चेतन शक्ति का प्रकृति की रचनाओं में असमान रूप से वितरण होने की बात को आकाश में वायु के उदाहरण से स्पष्ट किया है। परमात्म शक्ति के सर्वव्यापी होने का यह अर्थ नहीं कि जगत की प्रत्येक वस्तु में वह शक्ति समान रूप से उपस्थित है या क्रियाशील है। इसके बाद दूसरी महत्वपूर्ण बात यह बताई है कि वह परम शक्ति प्रकृति की रचनाओं में (न्यूनाधिक) रूप में उपस्थित रहकर क्या कार्य करती है। कहा गया है कि वह शक्ति दो कार्य करती है जिन्हें 'योग' और 'ऐश्वर्य' इन दो शब्दों से व्यक्त किया गया है। योग अर्थात् जोड़ना अवयवों को जोड़ने (integration) का कार्य, और ऐश्वर्य का अर्थ है वस्तु के प्रकृति तत्व पर नियंत्रण करके विकास संपन्न करना, ऐसी रचना बनाना जिसमें परमात्मा तत्व अधिक अभिव्यक्त हो सके।

व्यक्ति के मनस में होने वाले विकास का वर्णन भगवान ने राक्षसी, आसुरी, मोहिनी और देवी स्वभाव के रूप में किया है। इससे आगे का विकास स्वयं में और अन्य सभी में भी आत्मा के अनुभव के रूप में होता है जो सब प्राणियों में परमात्मा की उपस्थिति जान उनकी प्रेम पूर्ण सेवा करने से होता है(भजन्ति माम)। उपरोक्त उपलब्धि सर्वोच्च है किंतु जिनमें निष्काम भक्ति के उक्त पथ पर चलने की रुचि अभी जाग्रत नहीं हो पाई हो, क्योंकि उनमे कामना पूर्ति के सुख, अथवा कुछ नहीं तो परम शांति प्राप्त करने की इच्छा कायम है, वह साधु पुरुष सुख शांति प्राप्त करने हेतु ज्ञान मार्ग चुन लेते हैं। ज्ञान मार्ग के अंतर्गत साधक को अपने आसपास जगत में परमात्मा की उपस्थिति पर निरंतर चिंतन-मनन करने का अभ्यास करना होता है, इस हेतु से श्लोक १६ से २४ में ज्ञान के तीन स्तरों के अनुरूप यज्ञ भी जिन भावों से अनुरक्त हो किए जाते हैं वे तीन हैं तत्व भाव से, पृथकत्व (अंश-अंशी) भाव से मेरी प्राप्ति हेतु, अथवा स्वर्ग-सुखों की प्राप्ति हेतु सकाम भाव से इन यज्ञों में कुछ न कुछ तो प्राप्त करने का उद्देश्य निहित रहता ही है किंतु जो 'मेरी' अनन्य भक्ति के रूप में सेवा-कर्म रूप यज्ञ करते हैं वे 'मुझे' अत्यंत प्रिय हैं(श्लोक-२५)। अगले कुछ श्लोकों

में भगवान ने निर्देश दिया है कि भक्त के लिए आवश्यक है कि वह जो सेवा कर्म करेगा उससे जो सुयश फैलता है अथवा उस कर्म का कुछ सुफल दिखे तो उसका श्रेय वह स्वयं न लेकर भगवान का अनुग्रह माने। उसके बाद इस प्रकार के अनन्य भक्ति का उन्होंने एक चौंकाने वाला परिणाम यह बताया कि वह साधक अपने पूर्व कृत कर्मों के फल से भी, चाहे वे कर्म कितने भी निकृष्ट श्रेणी के रहे हों पूर्णत: मुक्त हो जाता है। अंत में भगवान निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि हे अर्जुन ! अपने मन को मुझे समर्पित करते हुए यज्ञ (=त्यागमय सेवा) करने वाला हो, अपनी संपूर्ण सत्ता (व्यक्तित्व) के मुझमे युक्त करके मेरे शरण हो जा, तू मुझे ही प्राप्त कर लेगा (अर्थात् तू भी मेरी जैसी आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकेगा)।

अध्याय १०: इसके बाद भगवान ने अपने को सृष्टि का आदि कारण बताते हुए अपनी उन दो निर्मात्री शक्तियों का कथन किया है जिनके द्वारा यह सृष्टि अस्तित्व में आई है। इन शक्तियों को उन्होंने 'योग' और 'विभूति' कहा है। पश्चात् अर्जुन के प्रार्थना करने पर भगवान ने ऐसे कुछ उदाहरण वर्णित किए हैं जिनमें भगवान की विभूति शक्ति को मनुष्य क्रियाशील रूप में आसानी से देख समझ सकता है। इन उदाहरणों को भगवान ने इस अध्याय में अपनी विभूतियों के रूप में वर्णित करके विभूति शक्ति को समझना सरल बना दिया है।

अध्याय ११ में भगवान ने अपनी 'योग' शक्ति का दर्शन कराया है। अध्याय १० में सब में एक दिव्य शक्ति का दर्शन कराया गया था, तो अध्याय ११ में उस एक में सब का दर्शन करा कर उस सत्ता से हमें भली प्रकार परिचित कराया गया है। यहाँ भगवान ने जिस विश्वरूप का दर्शन कराया है उसमें सब लोकों की उत्पत्ति और नाश- सृष्टि के इन दोनों पहलुओं के पीछे जो एक ही सत्ता क्रियाशील है उसे प्रकाशित किया है।

अध्याय १२: उस परम का उक्त पूर्ण बौद्धिक ज्ञान कराने के बाद उस सत्ता से हम कर्म द्वारा भी किस प्रकार जुड़े हैं इसका वर्णन अनन्य भक्ति के रूप में अध्याय १२ में वर्णित किया गया है। मनुष्य का व्यक्तित्व प्रकृति और पुरुष इन दोनों समष्टि तत्वों के अंशदान से निर्मित है, अतः उसे अपने व्यक्तित्व को सीमितता से मुक्त करने हेतु इन दोनों स्तरों को विशाल बनाना होगा अर्थात् ज्ञान और कर्म द्वारा उसे अपने को समष्टि निष्ठ बनाना होगा। अध्याय ११ तक समष्टि का ज्ञान देकर भगवान अब अध्याय १२ से ज्ञान के साथ कर्म का समावेश करके व्यक्तित्व को समष्टि निष्ठ बनाने

का उपदेश दे रहे हैं। इसे ही उन्होंने अनन्य भक्ति कहा है जिसकी प्राप्ति के आठ चरण श्लोक- ६ से १२ में वर्णित किए गए हैं। ये आठ चरण उतरते क्रम में इस प्रकार है।

संपूर्ण कर्म केवल 'मेरे प्रीत्यर्थ' करे। यह अनन्य भक्ति है (श्लोक-६,७जिनमें प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार का समर्पण इंगित है)। जिसके लिए यह करना संभव न हो तो वह।

कर्म, मन, बुद्धि का समर्पण करें, यह भी संभव न हो तो इससे निचला चरण है-

कर्म और मन (इच्छा) को मुझे से जोड़े, इससे निचला चरण है

कर्मों को मेरे निमित्त करता रहे,

५वां चरण है- सर्व कर्मफल त्याग,

इससे नीचे का ६ठा चरण है- ध्यान (जगत में सर्वत्र मेरी उपस्थिति का चिंतन-मनन),

७वां चरण है- ज्ञान (सत्संग और स्वाध्याय द्वारा परमेश्वर की सर्वव्यापकता को जानना) ,

८वां चरण है- अभ्यास (आसन, प्राणायाम के अभ्यास द्वारा शरीर, मन पर नियंत्रण का अभ्यास), अंतिम चरण (६,७,८) को यहाँ गीता ने एक ही श्लोक- १२.१२ में संक्षेप में वर्णित कर दिया है

भगवान ने इन श्लोकों में अनन्य भक्ति प्राप्त करने के जो निर्देश दिए हैं वे उतरते क्रम में हैं अर्थात् यदि नया व्यक्ति इस मार्ग पर चलना प्रारंभ करना चाहे तो उसे यहाँ वर्णित ८वें चरण से प्रारंभ करके उस प्रथम चरण तक पहुंचना होगा जिसके अंतर्गत 'मय्यावेशित चेतसाम' शब्दों में वर्णित अपने संपूर्ण चेतना स्तरों को परमात्मा को समर्पित करना होगा।

अनन्य भक्ति के उपरोक्त चरणों का वर्णन करने के बाद भगवान ने उन लक्षणों/ गुणों का वर्णन किया है जो भक्त के जीवन में प्रकट होंगे। जीवन में इन लक्षणों/ गुणों की प्राप्ति/अप्राप्ति के आकलन द्वारा साधक को अपनी यात्रा की सफलता का मूल्यांकन करने में सहायता प्राप्त होगी।

अब आगे अध्याय १३ से १७में भगवान ने जिन विषयों पर प्रकाश डाला है वे अर्जुन के किसी नये प्रश्न के उत्तर में नहीं है, इससे स्पष्ट है कि वह १२वें अध्याय में विवेचित

अनन्य भक्ति से ही संबंधित है। इस दृष्टि से ही हमें इन अध्यायों की विषय वस्तु को समझने का प्रयास करना चाहिए।

१३वें अध्याय में भगवान ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय की जो विवेचना की है उसे हमें १२वें अध्याय में विवेचित अनन्य भक्ति के इस पक्ष के रूप में समझने का प्रयास करना चाहिए कि भक्त को भगवत सेवा के रूप में जगत की जो सेवा करना है तो उस सेवा के क्षेत्र का चुनाव उसे प्राप्त तकनीकी ज्ञान का सदुपयोग हो सके इस प्रकार करना चाहिए। व्यक्ति को जिस क्षेत्र का तकनीकी ज्ञान प्राप्त हो चुका हो उसी क्षेत्र को सेवा हेतु चुनना श्रेष्ठकर होगा। अर्जुन के संदर्भ से देखे तो उसके तकनीकी ज्ञान का क्षेत्र अस्त्र-शस्त्र विद्या था। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस विषय की विवेचना द्वारा भगवान ने अर्जुन को यही संदेश दिया है कि यदि वह अपने इस तकनीकी ज्ञान का उपयोग समाज के हित में भगवत सेवा के भाव से करता है तो यह कार्य ही उसके लिए अनन्य भक्ती की साधना होगी।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की इस विवेचना द्वारा भगवान ने एक महत्वपूर्ण संदेश यह दिया है कि व्यक्ति को क्षेत्र अर्थात् कर्म क्षेत्र बदलने का विचार नहीं करना चाहिए वरन् परिस्थितियों और परिवेश से जिस भी कर्म क्षेत्र का ज्ञान उसे प्राप्त हुआ हो उसका सदुपयोग निस्वार्थ भाव से, भगवत सेवा भाव से, करना चाहिए। ऐसा करने पर क्षेत्र में क्रमिक स्वाभाविक बदलाव के साथ क्षेत्रज्ञ (अर्थात् व्यक्ति) का भी स्वाभाविक विकास होता है और यह प्रक्रिया व्यक्ति को न केवल भौतिक वरन् मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के उच्चतम बिंदु तक ले जा सकेगी। इस तथ्य की विवेचना भगवान ने इस प्रकार की है-

श्लोक ७ से ११ में क्षेत्रज्ञ के एक रूप जीवात्मा की विकास यात्रा का वर्णन उसके ज्ञान के बढ़ते चरणों के रूप में किया गया है। समष्टि स्तर पर क्रियाशील क्षेत्रज्ञ को भगवान ने 'ज्ञेय' कहकर उसका वर्णन श्लोक १२ से १६ में किया है। इन दोनों के बीच क्षेत्रज्ञ का एक और रूप भी है जो भगवत भाव से सेवा करने वालों में जाग्रत हो जाता है (सर्वेषु कालेषु माम अनुस्मर युद्ध च,८.७)क्षेत्रज्ञ के इस स्वरुप को भगवान ने यहाँ श्लोक-१७ में ज्ञान गम्य कहकर और आगे श्लोक-२२ में माहेश्वर कहकर इंगित किया है। इस सत्ता का वर्णन भी क्षेत्रज्ञ के रूप में ही किया गया है। इसके ज्ञान का क्षेत्र जीवात्मा से कहीं अधिक विशाल होने से जिन व्यक्तियों में यह जाग्रत हो जाता है

उन्हें यह मार्गदर्शन प्रदान करता है। वस्तुतः गीता में अर्जुन का मार्गदर्शन करने वाले श्रीकृष्ण इसी सत्ता को निरूपित कर रहे हैं।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों का कदम-दर-कदम पारस्परिक विकास क्षेत्रज्ञ को ज्ञान पथ पर आगे बढ़ाते हुए अंततः उसे ज्ञेयरूप परमात्मा के ज्ञान तक भी पहुंचा देता है।

इसी विषय की विवेचना सांख्य दर्शन के अंतर्गत प्रकृति-पुरुष के रूप में श्लोक-१९ से २३ में करते हुए श्लोक-२४ में यह निष्कर्ष दिया गया है कि सांख्य मतावलम्बी ध्यान योग अथवा ज्ञान योग द्वारा आत्मा की और भगवत भक्त कर्मयोग द्वारा परमेश्वर की उपासना करते हैं। वस्तुतः प्राणियों को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के सहयोग से उत्पन्न हुआ देखने पर तथा उसमें क्षेत्रज्ञ रूप परमेश्वर की उपस्थिति का अनुभव करके साधक के लिए परम गति प्राप्त करने का मार्ग खुल जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष से संपूर्ण जैविक सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सांख्य मतावलम्बी प्रकृति को खंड-खंड में बटी हुई क्रिया शक्ति का संघनित रूप, तथा पुरुष को सर्वव्यापी चेतन/ज्ञान शक्ति जानकर उसकी उपासना ब्रह्म के रूप में करते हैं। मनुष्य शरीर स्थित ब्रह्म के अंश रूप आत्मा को भी वे ब्रह्म के समान ही अनादि, निर्गुण, अकर्ता, आकाश के समान अति सूक्ष्म, संपूर्ण शरीर में व्याप्त किंतु अलिप्त जानते हुए उसके स्रोत ज्ञान रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। उपासना की सफलता पर उनकी शरीरस्थ आत्मा संपूर्ण जगत को ज्ञान से प्रकाशित करने वाली सत्ता से एकरूपता प्राप्त कर संपूर्ण जगत् रूप क्षेत्र के क्षेत्री के रूप में अनुभव करता है।

सारांश यह कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के परस्पर संबंध को जो अपने ज्ञान-नेत्रों द्वारा समझ कर तदनुरूप अपने कर्म क्षेत्रों का निर्धारण और निर्वहन करते हैं वे परम अवस्था (परमात्मा अथवा ब्रह्म) को प्राप्त कर लेते है।

अध्याय १४ का सार संक्षेप: विगत अध्याय के अंतिम कुछ श्लोकों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की विवेचना सांख्य मतावलम्बियों के लिए करते हुए कहा गया था कि वे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को प्रकृति-पुरुष के रूप में जानकर उनके अंतर को महत्व देते हुए प्रकृति से मुक्त होने का लक्ष्य निर्धारित करते हैं। अब इस अध्याय में उस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रकृति के त्रिगुणों (तम,रज, सत्व) की विवेचना की गई है ताकि वे साधक प्रयास करके इन गुणों से क्रमश: अपने को मुक्त करते हुए प्रकृति से पूर्णत: मुक्त होकर अपने लक्ष्य

की- ब्रह्म की, प्राप्ति कर सकें। इस प्रकार, यह संपूर्ण अध्याय सांख्य मतावलम्बियों की विवेचना इस रूप में कर रहा है कि उन्हें अपने परम लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हेतु त्रिगुणों से मुक्त होने की अतीव दुःसाध्य साधना करनी होती है, जबकि भगवत भक्तों के लिए इस अति दुर्गम साधना की आवश्यकता नहीं होती है।

सांख्य साधकों का त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्ती का लक्ष्य कितना दु;साध्य है इस हेतु से कहे गए श्लोक-२२ से २५ ध्यान देने योग्य हैं। ऐसे साधक को अन्य समता-परक गुणों को प्राप्त करने की अनिवार्यता बताते हुए कहा गया है कि उन्हें पत्थर और स्वर्ण के प्रति भी समभाव रखना होता है जो कि संन्यास आश्रम का संचालन करने वाले किसी महात्मा के लिए भी एक चुनौतीपूर्ण कार्य होगा।

इस प्रकार यह संपूर्ण अध्याय सांख्य मतावलम्बियों की विवेचना इस रूप में कर रहा है कि उन्हें तो अपने परम लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हेतु त्रिगुणों से मुक्त होने की अति दुःसाध्य साधना करना आवश्यक होता है, जबकि भक्ति योग के द्वारा जो 'मेरी' अभिव्यक्ति रूप प्राणियों की सेवा करते हैं (सेवते), वे इन त्रिगुणों से तो पूरी तरह स्वाभाविक रूप में पार हो कर न केवल ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वरन् सृष्टि में 'मैं' जिन चार पाद/चरणों/रूपों में अभिव्यक्त हो रहा हूँ, उस 'मेरी' संपूर्ण अभिव्यक्त सत्ता को प्राप्त करने में सक्षम हो जाते हैं, परमात्मा की उक्त चारों अभिव्यक्तियों का वर्णन भगवान ने अगले अध्याय में किया है।

अध्याय-१५: विगत अध्याय में सांख्य मतावम्बियों की त्रिगुणों से मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति की साधना का वर्णन किया गया था और अंतिम २ श्लोकों में अनन्य भक्ति द्वारा परमात्म सत्ता की पूर्ण प्राप्ति की बात कही गई थी और उस हेतु से उस सत्ता की अभिव्यक्ति के ४ रूपों/पादों का उल्लेख किया गया था। अब इस अध्याय में भगवान भगवत भक्ति से प्राप्य ज्ञान के उन चारों चरणों का वर्णन कर रहे हैं जिन रूपों में वह सत्ता जगत में अभिव्यक्त हो रही है। यह वर्णन जिस प्रकार क्रम से किया गया है वह उस सत्ता से जगत में होने वाले क्रमिक विकास का निरूपण ही कर रहा है।

ज्ञान का पहला चरण है सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय की सतत गतिमान क्रियाओं का ज्ञान जिन्हें अश्वत्थ वृक्ष के रूपक द्वारा श्लोक-१ में वर्णित किया गया है।

अश्वत्थ वृक्ष के उदाहरण से प्रकृति की नश्वरता के बंधन में बंधे रहकर भी वंश के रूप में उस परम सत्ता के अव्यय स्वरूप का यहाँ दर्शन कराया गया है।

वही चेतन सत्ता (consciousness) मनुष्य शरीर में प्रकृति से इस रूप में मुक्त हो जाती है कि अब वह जीवात्मा के रूप में अ-मृत होकर पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा परमात्म सत्ता का उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान अर्जित करने की क्षमता ग्रहण कर लेती है। यह उस परमात्म सत्ता की अभिव्यक्ति का दूसरा चरण है जिसे जीवात्मा की पुनर्जन्म यात्रा के रूप में श्लोक-७ से ११ में वर्णित किया गया है।

उसी चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति के तीसरे चरण को समष्टि में क्रम-विकास की जो प्रक्रियाएं चल रही है उसके वर्णन के रूप में श्लोक- १२ से १५ में प्रकाशित किया गया है। इन चार श्लोकों में बताया गया है कि सूर्य के जलने से उसमें चल रही नाभिकीय क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले विकिरण से जगत में जीवन की जो गतिविधियां चल रही हैं हम उसके भौतिक-रासायनिक पक्ष को ही थोड़ा बहुत जानते हैं किंतु हमारा ध्यान इस तथ्य पर नहीं जाता कि जीवन केवल भौतिक-रासायनिक क्रियाओं से संचालित नहीं होता है। प्राणीक क्रियाओं का संचालन जिस चेतन ऊर्जा से होता है उसे यहाँ 'तेज' कहा गया है। सूर्य की भौतिक ऊर्जा को जीवों के शरीरों में प्राणिक ऊर्जा में बदलने का कार्य यह 'तेज' ही करता है। वैज्ञानिकों का ध्यान अभी इस 'तेज' पर नहीं गया है और वे केवल भौतिक-रासायनिक क्षेत्र के अन्वेषण में ही रत होने से जीवन के रहस्य को समझने में असमर्थ रहे हैं, यहाँ तक कि वे अपनी इस खोज की भी कोई समुचित व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं कि जीवो में हो रही क्रियाओं में एंट्रॉपिक कम करने (व्यवस्था बढ़ाने वाली) कारक शक्ति क्या है? सामान्य भौतिक-रासायनिक क्रियाओं में एन्ट्रापी बढ़ती है (व्यवस्था कम होती है) किन्तु प्राणियों में होने वाली जैविक क्रियाओं में एंट्रोपी कम हो जाती है (व्यवस्था बढ़ती है),इस तथ्य को तो वैज्ञानिक जानते हैं किंतु इस उलटफेर के पीछे कौन सी शक्ति का हाथ है इसके बारे में वे कुछ नहीं कह पाते।

उक्त चार श्लोकों (१२ से १५) में जैविक विकास की पूरी गाथा का वर्णन करते हुए मनुष्य के मनोबौद्धिक और आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च स्थिति-'वेदांतकृत'-तक की स्थिति को इंगित किया गया है।

अगले कुछ श्लोकों में भगवान ने प्राणी विकास में क्रियाशील अपनी दिव्य शक्ति के उन तीन मुख्य स्वरूपों का वर्णन किया है जिन्हे हम प्राणिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन के रूप में देखते समझते हैं। इन्हे यहाँ पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष कहा गया है। क्षर पुरुष अर्थात् प्राणिक चेतना जो जीवों में उनके जीवित रहने तक क्रियाशील रहती है, अक्षर पुरुष मनुष्यों में जीवात्मा के रूप में अनेक जन्मों तक वस्तुतः तब तक बनी रहती है जब तक कि वह अपने आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त न कर ले। वह आध्यात्मिक लक्ष्य सांख्य मतावलम्बियों के लिए आत्मानुभूति अथवा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है और परमात्म उपासकों के लिए अनन्य भक्ति होती है। दोनों प्रकार के निष्ठावान उपासकों को ईश्वर कृपा के रूप में एक अतिरिक्त सहायता इस रूप में मिलने लगती है कि साधक के जीवात्मा को एक उच्च सत्ता चैतन्य होकर आध्यात्मिक पथ पर मार्गदर्शन देने लगती है। इस सत्ता को यहाँ उत्तम पुरुष के रूप में वर्णित किया गया है जो पहले (श्लोक-९.१८ में) वर्णित साक्षी, श्लोक-१३.१७ में कहीं गई 'ज्ञानगम्य' और श्लोक-१३.२२ में कही गयी 'महेश्वर' सत्ता ही है। एक ही परम सत्ता को इन विभिन्न क्रियात्मक गुणों को इंगित करने वाले नामों के द्वारा उसी प्रकार नामांकित किया गया है जिस प्रकार की एक ही व्यक्ति किसी के लिए पिता,किसी के लिए भ्राता और किसी के लिए सखा होता है।

यहाँ पुरुष रूप तीनों चेतन सत्ताए- क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष के कार्यों/गुणों का भी वर्णन करके उनकी स्पष्ट पहचान बता दी गई है। क्षर पुरुष को विभर्ति अर्थात शरीर का धारण-पोषण करने वाला, अक्षर पुरुष को अव्यय अर्थात बने रहने का गुण धारण करने वाला, और उत्तम पुरुष को ईश्वर अर्थात जीवात्मा की जन्म-जन्मांतर की जीवन यात्रा का नियंत्रण करने वाला कहा गया है।

भगवान ने परम सत्ता के इन स्वरूपों का वर्णन करने के उपरांत इस सत्ता की उपासना करने वालों के लिए यह निर्देश दिया कि जो 'मेरे' (अर्थात् भगवत सत्ता के) इस संपूर्ण स्वरूप को जान कर अपने जीवन का लक्ष्य मेरी प्राप्ति हो यह बनाकर मुझे भजता है (भजते=सेवते,अर्थात् भगवत भाव से जीव सेवा में अपने को समर्पित कर देता है) वह ज्ञान और कर्म, जीवन के इन दोनों, पहलुओं को मुझे समर्पित कर कृत-कृत्य हो जाता है।

आगामी अध्यायों (क्रमांक १६ से १८) को समझने के लिए हमें इनकी विषय-वस्तु का संबंध विगत अध्यायों के परिपेक्ष्य में देखने का प्रयास करना आवश्यक होगा।

अध्याय-१४ में सांख्य मतावलम्बियो की ब्रह्मा प्राप्ति हेतु त्रिगुणो से मुक्त होने की स्वप्रयास वाली साधना का विस्तार से वर्णन किया गया था और परमात्म सत्ता के उपासकों के लिए भक्ति अर्थात् भगवत भाव से जीव सेवा वाले मार्ग की जानकारी देखकर अध्याय-१५ में जगत में भगवत सत्ता की उपस्थिति को जिस प्रकार भक्त साधक हृदयंगम कर सकेगा उसकी विवेचना की गई है। अब आगामी अध्यायों (क्रमांक-१६,१७,१८) में क्रमशः मन, बुद्धि और अहंकार के सूक्ष्म स्तरों- मूलतः अवचेतन स्तरों- पर संग्रहित संस्कारों से मुक्त होने की आवश्यकता बताई गई है।

अंतिम तीन अध्याय (क्रमांक-१६,१७,१८) वस्तुतः अध्याय-१४ के अनुपूरक है और गुणातीत अवस्था की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार की सूक्ष्म स्तर की साधनाऐं करना होती है उनका वर्णन कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, इन अध्यायों के मुख्य विषय तो सांख्य साधना के ही कुछ पक्षों की विवेचना करना है, किंतु प्रत्येक अध्याय के अंतिम कुछ श्लोकों में भक्ति पथ पर भी प्रकाश डाला गया है ताकि साधक दोनों पथों की तुलना करके उपयुक्त पथ का चुनाव कर सकें।

अध्याय-१६ में अवचेतन मन में पड़े दैवी/आसुरी संस्कारों का वर्णन करके यह बताया गया है कि आसुरी संस्कार तो नरक में गिराने वाले हैं ही, देवी संस्कार यद्यपि श्रेष्ठ गति प्राप्त कराते हैं किंतु सांख्य मार्ग की वांछित त्रिगुणातीत अवस्था की प्राप्ति तो उनसे नहीं हो सकेगी, उस लक्ष्य प्राप्ति में तो दैवी संस्कार भी बाधक ही सिद्ध होंगे। वस्तुतः सांख्य मार्ग की गुणातीत अवस्था की प्राप्ति में अवचेतन मन के संस्कार- भले ही वे दैवी संपदा वाले हो- बाधक ही बनेंगे। इस प्रकार, यहाँ सांख्य पोषित कर्म-सन्यास मार्ग में सिद्धि प्राप्त करने में आने वाली कठिनाइयों पर ही प्रकाश डाला गया है। दूसरी ओर शास्त्र विधि से नियत कर्म करने अर्थात कर्म-योग मार्ग का यहाँ पुनः उल्लेख करके यह सूचित किया गया है कि कर्म-योग मार्ग में दैवी संपदा वाले संस्कार बाधा न बन कर सहायक ही बनते हैं।

इसी प्रकार, अध्याय-१७ में बुद्धि के अवचेतन स्तर पर संग्रहित पूर्व निर्णयों की विवेचना श्रद्धा के रूप में की गई है। यहाँ श्रद्धा का अर्थ आदर-सम्मान/आस्था/निष्ठा नहीं है क्योंकि वैसा अर्थ होता तो श्रद्धा को त्रिगुणी कहकर उसे तामसिक कैसे कहा जा सकता था। प्रकांड विचारक काका कालेलकर ने श्रद्धा शब्द का व्युत्पत्ति आधारित अर्थ किया है- जिन विचारों को परिपक्व करके व्यक्ति धारण कर लेता है वे श्रद्धा बन जाते हैं। ये विचार तामसिक, राजसिक अथवा सात्विक- किसी भी प्रकार-

के हो सकते हैं, इसी कारण भगवान ने श्रद्धा को इन तीन गुणों वाली कहा है। जिस प्रकार कामनाएं अवचेतन मन में संस्कारों/ वृत्तियों के रूप में संग्रहित होती हैं, जिनकी विवेचना अध्याय-१६ में की गई थी, उसी प्रकार बुद्धि स्तर पर संग्रहित निर्णयों की विवेचना यहाँ श्रद्धा के रूप में की गई है। निष्कर्ष यह कि श्रद्धा कोई आधारभूत तत्व नहीं है जो व्यक्ति के जीवन को सही दिशा-बोध दे सके। वस्तुतः व्यक्ति ने जैसी श्रद्धा अर्थात् निश्चयात्मक विचार अपने अंदर संग्रहित कर रखे हैं वे मन के क्षेत्र में और कर्म के क्षेत्र में अवश्य प्रकट होते हैं, अतः सांख्य मार्ग के साधक के लिए आवश्यक है कि वह उन पर ध्यान देकर उनका परिमार्जन कर ले। इस हेतु से ही भगवान ने यहाँ भोजन-रूचि (श्लोक-८, से १०) एवं यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्र निर्देशित कर्मों के संपादन में भी कर्ता में जो प्रेरणाऐं काम करती है उसका अवलोकन वह करले इस हेतु से इनके त्रिगुणात्मक स्वरूपों का वर्णन किया है। उद्देश्य है व्यक्ति अपनी त्रिगुणात्मक स्थिति को जानकर उसे सुधारने का समुचित प्रयास कर सके।

इससे आगे (श्लोक-२३ से २७) कहा गया है कि श्रद्धा (अर्थात् निश्चयात्मक विचार) यदि परमात्म सत्ता के प्रति हैं तो उसका निरसन नहीं वरन् उपासना द्वारा उसका पोषण किया जाना चाहिए। परम सत्ता के जिस भी स्वरूप को व्यक्ति ने ग्रहण किया हो उसे उपासना द्वारा पुष्ट करते हुए अपने जीवन का अंग बनाने का जो सतत अभ्यास करना चाहिए इस निर्देश का कथन श्लोक-२३ में किया गया है। कहा गया है कि परम सत्ता को ॐ, तत्, सत्- इन तीन रूपों में व्यक्त किया जाता है और तदनुरूप उपासना के भी तीन स्वरूप हैं- १. जगत के रूप में व्यक्त चेतन सत्ता को 'सत', २. उस सत्ता के अव्यक्त स्वरूप को 'तत्', तथा ३. समस्त व्यक्त-अव्यक्त को ॐ के रूप में निर्देशित किया जाता है। साधक इनमें से जिस स्वरुप की चाहे उसकी उपासना को चुन सकता है। प्राचीन काल से ही उपासना के तीन रूप प्रचलित है।

अध्याय-१८ : इस अंतिम अध्याय में सांख्य पथ की अंतिम किंतु कठिनतम बाधा- कर्तापन के अहंकार- की समस्या की विवेचना की गई है। कर्म का संपूर्णत: से त्याग तो संभव ही नहीं है और जो लोग मोह के कारण नियत कर्मों का त्याग करते हैं उनका वह त्याग तामस है, तथा कर्मों को दुखरूप समझकर अथवा शारीरिक क्लेश के भय से त्यागता है तो वह कर्मत्याग राजस है, वस्तुतः शास्त्र विहित कर्मों को फलासक्ति त्याग कर किए जाते हैं तो वह त्याग सात्विक है(श्लोक-७ से ९)। कर्मफल त्याग में बाधक तत्व कर्तापन का अहंकार है इस तथ्य को प्रकाशित करने

के लिए कर्म संपन्न होने में जो कारक सांख्य शास्त्र में कहे गए हैं उनको श्लोक-१४ में उद्धृत करते हुए कहा गया है कि वे (कारक) पांच है- १. अधिष्ठान (कर्म का आश्रय स्थान अर्थात् शरीर, वाणी, मन), २. कर्ता (जीवात्मा) जिसे कर्ता होने की अनुभूति होती है, ३. करण (ज्ञानेंद्रियां तथा कर्म इंद्रियां), ४. अलग-अलग चेष्टाएँ (प्राणीक क्रियाऐं), ५. मन तथा बुद्धि में क्रियाशील चेतना(दैव)। इन पांच प्रकार के २३ कारकों में से केवल एक सूक्ष्म किंतु प्रबल कारक है कर्तापन का भाव जो व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में बड़ी बाधा बन जाता है(श्लोक-१४ से १७)। इस कर्तापन के भाव से, जो कि अहंकार से उत्पन्न होता है, उससे मुक्त कैसे हुआ जा सकता है इस हेतु से भगवान ने कर्म के होने में व्यक्तित्व के जो अंग-प्रत्यंग अपनी भूमिका निभाते हैं उनका उल्लेख श्लोक-१८ में किया है। कहा गया है कि परिज्ञाता (अर्थात् जीवात्मा की देहबद्ध स्तिथि जहाँ वह देह सुखों में बद्ध रहता है), ज्ञान (श्लोक-१३.७ से ११ में वर्णित जीवात्मा की ज्ञानपरक २० स्थितियों में से कोई भी स्थिति),और ज्ञेय (अध्याय-१३ में वर्णित जीवात्मा से उत्तर चेतन सत्ता महेश्वर)- ये तीन तो पुरुष प्रधान तत्व है जो कर्म के प्रेरक हैं, तथा प्रकृति प्रधान तीन तत्व हैं कर्ता (कर्तापन के भाव से युक्त जीवात्मा), करण (अर्थात् बुद्धि और धृति), और कर्म- ये तीन प्रकृति प्रधान कारक तत्व है जो कर्म के होने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इनमें से ज्ञेय रूप महेश्वर नामक सत्ता, जिसमें प्रकृति पूर्णत: इसके नियंत्रण में हो चुकी होती है, को छोड़कर अन्य पांचो कारकों के त्रिगुणात्मक वर्णन श्लोक-२० से ३९ में इस हेतु से किए गए हैं कि सांख्य पथ का साधक स्व-परीक्षण द्वारा यह पता कर सके कि इन कारक तत्वों में से किस में पुरुष तत्व की अपेक्षा प्रकृति अधिक प्रभावी होकर अपना तोड़क स्वभाव (disintegrating effect) अहंकार के रूप में प्रकट कर रही है। यह सब जानना सांख्य मार्ग के उन साधकों के लिए आवश्यक होने से भगवान ने वर्णन किया है क्योंकि उनकी साधना स्व-प्रयास वाली होती है जबकि भक्तों को अहंकार निरसन की समस्या से जूझने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उसका अहंकार तो भगवान का सेवक बन चुका होता है। स्व-प्रयास द्वारा अहंकार से पूर्णत मुक्त होने में एक कठिनाई और उपस्थित होती है। कर्म के विभिन्न घटकों की त्रिगुणात्मक स्थितियों, जो श्लोक-२० से ३९ में वर्णित की गई है, उन पर निरंतर जागरूकता बनाए रखने पर इन क्षेत्रों में तो अहंकार क्षमन हो जाएगा, किंतु वह समूल नष्ट नहीं होगा क्योंकि जो जागरूक रहकर निगरानी करेगा वह अहंकार-अंश तो शेष रहेगा ही। इसके निरसन हेतु सांख्य साधक को जिस प्रकार की मन, वाणी और शरीर को वश में करने वाली कठोर साधना करना होगी उसका वर्णन भगवान ने आगे श्लोक-५० से ५३ में किया है।

सांख्य मार्ग की उक्त कठोर साधना की तुलना में भगवान ने भक्ति मार्ग की सरलता का प्रतिपादन इस रूप में किया है कि व्यक्ति की चेतना स्थिति जिस स्तर की भी हो वह तदनुरूप कर्म भगवत सेवा के रूप में करते हुए भगवत प्राप्ति के लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त कर सकता है। इस तथ्य की व्याख्या करने हेतु भगवान ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के स्वभाव-जन्य, गुण और कर्मों का वर्णन (श्लोक-४१ से ४४ में) करके यह प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति यदि अपनी चेतना की स्थिति अनुरूप कर्मों (स्वकर्माणा) द्वारा प्राणियों में उपस्थित उस परम सत्ता की पूजा करता है तो अहंकार भी परमात्मा का सेवक बन जाने से उसका विषैला डंक टूट जाता है और साधक की एक बड़ी बाधा दूर हो जाने से उसके लिए सिद्धि का मार्ग खुल जाता है।

इस प्रकार अहंकार निरसन की दोनों साधनाओं- सांख्य मतावलम्बियों की स्वप्रयास वाली साधना का और भगवत आश्रय लेने वालों की भक्ति रूप साधना का वर्णन करने के उपरांत भगवान ने निष्कर्ष दिया है कि हे अर्जुन! मैंने तुझे जो कुछ ज्ञान युक्त निर्देश दिए हैं वह तू अपने हृदयस्थ ईश्वर (अर्थात् महेश्वर सत्ता) की शरण में जाकर भी प्राप्त कर सकेगा। भगवान के कथन का तात्पर्य यह था कि 'मैंने तुझे जो ज्ञान दिया है वह मैंने आध्यात्मिक सत्ता महेश्वर से एक रूप होकर ही कहा है किंतु यदि तू मेरी उस भूमिका को समझ नहीं पा रहा है तो तू स्वयं अपने हृदयस्थ उस महेश्वर सत्ता के प्रति पूर्ण रूप से शरणागत होजा, तुझे यही ज्ञान वहाँ से भी मिलेगा जो मैंने तुझे दिया है।

इस प्रकार अपने स्वाभाविक कर्मों से परमात्मा की पूजा रूप कर्म-योग के मार्ग द्वारा भगवत प्राप्ति की सरल साधना का निर्देश पूर्णकर भगवान ने गीता उपदेश का तो समापन कर दिया है, आगे श्लोक-६७ से ७२ में यह महत्वपूर्ण संदेश दिया गया है कि इस उपदेश को किस प्रकार की धारणा वाले व्यक्ति को सुनना उपयुक्त होगा।
परमात्म सत्ता में अभी जिनकी तनिक भी धारणा नहीं बनी है, स्वार्थ छोड़ने में जो मानसिक और शारीरिक तप करना पड़ता है उसके लिए जो भी तत्पर नहीं है और जो इस उपदेश को सुनना भी नहीं चाहते क्योंकि वे भगवत सत्ता में दोष दृष्टि रखते हैं, उनको यह उपदेश सुनाना व्यर्थ होगा। किंतु जो ऐसे नहीं है उन्हें मेरे भक्त यह वार्ता अवश्य सुनाएं।

अंत में भगवान ने अर्जुन से प्रश्न किया कि क्या तूने मेरे वचनों को श्रद्धा पूर्वक एकाग्रचित्त हो सुना है और तेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हुआ क्या? भगवान के प्रश्न के उत्तर में अर्जुन ने कहा- 'आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं आपकी आज्ञा अनुसार युद्ध करने के लिए तत्पर हूँ।' अर्जुन को मोह था उसका वह अनिर्णित सोच कि युद्ध में उन पूज्य जनों को मार डालना मेरे लिए उचित होगा अथवा अनुचित, जो किन्ही निजी कारणों से कौरव सेना का नेतृत्व करने लगे थे यद्यपि वे सदा हमारा (पांडवों का) पक्ष न्यायपूर्ण समझ कर हमें स्नेह करते रहे थे। 'स्मृति' प्राप्ति का अर्थ भी आध्यात्मिक नहीं लिया जा सकता, जैसा कि टीकाकारों ने लिया है क्योंकि मात्र ज्ञान सुनकर न तो अर्जुन को आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त हुई थी (जैसा कि अभिमन्यु वध हो जाने पर उसके होश खो देने से स्पष्ट है) और न ही किसी को हो सकती है। जीवन में ज्ञान उतरता है ज्ञान युक्त कर्म के निरंतर अभ्यास से। यहाँ 'स्मृति लब्धा' शब्दों से अर्जुन का भाव था कि उसे अपने कर्तव्य कर्म की समझ प्राप्त हो गई थी।

यहाँ अर्जुन-श्रीकृष्ण वार्ता समाप्त हो जाती है। आगे पांच श्लोकों में संजय के उद्गार हैं जो यह संदेश देते हैं कि एक शुद्ध हृदय श्रोता भी अर्जुन-श्रीकृष्ण संवाद को सुनकर, संजय के समान ज्ञान-लाभ प्राप्त कर अपने जीवन को आलोकित कर सकता है। इस संबंध में अंतिम श्लोक-७८ में संजय के शब्द- 'यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण है और धनुर्धारी अर्जुन है वहाँ श्री, विजय, विभूति और ध्रुवा नीति है' बहुत महत्वपूर्ण है। व्यक्ति में श्रीकृष्ण और अर्जुन क्रमशः परमात्मा की ज्ञान शक्ति और प्रकृति कर्म शक्ति को निरूपित करते हैं, अतः संजय के शब्दों का तात्पर्य है जिस व्यक्ति के कर्म, ज्ञान शक्ति के निर्देशन में क्रियान्वित होते हैं वहाँ उपरोक्त चारों वस्तुएं फल होती है। इन चारों का वर्णन भगवान ने अध्याय-१० में अपनी विभूतियों के रूप में किया है। अतः इनके अर्थ के लिए हमें इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। श्लोक १०.३४ में कीर्ति, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा के साथ 'श्री' को मन की एक प्रवृत्ति के रूप में वर्णित किया गया है, और शब्द कोश में व्याख्या दी गई है कि मानव जीवन के चार उद्देश्यों (पुरुषार्थों)- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- में से प्रथम तीन (अर्थात धर्म, अर्थ, काम) की समष्टि का नाम 'श्री' है। अतः सांसारिक जीवन को सुखी बनाने वाले पुरुषार्थ को 'श्री' नाम से संबोधित किया गया है। अतः सांसारिक जीवन को सुखी बनाने वाले पुरुषार्थ को 'श्री' नाम से संबोधित किया गया है। इसी प्रकार श्लोक-१०.३६ में 'विजय' की व्याख्या भगवान ने यह की है कि सात्विक पुरुषों द्वारा पुरुषार्थ से प्राप्त 'विजय' मैं हूँ। 'विभूति' का शाब्दिक अर्थ है विशेष रूप से होना,

और भगवान ने अध्याय-१० में अर्जुन द्वारा भगवान की विभूतियों को जानने की इच्छा व्यक्त करने पर भगवान ने अपने कुछ मुख्य-मुख्य अभिव्यक्तियों का वर्णन किया था, अतः 'विभूति' से यहाँ तात्पर्य हुआ- भगवत सत्ता की व्यक्तित्व में विशेष अभिव्यक्ति, चतुर्थ विशेषता के लिए संजय के शब्द है- ध्रुवा नीति। हमारा अनुमान है, भगवान ने जिसे 'शाश्वत धर्म' (श्लोक-१४.२७) कहकर उसकी विवेचना सृष्टि विकास के रूप में की थी, संजय के शब्दों में उसी का संकेत है। हमारा यह अनुमान इस तथ्य से पुष्ट भी हो रहा है कि उपरोक्त चार बातों में प्रथम दो (श्री और विजय) धर्मनिष्ठ व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन को, और शेष दो (विभूतियां और ध्रुवा नीति) श्रीकृष्ण के समान पूर्णता प्राप्त आध्यात्मिक सत्ता को परिभाषित कर रहे हैं।

◆ ◆ ◆

गीता की पृष्ठभूमि 'महाभारत' से

महाभारत युद्ध के दसवें दिन जब भीष्म पितामह युद्ध के मैदान में धराशाई हो गए तो कौरव पक्ष के लिए इस बड़े भारी आघात की सूचना राजा धृतराष्ट्र को देने के लिए मंत्री संजय कुरुक्षेत्र की रणभूमि से हस्तिनापुर आये और उन्होंने जब यह सूचना राजा को दी तो जीत की सारी आशाओं पर तुषारापात कर देने वाली इस खबर से अंधे राजा की पैरों तले जमीन खिसक गई। धृतराष्ट्र प्रश्न-दर-प्रश्न करने लगे कि हमारी बड़ी भारी सेना के होते हुए यह घटना कैसे हो गई, जबकि हमने तो युद्ध की रणनीति ही यह निर्धारित की थी कि उन अजेय योद्धाओं की सुरक्षा करना ही हमारी प्राथमिकता रहेगी जो हमारे भाग्य से हमारे पक्ष में युद्ध का नेतृत्व करने को मजबूर हुए हैं क्योंकि वे कुमारावस्था में की गई अपनी उस प्रतिज्ञा से बंधें हैं जिसके अनुसार उन्हें प्राण रहते हस्तिनापुर की गद्दी की रक्षा करना है। धृतराष्ट्र को हुई घोर निराशा का चित्रण महाभारतकार ने उन प्रश्नों के माध्यम से किया है जो वह एक के बाद एक करता है और जो पूरे एक अध्याय (भीष्म पर्व, अध्याय-१४) में वर्णित हैं। अंत में धृतराष्ट्र संजय को पूरा विवरण सुनाने के लिए आदेशित करते हैं। संजय को भगवान व्यास ने एक वरदान दिया था जिससे वह रणक्षेत्र की प्रत्येक घटना को प्रत्यक्ष देख-सुन सकता था। हमारा अनुमान है कि यह वरदान सीमित दूरी तक काम करने वाला कोई ऑडियो विजुअल यंत्र भी हो सकता है जो धारक को रणक्षेत्र की घटनाओं की प्रत्यक्ष जानकारी दे सकता था।

धृतराष्ट्र के उक्त प्रश्नों का सार गीता में केवल एक श्लोक - प्रथम श्लोक में समेट दिया गया है जो उसकी मानसिक सोच को प्रकाशित करते हुए आध्यात्मिक शून्यता का दिग्दर्शन कराता है।

◆ ◆ ◆

एक सूत्र में दो निष्ठाओं का गठबंधन

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा , पुरा प्रोक्ता मयानघ । ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां , कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३.३॥

प्रथम अध्याय

अर्जुन.विषाद.योग

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे , समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव , किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

पदच्छेद

धर्म-क्षेत्रे कुरु-क्षेत्रे , समवेताः युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाः च एव , किम् अकुर्वत सञ्जय ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्र उवाच - धृतराष्ट्र बोले **- 'सञ्जय -** हे संजय ! **धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे, युयुत्सवः समवेताः-** धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए **मामकाः च एव पाण्डवाः किम् अकुर्वत -** मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

टिप्पणीः धृतराष्ट्र के मुंह से कहलवाये गये, महाभारत के रचनाकार महर्षि व्यास के उपरोक्त वचनों की अनेक टीकाकारों ने जो सुंदर विवेचनाये की है उनका आशय यह है कि व्यक्ति के अंतर में (मन-बुद्धि/हृदय में) और उसके बाह्य व्यवहारिक जीवन में भी धर्म-अधर्म का जो संघर्ष चलता रहता है उसे ही यहाँ इंगित किया गया है। यह विवेचनाये पठनीय और मननीय हैं। हम उपरोक्त शब्दों में निहित एक और महत्वपूर्ण पक्ष की ओर भी यहाँ पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे।

ये शब्द अंधे — वस्तुतः मोह से अंधे — राजा धृतराष्ट्र के हैं जो उस युद्ध को कौरव पक्ष के लिए भी धर्मयुद्ध मान रहा था। धृतराष्ट्र को अपने आततायी पुत्रों का पक्ष भी धर्म युक्त दिख रहा था। इस प्रकार की मोहग्रस्त दृष्टि हमारे सुख-शांति के विनाश का कारण बनती है, इसे महर्षि व्यास ने 'महाभारत' में संभवत: इतिहास की एक कथा को आध्यात्मिक कथा के रूप में रूपांतरित करके प्रस्तुत किया है। एक तरफ सत्य-ज्ञान में स्थित आत्मा को निरूपित करते श्रीकृष्ण हैं और उनके निर्देशन में कार्य करने वाले व्यक्ति के पंच कोश रूप पांच पांडव है तो दूसरी और मोह और अज्ञान के मूर्तरूप धृतराष्ट्र तथा उससे उपजी असत वृत्तियों को कौरवों के रूप में चित्रित

किया गया है। इन दोनों पक्षों के बीच अंतिम निर्णायक संघर्ष को ही महाभारत युद्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके स्थान का वर्णन भी प्रतीकात्मक रूप से वैसा ही आध्यात्मिक संदेश देने वाला है।

महाभारत युद्ध जहाँ लड़ा गया वह भौतिक रूप में कुरुक्षेत्र नामक भू-भाग में हिरण्वति नदी के किनारे एक उपयुक्त मैदान था। आध्यात्मिक दृष्टि से यह व्यक्ति का मनस है और हिरण्वति नदी उसे जीवन देने वाले प्राणों का प्रवाह है जो व्यक्ति को कर्म क्षेत्र में क्रियाशील बनाए रखने के लिए हिरणवत (स्वर्ण के समान) बहुमूल्य है। व्यक्ति के यह दोनों क्षेत्र - प्राण और मनस - उसकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए बहुमूल्य हैं किंतु जब 'मेरे-तेरे' की राग-द्वेष युक्त दृष्टि मूल सत्य पर पर्दा डाल देती है तो अधर्म भी उसे धर्म दिखाई देने लगता है जो 'महाभारत' के रूप में सर्वनाश का कारण बन जाता है।

धृतराष्ट्र की उक्त मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन 'महाभारत' के प्रजागर (अर्थात् जाग/ अनिद्रा) नामक उप-पर्व (उद्योग पर्व अध्याय-३३ से ४६) में बहुत विस्तार से कराया गया है जहाँ विदुर ने आस्तिक दर्शन पर आधारित धर्म के प्रवृत्ति पथ का और ऋषि सनत्सुजात ने सांख्य दर्शन आधारित निवृत्ति पथ का वर्णन करके धृतराष्ट्र के अशांत मन को शांत करने के भरसक प्रयास किए किंतु दोनों महात्मा असफल रहे क्योंकि धृतराष्ट्र के मन-बुद्धि तो कौरव पक्ष की भूमिका को धर्मयुद्ध सिद्ध करने के फेरे में डूबा हुआ था। धृतराष्ट्र की उस मानसिक स्थिति का संकेत करने के लिए गीताकार ने धृतराष्ट्र के मुंह से प्रथम शब्द 'धर्मक्षेत्रे' कहलवा कर गीता का प्रारंभ किया है और हमें उस प्रकार की असत्यपरक मोह दृष्टि से मुक्त रहने की आवश्यकता के प्रति जागृत किया है।

संजय का उत्तर : पृष्ठ-भूमि

संजय राजा धृतराष्ट्र का एक विश्वसनीय और विद्वान मंत्री था। स्पष्ट वक्ता होने से राजा को भी वह उनकी त्रुटियों से अवगत कराने में संकोच नहीं करता था। धृतराष्ट्र के प्रश्नों के उत्तर में संजय ने जो कुछ कहा उसका सार यह था कि भीष्म पितामह के धराशाई होने की घटना में किसी और की त्रुटि नहीं वरन्् कौरवों का कमजोर नैतिक धरातल था जिसके कारण दुर्योधन को अपने सेनापति (पितामह भीष्म) और उप सेनापति (आचार्य द्रोण) की भी अपने पक्ष के प्रति निष्ठा का भरोसा नहीं था। वह जानता था कि वे लोग तथा उसके पक्ष में खड़े अन्य राजा लोग भी अपने-अपने कुछ

निजी कारणों (स्वार्थ) के प्रयोजन से वहाँ उसके पक्ष में खड़े हुए थे। इसी स्थिति के कारण दुर्योधन की व्यग्रता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। वह इस बात को लेकर अधिकाधिक शंकालु होता जा रहा था और युद्ध के नौवें दिन तो जब उसने भीष्म जी पर प्रत्यक्ष ही बेवफाई का आरोप लगाया तो भीष्म ने 'इधर कुआँ, उधर खाई' वाली विकट स्थिति में अपने को फंसा पाकर स्वयं को बलिदान करने का वह रास्ता अपनाया जिसके अंतर्गत ही दूसरे दिन उनके धराशाई हो जाने की वह घटना घटी। इस पूरे घटनाक्रम को तो संजय ने विस्तार से बाद में सुनाया, यहाँ तो अभी संक्षेप में वह केवल उतना ही सुना रहा है जिससे धृतराष्ट्र की व्यग्रता कम हो जाए और वह पूरा ब्यौरा कुछ शांत होकर सुन सके।

संजय के कथन को श्लोक क्रमांक २ से २१ की प्रथम पंक्ति तक वर्णित किया गया है। हम इनका अध्ययन दो भागों में करेंगे।

श्लोक क्रमांक २ से १३ का सार यह है कि दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जाकर दोनों सेनाओं का जिस प्रकार का विवरण दिया उसके वर्णन द्वारा संजय ने दुर्योधन की दुर्बल मनोदशा को प्रकट किया है और श्लोक क्रमांक १४ से २० की प्रथम पंक्ति में पांडव पक्ष के और विशेषतः अर्जुन के उत्साह पूर्ण उच्च मनोबल का दिग्दर्शन कराया है।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं , व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य , राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

दृष्ट्वा तु पाण्डव-अनीकम् , व्यूढम् दुर्योधनः तदा । आचार्यम् उपसङ्गम्य , राजा वचनम् अब्रवीत् ॥

सञ्जयः उवाच - संजय ने कहा- (हे राजन !) **पाण्डव-अनीकम् व्यूढम् दृष्ट्वा** - पाण्डव-सेना की व्यूह रचना देखकर **तदा राजा दुर्योधनः आचार्यम् उपसङ्गम्य वचनम् अब्रवीत्** - उस समय राजा दुर्योधन ने गुरु द्रोण के पास पहुंचकर(ये) वचन कहे -

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् , आचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण , तव शिष्येण धीमता ॥३॥

पश्य एताम् पाण्डु-पुत्राणाम् , आचार्य महतीम् चमूम् । व्यूढाम् द्रुपद-पुत्रेण , तव शिष्येण धीमता ॥

आचार्य - हे आचार्य ! **तव धीमता शिष्येण द्रुपद-पुत्रेण व्यूढाम्** - आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा रचित व्युह मे खड़ी **पाण्डु-पुत्राणाम् एताम् महतीम् चमूम् पश्य** - पाण्डुपुत्रों की 'इस महान' सेना का अवलोकन करिये।

अत्र शूरा महेष्वासा , भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च , द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

अत्र शूराः महा-इषु-आसाः , भीम-अर्जुन-समाः युधि । युयुधानः विराटः च , द्रुपदः च महारथः ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः , काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च , शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

धृष्टकेतुः चेकितानः , काशिराजः च वीर्यवान् । पुरुजित् कुन्तिभोजः च , शैब्यः च नर-पुङ्गवः ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त , उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च , सर्व एव महारथाः ॥६॥

युधामन्युः च विक्रान्तः , उत्तमौजाः च वीर्यवान् । सौभद्रः द्रौपदेयाः च , सर्वे एव महारथाः ॥

अत्र महेष्वासा च युधि भीमार्जुनसमा - इस सेना में बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्ध में भीम-अर्जुन के सामान **शूराः युयुधानः च विराटः च महारथः द्रुपदः** - शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद (श्लोक-४), **धृष्टकेतुः च चेकितानः , च वीर्यवान् काशिराजः -** धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान काशिराज, **पुरुजित् कुन्तिभोजः च नर-पुङ्गवः शैब्यः** - पुरुजित्, कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य (श्लोक-५), **विक्रान्तः युधामन्युः च वीर्यवान् उत्तमौजाः** - पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तममौजा, **सौभद्रः च द्रौपदेयाः सर्वे एव महारथाः** - सुभद्रपुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पांचो पुत्र- ये सभी महारथी है।

पांडव सेना के महारथियों के नाम गिनाने के बाद, दुर्योधन अब अपनी सेना के प्रमुख सहयोगी योद्धाओं का वर्णन इस प्रकार कर रहा है-

अस्माकं तु विशिष्टा ये , तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य , संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७॥

अस्माकम् तु विशिष्टाः ये , तान् निबोध द्विज-उत्तम । नायकाः मम सैन्यस्य , संज्ञार्थम् तान् ब्रवीमि ते ॥

द्विजोत्तम - हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! **अस्माकम् तु ये विशिष्टाः तान् निबोध** - हमारे पक्ष के भी जो विशेष (शक्तिशाली वीर) योद्धा है उन्हें जान लीजिये **मम सैन्यस्य नायकाः ते संज्ञार्थम् तान् ब्रवीमि** - मेरी सेना के (जो) सेनापति है, आपकी जानकारी के लिये उनको बतलाता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च , कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च , सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

भवान् भीष्मः च कर्णः च , कृपः च समितिञ्जयः । अश्वत्थामा विकर्णः च , सौमदत्तिः तथा एव च ॥

भवान् च भीष्मः च कर्णः च समितिञ्जयः कृपः - आप (द्रोणाचार्य जी) और (पितामह) भीष्म तथा कर्ण और संग्राम विजयी कृपाचार्य **च तथा एव अश्वत्थामा विकर्णः च सौमदत्तिः** - तथा वैसे ही अश्र्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः शूरा , मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः , सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्ये च बहवः शूराः , मदर्थे त्यक्त-जीविताः । नाना-शस्त्र-प्रहरणाः , सर्वे युद्ध-विशारदाः ॥

अन्ये च मदर्थे त्यक्त-जीविताः बहवः शूराः - और भी मेरे लिए जीवन का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत बहुत से शूरवीर हैं **नानाशस्त्र-प्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः** - (जो) अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित है (और) सभी युद्धविद्या में निपुण हैं।

दोनों सेनाओं का वर्णन करने के बाद दुर्योधन अब अपने पक्ष की कमजोरी को प्रकट करते हुए विजय प्राप्त करने हेतु रणनीति का उल्लेख करता है-

अपर्याप्तं तदस्माकं , बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां , बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अपर्याप्तम् तत् अस्माकम् , बलम् भीष्म-अभिरक्षितम् । पर्याप्तम् तु इदम् एतेषाम् बलम् , भीम-अभिरक्षितम् ॥

भीष्म-अभिरक्षितम् तत् अस्माकम् बलम् अपर्याप्तम् - भीष्म पितामह द्वारा संरक्षित वह हमारी सैन्य शक्ति अपर्याप्त हैं, **तु भीम-अभिरक्षितम् इदम् एतेषाम् बलम् पर्याप्तम्** - किन्तु भीम से संरक्षित यह इनकी सैन्य शक्ति पार्यप्त है।

अयनेषु च सर्वेषु , यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु , भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अयनेषु च सर्वेषु ,यथा-भागम् अवस्थिताः । भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु , भवन्तः सर्वे एव हि ॥

च सर्वेषु अयनेषु यथा-भागम् अवस्थिताः - तथापि (व्यूह के) सभी मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए **भवन्तः सर्वे एव हि भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु** - अन्य सभी निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब और से रक्षा करे।

दुर्योधन के उपरोक्त वचनों का मर्म क्या था इस बारे में टीकाकारों के मत दो विपरीत ध्रुवों में बटे हुए हैं। एक वर्ग दुर्योधन के वचनों में विजय का विश्वास देखता है तो

दूसरा वर्ग निराशा और हताशा की छाया देखता है। इस दुविधात्मक स्थिति से निकलने हेतु हमें कुछ शब्दों/तथ्यों पर ध्यान देना होगा। सर्वप्रथम हम श्लोक-१० के 'पर्याप्त' शब्द पर विचार करें। प्रथम वर्ग के टीकाकारों ने तो इस शब्द के खींचतान करके 'बहुत कम, सीमित, गणनीय' इस प्रकार के अर्थ कर दिए है जबकि ऐसा अर्थ शब्द कोश से ध्वनित ही नहीं होता। 'पर्याप्त' शब्द के अर्थ है- भरा हुआ, पूर्ण, सारा, समग्र, सक्षम, यथेष्ट आदि। वस्तुतः दुर्योधन अपनी सेना की शक्ति को, पांडव सेना की अपेक्षा कमतर ही कह रहा था। यद्यपि कौरव सेना संख्या में काफी बड़ी थी क्योंकि यह ११ अक्षौहिनी तथा पांडव सेना ७ अक्षौहिनी थी तथापि उसके कथनानुसार वीर योद्धा पांडव पक्ष में अधिक थे। दुर्योधन ने पांडव पक्ष के, पांच पांडवों के अतिरिक्त १७ महारथियों के नाम गिनाए हैं तथा अपनी सेना के कुल ७, तथा इनमें भी कईयों के प्रति वह आश्वस्त नहीं था, यहाँ तक कि गुरु द्रोण के प्रति भी वह पूर्णत: आश्वस्त नहीं था। उसका यह भाव उसके वचनों से ध्वनित हो रहा है। यह बात आचार्य द्रोण के प्रति उसके संबोधन 'द्विज' शब्द से एवं पांडव सेना के सेनापति धृष्टद्यूम्न के गुरु रहे होने का उल्लेख करने से प्रकट है। उसके मन में भाव यह था कि गुरु द्रोण मूलतः शिक्षक है और पांडव पक्ष में अनेक योद्धा उनके शिष्य रहे हैं। उनका अर्जुन के प्रति प्रेम तो जगजाहिर था ही, अन्य शिष्यों के प्रति भी उनमें इस प्रकार का भाव उभर आना सहज स्वभाविक होगा। इस प्रकार, उसे अपनी सेना के विशाल होने के बावजूद अपने पक्ष की शक्ति कमजोर लग रही थी। उसके शब्द-'हमारे पक्ष में और भी बहुत से शूरवीर हैं जो मेरे लिए जीवन की आशा त्याग चुके हैं' (त्यक्त जीविता)- जहाँ एक और उसकी मानसिक हताशा के द्योतक हैं, वही वे उसके विकृत अहंकार को दर्शाते हैं। वस्तुतः पिता धृतराष्ट्र की तरह ही उसको भी विजय की आशा थी तो केवल भीष्म पितामह के बल और नेतृत्व पर ही। अतः वह अपने पक्ष की युद्ध योजना (स्ट्रेटजी) के अनुरूप कहता है कि आप सब लोग अपने-अपने मोर्चो पर स्थित रहते हुए सब ओर से भीष्म पितामह की रक्षा करें। (श्लोक-११)

भीष्म उसकी निराशा युक्त यह बातें सुनकर उसे उत्साह दिलाने हेतु सिंह की दहाड़ जैसा शंखनाद करते हैं। संजय आगे वर्णन करता है-

तस्य सञ्जनयन्हर्षं , कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः , शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षम् , कुरु-वृद्धः पितामहः । सिंहनादम् विनद्य उच्चैः , शङ्खम् दध्मौ प्रतापवान् ॥

कुरु-वृद्धः पितामहः प्रतापवान् - कौरवों में वयोवृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने **तस्य हर्षम् सञ्जनयन्** - उसके (दुर्योधन के , हृदय में) हर्ष उत्पन्न करते हुए **उच्चैः सिंहनादम् विनद्य शङ्खम् दध्मौ** - उच्च स्वर से सिंह की दहाड़ के समानं गरज कर शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च , पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त , स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणव-आनक-गोमुखाः । सहसा एव अभ्यहन्यन्त सः शब्दः तुमुलः अभवत् ॥१३॥

ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणव-आनक-गोमुखाः - तत्पश्चात् शंख बड़े ढोल-नगाड़े; और ढोल-मृदंग , श्रृंग(नरसिंघे) **सहसा एव अभ्यहन्यन्त** - एक साथ ही बज उठे। **सः शब्दः तुमुलः अभवत्** - वह नाद बहुत तीव्र था।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते , महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव , दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः श्वेतैः हयैः युक्ते , महति स्यन्दने स्थितौ । माधवः पाण्डवः च एव , दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥

ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ – तब श्वेत रंग के घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए **माधवः च पाण्डवः एव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः** - श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अलौकिक शंख बजाये|

महर्षि व्यास ने इस श्लोक में और आगे के कुछ श्लोकों में कुछ गहन आध्यात्मिक तथ्यों की ओर संकेत किया है। दुर्योधन की वार्ता में उसकी मानसिक हताशा का चित्रांकन था। आगे अर्जुन की वार्ता (श्लोक- २० से २३) में हमें उसके उत्साह स्पंदित मनस का दर्शन कराया जाएगा, किंतु यहाँ पांचो पांडवों सहित श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूपों का संकेतात्मक वर्णन उनके शंखों के विशिष्ट नाम देकर किया गया है तथा अर्जुन और श्रीकृष्ण को एक ही रथ पर, योद्धा और सारथी के रूप में, आरूढ़ बताया गया है। वस्तुतः यह चित्रांकन कुछ परिवर्तन के साथ कठोपनिषद (१.३.३) में मिलता है। उस वर्णन में रथ प्रतीक है शरीर का, इसे खींचने वाले घोड़े इंद्रियाँ हैं, मन लगाम है, रथी जीवात्मा है और लगाम थामने वाला सारथी है व्यक्ति की विवेक बुद्धि। गीता ने अर्जुन को रथी (जीवात्मा) और श्रीकृष्ण को जीवात्मा का सखा-सह- सारथी के रूप में आसीन किया है। इंद्रियें रूप घोड़ों को भी श्वेत रंग का बतलाने का तात्पर्य यह है कि वे पूर्ण नियंत्रण में है। रथ पर अर्जुन के सारथी के रूप में श्रीकृष्ण को बैठाकर गीता ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत किया है। गीता ने यहाँ तथा आगे अनेक स्थलों पर उपनिषदों में ‘द्वा सुपर्णा …. ’ मंत्र द्वारा वर्णित इस तथ्य को इंगित किया है कि जीवात्मा से उच्च एक और

आध्यात्मिक सत्ता है जो जागृत हो जाने पर जीवात्मा को आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ाती है। गीता में इस सत्ता को ही श्रीकृष्ण के रूप में तथा अर्जुन को जीवात्मा के रूप में चित्रित किया गया है। वस्तुतः यहाँ इस तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है कि सद्कर्मो में स्थापित हो चुके व्यक्ति में यह उच्च सत्ता जाग्रत होकर उसे आध्यात्म मार्ग पर आगे बढ़ाती है। यह जीवात्मा का सखा, सुहृद और सारथी बनकर उसे मानव जीवन के उच्चतम बिंदु तक पहुँचा देती है। गीता में आगे (श्लोक-९.१८) में भगवान ने अपनी इस सत्ता का और अधिक विवरण दिया है जहाँ उन्होंने अपनी इस सत्ता के बारे में कहा है - 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणम् सुहृत'- (विवेचना उक्त श्लोक के साथ देखें)। इसके अतिरिक्त, भगवान ने अपनी इस सत्ता का अनेक स्थलों पर भिन्न कर्म-भूमिकाओं के अनुरूप भिन्न प्रकार से वर्णन किया है जिनकी व्याख्या हम यथा स्थान करेंगे।

अगले दो श्लोकों में पांच पांडव सहित श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूप का अर्थात् व्यक्ति में वे किन चेतना स्तरों को निरूपित करते हैं इसका संकेत उनके शंखों के नाम देकर किया गया है -

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो , देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं , भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

पाञ्चजन्यम् हृषीकेशः , देवदत्तम् धनञ्जयः । पौण्ड्रम् दध्मौ महा-शङ्खम् , भीम-कर्मा वृक-उदरः ॥

हृषीकेशः पाञ्चजन्यम् धनञ्जयः देवदत्तम् - हृषीकेश भगवान श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख, **भीमकर्मा वृकोदरः महाशङ्खम् पौण्ड्रम् दध्मौ** - अतिमानवीय कर्म करने वाले (अतिभोजी) भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ।

अनन्तविजयं राजा , कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च , सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अनन्तविजयम् राजा , कुन्ती-पुत्रः युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवः च , सुघोष-मणि-पुष्पकौ ॥

कुन्ती-पुत्रः युधिष्ठिरः राजा अनन्तविजयम् - कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नाम का शंख **नकुलः च सहदेवः सुघोष-मणि-पुष्पकौ** - तथा नकुल सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक नामक शंख(बजाये)।

अगले कुछ श्लोंकों में पांडव सेना के १२ और महारथियों द्वारा शंख फूंकने का वर्णन कर उनके उत्साह को तो रेखांकित किया गया है किंतु उनके शंखों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया। यह बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि श्रीकृष्ण सहित पांचों पांडवों के अतिरिक्त और किसी भी महारथी के शंख का नाम उल्लेख

नहीं किया गया है, यहाँ तक कि सर्वप्रथम शंख फूंकने वाले कौरव सेनापति भीष्म पितामह के एवं पांडव सेनापति धृष्टद्यूम्न के भी शंख के नामों का उल्लेख नहीं है। इससे प्रकट होता है कि महाभारतकार ने उस ऐतिहासिक युद्ध के प्रमुख पात्रों में से छः का विशेष आध्यात्मिक रूपांतरण किया है। इनमे छिपे गूढ़ संकेतों का अर्थ निकालना हमारे लिए महत्वपूर्ण होगा। वस्तुतः महाभारतकार ने पांच पांडवों की, द्रौपदी की और श्रीकृष्ण की आध्यात्मिक पहचान को प्रकाशित करने के लिए कथा में विभिन्न स्थलों पर विभिन्न संकेतों का वर्णन किया है। विभिन्न देवताओं से उनकी उत्पत्ति, अज्ञातवास की अवधि में राजा विराट के यहाँ नौकरी करते हुए इनके द्वारा चुने गए विशेष-विशेष सेवा कार्य, तथा श्रीकृष्ण के महाप्रयाण के बाद हिमालय में युधिष्ठिर के अतिरिक्त शेष चारों पांडवों की मृत्यु-क्रम का जो वर्णन है वह व्यक्ति के चेतना स्तरों का निरूपण करता है। यहाँ शंखों के नामों से जिस प्रकार वह निरूपण किया गया है उसकी पड़ताल करने का हमारा प्रयास प्रस्तुत है।

इस विषय पर विचार करने पर प्रकट होता है कि पांच पांडव व्यक्ति के पांच कोश (चेतना विकास के स्तर) हैं और श्रीकृष्ण है वह सर्वोच्च स्तर जिसे प्राप्त करना मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है।

पांच पांडवों में युधिष्ठिर सबसे जेष्ठ भ्राता है अर्थात् उनका जन्म पांचों में सबसे पहले हुआ था। वह अन्नमय कोश (शरीर/पिंड) को निरूपित करते हैं। भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेव को क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश (ज्ञान के दो स्तर, जिनकी विवेचना हम आगे करेंगे, अतः नकुल-सहदेव को युग्मी भ्राताओं) के रूप में निरूपित किया गया है। वस्तुत: व्यक्ति में उक्त कोशों का निर्माण/विकास इसी क्रम में होता है। सर्वप्रथम शरीर बनता है, फिर क्रम से शारीरिक बल (प्राण), मानसिक शक्ति, पश्चात् बुद्धि तथा विवेक का विकास होता है। पांचों पांडवों के जन्म का क्रम यही है।

युधिष्ठिर के शंख का नाम अनंतविजय

'युधिष्ठिर' नाम का अर्थ ही है 'युद्ध में स्थिर' और उनके शंख का नाम 'अनंतविजय' भी सार्थक हो जाता है जब हम युधिष्ठिर को अन्नमय कोश अर्थात् शरीर गत चेतना का निरूपण मानते हैं। स्थूल शरीर रूप अन्नमय कोश में जो असंख्य कोशिकाएं / जीवकोश हैं उस स्तर पर अनेक प्रकार के रोगाणुओं से निरंतर युद्ध होते हुए भी

शरीर जीवित रहता है तो यह अन्नमय कोश की चेतना अर्थात् युधिष्ठिर की निरंतर विजय है। उनके शंख का अनंतविजय नाम इसी तथ्य को प्रकाशित करता है।

भीम के शंख का नाम पौण्ड्र

पौण्ड्र (= पुन्ड्र+अण) नाम लाल/सफेद रंग वाली वस्तुओं (जैसे इस रंग का गन्ना, कमल, तिलक) के लिए प्रयुक्त होता है। अध्यात्म क्षेत्र के चित्रण में रंगो का विशेष संकेत होता है- उदाहरणार्थ नीला रंग अनंत सत्ता रूप परमात्मा का (श्रीकृष्ण, श्रीराम को नीलवर्ण चित्रित किए जाते हैं), पीला रंग चराचर सृष्टि में व्याप्त चेतन शक्ति का (विष्णु, राम, कृष्ण पितांबर धारण करते हैं), लाल रंग सेवा कर्म रूप प्राणिक बल का (हनुमान- लाल देह) और श्वेत रंग तेज का द्योतक माना गया है। अतः भीम के शंख का पौण्ड्र नाम लाल और सफेद रंग का निरूपण करते हुए सात्त्विक प्राणशक्ति का संकेतक है। इस प्रकार, भीम को उसके शंख के पौण्ड्र नाम के द्वारा प्राणमय कोश में क्रियाशील सात्त्विक चेतना को निरूपित किया गया है।

अर्जुन के शंख का नाम देवदत्त

जैसा कि कहा जा चुका है अर्जुन हमारे मनोमय कोश को निरूपित करता है। उसके शंख का देवदत्त नाम इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि व्यक्ति को जो मानसिक शक्ति मिली है वह दैविक अनुग्रह है और इसका समुचित उपयोग कृष्ण-चेतना प्राप्ति में है और जिसका अपेक्षाकृत सरल और सुनिश्चित मार्ग स्वयं श्रीकृष्ण ने यहाँ गीता में ईश्वर भाव से मानव-सेवा/जीव-सेवा करना बताया है।

नकुल-सहदेव के शंख सुघोष-मणिपुष्पक

नकुल के शंख का नाम सुघोष (उत्तम शब्द) और सहदेव का शंख मणिपुष्पक (सुंदर प्रकाश) है। स्पष्ट ही यह नाम क्रमशः सुने हुए (अप्रत्यक्ष अर्थात् पर-संवेदी) बौद्धिक ज्ञान और स्व-प्रकाशित (प्रत्यक्ष/स्व-संवेदी/अंदर से उपजे ज्ञान) को इंगित करते है। वस्तुतःविज्ञानमय कोश में ज्ञान के ये दोनों स्तर समाविष्ट हैं और इस बात को इंगित करने के लिए इन्हे जुड़वा/सहजात/युग्म-भ्राता के रूप में वर्णित किया गया है। इतना ही नहीं, इन्हें अश्विनी कुमार के पुत्र बताया गया है जो कि वैदिक साहित्य में युग्म रूप में ही वर्णित हैं।

श्रीकृष्ण का शंख पाञ्चजन्य

श्रीकृष्ण का वर्णन वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक तीनों रूपों में हुआ है। वे इतिहास के महापुरुष हैं, पुराणों के अवतार पुरुष हैं और अध्यात्म के महा-ईश्वर (महेश्वर) हैं। गीता में अधिकांश स्थलों पर श्रीकृष्ण ने अपने महेश्वर रूप का वर्णन किया है और उस स्थिति की प्राप्ति हेतु कर्म योग और भक्ति योग का वर्णन किया है। गीताकार महामुनि व्यास प्रतीकों की भाषा में इस तथ्य पर प्रकाश डाल रहे हैं कि व्यक्ति जब अपने पांचों कोशों की चेतना को भगवत रूप समष्टि चेतना को समर्पित कर पाता है तब वह श्रीकृष्ण वाली (महेश्वर) स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस तथ्य को श्रीकृष्ण द्वारा पाञ्चजन्य शंख का उद्घोष किए जाने से व्यक्त किया गया है। ‘पाञ्चजन्य’ शब्द का अर्थ बनता है पांच से उत्पन्न, पांच कोशो के समर्पण से प्राप्त। पुराणों में पाञ्चजन्य से संबंधित बहुत सारी कथाएं वर्णित है, वे भी चेतना की उस सर्वोच्च स्थिति की द्योतक होने का संकेत देती हैं जिसके प्राप्त होने पर व्यक्ति का जीवन स्वयं के लिए नहीं वरन् समष्टि से एकीकृत हो जाता है। कुछ कथाओं में पाञ्चजन्य की उत्पत्ति समुद्र से बताई गई है जहाँ समुद्र पानी का सागर नहीं वरन् सर्वव्यापी चेतन शक्ति के अनंत विस्तार को निरूपित करता है। वस्तुतः अनेक पौराणिक कथाओं में समुद्र को इसी रूप में वर्णित किया गया है।

संजय अगले तीन श्लोकों में पांडव पक्ष के कुछ और महारथियों द्वारा शंख फूंकने का वर्णन करके वह उनके उत्साह का तो दूसरी ओर इस तुमुल शंख ध्वनि से कौरव पक्ष के भयंकित होने का वर्णन कर रहा है।

काश्यश्च परमेष्वासः , शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च , सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

काश्यः च परम-इषु-आसः , शिखण्डी च महारथः । धृष्टद्युम्नः विराटः च , सात्यकिः च अपराजितः ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च , सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः , शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदः द्रौपदेयाः च , सर्वशः पृथिवी-पते । सौभद्रः च महा-बाहुः , शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥

परम-इषु-आसः काश्यः च महारथः शिखण्डी - श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी, च **धृष्टद्युम्नः च विराटः , च अपराजितः सात्यकिः द्रुपदः च द्रौपदेयाः-** एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदी के (पांचों) पुत्र **च महा-बाहुः सौभद्रः सर्वशः** - और महावीर सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु, इन सभी ने **पृथिवीपते पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः** हे राजन! अपने-अपने शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां , हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव , तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

सः घोषः धार्तराष्ट्राणाम् , हृदयानि व्यदारयत् । नभः च पृथिवीम् च एव , तुमुलः अभ्यनुनादयन् ॥

सः तुमुलः घोषः - (शंखों की) उस घोर ध्वनि ने **नभः च पृथिवीम् अनुनादयन्** आकाश और प्रृथ्वी को भी गूंजाते हुए **धार्तराष्ट्राणाम् हृदयानि व्यदारयत्** धृतराष्ट्र के (अर्थात् आपके) पक्ष वालों के हृदय विदीर्ण कर दिये (अर्थात् भय से कम्पित कर दिए)।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा , धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते , धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा , धार्तराष्ट्रान् कपि-ध्वजः । प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते , धनुः उद्यम्य पाण्डवः।।

हृषीकेशं तदा वाक्यम् , इदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाच ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये , रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हृषीकेशम् तदा वाक्यम् , इदम् आह महीपते । सेनयोः उभयोः मध्ये , रथम् स्थापय मे अच्युत ॥

अथ कपि-ध्वजः पाण्डवः- इसके बाद कपिध्वजा वाले अर्जुन ने **व्यवस्थितान् धार्त्रराष्ट्रान् दृष्ट्वा** - व्युह मे खडी धृतराष्ट्र-सेना को देख कर **तदा शस्त्र-सम्पाते प्रवृत्ते** - उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय **धनुः उद्यम्य हृषीकेशम्** - धनुष उठाकर श्रीकृष्ण महाराज से **इदम् वाक्यम् आह** - यह वचन कहा **- अच्युत** हे अच्युत **! मे रथम् उभयोः सेनयोः मध्ये स्थापय** - मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये

यावदेतान्निरीक्षेऽहं , योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यम् , अस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

यावत् एतान् निरीक्षे अहम् , योद्धु-कामान् अवस्थितान् । कैः मया सह योद्धव्यम् , अस्मिन् रण-समुद्यमे ॥

यावत् अहम् अवस्थितान् योद्धु-कामान् एतान् निरीक्षे - जब तक मैं युद्धक्षेत्र में स्थित युद्ध के इच्छुक इन (योद्धाओं) का निरीक्षण कर लूँ (कि) **अस्मिन् रण-समुद्यमे कैः मया सह योद्धव्यम्** - इस युद्ध में एकत्र हुए मुझे किन-किन के साथ युद्ध किया जाना है

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं , य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः , युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

योत्स्यमानान् अवेक्षे अहम् , ये एते अत्र समागताः । धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः , युद्धे प्रिय-चिकीर्षवः ॥

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः , युद्धे प्रिय-चिकीर्षवः - धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र कि युद्ध में हित चाहने वाले **ये एते अत्र समागताः-** जो-जो ये राजालोग यहाँ आये है **योत्स्यमानान् अवेक्षे अहम् -** (इन) युद्ध करने वालों को मैं देखूंगा ।

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो , गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये , स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

एवम् उक्तः हृषीकेशः , गुडाकेशेन भारत । सेनयोः उभयोः मध्ये , स्थापयित्वा रथ-उत्तमम् ॥

सञ्जयः उवाच – संजय ने कहा **भारत -** हे भारतवंशी राजन ! **गुडाकेशेन एवम् उक्तः -** अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर **हृषीकेशःउभयोः सेनयोः मध्ये रथ-उत्तमम् स्थापयित्वा -** भगवान् कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस उत्तम रथ को खड़ा करके -

भीष्मद्रोणप्रमुखतः , सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् , समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः , सर्वेषाम् च मही-क्षिताम् । उवाच पार्थ पश्य एतान् , समवेतान् कुरून् इति ॥

भीष्म-द्रोण च सर्वेषाम् मही-क्षिताम् प्रमुखतः उवाच इति - भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओं के सम्मुख इस प्रकार कहा - **पार्थ -** हे पृथा के पुत्र अर्जुन ! **एतान् समवेतान् कुरून् पश्य-** इन सब (युद्ध के लिए) एकत्र हुए कुरुवंशियों को देख ले ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन के लिए कुछ अर्थ सूचक संबोधन

श्रीकृष्ण के लिए 'हृषिकेश' संबोधन की विद्वानों ने कई निरूक्तियाँ दी है (द्दष्टव्य: तिलक की 'गीता रहस्य' , हिंदी संस्करण- पृष्ठ ६१५)। इनमें से हम यहाँ केवल कुछ आध्यात्मिक अर्थ सूचक निरुक्तियों की ही चर्चा करेंगे। ऐसी दो निरुक्तियाँ दी गई है- १. हृषिकेश = हृषीक+ईश = इंद्रियों का स्वामी; २. हृषिकेश = हृषी (आनंद) + केश(किरण/प्रकाशक) = जगत को आनंद/हर्ष देने वाला। इसी प्रकार, अर्जुन के लिए संजय का 'गुड़ाकेश' संबोधन एक विशेष अर्थ का सूचक था। गुड़ाकेश=गुड़ाका(आलस्य, निद्रा) + ईश (विजय प्राप्त कर लेने वाला)। संजय ने अर्जुन के लिए इस संबोधन द्वारा धृतराष्ट्र को यह स्मरण कराया है कि अर्जुन वीर होने के अतिरिक्त कितना अध्यवसायी था। वनवास काल में वह निष्क्रिय नहीं बैठा वरन् शिव और इंद्र को भी अपनी योग्यता से प्रसन्न करके उनसे विशेष शस्त्रास्त्र प्राप्त करता फिर रहा था। इस प्रकार वह धृतराष्ट्र को पुनः चेता रहा था और प्रेरित कर रहा था कि कौरव पक्ष को अब तो विजय की आशा त्यागकर पांडवों को उनका इंद्रप्रस्थ राज्य लौटाकर आसन्न सर्वनाश से बचना चाहिये।

श्रीकृष्ण के 'पश्य एतान कुरुन्' शब्दों का विशेष प्रयोजन

अर्जुन के प्रति कहे गए इन वचनों में कि 'युद्ध के लिए जुटे हुए इन कुरुओं को देख ले' एक रहस्य छुपा था। अर्जुन ने तो विपक्ष को 'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बद्धेः' कहा था किंतु श्रीकृष्ण ने उन्हें कुरुन् कह कर उसके मन में दबे पड़े कुटुंब भाव को उभार कर फिर उनसे उसे मुक्त करना आवश्यक समझा जिससे युद्ध के दौरान वह भाव उस पर हावी न हो जाए। अर्जुन के मन में उस सुषुप्त भाव के पड़े होने का श्रीकृष्ण को जो अनुमान था वह एक पूर्व घटना पर आधारित था। युद्ध से दो दिन पूर्व धृतराष्ट्र ने संजय को, जो कि अर्जुन का बाल्यकाल से ही अति प्रिय मित्र था, पांडवों के पास इस हेतु से भेजा था कि वह किसी प्रकार भी पांडवों को समझा-बुझाकर युद्ध से विरत कर दे। संजय ने कुटुंब भाव जगाते हुए युद्ध से कुल के नाश होने और उससे कुल-धर्म नष्ट हो जाने की वे ही सब बातें कहीं थी जो श्रीकृष्ण द्वारा इस समय 'कुरुन को देख ले' शब्दों के प्रयोग द्वारा कुटुंब भाव उभारे जाने पर अर्जुन ने श्लोक २८ से ४६ में दोहराई है। संजय की उस वार्ता के समय श्रीकृष्ण भी वहाँ उपस्थित थे और वे जानते थे कि अर्जुन ने अपने प्रिय मित्र संजय की उन बातों को कितने मनोयोग पूर्वक और स्वीकार भाव से सुना था। यद्यपि युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण की तथ्यपरक धर्मपुष्ट विवेचनाओं से कायल होकर संजय धृतराष्ट्र की दुर्नीति को पहचान गया था तथा धृतराष्ट्र द्वारा उसे संदेशवाहक बनाने के पीछे भी धृतराष्ट्र की जो कूट चाल थी उसका उसे स्पष्ट ज्ञान हो गया था। संजय और अर्जुन के बीच बाल्यकाल से ही जो घनिष्ठ मित्रता थी उसका कूट-उपयोग वह पांडवों के इंद्रप्रस्थ राज्य को पुत्र दुर्योधन द्वारा हड़प कर लेने की चाल को सफल बनाने के लिए करना चाहता था, यह बात जब संजय की समझ में आ गई तो वह क्षुब्ध होकर हस्तिनापुर लौट गया और उसने राजा धृतराष्ट्र को खूब खरी-खोटी सुनाई। यद्यपि इस प्रकार सच्चाई का ज्ञान हो जाने पर संजय का तो हृदय परिवर्तन हो गया किंतु संजय द्वारा कही गई बातें जिसे अर्जुन ने बहुत मनोयोग पूर्वक सुनी थी, वे उसके अन्तस्तल में पैठ कर सुषुप्त पड़ी हो सकती थी जो किसी समय भी उभर सकती थी इस बात के प्रति श्रीकृष्ण सावधान थे। युद्ध के दौरान कभी असमय वह भवरोग न उभर पड़े इस हेतु, जैसे टीकाकरण (vaccination) द्वारा रोगाणुओं को शरीर में प्रवेश करा कर नष्ट किया जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने यहाँ 'कुरुन्' शब्द से अर्जुन के अन्तस्तल में संभावित रूप से दबी पड़ी कुरु वंश के प्रति मोह जनित भावनाओं को उभार कर गीता-ज्ञान द्वारा उनका उपचार किया है।

'कुरुन्' शब्द के प्रयोग का अर्जुन पर अपेक्षित प्रभाव ही हुआ। अर्जुन ने दोनों सेनाओं के प्रमुख योद्धाओं का जब अवलोकन किया तो उसे दोनों तरफ अपने

प्रियजनों का जमावड़ा दिखाई दिया। *अर्जुन के मन पर उभरने वाले मनोभावों का संजय ने निम्न दो श्लोंकों क्रमांक २६-२७ में वर्णन करने के उपरांत वह आगे अर्जुन के शब्दों को भी उद्द्त करता है-*

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः , पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् , पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

तत्र अपश्यत् स्थितान् पार्थः , पितॄन् अथ पितामहान् । आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् , पुत्रान् पौत्रान् सखीन् तथा ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव , सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः , सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

श्वशुरान् सुहृदः च एव , सेनयोः उभयोः अपि । तान् समीक्ष्य सः कौन्तेयः , सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् ॥

कृपया परयाविष्टो , विषीदन्निदमब्रवीत् ।

कृपया परयाविष्टः , विषीदन् इदम् अब्रवीत् ।

पार्थः तत्र उभयोः सेनयोः स्थितान् - अर्जुन ने वहाँ दोनों सेनाओं में स्थित **पितामहान् आचार्यान् पितॄन् मातुलान् -** (अपने) दादा-परदादाओं को, गुरुओं को, मामाओं को **भ्रातॄन् , पुत्रान् पौत्रान् सखीन् श्वशुरान् तथा सुहृदः अपि अपश्यत्-** भाइयों को, पुत्रों को, मित्रों को, ससुराल वालों को, तथा भले लोगों को भी देखा । **तान् सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् समीक्ष्य सः कौन्तेयः-** उन सब बंधुओं को वहाँ खड़े देखकर वह कुंतीपुत्र अर्जुन- **परया कृपया आविष्टः विषीदन् इदम् अब्रवीत् -** अत्यंत करुणा से युक्त होकर शोक करता हुआ इस प्रकार बोला -

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण , युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

दृष्ट्वा इमम् स्वजनम् कृष्ण युयुत्सुम् समुपस्थितम् ॥

सीदन्ति मम गात्राणि , मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे , रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखम् च परिशुष्यति । वेपथुः च शरीरे मे रोम-हर्षः च जायते ॥

अर्जुनः उवाच - अर्जुन ने कहा **कृष्ण -** हे कृष्ण ! **युयुत्सुम् इमम् स्वजनम् समुपस्थितम् दृष्ट्वा** - युद्ध के लिए उत्सुक इस स्वजन समुदाय को उपस्थित देखकर **मम गात्राणि सीदन्ति च मुखम् परिशुष्यति -** मेरे शरीर के अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है च मे शरीरे वेपथुः च रोम-हर्षः जायते - तथा मेरे शरीर में कंपन हो रहा है तथा रोमांच उत्पन्न हो रहा है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् , त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं , भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गाण्डीवम् स्रंसते हस्तात् , त्वक् च एव परिदह्यते । न च शक्नोमि अवस्थातुम् भ्रमति इव च मे मनः ॥

हस्तात् गाण्डीवम् स्रंसते- हाथ से गांडीव (धनुष) खिसका जा रहा है, **च त्वक् एव परिदह्यते-** तथा त्वचा भी बहुत जल रही है, **च अवस्थातुम् न शक्नोमि -** एवं खड़े रहने में भी मैं समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ, **च मे मनःभ्रमति इव -** तथा मेरा मन भी भ्रमित सा हो रहा है।

ऊपर के श्लोक २८ से ३० में अर्जुन ने अपने जिस प्रकार की मनो-शारीरिक दशा का वर्णन किया है वह आधुनिक मनोरोग विज्ञान में अत्यधिक मानसिक तनाव से उत्पन्न अवसाद / विक्षिप्त मनोदशा (न्यूरोसिस / न्यूरोटिक ब्रेकडाउन) का वर्णन दिखाई दे रहा है।

अब आगे वह अपने मानसिक तनाव का कारण भी बता रहा है-

निमित्तानि च पश्यामि , विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि , हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

निमित्तानि च पश्यामि , विपरीतानि केशव । न च श्रेयः अनुपश्यामि , हत्वा स्वजनम् आहवे ॥

केशव- हे केशव **आहवे स्वजनम् हत्वा-** युद्ध में कुटुंबीयों को मार **निमित्तानि विपरीतानि पश्यामि-** (मैं) प्रयोजन की विपरीतता को ही देखता हूँ **च श्रेयः न अनुपश्यामि-** और कल्याण में ही देखता ।

श्रीकृष्ण के लिए ‘केशव’ संबोधन

बहुत से टीकाकारो ने ‘केशव’ शब्द का आदिभौतिक (अर्थात् उनके भौतिक रूप से संबंधित) अर्थ- ‘घने सुंदर केश वाला’ किया है, किंतु गीता जैसे ग्रंथ में यह अर्थ संतुष्टि प्रदान नहीं करता। स्वामी रामसुखदास जी ने 'गीता-ज्ञान प्रवेशिका' में निरुक्ति दी है कि केशव= क् = ब्रह्मा + अ (विष्णु) + ईश् (शिव) + व (वपु=स्वरुप)। इसी प्रकार, केशव वह शक्ति है जिसके यह तीनों स्वरूप हैं; यह आदिदैविक (दैवीक शक्तियों से संबंधित) अर्थ हुआ। हम ‘केशव’ के आध्यात्मिक (व्यक्ति के अंतस में, हृदय में, उपस्थित उच्च चेतना सत्ता से संबंधित) अर्थ का अन्वेषण करना चाहेंगे। यह इस रूप में हो सकता है- केशव= केस+व; केश = प्रकाश किरण, व=वपु=स्वरूप, छवि। अतः केशव = हमारे हृदय में उपस्थित प्रकाश रूप ज्ञान सत्ता जिसे अर्जुन रूप जीवात्मा को अर्थात् हमें प्राप्त करना है।

वाक्यांश 'निमित्ततानी विपरीतानि' में निमित्त शब्द का उपयुक्त अर्थ

'निमित्त' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। कुछ टीकाकारो द्वारा 'लक्षण' अथवा 'कारण' जैसे अर्थ किए गए हैं जो यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। किंतु यदि 'निमित्त' शब्द का, शब्दकोश सम्मत, अर्थ 'लक्ष्य/ प्रयोजन/उद्देश्य' ले लिया जाए तो अर्जुन के कथन का भाव होगा- 'हम अपनी संतानों/बंधु-बांधवों के सुखाधिकारों की रक्षा करने के लिए युद्ध करने हेतु तत्पर हुए हैं किंतु यहाँ तो युद्ध में वे भी डटे हैं और संभव है उनमें से कुछ का यदि हनन हुआ तो विजय उपरांत भी हमारा वह मूल उद्देश्य कैसे सिद्ध होगा? अतः हमें अपने इस युद्ध विषयक निर्णय पर पुनर्विचार अवश्य करना चाहिए।' स्पष्ट है कि भगवान के कहे हुए 'कुरुन्' शब्द को सुनकर और युद्ध के लिए तत्पर स्वजनों को देखकर अर्जुन के वे सुषुप्त पड़े मनोभाव जाग गए जो कि उसने मित्र संजय के सन्देश वचनों से ग्रहण किए थे। आगे के श्लोंकों में इसी भाव की सविस्तार अभिव्यक्ति हुई है।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण , न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द , किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

न काङ्क्षे विजयम् कृष्ण , न च राज्यम् सुखानि च । किम् नः राज्येन गोविन्द किम् , भोगैः जीवितेन वा ॥

कृष्ण - हे कृष्ण **न विजयम् न च राज्यम् सुखानि च काङ्क्षे -** न तो (मैं) विजय, और न ही राज्य अथवा सुख चाहता हूँ । **गोविन्द नः राज्येन किम् भोगैः जीवितेन किम्-** हे गोविंद ! हमें (ऐसे) राज्य से क्या लाभ है अथवा (ऐसे) भोगों से, ऐसे जीवन से ही क्या लाभ है ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो , राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे , प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

येषाम् अर्थे काङ्क्षितम् नः , राज्यम् भोगाः सुखानि च । ते इमे अवस्थिताः युद्धे , प्राणान् त्यक्त्वा धनानि च ॥

नः येषाम् अर्थे राज्यम् भोगाः च सुखानि काङ्क्षितम् - हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुख आदि अभिष्टि हैं, **ते इमे धनानि च प्राणान् त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिताः -** वे (ही) ये सब धन और जीवन (की आशा) को त्याग कर युद्ध में खड़े हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्राः , तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः , श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

आचार्याः पितरः पुत्राः , तथा एव च पितामहाः । मातुलाः श्वशुराः पौत्राः , श्यालाः सम्बन्धिनः तथा ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि , घ्नतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य , हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

एतान् न हन्तुम् इच्छामि , घ्नतः अपि मधुसूदन । अपि त्रैलोक्य-राज्यस्य , हेतोः किम् नु महीकृते ॥

आचार्याः पितामहाः पितरः मातुलाः श्वशुराः श्यालाः - गुरुजन, दादा लोग, ताऊ-चाचा लोग, मामा लोग, स्वसुर-साले लोग, **पुत्राः पौत्राः तथा एव च सम्बन्धिनः -** पुत्रगण, पोत्रगण अथवा अन्य संबंधी लोग,**मधुसूदन-** हे मधु दैत्य के हनन कर्ता श्री कृष्ण ! **घ्नतः अपि त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतोः -** (मुझे) मारने पर भी (अथवा) तीनों लोकों के राज्य के लिए भी **एतान् हन्तुम् न इच्छामि महीकृते नु किम्-** (मैं) इन सब को मारना नहीं चाहता, (फिर) पृथ्वी के लिए (तो) कहना ही क्या?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः , का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् , हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः , का प्रीतिः स्यात् जनार्दन । पापम् एव आश्रयेत् अस्मा , हत्वा एतान् आततायिनः ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं , धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा , सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

तस्मात् न अर्हाः वयम् हन्तुम् , धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् । स्वजनम् हि कथम् हत्वा , सुखिनः स्याम माधव ॥

धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात्- धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? **एतान् आततायिनः हत्वा अस्मा एव पापम् आश्रयेत्-** इन आतताईयों को मारकर हमें तो पाप ही लगेगा ;**माधव-** हे माधव! **हि स्वजनम् हन्तुम् वयम् अर्हाः न-** क्योंकि स्वजनों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं **तस्मात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हत्वा कथम् सुखिनः स्याम-** इसलिए अपने बांधव धृतराष्ट्र पुत्रों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकेंगे ?

अब अर्जुन युद्ध से विरत हो जाने के अपने विचार को पक्का आधार और औचित्य प्रदान करने के लिए उक्त विचारों के विरुद्ध एक संभावित तर्क देकर, स्वयं ही उसका काट भी प्रस्तुत कर रहा है-

यद्यप्येते न पश्यन्ति , लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं , मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यदि अपि एते न पश्यन्ति , लोभ-उपहत-चेतसः । कुल-क्षय-कृतम् दोषम् ,मित्र-द्रोहे च पातकम् ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः , पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं , प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

कथम् न ज्ञेयम् अस्माभिः पापात् अस्मान् निवर्तितुम् । कुल-क्षय-कृतम् दोषम् प्रपश्यद्भिः जनार्दन ॥

यदि अपि लोभ-उपहत-चेतसः च मित्र-द्रोहे पातकम् एते- यद्यपि लोभ से कलुषित चित्त और मित्रोंद्रोह करने (संधि की शर्तों से मुकर जाने) का पाप करने वाले यह लोग **कुलक्षयकृतम् दोषम् न पश्यन्ति-** कुल का नाश करने के दोष को नहीं देखते (देख सकते हैं, किंतु) **जनार्दन-** हे जनार्दन! **कुलक्षयकृतम् दोषम् प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मान् पापात् निवर्तितुम् कथम् न ज्ञेयम्-** कुलक्षय करने के दोष को देख सकने वाले हम लोगों द्वारा इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार किया जाना चाहिए?

'मित्र' शब्द का अर्थ दोस्त (सुहृद) नहीं

प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'मित्र' शब्द का अर्थ 'सुहृद' नहीं था जैसा कि हम आज समझते हैं। धृतराष्ट्र पुत्र तो हमेशा से ही पांडवों को घोर शत्रु मानते हुए उन्हें जड़-मूल से नष्ट कर देने का भरसक प्रयास करते रहे थे, तो फिर अर्जुन उनके लिए 'मित्र' शब्द का प्रयोग करके क्या उन्हें सुहृद कह रहा था? वस्तुतः रामायण और महाभारत काल में मित्र शब्द एक सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता था। वह अर्थ इस शब्द की व्युत्पत्ति से इस प्रकार है मित्र = मि+त्र; धातु √मि = मिनोति (मान्य करोति),तथा √त्रि = प्रतिज्ञा पालन करना, अतः 'मित्र' शब्द का मूलअर्थ है- प्रतिज्ञा/शर्तों पर सहमत होने वाले पक्ष। सुग्रीव और राम की मित्रता भी इसी रूप में थी। अग्नि को साक्षी करके दोनों के बीच यह प्रतिज्ञा हुई थी कि राम सुग्रीव की पत्नी रमा को बाली से मुक्त कराने में सुग्रीव की मदद करेंगे और पश्चात् सीता की खोज और मुक्ति में राम की मदद सुग्रीव करेंगे। इस प्रकार की परस्पर मदद करने की सहमति/संधि करने को ही मित्र बनना कहा जाता था। यहाँ कौरव-पांडव के बीच भी यह सहमति बनी थी कि १३वर्ष के वनवास के बाद पांडवों को उनका राज्य लौटा दिया जाएगा इस शर्त का पालन पांडवों ने तो पूरा किया किंतु कौरव पक्ष उस से मुकर गया था। इस प्रतिज्ञा भंग को ही अर्जुन ने मित्र-द्रोह का पाप कहा है।

श्रीकृष्ण के लिए 'जनार्दन' संबोधन

पूज्य आदि शंकराचार्य ने भगवान विष्णु के सहस्र नामों की व्याख्या करते हुए इसी नाम का अर्थ किया है- दुर्जनों को दंड देने वाले और सज्जनों की प्रार्थना पूरी करने वाले (अर्दन = कष्ट देना/दंड देना, प्रार्थना करना/प्रार्थना पूरी करना)। अतः अर्जुन का श्रीकृष्ण के प्रति इस संबोधन से यह भाव प्रकट होता है कि हे भगवान ! आप पापियों को दंड देने वाले और भक्तों का उद्धार करने वाले है (दूसरे शब्दों में- आप अपराधियों को दंड देने वाले और सत-कर्मियों पर अनुग्रह करने वाले हैं), तो हमें आप कुटुंब-नाश के पाप से बचने का परामर्श क्यों नहीं दे रहे हैं?

अब आगे श्लोक ४० से ४६ में कुलक्षय से क्या-क्या हानियां हो जावेंगी उसका वर्णन अर्जुन विस्तार से कर रहा है।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति , कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् , अधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल-क्षये प्रणश्यन्ति , कुल-धर्माः सनातनाः । धर्मे नष्टे कुलम् कृत्स्नम् , अधर्मः अभिभवति उत ॥

कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति- कुल का नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, **धर्मे नष्टे कृत्स्नम् कुलम् अधर्मः उत अभिभवति-** कुल धर्म के नष्ट हो जाने पर संपूर्ण कुल को अधर्म ही जकड़ लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण , प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय , जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

अधर्म-अभिभवात् कृष्ण , प्रदुष्यन्ति कुल-स्त्रियः । स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय , जायते वर्ण-सङ्करः ॥

सङ्करो नरकायैव , कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां , लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

सङ्करः नरकाय एव , कुल-घ्नानाम् कुलस्य च । पतन्ति पितरः हि एषाम् , लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां , वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः , कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

दोषैः एतैः कुल-घ्नानाम् , वर्ण-सङ्कर-कारकैः । उत्साद्यन्ते जाति-धर्माः , कुल-धर्माः च शाश्वताः ॥

कृष्ण- हे कृष्ण! **अधर्म-अभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति-** अधर्म का फैलाव हो जाने पर कुल की स्त्रियां (भी) दूषित आचरण वाली हो जाती हैं । **वार्ष्णेय-** हे वृष्णि वंश के श्रीकृष्ण ! **स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसङ्करः जायते-** स्त्रियों का आचरण दूषित हो जाने पर अशुद्ध मिश्र-वर्णीय संतान उत्पन्न होती है। सङ्करः एव कुलघ्नानाम् च कुलस्य नरकाय- वर्णसंकर तो कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने वाला ही होता है। **लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः एषाम् पितरः हि पतन्ति-** पिंडदान और तर्पण की क्रियाओं से वंचित इनके पितर भी अधोगति को प्राप्त होते हैं। **एतैः वर्णसङ्करकारकैः दोषैः -** इन वर्णसंकर कारक दोषों से **कुलघ्नानाम् शाश्वताः कुलधर्माः च जातिधर्माः-** कुलघातीयों के सनातन धर्म और जाति-धर्म **उत्साद्यन्ते -** नष्ट हो जाते हैं।

ऊपर श्लोक-४० में कुल-नाश से कुल-धर्म के नाश होने और उससे कुल के अधर्म में लिप्त हो जाने की बात कही गई थी। श्लोक- ४१ से ४३ में अर्जुन अधर्म का स्वरुप और उसके परिणामो का वर्णन कर रहा है।

उत्सन्नकुलधर्माणां , मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो , भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

उत्सन्न-कुल-धर्माणाम् ,मनुष्याणाम् जनार्दन । नरके अनियतम् वासः , भवति इति अनुशुश्रुम ॥

उत्सन्न कुलधर्माणाम् मनुष्याणाम्- विनष्ट कुलधर्म वाले मनुष्यों का **जनार्दन-** हे जनार्दन! **नरके अनियतम् वासः भवति-** नरक में भी अनिश्चितकाल तक निवास होता है, **इति अनुशुश्रुम-** ऐसा हम सुनते आए हैं।

अहो बत महत्पापं , कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन , हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो बत महत् पापम् , कर्तुम् व्यवसिता वयम् । यत् राज्य-सुख-लोभेन , हन्तुम् स्वजनम् उद्यताः ॥

अहो बत वयम् महत् पापम् कर्तुम् व्यवसिता- हा! शोक! हम लोग महान पाप करने को तैयार हो गए हैं **यत् राज्य-सुख-लोभेन स्वजनम् हन्तुम् उद्यताः-** जो राज्य सुख के लालच में आकर स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हो गए हैं।

उपरोक्त वचन कह कर अब अर्जुन अपना निर्णय सुनाता है-

यदि मामप्रतीकारम, अशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः , तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि माम् अप्रतीकारम् अशस्त्रम् शस्त्र-पाणयः । धार्तराष्ट्राः रणे हन्युः तत् मे क्षेमतरम् भवेत् ॥

यदि माम् अशस्त्रम् अप्रतीकारम्- यदि मुझ शस्त्र त्याग चुके और प्रतिरोध न करने वाले को **शस्त्र-पाणयः धार्तराष्ट्राः रणे हन्युः -** शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रणभूमि में मार डालें **तत् मे क्षेमतरम् भवेत्-** वह (मरना भी) मेरे लिए श्रेयस्कर होगा।

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये , रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं , शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

एवम् उक्त्वा अर्जुनः सङ्ख्ये , रथ-उपस्थ उपाविशत् । विसृज्य सशरम् चापं , शोक-संविग्न-मानसः ॥

सञ्जयः उवाच – संजय ने कहा **शोक-संविग्न-मानसः अर्जुनः एवम् उक्त्वा -** शोक से संतप्त मन वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर **सङ्ख्ये सशरम् चापं विसृज्य रथ उपस्थे उपाविशत् -** (वहाँ) युद्ध भूमि में (ही) धनुष-बाण त्याग कर रथ के उप-आसन पर (श्रीकृष्ण की और मुंह और कौरव सेना की ओर पीठ करके) बैठ गया।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु

ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

उपरोक्त पुष्पिका की व्याख्या

अध्याय की समाप्ति पर जो ऊपर पुष्पिका दी गई है उसका शब्दार्थ है- 'ॐ तत् सत्- सर्वव्यापी परमात्मा का, उस चेतनसत्ता की तीन प्रकार की अभिव्यक्तियो का स्मरण, (विस्तृत व्याख्या हेतु देखे श्लोक- १७.२३ पर हमारी विवेचना)। उपनिषद रूप श्रीमद्भगवद्गीता में, ब्रह्मविद्या में, योग शास्त्र में, श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में, यह अर्जुन-विषाद-योग नाम का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।' इसमें प्रारंभ के शब्दों में ग्रंथ का माहात्म्य और प्रभाव का वर्णन समाहित है और अंत में अध्याय का जो नामकरण किया गया है उसके द्वारा अध्याय के मूल संदेश का लक्ष्य कराया गया है।

ॐ तत् सत् : भगवत सत्ता के वे तीन स्वरूप जिनकी उपासना भिन्न उपासक अपनी-अपनी श्रद्धा की स्थिति के अनुरूप करते हैं। (विस्तृत विवेचना हेतु देखें श्लोक- १६.२३ से २७)

ब्रह्म विद्याः सृष्टि का रहस्य क्या है, इसे कौन-सी शक्ति व्यवस्थित रूप से चला रही हैं और इस संचालन का क्या कोई लक्ष्य है, इसे समझना ही ब्रह्मविद्या है। इस असीमित ज्ञान के प्रमुखतः दों विभाग किए जाते हैं- १. व्यक्ति के अंदर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सत्ता (आत्मा) का अन्वेषण तथा २. बाह्य संसार और समष्टि का संचालन करने वाली सत्ता (परमात्मा) को जानना।

योगशास्त्रः ब्रह्मविद्या रूप दोनों सत्ताओं- व्यक्ति और समष्टि के एकत्व का ज्ञान और जिस विधि या विधियों द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह योगशास्त्र है।

श्रीकृष्ण-अर्जुन संवादः रथारुढ़ श्रीकृष्णार्जुन की आध्यात्मिक व्याख्या हम पूर्व में श्लोक-१.१४ की टिप्पणी में कर चुके है। इन दोनों के बीच गीता रूप जो वार्तालाप हमारे लिए लिपि बद्ध किया गया है उसका भाव यह है कि अर्जुन के रूप में निरूपित सत्कर्म और सद्भावों का जीवन जीने वाले व्यक्ति को जब ऐसी स्थिति का सामना करना होता है कि वह नैतिक स्तर पर समस्या का हल प्राप्त नहीं कर पाता है तब उसमें इस स्तर से उच्च, श्रीकृष्ण/महेश्वर रूप से वर्णित, एक आध्यात्मिक स्तर जाग्रत होकर उसे मार्गदर्शन प्रदान करता है। इस तथ्य को ही यहाँ गीताकार ने अर्जुन-श्रीकृष्ण संवाद के रूप में प्रस्तुत किया है।

श्रीकृष्ण और अर्जुन की उपरोक्त आध्यात्मिक व्यख्या महत्त्वपूर्ण होते हुए भी हमारे जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए अर्जुन के इतर-आध्यात्मिक स्तर को जानना-समझना और भी आवश्यक है क्योंकि आत्मिक जाग्रति का पथ तो इसी में से खुलता है। इस हेतु से हमारे लिए अर्जुन के मानसिक स्तर का अवलोकन कर लेना उपादेय होगा।

अर्जुन सत्त्वगुणी और तेजस्वी था, यह बात महाभारत में वर्णित अनेक घटनाओं से प्रकट होती है। उसके इन्हीं सद्‌गुणों के कारण श्रीकृष्ण ने अपना प्रिय सखा बनाया था, यहाँ तक कि उन्होंने उससे बहन सुभद्रा का विवाह भी, बड़े भ्राता बलराम जी की इच्छा के विपरीत, करवाया था। इसी प्रकार अर्जुन के कठोर तप, दृढ़ इच्छाशक्ति और सदाचार के विशिष्ट गुणों से संतुष्ट होने पर कैलाशपति शिव और देवराज इंद्र ने भी अर्जुन को दिव्य शास्त्रास्त्र प्रदान किए थे। ये महा अस्त्र-शस्त्र उसने कौरवों से युद्ध की तैयारी हेतु ही प्राप्त किए थे और ऐसा करके वह विजय सुनिश्चित कर चुका था किंतु जब पूज्यजनो सहित कुटुम्बियों के नाश उपरांत ही विजय की बात सामने आई तो उसका सत्त्वगुणी मन काँप गया और उसे युद्ध से विरत होना श्रेयस्कर लगा।

अब हम विचार करें कि श्रीकृष्ण अर्जुन के निर्णय से सहमत क्यों नहीं हुए? कारण यह था कि श्रीकृष्ण जानते थे कि अर्जुन अपने उच्च मानसिक गुणों के बावजूद आध्यात्म ज्ञान से अभी कुछ दूर था। इसी कारण मानसिक स्तर पर द्वंद्व उपस्थित होने पर वह शांत न रह सका और अवसाद से ग्रस्त हो गया था। श्रीकृष्ण जानते थे कि अर्जुन की दृष्टि अभी अपने प्रियजनों के हित पर ही केंद्रित थी, सर्वहित संवर्धन पर नहीं थी और जब प्रियजनों का हित साधने के मार्ग में पूज्यजनों और कुटुम्बियों को मारना पड़ेगा, यह बात नग्न सत्य के रूप में सामने आई तो उसका सात्त्विक मन अवसादग्रस्त हो गया। वस्तुतः मानसिक स्तर के धर्म संकट का समाधान इस स्तर पर संभव ही नहीं था और क्योंकि अर्जुन अपनी उच्च सात्त्विक स्थिति के कारण अध्यात्म में प्रवेश के योग्य था, इस तथ्य को दृष्टिगत रख कर श्रीकृष्ण ने उसे उस ओर प्रेरित किया। उसे उसकी अपने लोगों के हित वाली दृष्टि से ऊपर उठाकर समष्टि-हित के प्रति जाग्रत करने हेतु जो ज्ञान दिया वह श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद के रूप में गीताकार ने हमारे लाभार्थ प्रस्तुत किया है।

अर्जुन विषाद योग : सद्-गुणी के लिए अवसाद भी खोल देता है ज्ञान का द्वार

अध्याय के इस नाम में योग शब्द हमारा विशेष ध्यान आकर्षित करता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं अर्जुन जीवात्मा की उच्च सात्त्विकी स्थिति को निरूपित करता

है और एक सात्त्विक व्यक्ति के जीवन में जब कभी उसके मनस को कोई ऐसा धर्म संकट आघेरता है कि रास्ता न मिलने से मन में घोर विषाद (अवसाद) छा जाए तो आंतरिक रूप से अथवा किसी बाह्य स्रोत से ज्ञान का कुछ न कुछ ऐसा प्रकाश प्राप्त हो जाता है जो न केवल उस समस्या का हल प्रदान कर देता है, अपितु वह जीवन की दिशा को भी अध्यात्म की ओर मोड़ सकता है। यदि व्यक्ति की आंतरिक स्थिति, सद्कर्मो के परिणाम स्वरुप, उच्च सात्त्विक गुण वाली हो चुकी है तो ऐसा ज्ञान उसमें अवश्य ही जाग्रत हो जाता है। जीवात्मा के इस प्रकार उच्च ज्ञान सत्ता से जोड़ने की प्रक्रिया को आध्यात्मिक साहित्य में 'योग' कहा जाता है। क्योंकि यहाँ सात्त्विकता से उत्पन्न विषाद ही अर्जुन को परमात्म ज्ञान की प्राप्ति की ओर ले जाने का साधन बना है अतः इस पूरी स्थिति को 'अर्जुन-विषाद-योग' नाम से संबोधित किया जाना सर्वथा उपयुक्त है।

◆ ◆ ◆

द्वितीय अध्याय

विषाद का उन्मूलन करने वाला ज्ञान

अध्याय की विषय-वस्तु का विहंगावलोकन

विषादोन्माद से ग्रस्त हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण किस प्रकार पहले झड़ककर उसमें सुनने की रुचि जाग्रत करते है (श्लोक-२.११), पश्चात् सांख्य ज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों का वर्णन करते हुए वे मनुष्य में देह और देही इन दो का भेद समझाते हैं(श्लोक- २.११ से ३०)। देह नश्वर है किन्तु मनुष्य देह में निवास करने वाला देही (अर्थात् जीवात्मा) अनश्वर है जो एक देह के नष्ट होने पर दूसरी देह धारण करता रहता है और धीरे-धीरे देह भाव से मुक्त होता हुआ समष्टि भाव में स्थित होता जाता है। (श्लोक-२.३१ से ४०)

जीवात्मा का यह विकास तभी हो पाता है जब व्यक्ति ज्ञान और कर्म रूप अपने व्यक्तित्व के दोनों संघटकों को समष्टिनिष्ठ बनाने का लक्ष्य निर्धारित कर ले। इस हेतु से निष्काम होकर कर्तव्य कर्म करने की आवश्यकता बताई गई है। (श्लोक- २.४१ से ४८)

प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य कर्म तो उसके परिवेश, शिक्षण-प्रशिक्षण और योग्यता से अर्थात् स्वधर्म से निर्धारित होता है। जिसे वह समष्टिनिष्ट बनाकर आध्यात्मिक उन्नति का साधन बना सकता है। श्लोक-५० से ५३ में इस हेतु ही भगवान ने समबुद्धि अर्थात् समष्टिनिष्ठ बुद्धि की महिमा का वर्णन करते हुए परमात्मा में बुद्धि की अचल स्थिति रूप योग की सिद्धस्थिति के प्राप्त होने की बात कही है। (श्लोक-२.५३)

बुद्धि की इस सर्वोच्च स्थिति की प्राप्ति को भगवान ने ‘समाधौ’ शब्द से व्यक्त किया जिसका अर्थ था ‘समष्टिगत सत्य में स्थित बुद्धि।’ किंतु क्योंकि अर्जुन अध्यात्म साधकों के केवल एक ही मार्ग- कर्म सन्यास मार्ग- से परिचित था जो उस काल में सामान्यतः प्रचलन में था, अतः ‘समाधौ’ शब्द सुनते ही ध्यान समाधि की बात समझकर अर्जुन ने श्लोक-५४ में ‘स्थितप्रज्ञ’ संबंधी प्रश्न किए हैं तथा भगवान ने

अर्जुन के तत्संबंधी आकर्षण को देखते हुए उसको और प्रकारांतर से हम साधारण जन को, इस विस्तृत वर्णन द्वारा यह संदेश दिया है कि जो साधक ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति की बात सुनकर ही, कर्म योग द्वारा अपने मन को कामनाओं के दल-दल से मुक्त किए बिना ही, उक्त साधना में उतरने का प्रयास करने लगते हैं वे केवल असफलता और निराशा का ही अर्जन करते हैं (जैसा कि आगे श्लोक- ५.०६ में भी इसी तथ्य को यह कह कर पुनःस्पष्ट किया है कि कर्म योग के बिना सन्यास साधना तो असफलता का दुख ही देगी)। वस्तुतः इस परिपेक्ष में ही 'स्थितप्रज्ञ' के उक्त वर्णन को ग्रहण किया जाना उपयुक्त बैठता है, अन्यथा युद्ध की प्रेरणा देने वाली भगवान की संपूर्ण वार्ता से इस वर्णन का सामंजस्य बैठता नहीं है।

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टम् , अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यम् , उवाच मधुसूदनः ॥१॥

तम् तथा कृपया आविष्टम् अश्रु-पूर्ण-आकुल-ईक्षणम् । विषीदन्तम् इदम् वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ॥

सञ्जयः उवाच – संजय ने कहा **तथा कृपया आविष्टम् अश्रुपूर्ण-आकुल-ईक्षणम् विषीदन्तम् तम्-** इस प्रकार दयनीय हुए आसुओं से भरे हुए नेत्रों वाले शोक युक्त अर्जुन से **मधुसूदनः इदम् वाक्यम् उवाच-** मधुसूदन श्रीकृष्ण ने यह वचन कहे।

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं , विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

कुतः त्वा कश्मलम् इदम् , विषमे समुपस्थितम् । अनार्य-जुष्टम् अस्वर्ग्यम् , अकीर्तिकरम् अर्जुन ॥

श्रीभगवान् उवाच – भगवान् ने कहा **अर्जुन-** हे अर्जुन! **त्वा इदम् विषमे कश्मलम् कुतः समुपस्थितम्-** तुमको इस विषम अवसर पर यह अशुभ सोच कैसे आ गया (जो) **अनार्य-जुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम्-** न तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न उच्च लोक प्राप्त करने वाला है और न (इस लोक में) यश प्रदान करने वाला है ।

श्रीभगवानुवाच - गीता में श्रीकृष्ण के वचनों को सर्वत्र 'श्री भगवान उवाच' कहा गया है। 'भगवान' शब्द का क्या भाव है इस पर विचार किया जाना वांछनीय होगा। भागवत में कहा गया है (१.२.११) 'ज्ञान तत्व वह एक ही तत्व है जिसे उसको जानने वाले ब्रह्म/परमात्मा/भगवान कहते हैं।' इस कथन से हमें 'भगवान' शब्द से इंगित सत्ता के बारे में इतनी ही जानकारी मिल पा रही है कि वह ज्ञान सत्ता के तीन रूपों में

से एक रूप है, शेष दो रूप- ब्रह्म और परमात्मा हैं। हम जानते हैं कि सर्वव्यापी ज्ञान सत्ता की निर्विशेष (गुणरहित) स्थिति को ब्रह्म कहा जाता है और जीव मात्र को चेतना प्रदान करने वाली सत्ता को परमात्मा। इसी क्रम में चेतना की सर्वोत्त्कृष्ट स्थिति जहाँ अभिव्यक्त हो रही हो उसके लिए भगवान शब्द का प्रयोग हुआ है ऐसा कहा जा सकता है। यह बात सर्वोत्त्कृष्ट स्थिति जहाँ अभिव्यक्त हो रही हो उसके लिए 'भगवान' शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। यह बात 'भग' शब्द के अर्थ 'श्रेष्ठता' से भी पुष्ट होती है। वस्तुतः मानवीय चेतना की जिस सर्वोच्च स्थिति को कृष्ण-चेतना/कृष्ण भावामृत/महेश्वर/द्दष्टा, आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है, उसी के मूर्तरूप के लिए गीताकार ने 'भगवान' शब्द का प्रयोग करते हुए श्रीकृष्ण के वचनों को 'भगवानुवाच' कहा है।

क्लैब्यं मा स्म गमः , पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं , त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

क्लैब्यम् मा स्म गमः , पार्थ न एतत् त्वयि उपपद्यते । क्षुद्रम् हृदय-दौर्बल्यम् , त्यक्त्वा उत्तिष्ठ परन्तप ॥

पार्थ- हे पृथा पुत्र अर्जुन ! **क्लैब्यम् मा स्म गमः -** इस हीन नपुंसकता को मत प्राप्त हो, **एतत् त्वयि उपपद्यते -** इस प्रकार के 'उप-पद' को प्राप्त होना तेरे लिए (शर्म की बात होगी) **क्षुद्रम् हृदय-दौर्बल्यम् त्यक्त्वा-** क्षुद्र हृदय वाली इस दुर्बलता को त्याग कर **परन्तप-** हे महान उद्यमी अर्जुन! **उत्तिष्ठ-** उठ और युद्ध कर ।

परन्तप : इस संबोधन द्वारा श्रीकृष्ण अर्जुन को इस बात के लिए चेता रहे हैं कि उसने पहले जो महान तप करके शिव और इंद्र से दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे किन्तु यदि अब वह युद्ध में शत्रु का सामना करने के बजाय युद्ध से मुंह मोड़ लेता है तो यह कार्य उन दिव्यास्त्रों की क्षमताओं में अविश्वास और उनके प्रदाताओं की कीर्ति को खंडित करने जैसा कार्य होगा, अतः तू उनकी अप्रसन्नता ही प्राप्त करेगा।

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये , द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि , पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

कथम् भीष्मम् अहम् सङ्ख्ये , द्रोणम् च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि , पूजा-अर्हौ अरि-सूदन ॥

अर्जुनः उवाच - अर्जुन ने कहा **अरि-सूदन मधुसूदन-** हे शत्रुहंता! हे मधुसूदन ! **अहम् भीष्मम् च द्रोणम् पूजा-अर्हौ सङ्ख्ये इषुभिः कथम् प्रतियोत्स्यामि-** मैं भीष्म तथा द्रोण जैसे पूज्यनीयों पर युद्धभूमि में किस प्रकार बाणों से प्रतिकार कर सकूंगा?

अरिसूदन संबोधन : यहाँ श्रीकृष्ण के लिए 'अरिसुदन' संबोधन द्वारा अर्जुन ने यह भाव व्यक्त किया है कि आप शत्रुओं को ही तो मारते हैं किंतु भीष्म और द्रोण तो मेरे पूज्य हैं, वे शत्रु नहीं है, उनको मारने का कार्य में कैसे कर सकता हूँ ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

गुरून् अहत्वा हि महानुभावान् , श्रेयः भोक्तुम् भैक्ष्यम् अपि इह लोके ।
हत्वा अर्थ-कामान् तु गुरून् इह एव , भुञ्जीय भोगान् रुधिर-प्रदिग्धान् ॥

महानुभावान् गुरून् अहत्वा इह लोके भैक्ष्यम् अपि भोक्तुम् श्रेयः - महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा मांगकर खाना भी कल्याण कारक है, **हि अर्थ-कामान् गुरून् हत्वा तु इह रुधिर-प्रदिग्धान् भोगान् एव भुञ्जीय-** क्योंकि लाभ की कामना से गुरुजनों को मारकर तो इस लोक में रुधिर से सने भोगों को ही तो भोगूँगा ।

अर्थकामान् : ऊपर श्लोक में जो 'अर्थकामान्' शब्द आया है उसके टीकाकारों ने अन्य अर्थ भी किए हैं। कुछ ने 'अर्थकामान्' को 'भोगान्' शब्द का विशेषण मानकर अर्थ किया है कि 'मैं अर्थ और काम वाले भोगों को ही तो भोगूंगा।' अन्य कुछ ने इसे गुरुजनों का विशेषण माना है। उनमें भी दो वैचारिक वर्ग हो गए हैं- कुछ के अनुसार अर्जुन का भाव था 'यद्यपि वे पूज्य जन (भीष्म,द्रोण आदि) अर्थ अर्थात् धन की कामना से बंधे थे फिर भी मेरे लिए पूज्य होने से उन्हें मारना पाप होगा', दूसरी ओर विनोबा ने महाभारत के ही एक अन्य प्रकरण से उद्धृत करके 'अर्थकाम' का अर्थ 'हितेच्छु' करते हुए इस अर्जुन-वचन का अर्थ किया है- 'यह महापुरुष तो हमारे हितेच्छु रहे हैं, अतःमैं उन्हें आज कैसे मार सकता हूँ?' हमें स्वामी प्रभुपाद वाला अर्थ- 'मैं अपने लाभ की कामना से गुरुजनों को क्यों कर मार सकता हूँ' - यह उपयुक्त लगा,अतः ऊपर श्लोकार्थ में इसे चुना है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम- ,
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

न च एतत् विद्मः कतरत् नः गरीयः, यत् वा जयेम यदि वा नः जयेयुः ।

यान् एव हत्वा न जिजीविषामः, ते अवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

एतत् न च विद्मः-यह भी नहीं जानते (कि) **नः कतरत् गरीयः-** हमारे लिए (युद्ध करना और न करना, इन दोनों में से) क्या श्रेष्ठ है, **वा यत्-** अथवा (यह भी नहीं जानते कि) **जयेम यदि वा नः जयेयुः-** उन्हें हम जीतेंगे अथवा हमको वे जीतेंगे **यान् हत्वा न जिजीविषामः -** जिनको मारकर (हम) जीना भी नहीं चाहते **ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः-** वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सम्मुख खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः, पृच्छामि त्वाम् धर्म-सम्मूढ-चेताः ।
यत् श्रेयः स्यात् निश्चितम् ब्रूहि तत् मे, शिष्यः ते अहम् शाधि माम् त्वाम् प्रपन्नम् ॥

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः- वीरता वाला मेरा मूल स्वभाव दुर्बलता से ग्रस्त हुआ **धर्म-सम्मूढ-चेताः-** कर्तव्य के विषय में मोहितचित्त हुआ (मैं) **त्वाम् पृच्छामि-** आपसे पूछता हूं (कि) **यत् निश्चितम् श्रेयः स्यात्-** जो निश्चित रूप से कल्याणकारी हो **तत् मे ब्रूहि-** वह मुझे कहें, **अहम् ते शिष्यः-** मैं आपका शिष्य हूँ । **त्वाम् प्रपन्नम् माम् शाधि-** आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिए ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

न हि प्रपश्यामि मम अपनुद्यात्, यत् शोकम् उच्छोषणम् इन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमौ असपत्नम् ऋद्धम्, राज्यम् सुराणाम् अपि च आधिपत्यम् ॥

हि भूमौ असपत्नम् ऋद्धम् राज्यम् च सुराणाम् आधिपत्यम् अवाप्य अपि - क्योंकि भूमि के निष्कंटक समृद्ध राज्य को और देवताओं की प्रभुसत्ता को प्राप्त होकर भी **न प्रपश्यामि -** (मैं उस उपाय को) नहीं देखता हूँ **यत् मम इन्द्रियाणाम् उच्छोषणम् शोकम् अपनुद्यात्-** जो मेरी इंद्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके ।

टीकाकारो ने श्लोक- ६ से ८ का भावार्थ और टिप्पणी इस रूप में की है कि अर्जुन का हिस्टीरिया (भावोन्माद) अब इतना बढ़ गया है कि उसके मन और बुद्धि में समन्वय छिन्न-भिन्न हो गया है। किंतु यह आकलन हमें उचित प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो गीताकार इन श्लोकों (२.१ से १०) को अध्याय-१ में ही रखकर अध्याय-२ का प्रारंभ २.११ वाले श्लोक से करते। वस्तुतः तो भगवान की झिड़की के

बाद अर्जुन धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहा है। अध्याय-१ में वर्णित मनस्ताप की स्थिति से उबरकर अब वह चिंतन-मनन के क्षेत्र में लौट रहा है। मनस्ताप की स्थिति से उबरने का रास्ता श्रीकृष्ण की मीठी झिड़की से खुलता है और अध्याय-२ का प्रारंभ इसी बिंदु से हो रहा है। अर्जुन जो पहले किसी भी स्थिति में युद्ध न करने का निश्चय घोषित करते हुए, शस्त्र त्याग कर बैठ चुका था, श्रीकृष्ण की झिड़की के बाद अब उनसे कहता है कि मैं तो अपने कर्तव्य के विषय में मोहित-चित्त हूँ, आप ही मुझे मार्गदर्शन दीजिए, मैं आपके शरण हूँ। उसकी मनस्ताप वाली स्थिति का वर्णन अध्याय-१ में किया गया था और भगवान की झिड़की के बाद उसके मानसिक संतुलन में लौटने का वर्णन अब अध्याय-२ में प्रारंभ हुआ है। ज्ञान ग्रहण कर सकने की स्थिति में आने पर भगवान उसे सांख्य और कर्म योग का उपदेश देना प्रारंभ करते हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं , गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

एवम् उक्त्वा हृषीकेशम् , गुडाकेशः परन्तपः । न योत्स्ये इति गोविन्दम् , उक्त्वा तूष्णीम् बभूव ह ॥

सञ्जयः उवाच – संजय ने (राजा धृतराष्ट्र को) **परन्तपः-** शब्द से संबोधित करते हुए कहा- **गुडाकेशः-** निद्रा-विजयी (आलस्य का पूर्णतः त्याग कर देने वाले) अर्जुन ने **हृषीकेशम् न योत्स्ये-** हृषिकेश (श्रीकृष्ण) को- (मैं) युद्ध नहीं करूंगा **इति एवम् उक्त्वा-** बस ऐसा (निर्णायक रूप) से कहकर (तथा फिर) **गोविन्दम् उक्त्वा-** गोविंद भगवान के प्रति (शरण होने की बात) कहकर उसने अपने शौक को दूर करने वाला उपाय बताने की प्रार्थना करके **तूष्णीम् बभूव ह-** चुप हो गया ।

परन्तपः यहाँ शाब्दिक अर्थ है- दूसरों को सताने वाला, शत्रुओं का दमन करने वाला। इस शब्द का प्रयोग अर्जुन के लिए भगवान ने भी किया है (श्लोक-२.३), किंतु वहाँ अर्जुन को उसकी वीरता का स्मरण कराया गया था। यहाँ जब संजय धृतराष्ट को इस शब्द से संबोधित कर रहा है तो निश्चय ही यहाँ वह व्यंग और कटाक्ष के रूप में इसका प्रयोग कर रहा है। संजय जब पांडव शिविर में धृतराष्ट का संदेश लेकर गया था तब युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण से उसे दुर्योधन, दुशासन, शकुनी और कर्ण, इन चारों की पांडवों के प्रति रची गई कुचालों में धृतराष्ट्र द्वारा गुप्त सहयोग किए जाने की प्रामाणिक जानकारी मिलने के बाद उसका धृतराष्ट्र के प्रति आदर भाव समाप्त हो गया था और वह युद्ध के लिए धृतराष्ट्र को उत्तरदाई मानने लगा था और यह तथ्य उसके वचनों में भी प्रकट हो रहा है।

हृषीकेशम् उक्तवा, गोविंदम् उक्तवा ?

संजय के ये शब्द उलझे हुए से प्रतीत हो रहे हैं। वह ‘उक्तवा’ शब्द का भी दो बार प्रयोग कर रहा है - एक बार ‘हृषीकेश को कहकर’ और दूसरी बार ‘गोविंद को कहकर’ ऐसा एक ही वाक्य में उसने प्रयोग किया है, मानो हृषीकेश और गोविंद दो भिन्न व्यक्ति हैं। इसकी व्याख्या हमें टीकाओं में देखने को नहीं मिली। इसे समझने के लिए हमेंने विष्णु सहस्रनाम पर गोकुलदास बागड़ी कृत ‘सहस्र सोपान’ तथा गीताप्रेस के ‘शांकर भाष्य’ से ‘हृषीकेश’ और ‘गोविंद’ शब्दों के भावार्थ समझने का प्रयास किया तो यह बात स्पष्ट हुई कि ‘हृषीकेश’ (=इंद्रियों का स्वामी) शब्द जीवात्मा में उपस्थित परमात्म शक्ति का और ‘गोविंद’ शब्द जीव मात्र को धारण करने वाली शक्ति का बोध कराते हैं। अतः संजय ने ‘हृषीकेशम् उक्त्वा’ तथा ‘गोविंदम उक्त्वा’- इन दो वाक्यांशों का एक साथ प्रयोग करके अर्जुन के दोनों भावों को भली-भांति अभिव्यक्त किया है। ‘हृषीकेश’ शब्द से श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन के मित्र भाव की अभिव्यक्ति हुई है और इस स्तर पर वह अपने मन की बात ‘मै युद्ध नहीं करूँगा’ को अभिव्यक्त कर रहा था; तथा जब उसे श्रीकृष्ण में सार्वभौम सत्ता के अभिव्यक्त होने का ज्ञान होता है तो वह शरणागत होकर अपने शोक को दूर करने का उपाय बताने की प्रार्थना कर रहा है।

तमुवाच हृषीकेशः , प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये , विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तम् उवाच हृषीकेशः , प्रहसन् इव भारत । सेनयोः उभयोः मध्ये , विषीदन्तम् इदम् वचः ॥

भारत- हे भारतवंशी राजन! **उभयोः सेनयोः मध्ये हृषीकेशः-** दोनों सेनाओं के बीच श्रीकृष्ण **विषीदन्तम् तम्-** शोक करते हुए उस (अर्जुन) को **प्रहसन् इव इदम् वचःउवाच-** हंसते हुए से यह वचन बोले-

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं , प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च , नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अशोच्यान् अन्वशोचः त्वम् , प्रज्ञा-वादा च भाषसे । गतासून् अगतासून् च , न अनुशोचन्ति पण्डिताः ॥

श्री भगवान ने कहा- **त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः-** तू न शोक करने योग्य (विषय पर) शोक करता है **च प्रज्ञावादान् भाषसे-** और पंडितों के- से वचनों को कहता है (परंतु) **गतासून् च अगतासून् पण्डिताः न अनुशोचन्ति-** जिनके प्राण चले गए हैं और जिनके प्राण जाने वाले हैं उनके लिए भी पंडित शोक नहीं करते ।

पंडित जन शोक नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि व्यक्ति की जब मृत्यु होती है तो उसका जीवात्मा एक देह छोड़कर दूसरी देह प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं नष्ट नहीं होता, इस तथ्य की व्याख्या भगवान अगले दो श्लोकों में कर रहे हैं।

न त्वेवाहं जातु नासं , न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः , सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तु एव अहम् जातु न आसम् , न त्वम् न इमे जनाधिपाः । न च एव न भविष्यामः , सर्वे वयम् अतः परम् ॥

न तु एव अहम् जातु न आसम्- न तो मैं किसी काल में अस्तित्व शुन्य हुआ **न त्वम्-** न तू कभी अस्तित्व शुन्य हुआ **न इमे जनाधिपाः-** और न ये राजा लोग **न च एव सर्वे वयमतः परम् भविष्यामः न-** और यह भी नहीं है (कि) हम सब आगे भविष्य में नहीं होंगे ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे , कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिः , धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहिनः अस्मिन् यथा देहे ,कौमारम् यौवनम् जरा । तथा देहान्तर-प्राप्तिः , धीरः तत्र न मुह्यति ॥

यथा देहिनःअस्मिन् देहे, कौमारम् यौवनम् जरा- जैसे देहधारी (जीवात्मा) की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था (होती है) **तथा देहान्तर-प्राप्तिः तत्र धीरः न मुह्यति-** वैसे ही वर्तमान देह के त्याग के बाद की अवस्था की प्राप्ति होती है उस विषय में ज्ञानी व्यक्ति मोह को नहीं प्राप्त होता है (अर्थात् उस बारे में बुद्धिमान पुरुष को कोई भ्रांति नहीं होती।

अब अगले पांच श्लोकों (क्रमांक १४ से १८) में देह से भिन्न सत्ता की (अर्थात् देही की) विवेचना की गई है। इन श्लोकों की हमारी व्याख्या में यही दृष्टि समाविष्ट है। इस कारण श्लोक १४,१५,१६ के अर्थ प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्नता लिए हुए है और इससे विषय की तारतम्यता तथा एक रूपता भी बनी है। यह भिन्नता भावार्थ में ही है, शब्दार्थ में नहीं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय , शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्याः , तास्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रा-स्पर्शाः तु कौन्तेय , शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः । आगम अपायिनः अनित्याः , तान् तितिक्षस्व भारत ॥

कौन्तेय - हे कुन्तीपुत्र! **मात्रा-स्पर्शाः शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः तु आगम अपायिनः अनित्याः -** वस्तुओं के साथ संपर्क से होने वाले सर्दी-गर्मी रूप सुख-दुख (के अनुभव) तो आने जाने वाले हैं, अनित्य हैं, **भारत तान् तितिक्षस्व-** हे भारत! उनको (तू) तितिक्षा के योग्य (समझ)।

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं , सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

यम् हि न व्यथयन्ति एते , पुरुषम् पुरुष-ऋषभ । सम-दुःख-सुखम् धीरम् , सः अमृतत्वाय कल्पते ॥

पुरुष-ऋषभ- हे पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन! **सम-दुःख-सुखम् यम् धीरम् पुरुषम्- (**मानसिक) दुख-सुख में निर्लिप्त रहने वाले जिस धीर पुरुष को **एते न व्यथयन्ति-** ये (इंद्रिय विषय) व्याकुल नहीं करते **सः अमृतत्वाय कल्पते**- वह ही अमृत(रूप जीवात्मा) का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होता है।

यहाँ धीर पुरुष के संदर्भ से सुख-दुखों के लिए हमने 'मानसिक' विशेषण लगाया है। यह इस भाव को भी व्यक्त करता है कि श्लोक-१४ में स्थूल इंद्रियों के अनुभव रूप सुख-दुखों से ऊपर उठने का वर्णन हो चुका है, अतः यहाँ श्लोक-१५ में उससे ऊपर मनो-बौद्धिक स्तर के सुख-दुखों के परे जाने वाले धीर पुरुषों द्वारा ही जीवात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकने की बात कही गई जान पड़ती है। संदेश यह है कि भले ही जीवात्मा की अमरता की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति कर सके यह संभव न हो किंतु जिन कुछ साधकों ने अनुभूति की है, इस संबंध में उनके वचनों की सत्यता को स्वीकार कर हमें जीवन को तदनुरूप जीने में उस तथ्य का उपयोग करते हुए अपने जीवन को विकास पथ पर आगे बढ़ाना चाहिए।

परिपाठी से हटकर यह व्याख्या करने के पीछे हमारी यह सोच है कि युद्ध भूमि में किंम्-कर्तव्य-विमूढ़ खड़े अर्जुन को भगवान द्वारा सम-दुख-सुख रूप विकट साधना करने का उपदेश देना, समयोचित नहीं हो सकता, जैसा कि टीकाओं में वर्णित हुआ है।

अगले श्लोक में जीवात्मा और देह यह दो भिन्न सत्ताऐ हैं इसे एक वैदिक प्रार्थना मंत्र की शब्दावली में इस प्रकार समझाया गया है।

नासतो विद्यते भावो , नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस् , त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

न असतः विद्यते भावः , न अभावः विद्यते सतः । उभयोः अपि दृष्टः अन्तः , तु अनयोः तत्त्व-दर्शिभिः ॥

असतः भावः विद्यते न - असत की सत्ता विद्यमान नहीं रहती, **तु सतः अभावः न विद्यते-** और सत का अभाव नहीं होता (सत कभी सत्ता विहीन नहीं होता) **अनयोः उभयोः अपि अन्तः तत्त्व-दर्शिभिः दृष्टः**- इन दोनों की यह सच्चाई तत्व ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखी गई है।

असत और सत : यह दोनों क्या हैं इस पर टीकाकारों ने बहुत अधिक लिखा है किंतु उन दर्शन-शास्त्रीय व्याख्याओं की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इन्हें हम

प्रसिद्ध वैदिक प्रार्थना मंत्र- 'असतो मा सत गमय' की सहायता से अधिक आसानी से समझ सकते हैं। उक्त मंत्र में प्रार्थना की गई है कि हे प्रभु! हमें देह-भाव से आत्म-भाव में ले चल। स्पष्ट है कि मंत्र में देह को असत और सत को आत्म तत्व कहा गया है। विचाराधीन श्लोक-१६ में भी असत और सत शब्दों के यह अर्थ प्रकरण के भी सर्वदा अनुकूल हैं।

तत्वदर्शी : गीता में आगे समस्त सृष्टि की रचना दो तत्वों से हुई है यह बताया गया है। यह दो तत्व है- प्रकृति और पुरुष। पुरुष है, प्रकृति रूप पुर में निवास करने वाली चेतना शक्ति (सत्ता)। इन दोनों तत्वों की पूरी सच्चाई जानने वाला ही तत्वदर्शी है। ऐसा तत्वदर्शी, प्रकृति से बनी देह को और उसमें निवास करने वाले पुरुष अंश रूप जीवात्मा को प्रथक-प्रथक रूप से जानता है। वस्तुतः गीता में भगवान ने इन दोनों तत्वों की जानकारी आगे काफी विस्तार से दी है। अभी तो यहाँ केवल इनकी भिन्नता के बारे में प्राथमिक जानकारी दे रहे हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि , येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य , न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशि तु तत् विद्धि , येन सर्वम् इदम् ततम् । विनाशम् अव्ययस्य अस्य , न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ॥

अविनाशि तु तत् विद्धि- नाश रहित तो उसको जान **येन इदम् सर्वम् ततम्-** जिससे यह संपूर्ण (शरीर) व्याप्त है। **अस्य अव्ययस्य विनाशम् कर्तुम् कश्चित् अर्हति न-** इस अविनाशी (जीवात्मा) का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा , नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य , तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्तवन्तः इमे देहाः , नित्यस्य उक्ताः शरीरिणः । अनाशिनः अप्रमेयस्य , तस्मात् युध्यस्व भारत ॥

अनाशिनः अप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः- नाशरहित अप्रमेय (अज्ञेय,जो इन्द्रियों और मन-बुद्धि से जाना या समझा न जा सके) नित्य स्वरुप जीवात्मा के **इमे देहाः-** ये शरीर (जो वह पुनर्जन्म यात्रा में प्राप्त करता रहता है) नाशवान **उक्ताः-** कहे गए हैं, **तस्मात्-** इसलिए **भारत -** हे भरतवंशी अर्जुन (तू) **युध्यस्व-** युद्ध कर ।

श्लोक का भाव यह है कि हे अर्जुन! जब सभी के केवल शरीर ही नाशवान है, जीवात्मा नहीं तो धर्म के लिए युद्ध में किसी को भी मारने में कोई पाप नहीं होगा। अतः भीष्म द्रोण को मारने में जो तू पाप का भय कर रहा है वह निरर्थक है।

श्लोक १४ से १८ का सारांश

जैसा कि पहले कहा गया था, उक्त श्लोकों में यह बताया गया है कि व्यक्ति केवल देह नहीं है देह के भीतर अविनाशी सत्ता भी है। वह सत्ता अ-मृत है किंतु यदि वह (जीवात्मा) अज्ञान से संचालित होकर अधर्म पथ पर चलने लगे तो उसके देह को विनष्ट करने में पाप नहीं है वरन् वह क्षत्रिय का धर्म है।

य एनं वेत्ति हन्तारं , यश्चैनं मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो , नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

यः एनम् वेत्ति हन्तारम् ,यः च एनम् मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतः , न अयम् हन्ति न हन्यते ॥

यः एनम् हन्तारम् वेत्ति च यः एनम् हतम् मन्यते- जो इस (जीवात्मा) को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है **तौ उभौ न विजानीतः अयम् न हन्ति न हन्यते-** वे दोनों ही नहीं जानते कि यह (जीवात्मा) न तो मरता है (और) न मारा जाता है ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न जायते म्रियते वा कदाचित्, न अयम् भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजः नित्यः शाश्वतः अयम् पुराणः, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अयम् कदाचित् भूत्वा भूयः न जायते भविता वा न म्रियते- यह कभी एक बार होकर (अस्तित्व ग्रहण करके) फिर न जन्मता है न मरता ही है **अयम् अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः-** यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पूर्व काल में था वैसा ही बना रहता है, **शरीरे हन्यमाने न हन्यते-** शरीर के मारे जाने पर नहीं मारा जाता ।

वर्णन आत्मा का अथवा जीवात्मा का?

कुछ टीकाकारों ने श्लोक-२० को आत्मा का वर्णन मानकर अर्थ किया है किंतु वह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि आत्मा को सर्वत्र अक्रियाशील और गुण रहित सत्ता माना गया है। हमने यहाँ ‘कदाचित’ शब्द का संस्कृतकोश (आप्टे पृष्ठ-२४४) में दिए गए अर्थ- किसी समय, एक बार- के आधार पर इसे जीवात्मा का वर्णन माना है। डॉ राधाकृष्णन ने भी ‘कदाचित’ शब्द का यही अर्थ लिया है। उपनिषदों की ऋचाओं के अर्थ भी इसी रूप में करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सभी मनुष्यों की मनो-बौद्धिक सोच और व्यवहार एक ही स्तर का क्यों नहीं पाया जाता। वस्तुतः मनुष्यों में जीवात्मा की आयु और विकास की स्थिति समान नहीं होती। किसी में वह शिशुवत

जीवन का प्रारंभ कर रही होगी तो अनेक में वह पूर्व संस्कारों अथवा परिस्थिति वश प्राप्त ज्ञान की उच्च अथवा निम्न अवस्था में पहुँचा हुआ होगा।

श्लोक में वर्णित जीवात्मा के कुछ विशेष सामान्य गुण : जीवात्मा की अवध्यता (अहन्यता) रूप गुण के वर्णन के अतिरिक्त तीन और गुणों का भी उल्लेख हुआ है। इस सत्ता को अज, नित्य और शाश्वत कहा गया है। 'अज' का अर्थ है जन्म नहीं लेने वाला। जन्म देह का होता है जीवात्मा का नहीं। वस्तुतः 'जन्म' शब्द 'जन्' धातु से बना है जिसके अर्थानुसार एक देह में से दूसरी के बनने और उत्पन्न होने की घटना का काम नाम ही 'जन्म होना है'। इसी अर्थ के परिपेक्ष में जीवात्मा को अज अर्थात् जन्म नहीं लेने वाला कहा गया है।

'नित्य' और 'शाश्वत' शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में भी होता है और भिन्न अर्थ में भी। यहाँ निश्चित ही अर्थ भिन्न हैं क्योंकि दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ हुआ है। 'नित्य' का अर्थ है नियमित, पुनरावर्ती, फिर-फिर (घटित) होने वाला, जैसे कि स्नान-ध्यान को हम नित्यकर्म कहते हैं। जीवात्मा पुनः पुनः शरीर धारण करता है अतः उसे 'नित्य' कहा गया है। नित्य से भिन्न, 'शाश्वत' का अर्थ है 'सनातन, समस्त आगामी समय के लिए, अविच्छिन्न वर्षों के लिए', जैसे कि सृष्टि की आयु तक कायम रहने वाले ब्रह्मा। जीवात्मा भी एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद उसकी सत्ता अपरिमितकाल तक बनी रहती है, इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिए उसे शाश्वत कहा गया है।

श्लोक १९,२० में उपनिषदों की वाणी: ये श्लोक कठोपनिषद की ऋचाओं (१.२.१९ और १.२.१८) से भावार्थ में तो पूरी समानता रखते ही हैं, दोनों की उत्तरार्द्ध वाली पंक्तियाँ तो यथावत दोहराई गई है। श्रीकृष्ण ने इन्हें उद्दृत करके जहाँ गीता ज्ञान की विश्वसनीयता सिद्ध की है तो दूसरी दृष्टि से यह भी कहा गया है कि भगवान ने श्रुति का सम्मान बढ़ाया है। (विनोबा)

अब अगले श्लोक में प्रकरण का समापन इस प्रकार किया जा रहा है-

वेदाविनाशिनं नित्यं , य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ , कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वेद अविनाशिनम् नित्यम् , यः एनम् अजम् अव्ययम् । कथम् सः पुरुषः पार्थ , कम् घातयति हन्ति कम् ॥

पार्थ-हे अर्जुन! **यः एनम् अजम् अव्ययम् अविनाशिनम् नित्यम् वेद-** जो इस (जीवात्मा) को अजन्मा, सदा रहने वाला, अविनाशी और नित्य जानता है, **सः पुरुषः कथम् कम् घातयति कम् हन्ति-** वह पुरुष कैसे किसको

मरवाता है (और) कैसे किसको मारता है?

यहाँ तक की विवेचना में भगवान ने बतलाया है कि व्यक्ति केवल देह नहीं है, नश्वर देह के परे एक शाश्वत सत्ता भी है जिसे उन्होंने देही/शरीरिन कहा है और जिसे अब हम 'जीवात्मा' नाम से संबोधित करने लगे हैं।

आगे विवेचना का विषय यह है कि व्यक्ति के कर्मों का जीवात्मा की पुनर्जन्म यात्रा से क्या कुछ संबंध है और यदि है तो वह कैसा है? यह विवेचना अर्जुन के उस मुख्य प्रश्न के उत्तर के लिए आवश्यक थी कि युद्ध में कुटुम्बियों और आदरणीय आत्मीय जनों को मारने जैसे भयंकर कर्म करने की अपेक्षा उसे आत्म-कल्याण प्राप्ति का संन्यास मार्ग क्यों नहीं चुन लेना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण ने सांख्य दर्शन और कर्मयोग सिद्धांत की विवेचना की है जिसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ अध्याय के शेष भाग में प्रस्तुत की गई है। इस वर्णन के अंतर्गत सर्वप्रथम श्लोक-२२ से २५ में व्यक्ति की संपूर्ण सत्ता का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है -

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरः अपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि, अन्यानि संयाति नवानि देही ॥

यथा नरःजीर्णानि वासांसि विहाय - जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग करके **अपराणि नवानि गृह्णाति-** दूसरे नए (वस्त्र) ग्रहण कर लेता है **तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय-** उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर **अन्यानि नवानि संयाति-** दूसरे नए (शरीरों) को प्राप्त होता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि , नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो , न शोषयति मारुतः ॥२३॥

न एनम् छिन्दन्ति शस्त्राणि , न एनम् दहति पावकः । न च एनम् क्लेदयन्ति आपः , न शोषयति मारुतः ॥

एनम् शस्त्राणि न छिन्दन्ति- इस (जीवात्मा) को शस्त्र नहीं काट सकते, **एनम् पावकः न दहति -** इसे अग्नि नहीं जला सकती, **एनम् आपः न क्लेदयन्ति-** इसे पानी नहीं गीला कर सकता है, **च मारुतः क्या न शोषयति-** और (इसे) हवा नहीं सुखा सकती है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम , अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः , अचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अच्छेद्यः अयम् अदाह्यः , अयम् अक्लेद्यः अशोष्यः एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुः , अचलः अयम् सनातनः ॥

अयम् अच्छेद्यः-यह कांटा नहीं जा सकता, **अयम् अदाह्यः-** यह जलाया नहीं जा सकता, **अक्लेद्यः च अशोष्यः एव-** भिगोया नहीं जा सकता और न हीं सुखाया जा सकता है, **नित्यः**-पुनरावर्ती, **सर्वगतः-** सब में समाया हुआ **स्थाणुः**-टेक या स्तम्भ सदृश्य, **अचलः**-स्थिर, **सनातनः अयम्-** सदा रहने वाला है यह।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् , अविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं , नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अव्यक्तः अयम् अचिन्त्यः अयम् , अविकार्यः अयम् उच्यते । तस्मात् एवम् विदित्वा एनम् , न अनुशोचितुम् अर्हसि ॥

अयम् अव्यक्तः- यह अव्यक्त (पूर्णतः गुण रहित है), **अयम् अचिन्त्यः-** यह विचार से परे है, **अयम् अविकार्यः उच्यते-** यह परिवर्तनशीलता से मुक्त कहा जाता है। **तस्मात् एवम् विदित्वा-** इसलिए इस प्रकार जानकर **एनम् न अनुशोचितुम् अर्हसि-** इस विषय में (तुझे) शोक नहीं करना चाहिए।

व्यक्ति में चेतना के चार स्तर :

श्लोक-२२ से २५ में व्यक्ति की चेतना के चार स्तरों का वर्णन हुआ है। इससे पूर्व श्लोक-१३ से २१ में मनुष्य की चेतना को मुख्य दो भागों में बांटा गया था- १. विनाशील स्थूल देह, तथा २. अविनाशी देही (=जीवात्मा)। अब इन्हीं दो का अधिक ब्यौरेवार वर्णन उपरोक्त श्लोकों में किया गया है। क्योंकि यह विस्तृत वर्णन पूर्व-कथित दो सत्ताओं को चार में विभाजित करके हुआ है, अतः इस वर्णन में कुछ कथ्य तो वही हैं जो पहले कहे जा चुके हैं और कुछ नए ब्यौरे भी हैं। पहले के वर्णन (श्लोक-१३ से २१ में) शरीर को नाशवान और शरीरी (शरीरिणः / देही / जीवात्मा) को एक देह को त्याग कर दूसरी देह (देहानंतर) प्राप्त करने वाला (श्लोक-१३), नाशरहित (श्लोक-१८), बार-बार न जन्म-मरने वाला नित्य और शाश्वत (श्लोक-२०) कहा गया था। अब इन तथ्यों को, कुछ नए तथ्यों सहित, अधिक व्यवस्थित रूप में, अधिक विस्तार देकर और वर्गीकरण करके वर्णित किया गया है। इन चार श्लोंकों में से प्रत्येक में चेतना के एक विशिष्ट रूप का वर्णन है। इसमें से प्रथम तो वहीं नाशवान शरीर का संचालन करने वाली चेतना का यथावत वर्णन है (श्लोक-२२), किन्तु दूसरी सत्ता देही के अब तीन विभाग करके तीन श्लोकों (क्रमांक-२३, २४, २५) में कुछ नए तथ्यों सहित उसका वर्णन किया गया है। वर्तमान में प्रचलित नामांकन अनुसार हम इन्हे क्रमशः स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और आत्मा, इन नामों से

संबोधित करेंगे। 'शरीर' शब्द यद्धपि प्रकृति के आवरणों को सूचित करता है किंतु इन नामों से ही हमें इनमे स्थित चेतना की पहचान उसी प्रकार करना होगी जिस प्रकार कि किसी भी व्यक्ति के नाम से हमें प्रथम भान तो उसके शरीर के आकार-प्रकार का होता है किंतु उससे वार्तालाप के समय उसके मन-बुद्धि-अहंकार का होता है।

निष्कर्ष यह कि उक्त चार श्लोक हमें व्यक्ति में उपस्थित चेतना के चार स्वरूपों और उनके गुणों से परिचित करा रहे हैं। श्लोक-२२ (वासांसि जीर्णानि....) पंचभौतिक स्थूलतत्वों से बने स्थूल शरीर के संदर्भ से उसमें क्रियाशील (प्राणिक) चेतना का वर्णन कर रहा है जो शरीर के नष्ट होने पर अपने स्रोत (सर्वव्यापक चेतना के महासागर) में ही विलीन हो जाती है।

श्लोक-२३ सूक्ष्म शरीर के बारे में है जिसमें यहाँ इतना ही वर्णन किया गया है कि यह स्थूल शरीर से इस रूप में भिन्न है कि जहाँ स्थूल शरीर, स्थूल भूत वस्तुओं से नष्ट किया जा सकता है, यह उनसे अप्रभावित रहता है। इस शरीर के संघटक (अंश-भूत) तत्वों अर्थात् मन,बुद्धि,अहंकार का उल्लेख यहाँ आवश्यक न होने से नहीं हुआ है (किंतु आगे इसे अध्याय के स्थितप्रज्ञ प्रकरण में और अन्य कई स्थलों पर इनकी विवेचना विस्तार से हुई है)।

श्लोक-२४ में 'कारण-शरीर' और श्लोक-२५ की (प्रथम पंक्ति) में 'आत्मा' का परिचय कराया गया है। ये दोनों सत्ताऐ व्यष्टि चेतना की जीवात्मा से उच्चतर और उच्चतम अवस्थाएं हैं। इनकी जाग्रति ही मनुष्य का आध्यात्मिक विकास है जो मनुष्य जीवन का मूल लक्ष्य है। इन दोनों में से भी प्रथम अर्थात् कारण-शरीर को जानना अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि कारण-शरीर की जाग्रति होने पर यह सत्ता, जैसा कि हम इसके परिचयात्मक वर्णन में अभी देखेंगे, स्वयं ही आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग खोल देती है।

श्लोक-२४ में कारण शरीर का जो वर्णन है उसमें भी प्रथम पंक्ति में तो वही चार बातें कही गई है जो कि श्लोक-२३ की दोनों पंक्तियों में कही गयी थीं। इस कारण टीकाकारों ने इसे पुनर्कथन माना है किंतु वह धारणा हमें सही प्रतीत नहीं लगती। गीताकार ने पूरी एक पंक्ति का पुनर्कथन, वह भी अगली ही पंक्ति में बिना किसी कारण के भला क्यों किया होगा? वस्तुतः पुनर्कथन-सा प्रतीत होता यह कथन कारण-शरीर के संबंध में यह बता रहा है कि कारण-शरीर भी सूक्ष्म-शरीर के सामान स्थूल-

भौतिक नहीं है (जैसा कि 'शरीर' शब्द से भ्रम हो सकता है), वह द्वितीय पंक्ति में वर्णित अतिरिक्त विशेषताओं के कारण सुक्ष्म-शरीर से भी भिन्न है। इन विशेषताओं को जानना समझ लेना महत्वपूर्ण होगा अतः इन की व्याख्या करने का हम यहाँ प्रयास कर रहे हैं-

श्लोक की दूसरी पंक्ति में पांच विशेषताओं का उल्लेख है। यह है- नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन। इनमे से दो नित्य और सनातन- की विवेचना हम ऊपर श्लोक-२० की टिप्पणियों में कर चुके हैं, अब शेष तीन पर विचार करेंगे।

'सर्वगत' शब्द की व्याख्या : इस शब्द का सामान्य अर्थ है- सर्वत्र विद्यमान। शब्द की व्युत्पत्ति-परक अर्थ देखें तो 'गत' जब समास के रूप में प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ बनता है 'अन्तःस्थित बैठा हुआ, विश्राम करता हुआ' (आप्टे का संस्कृत हिंदी शब्दकोश पृष्ठ-३११), अतः 'सर्वगत:' का अर्थ हुआ- 'सब में विश्राम करती चेतन सत्ता'। कारण-शरीर व्यक्ति में उसके जीवन काल में सामान्यतः विश्रामावस्था में ही अक्रियाशील रहता है। किंतु दैवी सम्पद में स्थित, सत्वगुणी, सुकर्मी व्यक्ति का जब देहांत हो जाता है तो यह सत्ता अर्थात् उसका कारण-शरीर, उसके जीवात्मा को उपयुक्त परिस्थितियों में जन्म ग्रहण करने में पथ प्रदर्शक बनता है ताकि वह आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर रहें। इसी कारण इस सत्ता को कारण-शरीर नाम से संबोधित किया गया है। ऐसा वर्णन अन्यत्र भी मिलता है, (उदाहरणार्थ- भगवान शंकराचार्य कृत 'विवेक चूड़ामणि', श्लोक-१२२,१२३)।

'स्थाणु:' नाम की व्याख्या : 'स्थाणु:' शब्दार्थों के जो विभिन्न संवर्ग हैं, उनमें से यहाँ दो उल्लेखनीय है १. टेक, पोल, स्तंभ; २. स्थाणुः= शिव। यह दोनों अर्थ कारण-शरीर के लिए सार्थक है। यह सत्ता, जैसा कि ऊपर कहा गया है, जिन आध्यात्मिक प्रगति के प्रति अभीप्सु व्यक्तियों में जाग्रत हो जाती है उनको उपयुक्त परिस्थितियों में जन्म दिलाने में उस पोल की तरह सहायक होती है जिसके सहारे नट ऊंची बाधा के पार कूद जाता है और पोल को छोड़ देता है। स्थाणुः नाम से भगवान शिव का संबोधन भी महत्वपूर्ण है। गीता में ही आगे (श्लोक -१३.२२) में मनुष्य देह में परम पुरुष (अर्थात् चेतन सत्ता) के छः रूपों का वर्णन करते हुए भोक्ता शब्द से इंगित जीवात्मा से उच्च दो सत्ताये- महेश्वर (शिव) और परमात्मा कहीं गई हैं और यहाँ भी सूक्ष्म-शरीर रूप जीवात्मा से उच्चतर जिस पहली सत्ता का परिचय दिया जा रहा है उसे स्थाणुः(= शिव) कह कर उसी महेश्वर का बोध कराया गया है (तथा अगले

श्लोक २.५ में इससे उच्च 'अव्यक्त, अचिन्त्य' निर्गुण परमात्मा का भी वर्णन किया गया है)।

'**अचल' संबोधन का तात्पर्य :** अचल का अर्थ स्थिर है। यहाँ आध्यात्मिक सत्ता का संदर्भ है अतः इसका आशय 'ज्ञान में स्थिर' ही हो सकता है। वस्तुतः इस अर्थ की पुष्टि आगे (श्लोक-१३.१७) में वर्णित तीन ज्ञान स्वरूप सत्ताओं- ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यम्- के वर्णन से भी होती है। वहाँ जीवात्मा के ज्ञानावस्था की ओर बढ़ते चरणों (अमानित्वं से लेकर तत्वज्ञानार्थदर्शनम् तक के बीस चरणों) को ज्ञान कहा गया (१३.७ से ११) और अंतिम वांछित ज्ञानावस्था को 'ज्ञानगम्य' (१३.१७) जो ज्ञान की यही महेश्वर (शिव) कहे जाने वाली अचल अवस्था है। ('गेय' की विवेचना प्रस्तुत प्रकरण से संबंधित नहीं है, उसे श्लोक-१३.१२ से १६ की विवेचना में देखा जा सकता है।)

निष्कर्ष यह कि श्लोक-२४ में जिस सत्ता का वर्णन किया गया है, वह जीवात्मा से उच्च ज्ञानवस्था है जिसे श्लोक-१३.२२ में महेश्वर (शिव), श्लोक-९.१८ में 'गतिर्भर्ता, प्रभु, साक्षी, सुहृत (सखा)'; वेद और उपनिषदों के 'द्वा सुपर्णा...' मंत्र में अभोक्ता, सखा इत्यादि कहा गया है। इसी सत्ता को कारण-शरीर भी कहा गया है, ऐसा हमारा मत बना है।

श्लोक-२५ में वर्णित सत्ता शुद्ध आत्म तत्व (समष्टि में परमात्म तत्व) है जिसे प्रकृति से पूर्णत: परे होने से 'अविकारी', और इसी कारण 'अव्यक्त' (निर्गुण) होने से उसे 'अचिन्त्य' कहा गया है।

श्लोक-२२ से २५ का सार : इन श्लोकों में किया गया विशलेषण अध्यात्मवादी सांख्य दर्शन का आधार भाग है। इसका वर्णन कर भगवान ने मृत्यु के लिए शोक करने को औचित्य हीन सिद्ध किया। यह दर्शन यद्यपि ऋषि-मुनियों के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है किंतु इसको नकारने वालों के लिए भी मृत्यु को शोचनीय मानना औचित्य हीन ही सिद्ध होता है।

नश्वर जीव को मृत्यु से किस महत्वपूर्ण वस्तु को खो देने का भय होगा? यह बात अगले तीन श्लोकों (क्रमांक २६ से २८) में कही गई है।

अथ चैनं नित्यजातं , नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो , नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथ च एनम् नित्य-जातम् , नित्यम् वा मन्यसे मृतम् । तथा अपि त्वम् महा-बाहो , न एनम् शोचितुम् अर्हसि ॥

च अथ- और फिर भी (यदि) **एनम् नित्य-जातम्-** इस (जीवात्मा) को बार-बार जन्मने वाला **वा नित्यम् मृतम् मन्यसे-** तथा बार-बार मरने वाला मानते हो। **तथापि-** तो भी **महा-बाहो-** हे वीर (अर्जुन)! **त्वम् एनम् शोचितुम् न अर्हसि-** तुम्हें इसप्रकार शोक नहीं करना चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः , ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे , न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जातस्य हि ध्रुवः मृत्युः , ध्रुवम् जन्म मृतस्य च । तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे , न त्वम् शोचितुम् अर्हसि ॥

हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः च मृतस्य जन्म ध्रुवम्- क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है **तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वम् शोचितुम् न अर्हसि-** अतः (इस) बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने को योग्य नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि , व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव , तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अव्यक्त-आदीनि भूतानि , व्यक्त-मध्यानि भारत । अव्यक्त-निधनानि एव , तत्र का परिदेवना ॥

भारत - हे अर्जुन! **भूतानि अव्यक्त आदीनि-** सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे **व्यक्त-मध्यानि अव्यक्त-निधनानि एव-** बीच में ही व्यक्त रहतें है, निधन के पश्च्यात अव्यक्त ही हो जाते है, **तत्र का परिदेवना-**ऐसी स्थिति में क्या शोक करना ?

आगे २९-वाँ श्लोक उन लोगों पर कटाक्ष करता है जो जीवात्मा की अमरता के केवल वाचिक गुणगान करते रहते हैं किंतु उस सत्य के अनुरूप जीवन जीने से दूर भागते हैं-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन्-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चित् एनम्, आश्चर्यवत् वदति तथा एव च अन्यः ।
आश्चर्यवत् च एनम् अन्यः शृणोति, श्रुत्वा अपि एनम् वेद न च एव कश्चित् ॥

एनम् कश्चित् आश्चर्यवत् पश्यति- इसको कोई आश्चर्य जैसा देखता है, **च तथा एव अन्यः आश्चर्यवत् वदति-** और वैसे ही अन्य कोई आश्चर्यवत वर्णन करता है, **च अन्यः एनम् आश्चर्यवत् शृणोति-** और कोई दूसरा आश्चर्यवत सुनता है **च एनम् श्रुत्वा अपि न कश्चित् वेद-** और सुन कर भी कोई इसे नहीं जानता ।

जीवात्मा की अवध्यता वाले तथ्य के प्रकाश में धर्म की रक्षा के लिए धर्म से च्युत व्यक्तियों का वध करना पाप नहीं है, इस निष्कर्ष के परिपेक्ष में युद्ध करने के निर्देश का समापन श्लोक-३० में इन शब्दों में किया गया है-

देही नित्यमवध्योऽयं , देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि , न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

देही नित्यम् अवध्यः अयम् देहे सर्वस्य भारत । तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वम् शोचितुम् अर्हसि ॥

भारत- हे अर्जुन! **अयम् देही सर्वस्य देहे नित्यम् अवध्यः-** यह जीवात्मा सभी लोगों के शरीरों में सदा ही अवध्य है, **तस्मात् सर्वाणि भूतानि त्वम् शोचितुम् न अर्हसि-** इसलिए सभी व्यक्तियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है।

अभी तक जो कहा गया उसका तात्पर्य यह है कि जीवन के प्रति व्यक्ति की दृष्टि किसी भी प्रकार की हो- आस्तिक (अध्यात्मपरक)हो (श्लोक-२२ से २५), अथवा नास्तिक (अनात्मवादी) हो (श्लोक-२६ से २८), उसके लिए कर्म करना अनिवार्य है (श्लोक-२९, ३०)। कर्म का स्वरूप क्या हो, अब इसकी चर्चा पहले सांख्य दर्शन के आधार पर (श्लोक-३१ से ३८ में) और आगे योग (कर्मयोग) दर्शन के आधार पर (श्लोक-३९ से ५३) कर रहे है।

'सांख्य' का पारिभाषिक अर्थ है 'विस्तार से वस्तुओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन'। इसके अंतर्गत केवल देह-देही का ही विवरण नहीं आता, जैसा कि अनेक बार समझ लिया जाता है, वरन् कर्म का विश्लेषण भी सांख्य के विचार-क्षेत्र का भाग है। वस्तुतः कर्म प्रकृति के द्वारा होता है अतः सांख्य के अंतर्गत कर्म की भी विवेचना (श्लोक-३१ से ३७में) की गई है। यह विवेचना स्वधर्म के रूप में की गई है, विशेष रूप से क्षत्रिय के स्वधर्म को लेकर -

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य , न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्, क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्मम् अपि च अवेक्ष्य , न विकम्पितुम् अर्हसि । धर्म्यात् हि युद्धात् श्रेयः अन्यत् , क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

च स्वधर्मम् अपि अवेक्ष्य- और अपने धर्म को देखकर, **विकम्पितुम् न अर्हसि-** अस्थिर (चंचल मन) नहीं होना चाहिए । **हि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात्-** क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से (बढ़कर) **अन्यत् श्रेयः न विद्यते-** दूसरा कोई कल्याणकारी (कर्तव्य) नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं , स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ , लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

यत् ऋच्छया च उपपन्नं , स्वर्ग-द्वारम् अपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ , लभन्ते युद्धम् ईदृशम् ॥

पार्थ-हे अर्जुन! **यदृच्छया उपपन्नं च अपावृतम् स्वर्ग-द्वारम् -** अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रुप **ईदृशम् युद्धम् सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते-** इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग (ही) पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं , संङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च , हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अथ चेत् त्वम् इमम् धर्म्यम् , सङ्ग्रामम् न करिष्यसि । ततः स्वधर्मम् कीर्तिम् च , हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ॥

चेत् अथ त्वम् इमम् धर्म्यम् सङ्ग्रामम् न करिष्यसि-किंतु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा **ततः स्वधर्मम् च कीर्तिम् हित्वा पापम् अवाप्स्यसि-** तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप (अवनति) को प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि , कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिः , मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अकीर्तिम् च अपि भूतानि , कथयिष्यन्ति ते अव्ययाम् । सम्भावितस्य च अकीर्तिः , मरणात् अतिरिच्यते ॥

च भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्तिम्-और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का **अपि कथयिष्यन्ति-** भी कथन करेंगे **च सम्भावितस्य अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते-** और प्रतिष्ठित पुरुषों के लिए अपकीर्ति मरण से (भी) अधिक खराब होती है।

भयाद्रणादुपरतं , मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो , भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

भयात् रणात् उपरतम् , मंस्यन्ते त्वाम् महारथाः । येषाम् च त्वम् बहु-मतः , भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

महारथाः त्वाम् भयात् रणात् उपरतम् मंस्यन्ते- महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे **च येषाम् त्वम् बहुमतः भूत्वा लाघवम् यास्यसि-** और जिनकी दृष्टि में तू बहुत माना जाता रहा है (अब) तुच्छता को प्राप्त होगा।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं , ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अवाच्य-वादान् च बहून् वदिष्यन्ति तव अहिताः । निन्दन्तः तव सामर्थ्यम् ततः दुःखतरम् नु किम् ॥

तव अहिताः तव सामर्थ्यम् निन्दन्तः- तेरे वैरी लोग तेरे बल की निंदा करते हुए **बहून् अवाच्य-वादान् च वदिष्यन्ति-** बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, **ततः दुःखतरम् नु किम्-** फिर उससे अधिक दुख निःसंदेह

क्या होगा ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं , जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय , युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

हतः वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् , जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय , युद्धाय कृत-निश्चयः ॥

कौन्तेय- हे अर्जुन! **वा हतः स्वर्गम् प्राप्स्यसि-** या तो मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त करेगा, **वा जित्वा महीम् भोक्ष्यसे-** अथवा जीतकर पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा, **तस्मात् युद्धाय कृत-निश्चयः उत्तिष्ठ-** इसलिए युद्ध करने का दृढ़ संकल्प करके उठ खड़ा हो।

सुखदुःखे समे कृत्वा , लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व , नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख-दुःखे समे कृत्वा ,लाभ-अलाभौ जय-अजयौ । ततः युद्धाय युज्यस्व , न एवम् पापम् अवाप्स्यसि ॥

सुख-दुःखे लाभ-अलाभौ जय-अजयौ समे कृत्वा- सुख और दुख को, लाभ व हानि को, विजय और हार को समान करके **ततः युद्धाय युज्यस्व-** तब युद्ध के लिए तैयार हो जा, **एवम् पापम् न अवाप्स्यसि-** इस प्रकार तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।

यहाँ सुख-दुख को, लाभ-अलाभ को, जय-अजय को समान करके युद्ध करने की जो बात कही गई है उसका वास्तविक अर्थ यह है कि ये द्वंद्वात्मक फल तभी बनेंगे जब युद्ध में योद्धा के निजी हित हों। कर्म का यह मूलभूत सिद्धांत है कि यदि कर्म में कर्ता का किसी भी प्रकार का स्वार्थ संबंध न हो तो कर्ता कर्म के फल से सर्वथा अछूता ही रहेगा।

उपरोक्त अंतिम श्लोक (क्रमांक २.३८) मैं भगवान ने अर्जुन की उस बात का उत्तर दिया है जिसमें उसने कहा था कि गुरुजनों और कुटुंबीयों को मारना तो महापाप होगा। भगवान ने उत्तर दिया है कि पाप तब होगा यदि आसक्ति रखकर अर्थात् स्वार्थवश अपने सुख, लाभ या विजय के लिए युद्ध करोगे। यदि तुम जन कल्याण के उद्देश्य को लेकर युद्ध करोगे तो उसमें होने वाली हिंसा न तो हिंसा होगी और न वह पाप होगा।

श्लोक २.३१ से ३८ : कर्म योग की आधारभूत विवेचना

भगवान ने उपरोक्त आठ श्लोकों में ‘कर्म’ की संक्षिप्त किंतु ऐसी आधारभूत विवेचना प्रस्तुत की है कि उसमें बीज रूप में पूरा कर्म-शास्त्र ही आ गया है, ऐसी हमारी मान्यता है। व्यक्ति के लिए कौन से कर्म किए जाने योग्य अथवा अयोग्य होंगे, वह उन्हें क्यों करे, किस उद्देश्य से करें तथा वह कर्म करते हुए भी कर्म-फल रूप उनके दुष्प्रभाव से किस प्रकार अपने को मुक्त रख सकता है, कर्म संबंधी ऐसे सभी प्रश्नों के उत्तर इन श्लोकों में आ गए हैं।

स्वधर्म : प्रथम प्रश्न कि व्यक्ति के लिए कौन से कर्म किए जाने योग्य हैं और कौन से अयोग्य हैं इसका उत्तर एक पारिभाषिक (टेक्निकल) शब्द ‘स्वधर्म’ का प्रयोग करके दिया गया है। व्यक्ति को जन्म से जो पारिवारिक, सामाजिक वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षा प्राप्त होती है ये बाह्य प्रभाव उसे प्रकृति से मिली बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक क्षमताओं के साथ मिलकर कर्म के विशेष क्षेत्र के लिए उसको योग्य बना देती हैं। उस प्रकार के कर्मों में व्यक्ति को सहज ही दक्षता प्राप्त होती है। इसे ही ‘स्वधर्म’ कहा गया है। व्यक्ति यदि अपने ‘स्वधर्म’ में स्थित रहकर कर्म करेगा तो उससे व्यक्ति को जहाँ भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का सहज लाभ मिलेगा, वहीं समाज की उन्नति में भी उसका समुचित योगदान रहेगा। इस प्रकार अर्जुन का स्वधर्म क्षत्रियोचित कर्म निर्धारित हो चुका था तथा इसका त्याग करना सर्वथा अनुचित था, यह बात भगवान ने श्लोक ३१ से ३३ में कहीं है और अर्जुन के उदाहरण से हमें भी कर्म क्षेत्र के निर्धारण का उक्त सिद्धांत समझाया गया है।

अब अगले कुछ श्लोकों में यह वर्णित किया गया है कि व्यक्ति इस प्रकार प्राप्त हुए ‘स्वधर्म’ रूप बाह्य कर्मक्षेत्र में स्थित रहकर अपनी आंतरिक यात्रा में कदम-दर-कदम कैसे आगे बढ़ सकता है। उसके लिए उसे सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि व्यक्ति की चेतना विकास की क्रमगत स्थितियाँ क्या है? तब उसमें अपनी वर्तमान स्थिति में प्राप्त हो रहे आनंद से उच्चतर आनंद को प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा जाग्रत होगी जो उसे उस आगामी स्थिति को प्राप्त करने की ओर प्रेरित करेगी। इन श्लोकों में ऐसे तीन स्तरों का वर्णन हुआ है- १. प्राणिक सुख में रमण की स्थिति को लक्ष्य करके श्लोक-३७ कहा गया है। इहलोक अथवा परलोक के सुख भोगने की इच्छा हो तो व्यक्ति को वे भोग भी स्वधर्म रूप कर्म करने से ही प्राप्त होंगे श्लोक-३७ में कही गई थी। चेतना का मुख्य क्षेत्र मानसिक हो तो व्यक्ति यश (कीर्ति) और मान-सम्मान को महत्व देगा और उसके लिए भी उसे स्वधर्म से प्राप्त हुए कर्मक्षेत्र में अपनी कुशलता दिखानी पड़ेगी, यह बात श्लोक ३४ से ३६ में कहीं गई थी। और

यदि व्यक्ति मानसिक क्षेत्र के आनंद से भी तृप्त हो गया हो तो उसे आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश की इच्छा होगी। इसके लिए स्वधर्म रूप कर्म करने की विधा क्या होगी, इसकी विवेचना का प्रारंभ श्लोक २.३९ से किया जा रहा है।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये , बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ , कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

एषा ते अभिहिता साङ्ख्ये , बुद्धिः योगे तु इमाम् शृणु । बुद्ध्या युक्तः यया पार्थ , कर्म-बन्धम् प्रहास्यसि ॥

पार्थ-हे अर्जुन! **एषा बुद्धिः ते साङ्ख्ये अभिहिता-** यह विवेचन तुझे सांख्य दर्शन के आधार पर कहा गया, **इमाम् तु योगे शृणु-** (अब) इसी को कर्मयोग (निष्काम भाव से कर्म करने की) विधा के रूप में सुन **यया बुद्ध्या युक्तः कर्म-बन्धम् प्रहास्यसि-** जिस ज्ञान से युक्त होकर तू कर्म बंधन से मुक्त हो जावेगा।

सांख्यः इस शब्द के सामान्य अर्थ 'ज्ञान' के अतिरिक्त यह आध्यात्मिक साहित्य में ही एक से अधिक भाव में प्रयुक्त हुआ है। सांख्य एक दर्शन (शास्त्र) भी है और वास्तविकताओं को जानने-समझने की विश्लेषणात्मक पद्धति भी है। सांख्य दर्शन की भी दो प्रमुख शाखाएं हो गई है जो काफी समान होते हुए भी अंतिम चरण में भिन्न हो गई हैं। दोनों शाखाएं सृष्टि की संरचना का विवेचन प्रकृति और पुरुष रूप इन दो मूल तत्वों में और फिर प्रकृति से बने २४ अमौलिक, इस प्रकार कुल २५ तत्वों में (प्रकृति के २४ अमौलिक तत्व + एक मौलिक पुरुष तत्व) करते है। प्रकृति के अमौलिक तत्वों की संख्या विभिन्न विचारकों ने २४ से कम या अधिक भी वर्णित की है किन्तु वह महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि कही दो तत्वों को एक में सम्मिलित करके तो कही एक के दो विभाग करके गणनायें की गई हैं। महत्वपूर्ण अंतर है पच्चीसवें (चेतन) तत्व के सम्बन्ध में दो मान्यताऐं जिनके आधार पर सांख्य दर्शन की दो शाखाएं हो गई हैं। एक है- कपिल मुनि का आस्तिक दर्शन जो उक्त तत्व को सर्वव्यापी एक ही चेतन सत्ता मानता है और दूसरा है ईश्वरकृष्ण का नास्तिक दर्शन जो सर्वव्यापी सत्ता को नकारते हुए प्रत्येक जीव में प्रथक-प्रथक चेतनरूप अमृत आत्माओं के अस्तित्व को मानता है (दृष्टव्यः तिलक का 'गीता रहस्य', अध्याय ७,८)। गीता ने कपिल के सांख्य दर्शन को स्वीकार तो किया है किंतु वह कपिल-दर्शन से एक महत्वपूर्ण बात में उससे परे गई है। कपिल मुनि ने मनुष्य के लिए दुखों से मुक्ति का उपाय जहाँ संसार का त्याग(अर्थात् सन्यास) माना है वहाँ गीता ने इसे उचित समाधान न मानते हुए समष्टि से क्रियात्मक रूप से जुड़ते हुए उसे समष्टि में व्याप्त परमात्मा के प्रति अपने प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार रूप व्यक्ति सत्ता का समर्पण किया जाना ही निर्विघ्न और सभी के लिए श्रेष्ठ उपाय माना है। भगवान ने इस

मार्ग का वर्णन 'योग' (=कर्मयोग) नाम से देना श्लोक-३९ से प्रारंभ किया है। श्लोक ४० से ४६ में विधा की ओर समुचित ध्यान आकर्षित करने हेतु वे सर्वप्रथम यह बतला रहे हैं कि अन्य प्रचलित साधनों की अपेक्षा इस विधा की क्या विशेषताएं हैं। इसके बाद श्लोक-४७ से कर्मयोग मार्ग की प्राथमिक जानकारी देंगे।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति , प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य , त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

न इह अभिक्रम-नाशः अस्ति , प्रत्यवायः न विद्यते । स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य , त्रायते महतः भयात् ॥

न इह अभिक्रम-नाशः अस्ति-इस (कर्मयोग) में (अपूर्ण) प्रयास व्यर्थ नहीं जाता, **न प्रत्यवायः विद्यते-** न हीं यह विपरीत परिणाम देने वाला है। **स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य महतः भयात् त्रायते-** इस धर्म का थोड़ा सा (पालन) भी महान भय से रक्षा करता है।

यहाँ भगवान ने कर्मयोग साधना की तीन ऐसी विशेषताएं बतलाई है जो अन्यत्र नहीं मिलती-

1. पहली विशेषता यह बताई गई है कि इस साधना में 'अभिक्रम' का नाश नहीं होता। 'अभिक्रम' शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं- प्रारंभ अथवा प्रयत्न। अनेंक टीकाकारों ने प्रथम अर्थ 'प्रारंभ' लेकर व्याख्या करने का प्रयास किया है किंतु वे समाधानकारक नहीं बनी जबकि स्वामी रंगनाथानंद द्वारा 'प्रयत्न' अर्थ लेकर की गई व्याख्या समुचित भाव प्रकट करती है। भाव यह प्रकट होता है कि आध्यात्मिक पथ पर चलने का कितना ही अल्प प्रयास हो और यदि वह सतत न भी हो, तो भी वह कभी निरर्थक नहीं जाता, जैसा कि बहुधा भौतिक क्षेत्रों में होता है। उदाहरणार्थ खेती में फसल संबंधित सभी कार्य समय पर ही पूरे करने होते हैं अन्यथा सारा किया कराया व्यर्थ हो जाता है। किंतु आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना में ऐसा नहीं है। यहाँ किया हुआ प्रयास व्यर्थ नहीं जाता, प्रभाव संचयी होता है।

2. इस विधा की दूसरी विशेषता यह बताई गई है कि यह विपरीत परिणाम नहीं देती- 'न प्रत्यवायः विद्यते'। टीकाकारों ने या तो इस वचन की व्याख्या की ही नहीं है, और किन्ही ने की है तो भौतिक उदाहरण दिया है जो विषय के अनुकूल नहीं बैठता। हमारा मत है कि यह वचन साधना की कुछ दूसरी पद्धतियों से तुलना के रूप में कहा गया है। उन पद्धतियों में जहाँ समष्टिगत सत्ता की अवहेलना करते हुए केवल स्वकेंद्रित 'आत्म

सत्ता' को जाग्रत करना ही लक्ष्य बना लिया जाता है, विपरीत परिणाम इस रूप में प्रकट होते देखे गए हैं कि साधना की आंशिक सफलता के साथ 'अहम्' का प्रबल और विकृत होना भी देखा गया है। पौराणिक साहित्य में इसे दुर्वासा ऋषि के उदाहरण से चित्रित किया गया है।

3. अब हम तीसरी विशेषता- 'महान भय से रक्षा करता है' को समझने का प्रयास करें। 'महान भय' से भगवान का क्या तात्पर्य है, इस पर टीकाकार या तो मौन है अथवा शांकरभाष्य का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा सा भी अनुष्ठान जन्म-मरण रूप महान संसार भय से रक्षा करता है। किंतु यह कथन न तो तर्क की कसौटी पर और न ही अन्य शास्त्र वचनों से सिद्ध है। किंतु यदि इस कथन को 'न प्रत्यवायः विद्यते' वाली उपरोक्त विवेचना से जोड़कर देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अध्यात्म पथ की सबसे बड़ी बाधा तो हमारी स्वार्थ-वृत्ति ही है जिसे यहाँ लक्षित करके यह बात कही गई है। यदि किसी आधी-अधूरी साधना से वह वृत्ति घटने के बजाय उसके बढ़ जाने की संभावना बनती है तो उससे बड़ा भय और क्या होगा? कर्मयोग का सामर्थ्य अनुरूप साधन, चाहे वह अल्प-सा ही हो, स्वार्थ-वृत्ति के शमन में सहायक ही होगा जबकि अन्य साधनाओं में वह बढ़ भी सकती है क्योंकि उनमें 'मैं' या 'मुझे प्राप्ति' का भाव बना रहता है। हमारा मत है कि ध्यान या तप आदि साधनों के परिपेक्ष में ही 'उल्टे परिणाम' वाली बात कही गई है। इस प्रकार के उल्टे परिणाम का भय न रहे इस हेतु से ही आगे श्लोक ५.६ में स्पष्ट कहा गया है कि कर्मयोग के बिना सन्यास साधना दुख ही देती है।

कर्मयोग साधना की उपरोक्त तीन विशेषताओं का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि इस प्रकार के साधक को एक और लाभ होता है। उसकी भोग बुद्धि का भटकाव धीरे-धीरे समाप्त होकर वह परमार्थिक लक्ष्य पर केंद्रित हो जाती है, यह बात श्लोक ४१ में कही गई है। वेदों में स्वर्ग प्राप्ति हेतु कहे गए उन वचनों का भी त्याग कर देने का निर्देश देते हुए स्व-सुख प्राप्ति के प्रलोभन से पूर्णता मुक्त हो जाने का निर्देश (श्लोक ४२ से ४६ में) देते हुए कर्मयोग द्वारा 'स्व-केंद्रित मैं' से मुक्त होने का मार्ग बताया गया है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः, एकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च , बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

व्यवसाय-आत्मिका बुद्धिः , एका इह कुरु-नन्दन । बहु-शाखाः हि अनन्ताः च , बुद्धयः अव्यवसायिनाम् ॥

कुरुनन्दन-हे अर्जुन! **इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका-** इस (कर्मयोग) में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही (होती है) अर्थात् एक लक्ष्य पर केंद्रित होती है, **अव्यवसायिनाम् बुद्धयः बहु-शाखाः अनन्ताः-** लक्ष्यविहीन की भोग-बुधियाँ अनेक और बहुत-सी शाखा वाली होती हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं , प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ , नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

याम् इमाम् पुष्पिताम् वाचम् , प्रवदन्ति अविपश्चितः । वेद-वाद-रताः पार्थ , न अन्यत् अस्ति इति वादिनः ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा , जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां , भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

काम-आत्मानः स्वर्ग-पराः , जन्म-कर्म-फल-प्रदाम् । क्रिया-विशेष-बहुलाम् , भोग-ऐश्वर्य-गतिम् प्रति ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां , तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः , समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम् , तया अपहृत-चेतसाम् । व्यवसाय-आत्मिका बुद्धिः , समाधौ न विधीयते ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **कामात्मानः वेदवादरताः-** भोगेच्छाओं में तन्मय, वेदवाद (कर्मकांड यज्ञों) में रुचि रखने वाले, **अविपश्चितः इति वादिनः-** अविवेकीजन ऐसा कहने वाले हैं (कि) **स्वर्ग-पराः न अन्यत् अस्ति-** स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है, अन्य कुछ नहीं। **भोगश्वर्यगतिम् प्रति-** भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **जन्म कर्म फल प्रदाम्-** उत्तम जन्म तथा अन्य (सकाम) कर्मफल प्रदान करने वाली **क्रियाविशेष बहुलाम्-** नाना प्रकार के बहुत-सी (यज्ञ) क्रियाओं का वर्णन करने वाली **इमाम् याम् पुष्पिताम् वाचम् प्रवदन्ति-** इस प्रकार की जिस पुष्पित (अर्थात् चित्ताकर्षक) वाणी को कहा करते हैं, **तया-** उस वाणी द्वारा **अपहृत चेतसाम्-** जिनका चित्त हर लिया गया है, **भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम्-** जो इंद्रिय-भोगों और मानसिक ऐषणाओं में आसक्त है, उन पुरुषों की **समाधौ-** सर्वव्यापी (परमात्मा) में **व्यवसाय-आत्मिका बुद्धिः न विधीयते-** निश्चयात्मा बुद्धि नहीं होती।
समाधौ=सम+आधि; सम=समष्टि, आधि=अवस्थान/ठिकाना, इसलिए समाधौ = समष्टि में सर्वत्र व्याप्त परमात्मा।

यहाँ वेदों के भोग/ऐश्वर्य प्राप्ति संबंधी जिन वचनों का संदर्भ है वह वेदों के मीमांसा भाग के उन वचनों को लेकर है, जो हमारे अनुमान से, व्यक्ति को अकर्मण्यता वाली तामसिक स्थिति से ऊपर उठाकर राजसिक स्थिति में ले जाने हेतु कहे गए हैं। किंतु राजसिकता की स्थिति मानव जीवन का एक निम्न चरण ही हो सकता है, अंतिम लक्ष्य नहीं है। जीवन विकास के नियम के अनुरूप उस स्थिति से आगे समाज को समुन्नत करने हेतु कर्मशील होना व्यक्ति की सात्त्विक स्थिति होगी। इस हेतु व्यक्ति को समष्टि चेतना की ओर अग्रसर होने के लक्ष्य का भान श्लोक २.४६ में कराते हुए

उस और आगे बढ़ने के लिए कर्म को ही साधन पथ बना देने वाले विलक्षण कर्मयोग मार्ग का परिचयात्मक वर्णन श्लोक २.४७ से २.५९ तक यहाँ हुआ है तथा विस्तृत वर्णन भगवान आगे के अध्यायों में करने वाले हैं किंतु बीच-बीच में अर्जुन के प्रश्नों का समाधान करने के लिए भगवान ने कर्मयोग के अतिरिक्त कर्म सन्यास वाले मार्गों की भी विवेचना करते हुए यह बात भलीभांति स्पष्ट कर दी है कि अर्जुन के लिए और उन सभी के लिए जो अभी मैं-केंद्रित जीवन से ऊपर नहीं उठ सके हैं, कर्मयोग मार्ग चेतना विकास का सर्वाधिक कारगर और सुरक्षित मार्ग है।

ऊपर कही गई भूमिका का विस्तार श्लोक-४५ से ५९ में इस प्रकार किया गया है-

त्रैगुण्यविषया वेदा , निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो , निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

त्रैगुण्य-विषयाः वेदाः , निस्त्रैगुण्यः भवार्जुन । निर्द्वन्द्वः नित्य-सत्त्वस्थः , निर्योगक्षेमः आत्मवान् ॥

अर्जुन- हे अर्जुन! **त्रैगुण्य-विषयाः वेदाः-** वेदों में त्रिगुणात्मक प्रकृति से संबंधित जो वचन है **निस्त्रैगुण्यः भव-** उनसे (तू) ऊपर उठ। **निर्द्वन्द्वः- (**वह जीवन) द्वंद्वात्मक होता है (सुख के साथ दुख भी भोगने पड़ते हैं, उससे) मुक्त हो जा, **नित्यसत्त्वस्थः-** नित्य सत्त्व में स्थित हो **निर्योगक्षेमः आत्मवान्-** योगक्षेम वाले क्रियाकलापों से मुक्त होकर जीवन को आत्मवान बना ले।

योग-क्षेम : योग = सुख-साधनों का संग्रह करना, क्षेम= प्राप्त वस्तुओं / सुविधाओं की रक्षा करना। इन भौतिक क्रिया-कलापों में जीवन बिताना ही योग-क्षेम है।

आत्मवान : आत्मा वाला जीवन। साधारणतः मनुष्य देह और मन के सुख-दुख वाला जीवन जीता है, किंतु जब वह उन से ऊपर उठ जाता है तथा शरीर के और मन के सुख दुखों से उसका जीवन संचालित नहीं होता, उदाहरणार्थ जब किसी आदर्श के प्रति समर्पित हो जाता है तो उस स्थिति को भी हम 'आत्मवान' जीवन का एक उदाहरण कह सकते हैं।

यावानर्थ उदपाने , सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु , ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

यावान् अर्थः उदपाने , सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान् सर्वेषु वेदेषु , ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

सर्वतः सम्प्लुतोदके उदपाने यावान् अर्थः- सब जगह जल से परिपूर्ण जलाशय (उपलब्ध) होने पर छोटे जलकुपों का जितना उपयोग (रहता है), **तावान् ब्राह्मणस्य विजानतः सर्वेषु वेदेषु-** उतना ही (प्रयोजन) ज्ञानी ब्राह्मण के लिए (उक्त) वेद वचनों का रहता है।

ज्ञानी ब्राह्मण : वह जिसने उपनिषदों के ज्ञान को आत्मसात किया है। वह जानता है कि वेद के यहाँ संदर्भित वचन तो मनुष्य को निष्क्रियता और आलस्य वाली तामसिकता से उठाकर राजसिकता में जाने की प्रेरणा देने के लिए है, वह जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। वह विकास के अगले चरणों को भी जानता है। वह जानता है कि विकास का अगला चरण सात्विक सुख का है जो 'सर्वे भवंतु सुखीन:' जैसे आदर्श को जीवन में उतारने पर प्राप्त होता है।

श्लोक-४५ और ४६ में दोनों प्रकार के सुखों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करने के बाद भगवान अब इनमें से उच्चतर सुख की प्राप्ति के उपाय रूप उस कर्मयोग मार्ग की विवेचना प्रस्तुत करने जा रहे हैं जो कि गीता का सार है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते , मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भू , मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्मणि एव अधिकारः ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्म-फल-हेतुः भूः मा ते सङ्गः अस्तु अकर्मणि ॥

कर्मणि एव ते अधिकारः-कर्म करने में ही तेरा कर्तव्य है, **फलेषु कदाचन मा-** फलों में कभी नहीं, **कर्मफल हेतुःमा भूः-** (तू) कर्मों के फल का हेतु मत बन अर्थात् तेरे कर्मों का उद्देश्य कर्मफल प्राप्ति करना न हो, **ते अकर्मणि सङ्गः अस्तु मा-** तेरी अकर्म में अर्थात् कर्म न करने में भी अनुरक्ति न हो।

गीता के इस प्रसिद्ध श्लोक में चार बातें कही गई है जिन्हें कर्मयोग की आधार भूमि कहा जा सकता है। ये हैं- १. प्रत्येक व्यक्ति को कर्म तो करना ही है (कर्म न करने से तो उसकी बड़ी हानि हो सकती है- शरीर रोगी और मन आलसी हो सकता है); २. कर्म फल में आसक्ति न हो; ३. कर्मफल का हेतु या स्रोत मत बन अर्थात् फल की इच्छा (कामना) रख कर कर्म मत कर, कामना ही कर्म बंधन का और संसार बंधन का कारण है; ४. निष्क्रिय भी मत बन, निष्क्रियता प्राकृतिक नियम के विपरीत है वह शरीर को तो हानि पहुँचाती ही है, मन को भी तमस में गिराती है।

श्लोक की प्रथम पंक्ति एक नैसर्गिक नियम का उल्लेख कर रही है और दूसरी पंक्ति उस नियम के अनुरूप जीवन जीने का निर्देश दे रही है। पहली पंक्ति के 'अधिकार' शब्द का प्रचलित अर्थ 'दावा या हक़' न लेते हुए, 'वश या सामर्थ' लेने पर नियम का भावार्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है किंतु फिर भी इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता कि यदि कर्म मैंने किया है तो उस कर्म के फल पर अधिकार 'मेरा' क्यों नहीं होना चाहिए? प्रश्न का उत्तर गीता में आगे विवेचित सार्वभौमिक विकास प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य को मिले 'मैं' भाव को समझने पर मिलता है। जबकि क्रम-विकास

(evolution) की असंख्य कड़ियों, जिन्हें पौराणिक भाषा में ८४ लाख योनियाँ कहा गया है, श्रंखला की अंतिम कड़ी के रूप में आई मानव प्रजाति को ही 'मैं हूँ' के रूप में चेतना का जो नया आयाम मिला है उसके भी विकास की दिशा का संकेत यहाँ श्लोक ३९ से प्रारंभ हुए प्रकरण में दिया जा रहा है। मनुष्य से पूर्व होने वाली प्राणियों की प्रजातियों में यह 'स्थाई मैं भाव', जिसे अहम् (self) भी कहा जाता है, क्रियाशील नहीं है, और सभी मनुष्यों में भी इस सत्ता का क्षेत्र-विस्तार समान नहीं है। उन मनुष्यों में जिनका आंतरिक विकास अभी प्राथमिक स्तर से आगे नहीं बढ़ा है, उनमें यह 'मैं' केवल अपनी देह को अथवा परिवार को अपना समझने तक ही सीमित है। मनुष्य का यह सीमित 'मैं', क्षुद्र अहम्, ही उसके मानसिक दुखों का और बाह्य संघर्षों का कारण बनता है। इस अहम् का क्षेत्र-विस्तार ही मनुष्य के विकास का आगामी चरण है जिसकी प्राप्ति के मार्गों में से सबसे सहज और निर्विघ्न मार्ग के रूप में भगवान कर्मयोग (निष्काम कर्म) का यहाँ परिचय दे रहे हैं। सारांश यह कि यहाँ जो यह कर्म की फलासक्ति त्यागने की बात कही गई है (श्लोक-२.४७) वह वस्तुतः हमारे सीमित 'मैं' को 'समष्टि मैं' में परिवर्तित करने का प्रथम चरण है। इस कर्म मार्ग की पूर्ण व्याख्या आगे श्लोक-२.४८ से प्रारंभ की जा रही है। -

योगस्थः कुरु कर्माणि , सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा , समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योगस्थः कुरु कर्माणि , सङ्गम् त्यक्त्वा धनञ्जय । सिद्धि असिद्ध्योः समः भूत्वा , समत्वम् योगः उच्यते ॥

धनञ्जय- हे अर्जुन! **सङ्गम् त्यक्त्वा-** सभी के प्रति आसक्ति का त्याग करते हुए **सिद्धि असिद्ध्योः समः भूत्वा-** सिद्ध-असिद्ध (सभी) कर्मों को समष्टि हित की दृष्टि से रखते हुए **योगस्थः कुरु कर्माणि-** (इस समष्टि) योग में स्थित होकर **समत्वम् योगः उच्यते-** समत्व अर्थात् समष्टि हित में इस प्रकार स्थित होने को ही योग कहा जाता है।

'सम' शब्द का यहाँ उपयुक्त अर्थ : इस शब्द से कोई १५ प्रकार के अर्थ शब्दकोश में दिए गए हैं, उनमें से यहाँ हम दो की चर्चा कर रहे हैं- १. सम=सामान, एक जैसा, मिलता-जुलता; और २. सम= सारा, संपूर्ण, समस्त, पूरा, सब। टीकाकारों ने अधिक प्रचलित अर्थ 'समान या एक जैसा' लेकर व्याख्याएें की है किंतु हमें ये व्याख्यायें समुचित प्रतीत नहीं हो रहीं, क्योंकि दो पक्षों के बीच चलने वाले महाभारत जैसे युद्ध में सबसे प्रमुख योद्धा अर्जुन को भगवान द्वारा दृष्टि सम (निरपेक्ष) रखने का क्या अर्थ हो सकता है? युद्ध में निरपेक्ष वाली सम दृष्टि तो बलराम जी की थी जो युद्ध छोड़कर तीर्थ यात्रा पर चले गए थे। वस्तुतः उस युद्ध में स्वयं श्रीकृष्ण ही 'सम' अर्थात् निरपेक्ष नहीं थे तो वह अर्जुन को इस प्रकार का उपदेश कैसे दे सकते थे। वस्तुतः

तो श्रीकृष्ण स्वयं इस प्रकार की तथाकथित 'सम' दृष्टि के विपरीत पांडव पक्ष की विजय हेतु पूर्ण: सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। वह तो युद्ध के परिणाम के प्रति भी निरपेक्ष कभी नहीं रहे, ऐसा होता तो द्रोणाचार्य, जयद्रथ, कर्ण आदि को येन-केन-प्रकारेण मरवाने में उन्होंने जो भूमिकायें अदा कीं, वे कभी नहीं निभाते। वस्तुतः उनकी वाणी में यहाँ जो 'सम' शब्द का प्रयोग हुआ है वह 'एक समान' वाला अर्थ लिए हुए नहीं हो सकता। निश्चित ही यहाँ 'सम' का दूसरा संवर्ग वाला अर्थ 'पूर्ण, सबके लिए हितकारी' इस प्रकार का अर्थ ही लिया जा सकता है।

इसी प्रकार, 'सम' से व्युत्पन्न शब्द 'समत्त्व' का भाव भी 'समानता' न लेते हुए 'सर्वहितकारी' अथवा 'समष्टिनिष्ठ दृष्टि' लेना होगा। इस अर्थ के अनुरूप 'समत्वं योग उच्यते' का अर्थ होगा 'समष्टि हित की दृष्टि ही योग कही जाती है' और इसी दृष्टि के साथ कर्म करने को 'योगस्थ: कुरु कर्माणि' कहा गया है।

सिद्ध-असिद्धयों समः भुतवाः शब्दार्थ- सिद्धि-असिद्धि में 'सम' होकर। अधिकांश टीकाकारों ने सिद्धि-असिद्धि का अर्थ सफलता-असफलता लेकर 'सम' का अर्थ मन की समता रखना किया है किंतु प्रकरण के विषय को ध्यान में रखते हुए हमें इसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिए। अपने लिए प्राप्ति/अप्राप्ति के बारे में न सोचते हुए योग में स्थित हो जा अर्थात् समष्टि हित में अपने को लगा दे। इस विधि से व्यक्ति अपने सीमित अहम् से शनै:-शनै: मुक्त होता जाएगा और आध्यात्म में प्रगति करता जाएगा।

श्लोक का भावार्थ : शब्दों की उपरोक्त विवेचना के अनुरूप श्लोक-४८ का भावार्थ इस प्रकार का होगा- 'हे अर्जुन! अपने पूज्यजनो और प्रियजनों के प्रति आसक्ति छोड़कर, सर्वभूत हित की दृष्टि से यह निश्चय कर कि इन्हें मारना धर्म युक्त कार्य होगा या नहीं। जिस योग-विधि की बात श्लोक-३९ में पहले कही गई थी, उसका अर्थ, सर्व हित को सर्वोपरि समझना ही है (समत्वं योग उच्यते)। उस योग बुद्धि (समष्टि हित) में स्थित होकर ही यह युद्ध रुपी कर्म कर।'

इस प्रकार योग बुद्धि अर्थात् समष्टि हित की दृष्टि रख कर युद्ध करने की समझाइश देने के बाद भगवान भीष्म, द्रोण, कृप आदि के प्रति अर्जुन के मूक प्रश्न को लक्ष्य करके उससे इस प्रकार बोले-

दूरेण ह्यवरं कर्म , बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ , कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

दूरेण हि अवरम् कर्म , बुद्धि-योगात् धनञ्जय । बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ , कृपणाः फल-हेतवः ॥

धनञ्जय- हे अर्जुन ! **बुद्धियोगात् कर्म दूरेण हि अवरम्-** (ऊपर बताए हुए) बुद्धि योग वाले (अर्थात् समष्टि निष्ठ बुद्धि से किए गए) कर्मों की अपेक्षा सकाम कर्म करना अत्यंत निकृष्ट हैं, **बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ-** (तुम तो उपरोक्त समष्टि निष्ठ) बुद्धि की शरण लो, **फलहेतवः कृपणाः-** अपने लिए फल प्राप्ति की कामना वाले कृपण हैं।

यह विवेचना करने के बाद कि सर्वहित को ध्यान में रखना ही योग-बुद्धि है, अब इस श्लोक में जो यह बताया गया है कि उस उच्च समष्टिहित वाली बुद्धि की अपेक्षा कामना युक्त कर्मों में प्रेरित करने की बुद्धि निकृष्ट है, यह कथन वैसे तो अनावश्यक प्रतीत होता है किंतु जब हम इस कथन को इस परिपेक्ष में देखते हैं कि यह बात भीष्म आदि पूज्यजनो के संदर्भ से कही गयी है तो यह पूर्ण: संगत और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। कौरव पक्ष के सभी योद्धा किसी न किसी कामना, स्वार्थ अथवा अहंकार से बधकर ही दुर्योधन के पक्ष में खड़े थे। महाभारत ग्रंथ में स्वयं भीष्म, द्रोण, कृप और शल्य ने अपनी इस कमजोरी को स्वयं स्वीकारा है। भीष्म पर्व में गीता का वर्णन अध्याय २५ से ४२ में हुआ है और अध्याय ४३ में वर्णन है कि जब अर्जुन ने युद्ध के लिए तत्पर हो अपने गांडीव और तरकश पुनः धारण कर लिए, उस समय युधिष्ठिर शस्त्रास्त्र और कवच उतारकर कौरव सेना की और नंगे पांव आगे बड़े और उक्त चारों पूज्यजनों से युद्ध करने की अनुमति मांगी तो इन महापुरुषों ने युधिष्ठिर के प्रति जो कहा उसका भाव यह था कि हे युधिष्ठिर! विजय तो अंततः तुम्हारे पक्ष की ही होगी क्योंकि हम लोग तो अपने-अपने किसी न किसी निजी स्वार्थ से बंधकर कौरव पक्ष की तरफ खड़े हुए हैं, जबकि तुम लोग तो सत्य पालन पर हमेशा अडिग रहे ही हो, तुम्हारे पक्ष में जो आए हैं उनमें से अधिकांश सत्य पक्ष का साथ देने को अपना कर्तव्य समझकर युद्ध में सम्मिलित हुए हैं।

इस परिपेक्ष में श्लोक का भाव यह है कि हे अर्जुन! समष्टि हित की दृष्टि से जो कर्म किए जाते हैं अर्थात् ऐसे निष्काम कर्मों की अपेक्षा अन्य सव हित वाले कर्म बहुत निम्न है जो कर्ता को या तो नीचे गिराते हैं अथवा उसे मुक्त होने से रोक देते हैं, जबकि समष्टिहित वाले निष्काम कर्म कर्ता में देवत्व शक्ति जाग्रत करते हुए उसे ऊंचा उठाते हैं।

भगवान के वचनों का तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन! कौरव पक्ष के तो सभी लोग कुछ न कुछ व्यक्तिगत कामनाओं से बंधकर, स्वार्थवश, युद्ध में उस ओर खड़े हुए हैं। अर्जुन, तुम निस्वार्थ होकर सर्वहित के उद्देश्य को लेकर युद्ध करोगे तो वह महान उद्देश्य तुम्हे विजय भी दिलाएगा और तुम उन पूज्यजनों को मारने के पाप के भागी

भी नहीं बनोगे जिसको लेकर तुम युद्ध से विरत होना चाह रहे हो। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं-

बुद्धियुक्तो जहातीह , उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व , योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धि-युक्तः जहाति इह , उभे सुकृत-दुष्कृते । तस्मात् योगाय युज्यस्व , योगः कर्मसु कौशलम् ॥

बुद्धि-युक्तः उभे सुकृत-दुष्कृते इह जहाति- बुद्धियोग वाला पुरुष सुकृत दुष्कृत दोनों प्रकार के कर्मों के फल से मुक्त हो जाता है, **तस्मात् योगाय युज्यस्व-** इसलिए (तुम) बुद्धियोग को ही धारण करो। **योगः कर्मसु कौशलम्-** बुद्धियोग ही कर्मों में कुशलता है।

श्लोक-२.४८ में भगवान योग / बुद्धियोग की पूर्ण और स्पष्ट परिभाषा 'समत्वं योगः उच्यते' दे चुके हैं। उसी कथन की व्याख्या में यहाँ भगवान कह रहे हैं कि संष्टिहित रूप बुद्धि योग में स्थित पुरुष पाप-पुण्य से पूर्णतः मुक्त हो जाता है क्योंकि पाप-पुण्य तो ऐसे कर्मों के फल है जिनको व्यक्ति स्वयं के लिए करता है। इसलिए समष्टिहित के लिए कर्म करने वाला पुरुष उनके फल से मुक्त रहता है। इस प्रकार, कर्म करते हुए भी उन कर्मों के फल से मुक्त रहने की यह सर्वोत्त्कृष्ट विधा है। इस हेतु से कहा गया है कि बुद्धियोग अर्थात् संष्टिहित वाले कर्मों में अपनी कर्म ऊर्जा का सदुपयोग करना बुद्धिमानी है।

'योगः कर्मसु कौशलम्' इस उक्ति को अनेक विद्वानों ने योग की दुसरी परिभाषा माना है किंतु 'समत्वं योगः उच्यते' श्लोक-४८ की जो व्यख्या हम वहाँ कर चुके है उसके बाद 'योगः कर्मसु कौशलम्' को योग की नई परिभाषा मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती वरन् इसे उसकी विवेचना इस रूप में मानी जाना उचित प्रतीत होता है कि क्योंकि यह कर्म व्यक्ति को कर्मफल से नहीं बांधते अतः यह कर्म करने की बड़ी निपुणता ही है कि कर्ता कर्म फल से पूर्णतः अछूता रहे। व्यक्ति जब कर्मयोग अर्थात् संष्टिहितार्थ कर्म करता है तो कर्मों के फल का त्याग तो वह स्वाभाविक ही कर चुका होता है।

उपरोक्त श्लोक-५० से लेकर ५३ तक भगवान योग बुद्धि से कर्म करने वाले कर्ता को प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का वर्णन कर इसकी महिमा का बखान कर रहे हैं-

श्लोक-५० : सामान्यतः कर्मों के साथ जो पाप-पुण्य रूप हमारी फला सक्ति जुड़ी रहती है उस कारण हम कर्ता-भोक्ता स्थिति से मुक्त नहीं हो पाते। बुद्धियोग रुप

संष्टिहितार्थ कर्मों में अपने को समाहित करके हम धीरे-धीरे अपने को उससे मुक्त कर सकेगे। यह आध्यात्मिक पथ का प्रथम चरण होगा।

श्लोक-५१ : उपरोक्त योग-बुद्धि से कर्म करने का दूसरा सुखद परिणाम इस रूप में वर्णित किया गया है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि , फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः , पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मजम् बुद्धि-युक्ताः हि , फलं त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः , पदम् गच्छन्ति अनामयम् ॥

बुद्धियुक्ताः मनीषिणः- योगबुद्धि से युक्त विचारवान (पुरुष) **हि कर्मजम् फलं त्यक्त्वा-** निश्चय ही कर्मों से उत्पन्न फल (की आसक्ति) को **जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः-** जन्म मरण के बंधन से मुक्त होकर **अनामयम् पदम् गच्छन्ति-** व्यथामुक्त स्थिति को प्राप्त करते हैं ।

फलासक्ति छोड़ने पर जन्म-बंध से मुक्त होने की जो बात ही गई है वह मनुष्य को उसके जन्म से ही मिला 'सीमित अहम्' का बंधन है और इससे विनिर्मुक्त होने का अर्थ है कि व्यक्ति का यह सीमित व्यक्तिपरक 'मै' 'समष्टि मै' (universal consiousness) से एकाकार हो जाए। इसके सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में महाभारतकार ने श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र को प्रस्तुत किया है और गीता में उन्होंने उस बात को श्रीकृष्ण की ही वाणी द्वारा अभिव्यक्त किया है। भगवान धर्म संस्थापना हेतु, प्रकृति को अधीन कर के जन्म लेते हैं (श्लोक-४.६ से ८)। हम प्रकृति के परवश हुए जन्म लेते हैं (श्लोक ९.८) और प्रकृति (प्राण, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि में क्रियाशील प्रकृति) को वश में करना हमें सीखना होता है (और इसका क्रम बुद्धि से प्रारंभ करने की सलाह दी गई है, श्लोक-३.४२, ४३)। यह प्रक्रिया बुद्धि को समष्टिनिष्ठ बनाने से प्रारंभ करना है जिसे यहाँ योग-बुद्धि (अर्थात् संष्टिहित में समाहित बुद्धि) के रूप में वर्णित किया गया है।

योग बुद्धि में स्थित अर्थात् समष्टि हितार्थ कर्मों का व्रती पुरुष मोह रूपी दल-दल से भी मुक्त होता जाता है। इस प्रकार वह आध्यात्मिक उन्नति को भी प्राप्त करता जाता है। यह बात श्लोक-५२ में तीसरी आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप में वर्णित की गई है-

यदा ते मोहकलिलं , बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं , श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा ते मोह-कलिलम् , बुद्धिः व्यतितरिष्यति । तदा गन्तासि निर्वेदम् , श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

यदा ते बुद्धिः मोहकलिलम् व्यतितरिष्यति- जब तेरी बुद्धि मोह के दलदल को भलीभांति पार कर जाएगी **तदा श्रुतस्य च श्रोतव्यस्य निर्वेदम् गन्तासि-** तब जो (इधर-उधर से) सुना है अथवा सुन सकता है, इन सब के प्रति वह विरक्ति को प्राप्त हो जाएगी। (संदर्भ हेतु देखें- श्लोक-१.२५ पर हमारी टिप्पणी।)

इस समष्टि योग की सबसे महत्वपूर्ण चौथी उपलब्धि जो तू प्राप्त करेगा वह इसकी पूर्ण सिद्धि होगी, उसे इस प्रकार जान-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते , यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिः , तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुति-विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला । समाधौ अचला बुद्धिः तदा योगम् अवाप्स्यसि ॥

श्रुति-विप्रति पन्ना ते बुद्धिः- सुनी-सुनाई परस्पर विरोधी बातों से डाँवाँडोल हुई तेरी बुद्धि **यदा समाधौ अचला निश्चला स्थास्यति-** जब समष्टि हित के चिंतन में अचल स्थिर हो ठहर जाएगी, **तदा योगम् अवाप्स्यसि-** तब (तू) योग को प्राप्त कर लेगा (अर्थात् तब तू उस योग की सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेगा)।

भगवान ने जिस सत्य को इंगित करने के लिए यहाँ 'समाधौ' शब्द का प्रयोग किया उसका अर्थ था- सर्वव्यापी सत्ता (समाधि=सम+आधि; सम=कुल, आधि=ठिकाना या अवस्थान)। किंतु समाधि शब्द सुनते ही अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि जिस समाधि की चर्चा वह साधु-सन्यासीओं से सुनता रहा था और बुद्धि-योग साधना द्वारा प्राप्त जिस समाधि की बात श्रीकृष्ण कर रहे थे यह दोनों भिन्न है या एक ही? इसके निराकरण हेतू उसने स्थितप्रज्ञता संबंधी प्रश्न (श्लोक-५४) किए क्योंकि सन्यासियों से वह समाधि-साधना से पूर्व स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लेने की आवश्यकता की बात सुन चुका था। इसी कारण भगवान के मुंह से समाधि की बात सुनते ही अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ संबंधी प्रश्न किए हैं और भगवान ने सन्यास पथ की साधना वाले जो उत्तर दिए हैं उनसे पक्का अनुमान होता है कि उस समय समाधि के सन्यासी-साधकों के लिए स्थितप्रज्ञता एक आवश्यक पूर्व साधना मानी जाती थी जो पूरी तरह औचित्यपूर्ण ही थी और इसके बारे में संभवत: अर्जुन ने साधू-सन्यासियों से सुन रखा था। इसी कारण समाधि की बात सुनते ही अर्जुन ने स्थितप्रज्ञता संबंधी प्रश्न किए और हम आगे देखेंगे कि भगवान ने यद्यपि इस सन्यास परक साधना का यथा-तथ्य वर्णन किया है तथापि उन्होंने कहीं भी अर्जुन को इसे अपनाने की बात नहीं की वरन् इस वार्ता के बाद आगे अध्याय-३ में निष्काम-कर्म मार्ग अपनाने का अर्जुन से आग्रह किया है।

स्थितप्रज्ञ प्रकरण की हमारी इस विवेचना के बारे में हम इतना और कहना चाहेंगे कि इस विषय में परिपाटी से हटकर हमने जो तार्किक दृष्टि प्रस्तुत की है वह गीता के

मूल संदेश को एक सूत्र में ग्रहण करने में बाधा बन रहे इस विषय को बाधा रहित करने में सहायक होगी, ऐसी हमारी अपेक्षा है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा , समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत , किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा , समाधिस्थस्य केशव । स्थितधीः किम् प्रभाषेत , किम् आसीत व्रजेत किम् ॥

अर्जुनः उवाच - अर्जुन ने कहा **केशव-** हे केशव! **समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा-** समाधी प्राप्त कराने वाली स्थित प्रज्ञता को प्राप्त पुरुष के क्या लक्षण है, **स्थितधीः किम् प्रभाषेत , किम् आसीत किम् व्रजेत-** वह स्थिर-बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

स्थिर-बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है , कैसे चलता है?

श्लोक की प्रथम पंक्ति में स्थितप्रज्ञ पुरुषों की आंतरिक मन:स्थिति को और दूसरी पंक्ति में तीन प्रकार के बाह्य लक्षणों को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की गई है। विनोबा के अनुसार ये बाह्य लक्षण उसकी वाणी (प्रभाष:), संस्कार (आसन:) और विहार अर्थात् जीवन यात्रा (व्रजः) से प्रकट होने वाले हैं। 'व्रज' धातु चलने के अर्थ में तो है ही, स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने अपनी व्याख्या में कहा है- संस्कृत में 'व्रजेत' शब्द का अर्थ व्यवहार है और विनोबा ने 'विहार/जीवन यात्रा' बताया है। इसी प्रकार 'आसीत' शब्द 'आस्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'बैठना, वास करना, रखा होना, आदि'। व्यक्ति में संस्कारों की यही स्थिति रहती है जो सामान्यतः चुपचाप निष्क्रिय पड़े रहते है और विशेष परिस्थितियों में विवेक बुद्धि को दबाकर क्रियाशील हो उठते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् , सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः , स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

प्रजहाति यदा कामान् , सर्वान् पार्थ मनोगतान् । आत्मनि एव आत्मना तुष्टः , स्थितप्रज्ञः तदा उच्यते ॥

श्रीभगवान् उवाच - श्रीभगवान् ने कहा **पार्थ-**हे अर्जुन! **यदा मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति-** जब (मनुष्य) मन की समस्त कामनाएं पूर्णतः त्याग देता है, **आत्मनि एव आत्मना तुष्टः-** आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, **तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते-** तब (वह) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

यहाँ दो बातें कहीं गई हैं- १. स्थितप्रज्ञ सभी मनोगत कामनाओं का त्याग कर चुका होता है और २. आत्मा से आत्मा में तुष्ट रहता है। इन दोनों में पहली बात- अंतःकरण को कामनाओं से रिक्त करना- निषेधात्मक (Negative) कथन है और दूसरी बात- अंतःकरण को आत्मा भाव से भरना सकारात्मक (Positive) कथन है जिसके लिए गूढ़ शब्दों का प्रयोग हुआ है- आत्मा में आत्मा से संतुष्टि। हमारा मत है कि इन शब्दों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं- 'आत्मा में' अर्थ वाले 'आत्मनि' शब्द में जो आत्मा शब्द है उससे आशय है 'सर्वत्र उपस्थित चैतन्य शक्ति (Universal Consciousness)', दूसरी बार 'आत्मा से' अर्थ वाले 'आत्मना' में जो आत्मा शब्द है उससे आशय होना चाहिए इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार में क्रियाशील चैतन्य शक्ति जो जीवात्मा को कारण/उपकरण के रूप में उपलब्ध है और इसी सर्वव्यापी चैतन्य तत्व का एक अंश जीवात्मा है जो बाह्य संसार में कर्ता एवं सुख और दुखों का भोक्ता सामान्यत: बना रहता है, किंतु उससे हटकर जब वह अपने में और सब में उस एक ही चेतन सत्ता की उपस्थिति की अनुभूति करने लगता है तो वह उसी प्रकार की तुष्टि/आनंद की अनुभूति करने लगता है जैसे एक बिछड़ गया बच्चा अपनी माँ को पुनः पाकर अनुभव करता है। इस प्रकार की अनुभूति जिस व्यक्ति को एक बार हो जाती है उसकी बुद्धि फिर संसार के सुखों में भटकती नहीं है, वह स्थिरप्रज्ञता प्राप्त कर लेता है।

अब अगले तीन श्लोकों (क्रमांक ५६ से ५८) में भगवान 'किम् प्रभाषेत' का उत्तर दे रहे है-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः , सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः , स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखेषु अनुद्विग्न-मनाः , सुखेषु विगत-स्पृहः । वीत-राग-भय-क्रोधः , स्थितधीः मुनिः उच्यते ॥

दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः-दुखों में जो उद्विग्न नहीं होता, **सुखेषु विगत स्पृहः-** सुखो में जिसकी कोई लालसा नहीं होती, **वीत-राग-भय-क्रोधः-** जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो गया है, **स्थितधीः मुनिः उच्यते-** वह मुनि स्थिर-बुद्धि कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहः ,तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यः सर्वत्र अनभिस्नेहः , तत् तत् प्राप्य शुभ-अशुभम् । न अभिनन्दति न द्वेष्टि , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

यः सर्वत्र अनभिस्नेहः- जो सब कहीं अनासक्त है, **तत् तत् शुभ-अशुभम् प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि-** उस-उस शुभ या अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता-** उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं , कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

यदा संहरते च अयम् , कूर्मः अङ्गानि इव सर्वशः । इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेभ्यः , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

च इव कूर्मः अङ्गानि सर्वशः संहरते- और जैसे कछुआ (अपने) अंगों को सब ओर से समेट लेता है, **यदा अयम्-** जब यह (स्थिर बुद्धि पुरुष) **इन्द्रिय-अर्थेभ्यः-** इंद्रियों के विषयों से **इन्द्रियाणि -** इंद्रियों को (हटा लेता है,) तब **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता-** उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए)।

उपरोक्त तीन श्लोकों में अर्जुन के प्रश्न 'स्थित धीः किम् प्रभाषेत्- स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है' का उत्तर दिया गया है। किसी भी व्यक्ति से वार्तालाप करके ही हम उसके व्यक्तित्व के बारे में, उसके मन बुद्धि के बारे में, संसार के साथ उसका प्रतिक्रियात्मक व्यवहार कैसा होगा इस बारे में अनुमान कर पाते हैं। 'किम प्रभाषेत्' शब्दों में इस प्रकार की व्यक्ति की समस्त मनोबौद्धिक क्षमताओं के आकलन का समावेश हो जाता है।

श्लोक-५६ में स्थितप्रज्ञ की मनोबौद्धिक विशेषताओं का वर्णन भगवान ने केवल पांच बिंदुओं में समेट दिया है। सुख अथवा दुख दोनों ही परिस्थितियों में निर्लिप्त रहने और राग, भय तथा क्रोध से मुक्त रहने की क्षमता स्थितप्रज्ञ पुरुषों को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि बाह्य परिस्थितियाँ कैसी भी हो उसके मन और बुद्धि विचलित नहीं होते वह अपने लक्ष्य - समष्टिगत चेतन सत्ता- पर टिके रहते हैं।

श्लोक-५७ का विषय है- स्थितप्रज्ञ का मन कामना-शून्य होता है और राग-द्वेष से मुक्त होता है। ऐसा मन अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों के प्राप्त होने पर सम बना रहता है।

श्लोक-५८ में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ को इंद्रियों पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है, उसे इन्द्रियों के विषय आकर्षित नहीं करते।

सारांशः अर्जुन के 'किम प्रभाषेत्' वाले प्रश्न के उत्तर में भगवान ने यहाँ जो कुछ कहा है उसके निष्कर्ष को भली-भांति ग्रहण करने हेतु हमें स्थितप्रज्ञ पुरुष की तुलना श्लोकों में वर्णित बिंदुओं पर सामान्य स्थिति वाले व्यक्ति से करें तो स्पष्ट हो जाता है

कि जहाँ सामान्य व्यक्ति की इंद्रियाँ, मन, बुद्धि (लक्ष्य विहीन क्रियाशक्ति वाली) प्रकृति से कभी कम तो कभी अधिक नियंत्रित होकर क्रियाशील रहते हैं, वहीं स्थितप्रज्ञ पुरुष के ये उपकरण प्रकृति से नहीं वरन् उसके विवेक से, ज्ञान शक्ति रूप उच्च सत्ता से नियंत्रित होते हैं और इसी कारण वह इनका उपयोग स्वयं के सुखों के लिए न करता हुआ सब लोगों के सुख के लिए करता है।

अब अर्जुन के अगले प्रश्न 'किम् आसीत' के उत्तर में कहे गए श्लोक-५९ से ६१ इस प्रकार है -

विषया विनिवर्तन्ते , निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य , परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

विषयाः विनिवर्तन्ते , निराहारस्य देहिनः । रसवर्जम् रसः अपि अस्य , परम् दृष्ट्वा निवर्तते ॥

निराहारस्य देहिनः- (संयम द्वारा) विषयो को छोड़ देने वाले देही (पुरुष) के **विषयाः विनिवर्तन्ते -** इंद्रिय भोगों की पूर्ति (तो) नही होती **रसवर्जम्-** रस को दबा दिया जाता है, **अस्य परम् दृष्ट्वा रसः अपि निवर्तते-** इस (स्थितप्रज्ञ) का तो परम वस्तु का दर्शन होने पर रस भी समाप्त हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय , पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि , हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

यततः हि अपि कौन्तेय , पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि , हरन्ति प्रसभं मनः ॥

कौन्तेय- हे अर्जुन! **विपश्चितः पुरुषस्य यततः हि अपि-** बुद्धिमान पुरुष के भी यत्न करते रहने पर **प्रमाथीनि इन्द्रियाणि प्रसभं मनः हरन्ति-** क्षुब्धकारी इंद्रियां बलपूर्वक मन का हरण कर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य , युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

तानि सर्वाणि संयम्य , युक्तः आसीत मत्परः । वशे हि यस्य इन्द्रियाणि , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तानि सर्वाणि संयम्य- उन सभी को वश में करके **युक्तः आसीत मत्परः-** मुझसे युक्त हुआ मुझ में आश्रित होकर बैठे, **हि यस्य वशे इन्द्रियाणि-** निश्चित ही जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता-** उसी की शुद्ध बुद्धि स्थिर हुई है।

उपरोक्त तीन श्लोकों में संयम से इंद्रियों पर नियंत्रण करने में आने वाली एक कठिनाई और उसके निराकरण के उपाय की चर्चा की गई है। कहा गया है कि इंद्रियों को नियंत्रित करने के बाद भी ‘रस’ (अर्थात् उनसे से प्राप्त होने वाले सुखों के

प्रति आकर्षण अवचेतन मन) में बने रहते हैं जो मौका मिलते ही व्यक्ति को अपनी ओर खींच सकते हैं। यह एक बड़ी बाधा हो सकती है जिसके निराकरण के उपाय के रूप में श्लोक-६१ में भगवान ने कहा 'युक्त आसीत् मतपरः'- मेरे परायण हो जाओ।

हमें यह भूलना नहीं है कि भगवान श्रीकृष्ण जब 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह हमारे जैसा, जीवात्मा से उपजा 'मैं' नहीं है, यहाँ महेश्वर (श्लोक-१३.२२) स्वयं बोल रहे हैं। उक्त महेश्वर सत्ता के प्रति जीवात्मा का निष्ठावान होना इसे ही उक्त बाधा से पार पाने का उपाय बताया गया है। किंतु उस उच्च सत्ता के प्रति निष्ठावान हुए बिना ही जो जीवात्मा स्वप्रयत्न से इंद्रियों पर स्थायी विजय प्राप्त करना चाहता है उसके लिए सफलता में क्या बाधाएं आ सकती हैं, इसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में दिया गया है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः , सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

ध्यायतः विषयान् पुंसः , सङ्गः तेषु उपजायते । सङ्गात् सञ्जायते कामः , कामात् क्रोधः अभिजायते ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः , सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो , बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधात् भवति सम्मोहः , सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः । स्मृति-भ्रंशात् बुद्धि-नाशः , बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति ॥

विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपजायते- विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की उन विषयों के प्रति आसक्ति हो जाती है। **सङ्गात् कामः सञ्जायते-** आसक्ति से (उन विषयों) की कामना उत्पन्न होती है, **कामात् क्रोधः अभिजायते-** कामना से क्रोध उत्पन्न होता है **क्रोधात् सम्मोहः भवति-** क्रोध से सम्मोह हो जाता है, **सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः-** सम्मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है, **स्मृति-भ्रंशात् बुद्धिनाशः-** स्मृति में भ्रम हो जाने से (योग) बुद्धि नष्ट हो जाती है, **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति-** योग बुद्धि के नष्ट होने पर पूर्ण पतन हो जाता है।

भले ही व्यक्ति इंद्रियों के संयम का व्रत लेकर क्यों न बैठ जाए, विषयों से प्राप्त होने वाले सुखों के पूर्व अनुभव, जो उसके अवचेतन मन में संग्रहित होते हैं, वे उस के मनस (मन+बुद्धि) को बार-बार आकर्षित करते हुए उसे उनके चिंतन में खींच लेते हैं। इसका कारण यह है कि सुख चेतन सत्ता का सहज गुण है और प्राणी मात्र सुख के लिए ही जीवत रहना चाहता है। जब तक विषय सुख से किसी उच्चतर सुख का व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो जाता, विशेष-सुख उसे आकर्षित करते रहते हैं। यह चिंतन उसे किस प्रकार गिरावट की ओर ले जा सकता है उस प्रक्रिया के क्रम वार आठ

चरणों का वर्णन उपरोक्त दो श्लोकों में किया गया है। श्लोकों की भाषा स्पष्ट तो है, फिर भी कुछ शब्दों के अर्थ/आशय पर विचार करना उपयोगी होगा।

1. विषयों का चिंतन कैसे प्रारंभ हो जाता है, यह बात तो सुख संबंधी उपरोक्त विवेचना में आ गई है।
2. चिंतन से संग अर्थात् आसक्ति हो जाती है।
3. आसक्ति से कामना अर्थात् विषयों को भोगने की प्रबल इच्छा उपजती है।
4. कामना से क्रोध उत्पन्न होता है, यह बात क्रोध का सामान्य अर्थ गुस्सा होना,या कोप करना लेते हैं तो यह कथन हमेशा सही ही हो ऐसा ठीक नहीं लगता। अधिकांश टीकाकारों ने इस कथन की यह व्याख्या की है कि जब कामना की पूर्ति नहीं होती है तो क्रोध आता है। किंतु यह बात कुछ व्यक्तियों के बारे में या किसी मौके पर सही हो सकती है, इसे अटल सत्य नहीं माना जा सकता। मेनिया (उन्मांद) नामक मनो रोग से पीड़ित व्यक्ति पर तो हमारी यह विवेचना सर्वथा ठीक लागू होती है क्योंकि वह तो अवसाद अवस्था में भी चले जाते हैं। अतः यहाँ क्रोध का अर्थ कोप या गुस्सा होना ठीक प्रतीत नहीं होता। विनोबा ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए कहा है कि यहाँ क्रोध का अर्थ 'चित्त की अप्रसन्नता या क्षोभ' करना उचित होगा। यह अर्थ लेने पर 'कामना से क्रोध उत्पन्न होने' का आशय बनेगा- कामना जैसे-जैसे तीव्र होगी, मन अधिकाधिक अशांत (क्षोभ युक्त) होता जाएगा।
5. क्रोध (क्षोभ) से सम्मोह। सम्मोह =बुद्धि भ्रम, विचारों में अस्पष्टता।
6. सम्मोह से स्मृति विभ्रम (स्मृति भ्रंश): स्मृति का अर्थ यहाँ सामान्य याददाश्त या स्मरण शक्ति नहीं लिया जा सकता। स्मृति का अर्थ लेना होगा- जीवन लक्ष्य की स्मृति, स्वयं के लिए आध्यात्म सधे और सब का भला हो, ऐसे कर्तव्य कर्म की स्मृति। गीता के अंत में अर्जुन के शब्दों में- 'नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत् प्रसादात् मया अच्युत'(श्लोक-१८.७३) स्मृति शब्द इसे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
7. स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश। यहाँ बुद्धि का अर्थ अक्ल नहीं है। विनोबा के शब्दों में बुद्धिनाश अर्थ है- बुद्धि कि आत्माभिमुखता का नष्ट होना। हमने प्रकरण के संदर्भ से ऊपर श्लोकार्थ किया है' योग-बुद्धि।

8. बुद्धिनाश से प्रणाश (प्रनाश) : प्रनाश=आत्मनाश अर्थात् आत्मज्ञान/ परमात्म ज्ञान प्राप्त करने के लक्ष्य से भटककर पुनः संसार बंधन में डूबकर अपनी अध्यात्म कमाई को नष्ट कर देना (दृष्टव्य: श्रीरामानुज भाष्य)।

श्लोक-६१ में 'रस' से निवृत्ति के लिए परमात्म परायण होने वाले मार्ग का निर्देश किया गया था और श्लोक-६२, ६३ में इस उपाय का अवलंबन न कर सकने वालों के लिए संभावित हानि का वर्णन किया गया। अब 'रस' पर नियंत्रण करने के दूसरे मार्ग- स्वपुरुषार्थ वाले मार्ग- की चर्चा अगले दो श्लोकों में की जा रही है। जिस व्यक्ति को परमात्म शक्ति पर आस्था न हो वह अपने पुरुषार्थ पर आश्रित होकर भी स्थित-धी अवस्था प्राप्त कर सकता है। इस हेतु से श्लोक ६४,६५ कहे गए हैं-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु , विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा , प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

राग-द्वेष-वियुक्तैः तु , विषयान् इन्द्रियैः चरन् । आत्म-वश्यैः विधेय-आत्मा , प्रसादम् अधिगच्छति ॥

तु- परंतु **विधेय-आत्मा-** अपने निर्णय अनुसार चलने वाला **आत्म-वश्यैः राग-द्वेष-वियुक्तैः इन्द्रियैः विषयान् चरन्-** अपने वश में की हुई राग-द्वेष से रहित इंद्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ **प्रसादम् अधिगच्छति-** प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां , हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु , बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

प्रसादे सर्व-दुःखानाम् , हानिः अस्य उपजायते ।प्रसन्न-चेतसः हि आशु , बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

अस्य प्रसादे सर्वदुःखानाम् हानिः उपजायते- ऐसे (स्थितप्रज्ञ) का आनंद लें सब दुखों का नाश हो जाता है, **हि प्रसन्न-चेतसः बुद्धिः आशु परि अवतिष्ठते-** क्योंकि उस आनंद को प्राप्त करते हुए की बुद्धि शीघ्र ही भलीभांति स्थिर हो जाती है।

यदि व्यक्ति को परमात्म शक्ति पर दृढ़ आस्था न हो पाई हो किंतु उसने अपनी इच्छाशक्ति का समुचित विकास कर लिया है तो वह अपने बल-बूते पर भी इंद्रिय सुखों के प्रति अवचेतन मन में पड़े आकर्षणों से अपने को मुक्त करने के इस उपाय का उसे अभ्यास करना होगा कि वह विषयों का सेवन तो करें किंतु उन से प्राप्त होने वाले खट्टे-मीठे सभी अनुभवों के प्रति उपेक्षा रखें। आशय यह है कि सुखानुभूति के रस को समाप्त करने हेतु उसे अपने मन को अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकार की

प्रतिक्रियाओं से मुक्त रखने का प्रबल अभ्यास करना होगा। श्लोक-६४ में वर्णित इस अभ्यास में जैसे-जैसे वह सफलता प्राप्त करेगा उसे आंतरिक शांति (प्रसाद) प्राप्त होने लगेगी और अंततः वह स्थितप्रज्ञता को भी प्राप्त कर लेगा, यह बात श्लोक-६५ में कही गई है।

उपरोक्त श्लोकों (क्रमांक ६४,६५) में जिस स्वपुरुषार्थ वाले मार्ग का वर्णन किया गया है, निश्चय ही वो भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन के लिए निर्देशित किया जा रहा वह मार्ग नहीं है जिसे उन्होंने श्लोक-६१ में 'युक्त आसीत् मत्परः' कहकर वर्णित किया था। किंतु यह भगवान की और गीता की विशाल दृष्टि तथा सत्य के प्रति आगाध निष्ठा ही है कि वे उनके द्वारा अनुशंसित मार्ग के अतिरिक्त दूसरे मार्ग/मार्गों का भी परिचय अवश्य देते हैं, साथ ही करुणावश इतना अवश्य करते हैं कि जहाँ आवश्यक होती है, दोनों मार्गों का तुलनात्मक विश्लेषण देकर साधक को उसकी मनोदशा के अनुकूल मार्ग चुनने के लिए प्रेरित कर देते हैं। इन दोनों मार्गों का उल्लेख हमें आगे श्लोक-३.३ से ८ में और विवरण अध्याय-५,६ तथा ८ में मिलेगा।

अब अगले दो श्लोकों (क्रमांक-६६,६७) में उन मनुष्यों की भवितव्यता का वर्णन किया जा रहा है जो अपने जीवन लक्ष्य के प्रति अभी जाग्रत नहीं हो पाए हैं। उनके लिए 'अयुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह वर्णन करके उन्हें भी मानव जीवन के लक्ष्य के प्रति जुड़ने की प्रेरणा दी गई है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य , न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिः , अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

न अस्ति बुद्धिः अयुक्तस्य , न च अयुक्तस्य भावना । न च अभावयतः शान्तिः , अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

अयुक्तस्य बुद्धिः न अस्ति- अयुक्त की बुद्धि (योग-निष्ठ) नहीं होती **च अयुक्तस्य भावना न -** और अयुक्त को निष्ठा नहीं होती, **च अभावयतः शान्तिः न-** तथा निश्ठारहित को शांति नहीं होती, **अशान्तस्य कुतः सुखम्-** अशांत व्यक्ति को सुख कहां?

यहाँ भावना शब्द का प्रचलित अर्थ 'मनोभाव' उपयुक्त नहीं हो सकता। भावना शब्द कोई १५ प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाव=सत्ता। अतः भावना=सत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान, यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है। इस अर्थ के साथ श्लोक में वर्णित युक्त व्यक्ति के प्रगति-परक स्थिति क्रम होंगे- एकात्म बुद्धि से एकत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभूति (भावना), इस अनुभूति से शांति और शांति से सुख/आनंद की

अनुभूति। समष्टि से अयुक्त व्यक्ति इस प्रकार की प्रगति-परक अनुभूति से वंचित रहेगा, यह श्लोक-६६ का भाव है।

यह कहने के बाद भगवान श्लोक-६७ में 'अयुक्त' की गिरावट की प्रबल सम्भावना व्यक्त करते हुए उसे समष्टि से युक्त होने के लिए प्रेरित कर रहे है-

इन्द्रियाणां हि चरतां , यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां , वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

इन्द्रियाणाम् हि चरताम् , यत् मनः अनुविधीयते । तत् अस्य हरति प्रज्ञाम् , वायुः नावम् इव अम्भसि ॥

हि चरताम् इन्द्रियाणाम्- निश्चय ही (विषयों में) विचरती हुई इन्द्रियों में से **मनः यत् अनुविधीयते-** मन जिसका अनुवर्ती होकर (उसके) अधीन हो जाता है, **तत् अस्य प्रज्ञाम् हरति-** वह (इन्द्रिय) इस (अयुक्त पुरुष) की प्रज्ञा का हरण कर लेती है **इव वायुः अम्भसि नावम्-** जैसे जल में नाव को वायु ।

अयुक्त अर्थात् समष्टि से कटे हुए मनुष्य को क्योंकि परम सुख प्राप्त नहीं हो सकता अतः उसका इंद्रिय सुखों की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है, इस दृष्टि से इस श्लोक को कहा गया है। सर्वविदित है कि अनेक प्राणि तो केवल एक इंद्रीय के सुख से अभिभूत होकर अपनी बुद्धि को इस प्रकार खो बैठते हैं कि उस इंद्रिय-सुख का क्षणिक आभास भी उनके जीवन के अंत का कारण बन जाता है, (कीट पतंगों का दीपक की लौ में अपने को जला बैठने का उदाहरण सर्व विदित है), तो फिर अयुक्त मनुष्य के जीवन का छिन्न-भिन्न हो जाना अवश्यंभावी है।

तीन प्रकार के स्थितप्रज्ञ साधकः १. आत्मनि एव आत्मना (श्लोक-५५ से ५८), २. मत्परः (श्लोक-५९ से ६१) ३.स्वप्रयत्न वाले (श्लोक-६४,६५) का वर्णन करने के बाद तथा स्थितप्रज्ञता की अवहेलना करने वाले सन्यासी साधकों का वर्णन (श्लोक-६६,६७) में करने के बाद अब श्लोक-६८ में भगवान ने सन्यास साधना वालों के लिए निष्कर्ष पुनः दोहराया है कि इन साधको के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह इंद्रियों को पूरी तरह वश में करके इंद्रिय सुखों की कामना से अपने को पूर्णतः मुक्त कर लें।

तस्माद्यस्य महाबाहो , निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात् यस्य महा-बाहो , निगृहीतानि सर्वशः । इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेभ्यः , तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

महा-बाहो-हे अर्जुन! **तस्मात् यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेभ्यः-** इसलिए जिसकी इन्द्रियां इंद्रिय-विषयों से **सर्वशः निगृहीतानि-** पूरी तरह वश में हो गई हैं, **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता-** उसकी बुद्धि (समष्टि/योग) में स्थित है।

यहाँ इंद्रिय-निग्रह के विशेषण 'सर्वश:' का जो उपयोग हुआ है वह पूर्व में कही गई विषयों के प्रति दोनों स्तरों की आसक्तियों- तात्कालिक सुखासक्ति (श्लोक-५८) और अवचेतन मन में संग्रहित उन सुखों की आसक्ति (श्लोक-५९ में कहे गए 'रस')- को इंगित करता है।

अब आगे भगवान अर्जुन के शेष प्रश्न- स्थितप्रज्ञ व्रजेत किम, वह चलता कैसे है अर्थात् वह विहार कैसे करता है, उसकी जीवन दृष्टि का स्वरूप कैसा होता है,- इस प्रश्न का उत्तर तीन श्लोकों-६९, ७०, ७१ में भगवान ने दिया है।

या निशा सर्वभूतानां , तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि , सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

या निशा सर्व-भूतानाम् , तस्याम् जागर्ति संयमी । यस्याम् जाग्रति भूतानि , सा निशा पश्यतः मुनेः ॥

या सर्व-भूतानाम् निशा तस्याम् संयमी जागर्ति- जो सब लोगों के लिए रात्रि है, इसमें संयमी (अर्थात् स्थितप्रज्ञ) जागता है। **यस्याम् भूतानि जाग्रति सा पश्यतः मुनेः निशा-** जिसमें सब लोग जागते हैं, स्थितप्रज्ञ मुनि के लिए वह रात्रि है।

श्लोक में स्थित प्रज्ञ पुरुष की और सामान्य व्यक्ति की जीवन-दृष्टिओं की तुलना करते हुए भिन्नता को स्पष्ट किया गया है। सामान्य व्यक्ति इंद्रिय-सुखों की कामनाओं और मन की ऐषणाओं की पूर्ति में ही लगा रहता है, वह आत्मिक सुख के प्रति अचेत होता है, उसके लिए यह स्थिति रात्रि है। जैसे रात्रि में व्यक्ति अचेत होकर सो जाता है उसी तरह वह आध्यात्मिक सुख के प्रति तो सदा ही अचेत रहता है। दूसरी और स्थितप्रज्ञ आध्यात्मिक सुख का अनुभव सदा करता रहता है और सांसारिक सुखों से वह उपराम रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

आपूर्यमाणम् अचल-प्रतिष्ठम्, समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामाः यम् प्रविशन्ति सर्वे, सः शान्तिम् आप्नोति न काम-कामी ॥

यद्वत् आपूर्यमाणम् अचल-प्रतिष्ठम् समुद्रम्- जिस प्रकार सब और से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में **आपः प्रविशन्ति-** (समस्त नदियों का) जल (उसमें बिना हलचल उत्पन्न किए) प्रवेश कर समा जाता है **तद्वत् यम् सर्वे कामाः प्रविशन्ति-** उसी प्रकार जिसमें सब कामनाएं बिना हलचल उत्पन्न किये समा जाती हैं **सः शान्तिम् आप्नोति-** वह शांति को प्राप्त होता है, **काम-कामी न -** भोगों के लिए बेचैन होने वाला नहीं ।

इस श्लोक में उपरोक्त (श्लोक-६९ की) विषय वस्तु के संबंध में एक महत्वपूर्ण खुलासा(भाव-विस्तार) किया गया है। कोई यह न समझ ले कि स्थितप्रज्ञ संसार से दूर जाकर किसी कंदरा में बैठ जाएगा वस्तुतः उसे संसार में रहते हुए ही साधना करनी होगी किंतु अवश्य ही उसे ध्यान रखना होगा की इच्छाओं को वह यथासंभव कम करता जाए। जैसे-जैसे कामनाएं कम होती जाएंगी जीवन सुख-शांति युक्त होता जाएगा।

किंतु यह भी एक तथ्य है कि व्यक्ति सुख भोगने के लिए ही कामनाओं का संग्रह करता है। तो फिर इन दो विपरीत ध्रुवों में ताल-मेल कैसे बैठेगा। वस्तुतः इच्छाओं की पूर्ति से होने वाला सुख इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति द्वारा संग्रहित इच्छाओं में से कितनी पूर्ण हो पाती हैं और कितनी अपूर्ण रह जाती है। स्वामी चिन्मयानंद ने एक मनोकर्षक सूत्र द्वारा इसकी व्याख्या की है। सूत्र है- पूर्ण होने वाली इच्छाओं की संख्या ÷ संग्रहित इच्छाओं की कुल संख्या = सुख-लब्धि (Quotient Of Happiness)। यदि व्यक्ति संग्रहित इच्छाओं की कुल संख्या बढ़ा लेता है तो सुख-लब्धि घटेगी ही।

उक्त सूत्र से यह निष्पत्ति भी बनती है कि मन में संग्रहित कामनाओ और ऐषणाओं (स्पृहाओं) को शून्यवत कर देने पर असीम शांति की प्राप्ति होगी। इस तथ्य को अगले श्लोक-७१ की प्रथम पंक्ति में व्यक्त किया गया है।

विहाय कामान्यः सर्वान् , पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः , स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

विहाय कामान् यः सर्वान् , पुमान् चरति निःस्पृहः । निर्ममः निरहङ्कारः , सः शान्तिम् अधिगच्छति ॥

यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय- जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर **निःस्पृहः निर्ममः निरहङ्कारः-** स्पृह रहित, निर्मम, निर-अहंकार होकर **चरति-** विचरण करता है, **सः शान्तिम् अधिगच्छति-** वह शांति को प्राप्त करता है।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में यह भी बताया गया है कि उस असीम सुख-शांति की वह उपलब्धि कैसे प्राप्त होती है। कामनाओं और ऐषणाओं की आधारभूमि ममता (मेरा

पन) और अहंकार (मैं पन) होता है, अतः कामनाओं का समूल नाश करने के लिए इनका नाश भी जरूरी है।

ममता और अहंकार कामनाओं के जनक तो हैं ही, ये ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति को समग्र सर्वव्यापी आनंद स्वरूप सत्ता से काटकर अलग कर देते हैं। ऐसा इन कारकों में उपस्थित प्रकृति तत्व की प्रबलता से होता है। प्रकृति विभाजक तत्व है और चेतना जोड़क (Integrating) शक्ति है। अतः प्रकृति रूप इस बाधक तत्व के क्षय होने पर व्यक्ति के लिए उस सार्वभौम चेतना सत्ता की अनुभूति करना भी संभव होगा- इस तथ्य को स्थितप्रज्ञ प्रकरण के अंतिम श्लोक-७२ में महत्व वर्णन के रूप में दिया जा रहा है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ , नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ,ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ , न एनाम् प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वा अस्याम् अन्तकाले अपि , ब्रह्म-निर्वाणम् ऋच्छति ॥

पार्थ- हे अर्जुन! **एषा ब्राह्मी स्थितिः-** यह ब्राह्मी स्थिति है (ब्रह्म में स्थित कराने वाली उपलब्धि है) । **एनाम् प्राप्य न विमुह्यति-** इसको प्राप्त होकर (वह पुरुष फिर) मोह को प्राप्त नहीं होता **अस्याम् स्थित्वा अन्तकाले-** इसमें स्थित हुआ पुरुष अनंतकाल में **ब्रह्म-निर्वाणम् अपि ऋच्छति-** ब्रह्मनिर्वाण को भी प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्म निर्वाण : ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापी चेतन सत्ता और निर्वाण शब्द का अर्थ होता है- लुप्त होना, अस्त होना, डूबा हुआ। स्पष्ट है कि ब्रह्म-निर्वाण उस स्थिति का द्योतक है जब व्यक्ति-चेतना (अर्थात् जीवात्मा) सर्वव्यापी चेतन सत्ता से एकाकार हो, उस में विलीन हो जावे।

इस प्रकार, स्थितप्रज्ञ प्रकरण का समापन करते हुए भगवान ने सन्यास पथ की साधना के द्वारा न केवल समाधी की सिद्धि वरन् उस पथ की सर्वोच्च उपलब्धि ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति भी संभव बता कर प्रकरण का समापन तो कर दिया किंतु उन्होंने अर्जुन के प्रति एक बार भी इस पथ को अपनाने की बात नहीं की, केवल तथ्य परक वर्णन किया। आगे (अध्याय-३ सहित शेष अध्यायों में) वे कर्मयोग अर्थात् समष्टि हितार्थ कर्म वाले मार्ग का वर्णन करते हुए सिद्ध करेंगे कि यहाँ वर्णित इस संन्यास मार्ग (जिसकी ओर अर्जुन मोहवश आकर्षित था) की अपेक्षा कर्म-योग मार्ग कितना निर्विघ्न और श्रेष्ठ है।

◆ ◆ ◆

तृतीय अध्याय

श्रेय की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन 'निष्काम कर्म'

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते , मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां , नियोजयसि केशव ॥१॥

ज्यायसी चेत् कर्मणः ते , मता बुद्धिः जनार्दन । तत् किम् कर्मणि घोरे माम् , नियोजयसि केशव ॥

जनार्दन- हे जनार्दन! **ते मता चेत् कर्मणःबुद्धिः ज्यायसी-**आपके मतानुसार यदि कर्म की अपेक्षा (ज्ञान-निष्ठ) बुद्धि श्रेष्ठ है, **तत् केशव माम् घोरे कर्मणि किम् नियोजयसि-** तो हे केशव ! मुझे (आप इस युद्ध रूपी) भीषण कर्म में क्यों लगाते हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन , बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य , येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

व्यामिश्रेण इव वाक्येन , बुद्धिं मोहयसि इव मे । तत् एकं वद निश्चित्य , येन श्रेयः अहम् आप्नुयाम् ॥

व्यामिश्रेण इव वाक्येन- मिले-जुले-से वचनों से **मे बुद्धिं मोहयसि इव-** (आप) मेरी बुद्धि को मोहित-सी कर रहे हैं, **तत् निश्चित्य एकं वद-** उस एक बात को निश्चय करके कहिए **येन अहम् श्रेयः आप्नुयाम्-** जिससे मैं कल्याण (श्रेय:) को प्राप्त होऊँ।

अर्जुन के प्रश्न से स्पष्ट है कि वह न तो भगवान द्वारा कहे गए बुद्धियोग वाले विषय को (श्लोक २.३९ से ४१) और न कर्मफल त्याग ने वाली बात को (श्लोक-२.४७,४८), समझ पाया था। कर्म त्यागने वाले योगी / संन्यासियों को ही उसने देखा था, अतः जब भगवान ने निस्त्रेगुण्य होने (श्लोक-२.४५), आसक्ति त्यागने (श्लोक-२.४८), कर्मफल त्यागने (श्लोक-२.५१) की बात की तो उसने इन वचनों का आशय संन्यासियों के जीवन की प्रशंसा समझा। इतना ही नहीं, जब भगवान ने बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म को हेय बताया (श्लोक-२.४९) वह कर्म शब्द का यहाँ संबंधित अर्थ 'सकाम कर्म' न समझते हुए यह समझ बैठा कि श्रीकृष्ण संपूर्ण कर्मों को ही हेय बता

रहे हैं। इसी प्रकार, उसने जब भगवान से बुद्धियुक्त पुरुष द्वारा सुकृत एवं दुष्कृतकर्म छोड़ दिए जाने की बात सुनी (श्लोक-२.५०) तो उसका यह विचार पक्का हो गया कि भगवान संन्यासियों/ज्ञानियों की प्रशंसा कर रहे हैं। अब उसकी कठिनाई यह थी कि भगवान पहले तो उसे बड़ी प्रखरता से युद्ध करने का कह रहे थे (और श्लोक २.५१ में भी 'योग: कर्मसु कौशलम्' कह कर कर्म करने की बात दोहरा भी रहे थे) और साथ ही कर्म संन्यास मार्ग की भी प्रशंसा कर रहे थे तो उसे जान पड़ा कि वे एक निश्चित बात न कहते हुए कभी कर्म पथ पर चलने की बात कह रहे थे और कभी कर्म-संन्यास की। इस प्रकार, उसे भगवान के वचनों में विरोधाभास प्रतीत हुआ और उसने उपरोक्त श्लोकों में अपनी शंका स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए उनसे एक निश्चित बात कहने की प्रार्थना की।

वस्तुतः अर्जुन कर्म से योग प्राप्त करने संबंधी भगवान के वचनों को समझ नहीं पा रहा था उसका कारण यह था कि उस काल में अध्यात्म का कर्म-योग मार्ग लुप्त-प्राय हो चुका था, जैसा कि भगवान ने आगे (श्लोक-४.२,३ में) कहा ही है, और केवल कर्म-संन्यासी (कर्म को स्वरूपतः त्याग कर संन्यासी बनने वाला) देखने में आते थे। अर्जुन के प्रश्न से भगवान ने समझ लिया कि अर्जुन केवल कर्म-संन्यास मार्ग से ही परिचित है और कर्मयोग मार्ग से वह अज्ञ है, अतः वे अपना उत्तर उक्त दोनों मार्गों का परिचय देते हुए प्रारंभ करते हैं-

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा , पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां , कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

लोके अस्मिन् द्विविधा निष्ठा , पुरा प्रोक्ता मया अनघ । ज्ञान-योगेन साङ्ख्यानाम् , कर्म-योगेन योगिनाम् ॥

अनघ- हे निष्पाप अर्जुन! **मया पुरा प्रोक्ता-** मेरे द्वारा पहले कहा जा चुका है (२.३९) कि **अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा-** इस (मनुष्य) लोक में दो प्रकार की निष्ठाऐं (प्रचलित) हैं **साङ्ख्यानाम् ज्ञानयोगेन च योगिनाम् कर्मयोगेन-** सांख्यों की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की कर्मयोग से ।

निष्ठा का शाब्दिक अर्थ है- दृढ़ता, स्थिरता, निश्चित ज्ञान आदि। यहाँ आशय है निश्चित किया हुआ, श्रेय प्राप्ति का मार्ग। पूर्व (श्लोक-३.२) में अर्जुन ने भगवान से उस मार्ग का स्पष्ट निर्देश करने की प्रार्थना की थी जो उसे श्रेय प्राप्त करा सकें। उसी संदर्भ में भगवान ने यहाँ निष्ठा शब्द का प्रयोग किया है।

सांख्यों के मार्ग को ज्ञानयोग कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि उस काल में केवल ज्ञान साधना द्वारा परम सत्य को प्राप्त करने वालों को 'सांख्ययोगी' कहा जाता था। इन्हे ही कर्म-संन्यासी संक्षेप में संन्यासी कहा जाता था और यह दुसरा सम्बोधन अब अधिक प्रचलन में है।

कर्मयोग मार्ग की विवेचना भगवान ने आगे के श्लोकों में और अध्यायों में विस्तार से की है, तथा अर्जुन के लिए (और उस जैसी उच्च राजसिक मानसिक स्थिति वाले मनुष्यों के लिए) इसी मार्ग को उपयुक्त बताते हुए भगवान इसके लिए आवश्यक ज्ञान और कर्म का उपदेश गीता के पूरे कलेवर में प्रस्तुत करने वाले हैं।

अब आगे बता रहे हैं कि कर्म किए बिना कोई भी कभी भी रह नहीं सकता, (इसका कारण भी बतलाने वाले हैं), किन्तु कर्म के दुष्प्रभाव से वह न केवल अपने को सुरक्षित रख सकता है, वह कर्म को जीवन-लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसे साधन बना सकता है।

न कर्मणामनारम्भात् , नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव , सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

न कर्मणाम् अनारम्भात् , नैष्कर्म्यं पुरुषः अश्नुते । न च संन्यसनात् एव , सिद्धिम् समधिगच्छति ॥

पुरुषः कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यं न अश्नुते- मनुष्य कर्मों को किए बिना निष्कर्मता को नहीं प्राप्त होता, **च संन्यसनात् एव सिद्धिम् न समधिगच्छति-** और कर्मों के त्याग मात्र से भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ।

न हि कश्चित्क्षणमपि , जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म , सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

न हि कश्चित् क्षणम् अपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत् । कार्यते हि अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः ॥

हि कश्चित् जातु क्षणम् अपि- निःसंदेह कोई भी किसी क्षण भी **अकर्मकृत् न तिष्ठति-** बिना कर्म किए नहीं रहता । **हि सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः अवशः कर्म कार्यते-** क्योंकि सभी प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करने के लिए बाध्य हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य , य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा , मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

कर्म-इन्द्रियाणि संयम्य , यः आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा , मिथ्याचारः सः उच्यते ॥

यः कर्म-इन्द्रियाणि संयम्य-जो कर्म इंद्रियों को रोककर **इन्द्रियार्थान् मनसा स्मरन् आस्ते-** इंद्रियों के विषयों का मन से चिंतन करता रहता है **सः विमूढात्मा मिथ्याचारः उच्यते-** वह मूढ़बुद्धि मनुष्य ढोंगी कहलाता है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा , नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् , असक्तः स विशिष्यते ॥७॥

यः तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य आरभते अर्जुन । कर्म-इन्द्रियैः कर्म-योगम् असक्तः सः विशिष्यते ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **यः तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य-**परंतु जो इंद्रियों को मन से वश में रखता हुआ **कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते-** कर्म इंद्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है **सः असक्तः विशिष्यते-** वह अनासक्त श्रेष्ठ है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं , कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते , न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

नियतम् कुरु कर्म त्वं , कर्म ज्यायः हि अकर्मणः । शरीर-यात्रा अपि च ते , न प्रसिद्ध्येत् अकर्मणः ॥

त्वं नियतम् कर्म कुरु- तुम विहित (कर्तव्य) कर्म करो**, अकर्मणः हि कर्म ज्यायः-** क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है **च अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत्-** और अकर्म से तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती ।

युद्ध से विरत हो जाने का अर्जुन का जो विचार बना था वह, जैसा कि हम प्रारंभ में कह चुके हैं, संजय की उस बात को सुनकर बना था कि कुटुम्बियों और पूज्य जनों को मारना एक बड़ा पाप कर्म होगा जिसका परिणाम अनिश्चितकाल तक नरक में वास होता है और उस कारण से ही उसको यह विचार आया था कि उस प्रकार के सांसारिक कर्मों में उलझने के स्थान पर वह संन्यासी जीवन अपना कर क्यों न आत्म-कल्याण का मार्ग अपना ले। वस्तुतः वह सोच कर्मफल नियमों को ठीक से न समझने के कारण अर्जुन में उभरा था, और उस काल में तथा आज भी अनेक लोग, रोग के गलत निदान और गलत इलाज के परिणाम भोगने के समान, अपने जीवन को विनष्ट कर लेते हैं। इस हेतु से भगवान यहाँ कर्म मार्ग और अकर्म मार्ग, कर्मयोग मार्ग और कर्म-संन्यास मार्ग का तुलनात्मक विवेचन कर रहे हैं।

भगवान ने उपरोक्त श्लोकों (३.४ से ८) में बहुत संक्षेप में किंतु स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पाप से मुक्त रहने का उपाय कर्म त्याग नहीं है वरन् कर्म-फल त्याग है अर्थात् निष्काम होकर, निस्वार्थ होकर, सर्व हितार्थ कर्म करना है। वास्तव में तो कर्म छोड़े ही नहीं जा सकते क्योंकि संपूर्ण दृश्य सृष्टि की तरह मनुष्य भी प्रकृति और पुरुष इन दो तत्वों से निर्मित है (श्लोक-१३.१९) और क्योंकि प्रकृति मूलतः कर्म-शक्ति है अतः कर्म/क्रियाओं से मुक्त नहीं हुआ जा सकता (श्लोक-३.५)। यही कारण है कि प्राणी/मनुष्य जब एक स्तर पर निष्क्रिय होता है तो दूसरे स्तर पर क्रियाएें अधिक प्रबल हो जाती हैं, उदाहरणार्थ - निद्रा अवस्था में प्राणीक ऊर्जा के कार्य अधिक प्रभावी हो

जाते हैं, और इसी प्रकार मन-बुद्धि को बिना दिशा बोध दिए यदि कोई इंद्रिय-संयम का प्रयास करता है तो उसके मन-बुद्धि में विषयों का चिंतन अधिक तीव्र हो जाता है (श्लोक-३.६ में इसी तथ्य को संकेतिक किया गया है)। तो फिर कर्मों के बंधन रूप दुष्प्रभाव से मुक्त होने का, प्रकृति से मुक्त होने का, क्या कुछ भी उपाय नहीं है?

उपाय हैं और भगवान ने जो दो निष्ठाओं का उल्लेख किया है (श्लोक-३.३) वे दोनों उपाय रूप ही है। यद्यपि दोनों कारगर भी है किन्तु उनमे से कर्मयोग वाला मार्ग नैसर्गिक प्रक्रिया पर आधारित होने से अपेक्षाकृत सरल है, और अकर्म वाला मार्ग कठिन है तथा उसके लिए कुछ पूर्व शर्तों की परिपूर्ति एवं साधना की अवधि में भी कुछ कठोर शर्तों का अनुपालन आवश्यक होता है (जिनका उल्लेख भगवान ने आगे अध्याय-६ और ८ में किया है)। अकर्म (अर्थात् कर्म-संन्यास) मार्ग कठिन अवश्य है किंतु सतत अभ्यास और वैराग्य से उसमें भी सफलता प्राप्त होती है (श्लोक-६.३५)। दूसरी ओर, कर्मयोग मार्ग प्रकृति प्रवाह के विपरीत न होने से सरल है। इस विधा में कर्मइंद्रियों को रोकना नहीं पड़ता, वरन् मन के द्वारा ज्ञानेंद्रियों को नियंत्रित करके संपूर्ण कर्म-ऊर्जा को कर्मेंद्रियों में मोड़ दिया जाता है और उन्हें नि:स्वार्थ (निष्काम) कर्मों में, परहित के कार्यों में, कर्मयोग में लगा दिया जाता है (श्लोक-३.७)। इस प्रकार के विहित कर्मो का, आसक्ति वाला दुष्प्रभाव भी, व्यक्ति के अंतःकरण पर नहीं होता (श्लोक-३.८), उल्टे उनके द्वारा अंतःकरण की शुद्धि होकर (श्लोक-५.११) परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सहायक उपरोक्त कर्म योग मार्ग का मूल सूत्र उपनिषदों में वर्णित पंचयज्ञों / पंचाग्नी/ पर्यङ्क विधा (क्रमशः छान्द. ५.४ से १०; बृहद. ६.२.९ से १६; कौषीतकि. १.३ से ६) के वर्णनों में समाविष्ट है। प्रकृति में भगवत् शक्ति से चल रही उन यज्ञ रूप विकास प्रक्रियाओं को देख-समझकर व्यक्ति भी यदि उनके अनुरूप अपने जीवन को बनाये तो उसके स्वयं का तथा उन सब का भी जिन से उसका संबंध जुड़ता है, विकास संपन्न होगा, इस हेतु से यहाँ श्लोक-३.९ से १६ में भगवान इस यज्ञ प्रकरण का वर्णन कर रहे हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र , लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय , मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र , लोकः अयम् कर्म-बन्धनः । तत् अर्थम् कर्म कौन्तेय , मुक्त-सङ्गः समाचर ॥

यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र- यज्ञ के लिए किए जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों से **अयम् लोकः कर्मबन्धनः-** यह मनुष्य लोक कर्मों से बंधता है। **कौन्तेय-** हे अर्जुन ! (तू) **मुक्तसङ्गः तदर्थम् कर्म समाचर-**

आसक्ति से रहित होकर उस (यज्ञ) के निमित्त कर्म ही भलीभांती कर ।

जैसा कि ऊपर टिप्पणी में कहा गया है उपनिषदों में यज्ञ शब्द से जीव सृष्टि के एक बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत को अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ यज्ञ, अग्नि में घृतादि पदार्थों का होम करने वाली कर्मकांडीय क्रिया नहीं है, वरन् परस्पर पोषण द्वारा संतुलन और विकास के सिद्धांत को उपनिषदों में यज्ञ के रूप में व्यक्त किया गया है। जिसे आज विज्ञान सृष्टि चक्र के संतुलन (Ecological Balance) के रूप में समझ पा रहा है उसके साथ ही जड़ सृष्टि से जीव सृष्टि और मनुष्य लोक तक के संपूर्ण विकास की प्रक्रिया को इस एक शब्द 'यज्ञ' से इंगित किया गया है। पंचयज्ञों के वर्णन में समष्टि विकास की मनुष्य के आविर्भाव तक की प्रक्रिया को पांच चरणों में व्यक्त किया गया है।

एक वैदिक ऋचा में (जिसे गीता के शांकर भाष्य में और 'विष्णु सहस्रनाम- भाष्य' में उद्‌धृत किया गया है) यज्ञ को भगवान विष्णु कहा गया है- 'यज्ञो वै विष्णुः'। विष्णु अर्थात् वह जो सर्वत्र व्याप्त है। इस कथन में भी भाव यही है कि यज्ञ वह परम ज्ञान शक्ति है जो प्रकृति की क्रिया शक्ति को, जीवन को विकसित करने में नियोजित कर देती है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह परम शक्ति जो प्रकृति के निरुद्देश्य क्रियाकलापों को विकास-परक बना देती है उसे उपनिषदों में और यहाँ गीता में 'यज्ञ' कहा गया है।

श्लोक में कही गई इस बात को स्पष्टता से समझाने के लिए कि यज्ञार्थ कर्म मनुष्य को नहीं बांधते किंतु अन्य कर्म उसे बांधते हैं, हमें मनुष्य के संघटन (Composition) को, उसकी तात्विक संरचना को, समझना होगा। प्राणियों के विकास-क्रम में मनुष्य के आविर्भाव से पूर्व वाली प्रजातियों में चेतना केवल क्षर रूप में ही होती है (श्लोक-१५.१६) अर्थात् जीवों की स्थाई व्यष्टि परक (Individualistic) सत्ता नहीं होती। उन जीवों की चेतना उनके शरीर नष्ट होने पर समष्टि चेतना में विलीन हो जाती है (श्लोक-९.८, १०)। किंतु मनुष्य में इस क्षर चेतना के अतिरिक्त चेतना का एक अंश अक्षर रूप भी ग्रहण कर लेता है (श्लोक-१५.१६) जो शरीर को नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता। गीता में इसे अक्षर पुरुष के अलावा देही/देहांत सत्ता (श्लोक-२.१३), स्वभाव (श्लोक-८.३), सत (श्लोक-१३.१२), भोक्ता (श्लोक-१३.१४,२२), कूटस्थ (श्लोक-१५.१६), कर्ता (श्लोक-१८.१४) आदि विभिन्न गुण और क्रिया परक नामों से इंगित किया गया है। इस सत्ता को अब हम जीवात्मा नाम से जानते है।

जीवात्मा को विकास का मौका, ज्ञान वृद्धि के रूप में, पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होता है। ज्ञान का स्वरूप मैं हूँ (अहम्) की अनुभूति के रूप में होता है जो प्रारंभिक चरणों में देह तक सीमित रहता है, फिर परिवार, जाति, देश, मानवता और अंत में आत्मा/परमात्मा के रूप में विकसित होता जाता है (दृष्टव्य- उपरोक्त उपनिषदों के संदर्भित प्रकरण एवं गीता १३.२१; ७.२९,३०; ८.३ से ५ इत्यादि)।

जीवात्मा जो ज्ञान ग्रहण करता है वह कर्मों के माध्यम से करता है। कर्म का क्षेत्र प्राणिक, ऐंद्रिक, मानसिक या बौद्धिक कुछ भी हो सकता है। जो कर्म 'अहम्' की अनुभूति क्षेत्र को संकुचित करते हैं उन्हें बंधन-कारक कर्म कहा जाता है। उपरोक्त श्लोक में (लोकोऽयं कर्मबन्धनः) शब्दों से इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है। इसके विपिरीत, निष्काम कर्म अर्थात् परहितार्थ / सर्वहितार्थ कर्मों को यहाँ 'यज्ञार्थ' कर्म कहा गया है। ये यज्ञार्थ कर्म जीवात्मा की अहम्-परक अनुभूति के क्षेत्र की सीमितता को मिटाते हुए उसके आध्यात्मिक विकास का पथ प्रशस्त करते है।

अब आगे के कुछ श्लोकों में समस्त जैविक सृष्टि के विकास में 'यज्ञ' की आधारभूत भूमिका का वर्णन किया गया है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा , पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वम् , एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सह-यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा , पुरा उवाच प्रजापतिः ।अनेन प्रसविष्यध्वम् , एषः वः अस्तु इष्ट-कामधुक् ॥

प्रजापतिः पुरा सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा उवाच- प्रजापति ने सृष्टि के प्रारंभ में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर (उनसे) कहा **अनेन प्रसविष्यध्वम्-** इनके द्वारा (तुम) वृद्धि को प्राप्त होओ, **एषः वःअस्तु-** यह तुम्हारे लिए हो **इष्ट कामधुक्-** इच्छित कामनाओं का देने वाला ।

प्रथम हम इस कवित्तमय भाषा के कुछ शब्दों के भावार्थ पर और फिर वाच्यार्था पर विचार करेंगे।

1. प्रजा शब्द का अर्थ है प्रजातियाँ, जीवो की विभिन्न जातियाँ/किस्में/ स्पीशीज (Species)। प्रारंभ में इन प्रजातियों की संख्या बहुत ही कम रही होगी जो बढ़ती-घटती हुई भी आज असंख्य (पौराणिक भाषा में ८४ लाख) कही जाती हैं।

2. प्रजापति (ब्रह्मा) : पौराणिक वर्णन से ऐसी धारणा बनती है मानो वह चार मुख वाला कोई विचित्र देवता है जिसने जीवो की रचना की है। वस्तुतः

परमात्म शक्ति के अगणित क्रियापरक नामों में से वह एक नाम है जो यह व्यक्त करता है कि जब उस ज्ञान रूप शक्ति ने प्रकृति की क्रियाशक्ति को अनुप्राणित किया तो प्रकृति में जीवो के शरीर निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई- प्रथम एक कोशिय जीव, फिर बहू कोशीय एवं अंत में मनुष्य की उत्पत्ति हुई। उस शक्ति को भगवान की बुद्धि के रूप में निरूपित करते हुए उसकी निर्देशन प्रक्रिया को 'उवाच' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है।

3. 'अनेंन प्रसविष्यध्वम्' शब्दों का अर्थ है ' उससे वृद्धि को प्राप्त होओ'। उससे अर्थात् उस यज्ञरूप प्रक्रिया से जिस की संक्षिप्त व्याख्या ऊपर श्लोक-९ की टिप्पणी में की जा चुकी है। इस श्लोक -१० और अगले श्लोक-११ में उस प्रक्रिया को अधिक विस्तार से इंगित किया गया है। सर्वप्रथम हम देखें कि वेदों में पूर्व-मीमांसकों में भौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु जिन कर्मकांडीय यज्ञों का विधान किया था, उनकी उस यज्ञ प्रक्रिया को उपनिषदों में उत्तर-मीमांसको ने ज्ञान रूप परमात्मा द्वारा सृष्टि की रचना और उसके विकास की क्रिया-विधि का प्रतीक बनाया है। वैदिक यज्ञों में देवताओं को प्रसन्न करने हेतु अग्नि में जो आहुतियां दी जाती थी, उपनिषदों में अग्नि को सर्वव्यापी परमात्म शक्ति का, आहूति को त्याग का, और यज्ञ प्रक्रिया को कर्मो का प्रतीक बनाया गया है। यहाँ संदेश यह दिया गया है कि यदि व्यक्ति स्वार्थ का त्याग करते हुए अपने कर्म सर्वव्यापी परमात्मा को समर्पण के भाव से अन्य जीवों/व्यक्तियों के हितार्थ करेगा तो यह कार्य उसके और सब के लिए कल्याणकारी होगा। इस प्रकार, उपनिषदों में और गीता में, पूर्व मीमांसकों के कर्मकांडीय यज्ञों को जो कि राजसिक वृत्तियों से बंधे व्यक्ति के लिए उपयुक्त आलंबन रूप रचे गए थे, उनका उन्नयन करके व्यक्ति को सात्त्विकता में प्रस्थित करने का साधन बनाया गया है। यहाँ वर्णित यज्ञ के इस सात्त्विक रूप को ही गीता ने यज्ञ कहा है। सृष्टि में विकास इस यज्ञ प्रक्रिया द्वारा संपन्न हुआ है और हो रहा है जिसका विस्तार श्लोकों में 'प्रसविष्यध्वम्' शब्द से इंगित किया गया है। इस शब्द का मूल 'प्रसव' है जिसका अर्थ जन्म, उत्पत्ति, संतान, प्रजा है। यहाँ एक से अनेक होने की प्रक्रिया को इंगित किया गया है। जीव जगत में यह वृद्धि दो प्रकार की हुई है- १. अपने जैसी संतान के रूप में और २. विभिन्न प्रजातियों के रूप में।

उक्त दोनों प्रकार की वृद्धि में तीन तरह की प्रक्रिया देखी जा सकती है। प्रारंभिक चरणों में जो प्रक्रिया स्थापित हुई उसके अंतर्गत अधिक विकसित प्रजातियाँ कम विकसित को अपना भोजन बनाकर फलती-फूलती हैं। दूसरे शब्दों में प्राणी विकास रूप यज्ञ प्रक्रिया के इन चरणों में कम विकसित प्राणियों की बलात आहुति द्वारा उच्च प्रजातियों का जीवन चलता है और वृद्धि प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया को हम प्रकृति स्तर पर होने वाला तामसिक यज्ञ कह सकते हैं। विकास के दूसरे चरण में जब प्रकृति में ज्ञान शक्ति का प्राकट्य कुछ अधिक हुआ अर्थात् प्रकृति राजसिक हुई तो उच्च प्रजातियाँ निम्न को मारकर नहीं वरन् उनके निष्प्राण हुए अवशेषों को भोज्य बना कर जीवन यापन और वृद्धि करने लगी। ऐसे जीवों को, उदाहरणार्थ निरामिश भोजी प्रजातियों को, हम राजसिक यज्ञ द्वारा वृद्धि करने वाले जीव कह सकते हैं। स्थूल स्तर की इन दो प्रकार की याज्ञिक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त सूक्ष्म स्तर पर परस्पर आदान-प्रदान पर आधारित एक तीसरे प्रकार की 'यज्ञ' प्रक्रिया भी जीव जगत में क्रियाशील है जिसे समझ कर यदि व्यक्ति उसे अपने मन, मस्तिष्क और कर्म में उतारे तो उसके आध्यात्मिक विकास का पथ प्रशस्त होगा। इसका वर्णन अगले कुछ श्लोकों में किया गया है-

देवान्भावयतानेन , ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः , श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

देवान् भावयत अनेन , ते देवाः भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः , श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ॥

अनेन देवान् भावयत- इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को पुष्ट करो **ते देवाः वः भावयन्तु-**वे देवता तुम्हें पुष्ट करें। **परस्परं भावयन्तः परम् श्रेयः अवाप्स्यथ-** आपस में एक दूसरे को पुष्ट करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा , दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो , भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

इष्टान् भोगान् हि वः देवाः, दास्यन्ते यज्ञ-भाविताः । तैः दत्तान् अप्रदाय एभ्यः यः , भुङ्क्ते स्तेनः एव सः ॥

यज्ञभाविताः देवाः-यज्ञ से पुष्ट हुए देवता **वः इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते-** तुम्हें इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगें, **तैः दत्तान् यः एभ्यः अप्रदाय भुङ्क्ते,-** उनके द्वारा दिए हुए भोगों को जो इनके (देवताओं को) बिना दिये भोगता है, **सः स्तेनः एव-** वह चोर ही है ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो , मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा , ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ-शिष्ट आशिनः सन्तः , मुच्यन्ते सर्व-किल्बिषैः । भुञ्जते ते तु अघं पापाः , ये पचन्ति आत्म-कारणात् ॥

यज्ञ-शिष्ट आशिनः सन्तः- यज्ञ संस्कारित अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष **सर्व-किल्बिषैः मुच्यन्ते-** सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, । **ये पापाः आत्म-कारणात् पचन्ति-** जो पापी लोग अपने लिए ही (अन्न) पकाते हैं **ते तु अघं भुञ्जते-** वे तो पाप को (ही) भोगते हैं ।

श्लोक-११ को अच्छी तरह समझने के लिए हमें 'देव' शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए। देव शब्द 'दिव' धातु से बना है जिसके मुख्य भाव हैं- प्रकाश देना, आनंद देना, सुरक्षा देना; और देव शब्द का प्रयोग देवता के लिए तथा राजा या शासक के लिए भी किया जाता है। प्रकृति की उपकारक शक्तियों और इंद्रियों की शक्तियों को तो देव कहा ही गया है, जीव जगत में छोटी घटक इकाइयों से निर्मित किसी भी बड़ी इकाई को भी देव / देवता कहा गया है जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद (३.९.१ से ८) में इस प्रश्न को लेकर कि देवता कितने हैं याज्ञवल्क्य मुनि और शिष्य विदग्ध की वार्ता से प्रकट होता है (द्दष्टव्य: इस लेखक का लेख, 'ब्रह्मत्मशक्ति' अंक मई २००२, पृष्ठ २७ से ३२)। यहाँ विवेचित श्लोक (३.११) का भाव यह है कि देवता रूप बडी इकाई और छोटी घटक इकाइयों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रियाएं, एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हुए जीवन का संचालन और संवर्धन करने वाली यह विधा, परमात्म शक्ति की प्रेरणा से स्थापित हुई है। परस्पर आदान-प्रदान की क्रियाविधि द्वारा जीवन संचालित होने का उदाहरण हमारे उक्त लेख से उद्घत करना चाहेंगे। हमारे शरीर का प्रत्येक अंग एक विशेष कार्य करके शरीर को जीवित रखता है और इसी प्रकार अंग के विभिन्न घटक कोषाणु(cells) अपना-अपना निर्धारित कार्य करके अंग के कार्य को सुचारु बनाते हैं जिससे अंततः शरीर जीवित रहता है, तथा शरीर के जीवित रहने पर ही प्रत्येक अंग और प्रत्येक कोषाणु शरीर से जीवन शक्ति प्राप्त करके जीवन पाता है। परस्पर पोषण की इस क्रिया-विधि को यज्ञ का एक उत्कृष्ट रूप बताया गया है जो जीव जगत में सर्वत्र क्रियाशील है। यज्ञ के इस रूप की, जिसे हमने (ऊपर श्लोक-१० की टिप्पणी में) जीव जगत का सात्त्विक यज्ञ कहा है, विशेष विवेचना आगे श्लोक-१४,१५ में की गई है। श्लोक-१२,१३ में इस यज्ञ प्रक्रिया का पालन करने के महत्व पर प्रकाश डाला गया है जो यद्यपि स्पष्ट है किंतु इस संबंध में प्रयुक्त कुछ शब्दों के विशेष भावार्थ पर थोड़ी चर्चा करना उपयुक्त होगा।

'इष्टान् भोगान्' शब्द (श्लोक-१२): इष्ट का अर्थ है इच्छित या चाही गई वस्तु, और भोगान् का अर्थ है 'वे पदार्थ जिनका उपयोग/उपभोग व्यक्ति किसी भी उद्देश्य से करता है। प्राणी जगत में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो शरीर के पोषण और

उसकी सुरक्षा के अतिरिक्त भी अन्य उद्देश्यों के लिए उनका उपयोग/दुरुपयोग करता है और संग्रह भी करता है। जिन पदार्थों का उपयोग शरीर पोषण के लिए होता है वह तो देर-सबेर पुनः प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं और उनसे प्रकृति में असंतुलन नहीं होता किंतु आज मनुष्य की अनेक ऐसी गतिविधियां हैं जो प्रकृति में असंतुलन उत्पन्न करके प्राणी जगत सहित मनुष्य जाति के लिए भी संकट बन सकती हैं। किन्तु मनुष्य यदि उस विलक्षण बुद्धि का उपयोग, जो उसे विकास-क्रम में वरदान स्वरुप मिली है, यज्ञ भाव से भावित होकर करता है तो वह भौतिक/मानसिक/अध्यात्मिक ऊंचाइयों को, जिसकी जो आवश्यकता होगी, प्राप्तकर सकेगा। मनुष्येतर प्राणियों में तो अनजाने ही यज्ञ प्रक्रिया चलती रहती है किंतु मनुष्य अपनी स्वार्थ बुद्धि के सहारे ऐसी जीवन शैली भी बना लेता है जिसमें वह प्रकृति/प्राणियों/अन्य व्यक्तियों से प्राप्त वस्तुओं का केवल भोग करता है, अपनी ओर से उन्हें भी कुछ देना है इस दायित्व के प्रति वह सचेत नहीं रहते हुए उनका अधिकतम शोषण करता रहता है। पारस्परिक आदान-प्रदान की उक्त यज्ञ प्रक्रिया का उल्लंघन करने वालों को भगवान ने श्लोक-१२ में चोर और श्लोक-१३ में पापी कहा है।

'यज्ञशिष्ट' शब्द (श्लोक-१३) : शिष्ट शब्द के जो भिन्न अर्थ हैं उन्हें दो वर्ग में रखा जा सकता है- १. बचा हुआ, अवशिष्ट, शेष रहा, बाकी और २. निर्देशित, परामर्शदाता, शिक्षित, विद्वान, सदगुणी, नम्र, उत्तम, श्रेष्ठ। टीकाकारों ने यज्ञशिष्ट का अर्थ किया है - यज्ञ से बचा हुआ। मोटे रूप में तो यह अर्थ ठीक लगता है किंतु यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो यह अर्थ यहाँ उपयुक्त नहीं बैठता क्योंकि यज्ञ में कुछ भी बचाया नहीं जाता, सब कुछ अग्नि/परमात्मा को अर्पित कर दिया जाता है और यदि इस श्लोक में कहे गए परस्पर आदान-प्रदान वाले यज्ञ के संदर्भ से देखें तो भी यज्ञ से बचा हुआ भोगने की बात ठीक नहीं बैठती। इसके विपरीत शिष्ट का दूसरे वर्ग वाला अर्थ- शिक्षित/सदगुणी/श्रेष्ठ जैसा अर्थ लिया जाए तो यज्ञशिष्ट का अर्थ होगा- यज्ञ संस्कारित। यह अर्थ ही हमने ऊपर श्लोक के शब्दार्थ में लिया है।

अब अगले दो श्लोकों में भगवान बता रहे हैं कि संपूर्ण जैविक सृष्टि के विकास में जिस यज्ञ प्रक्रिया ने अहम भूमिका निभाई है उसका पालन करने वाला व्यक्ति जहाँ एक ओर वह सब के विकास में सहायक बनेगा, वह स्वयं भी आध्यात्मिक उत्थान की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने का लाभ प्राप्त करेगा।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि , पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो , यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नात् भवन्ति भूतानि पर्जन्यात् अन्न-सम्भवः । यज्ञात् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्म-समुद्भवः ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि , ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म , नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म ब्रह्म-उद्भवं विद्धि ब्रह्म अक्षर-समुद्भवम् । तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

अन्नात् भूतानि भवन्ति- अन्न से संपूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, **पर्जन्यात् अन्न-सम्भवः-** बादल (वर्षा) से अन्न की उत्पत्ति होती है, **यज्ञात् पर्जन्यः भवति-** यज्ञ से वृष्टि (वर्षा) होती है, **यज्ञः कर्म-समुद्भवः-** यज्ञ कर्म से होता है। **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि-** कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न जान, **ब्रह्माक्षर समुद्भवम्-** ब्रह्म को अविनाशी (परमात्मा) से। **तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्-** इसलिए (सिद्ध होता है कि) सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं ।

हमें इन श्लोकों को परिपाटी से हटकर समझने की आवश्यकता प्रतीत हुई। वस्तुतः यहाँ अव्यक्त सत्ता (निर्गुण ब्रह्म) से लेकर देहधारी भूतों तक की सात अवस्थाएं जिन छह चरणों में क्रमशः विकसित हुई हैं, उनका वर्णन करके मनुष्य को इस परिवर्तन प्रवाह से अवगत कराया गया है ताकि वह उस प्रवाह की दिशा में ही आगे बढ़े और उसके विपरीत जाने से बच कर अपने को नष्ट न करें।

सृष्टि विकास के इन छः चरणों का वर्णन उपरोक्त श्लोकों की प्रथम तीन पंक्तियों में इस क्रम में हुआ है- १. अक्षर से ब्रह्म (ब्रह्म अक्षर समुद्भवम्), २. ब्रह्म से कर्म (कर्म ब्रह्मोद्भवम्), ३. कर्म से यज्ञ (यज्ञः कर्म समुद्भवः), यज्ञ से पर्जन्य (यज्ञात् भवति पर्जन्यः), ५. पर्जन्य से अन्न (पर्जन्यात् अन्न संभवः) ६. अन्न से सब भूत प्राणी (अन्नात् भवन्ति भूतानि) , और ७. भूतों से मनुष्य (इस पद का यहाँ तो अलग से उल्लेख नहीं है किंतु आगे अनेक बार अलग से भी उल्लेख हुआ है)।

इस वर्णन के कुछ पदों की तर्कसंगत व्याख्या अभी भी अपेक्षित प्रतीत होती है। टीकाओं में या तो केवल शाब्दिक अनुवाद दिखते हैं अथवा जहाँ व्याख्यायें की गई है तो उनमें विषय से संगति का अभाव दिखता है। किंतु उपनिषदों में वर्णित पंचयज्ञ प्रकरण जिसका उल्लेख हम ऊपर श्लोक-८ की टिप्पणी में कर चुके हैं, उसकी सहायता से गीता के इस वर्णन को स्पष्टता से समझा जा सकेगा, इस आशा से हम यहाँ सुझाव के रूप में एक विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं।

उपनिषदों के वर्णन में सृष्टि विकास को सात पदों में बांटकर परिवर्तनों को देव शक्तियों द्वारा किए जा रहे यज्ञों के रूप में वर्णित किया गया है। इनका वर्णन इस

प्रकार है- १. श्रद्धा का हवन सूर्य को समिधा बनाकर जिससे सोंम की उत्पत्ति, २. सोम से पर्जन्य, 3.पर्जन्य से अन्न, ४. अन्न से भूत प्रणी, ५. भूतप्राणियों से मनुष्य। विकास रूप परिवर्तनों के इन पांच चरणों को पंच-यज्ञ कहा गया है जिसमें समाविष्ट सात पद हैं- श्रद्धा, सूर्य, सोंम (प्रकाश रूप विकिरण), पर्जन्य(वर्षा), अन्न, प्राणी और मनुष्य। गीता के और उपनिषदों के इस वर्णन में एक उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों में पर्जन्य से लेकर मनुष्य तक के विकास क्रम के चार पदों के नामों में भी कुछ अंतर नहीं है, किंतु इससे पूर्व के वर्णन में अंतर है, अतः हमें इन पदों को समझना होगा। यहाँ गीता में जिन पदों को अक्षर (अव्ययम् अव्यक्तम् परम् भावम्-७.२४) और ब्रह्म (व्यक्त सत्ता) कहा गया है, उपनिषदों में उन्हें ही संभवत: श्रद्धा और सूर्य (आदित्य) कहा गया था। श्रद्धा शब्द का एक अर्थ 'शांति' भी है अतः इसे व्यक्त हुई सृष्टि से पूर्व वाली स्थिति(अक्षर /अव्यक्त); तथा ब्रह्मा को उस अव्यक्त सत्ता से सर्वप्रथम प्रकट हुई प्रकृति-सह-पुरुष सत्ता माना जा सकता है। प्रकृति क्रिया शक्ति है और पुरुष ज्ञान शक्ति है तथा गीता के उपरोक्त श्लोकों में इन दोनों को क्रमशः कर्म और यज्ञ कहा गया है जिससे प्रकट है कि गीता ने यज्ञ को ज्ञान शक्ति का पर्यायवाची माना है। उपनिषदों में इस वर्णन को ही सृष्टि यज्ञ में सूर्य की आहुति कहा गया, जहाँ सूर्य प्रकृति का भौतिक स्वरूप है और अपने ही परमाणु भट्टी में धीरे-धीरे जलते हुए उत्पन्न ऊर्जा के विकिरण से समस्त सृष्टि को जीवन प्रदान कर रहा है। विकिरण के रूप में उत्सर्जित ऊर्जा को उक्त वर्णन में सोम राजा कहा गया है और सोम शब्द का एक अर्थ 'प्रकाश की किरण' भी है जो इस विवेचना को पुष्ट करता है। इस प्रक्रिया को वहाँ प्रथम यज्ञ कहा गया है। जैविक सृष्टि का प्रादुर्भाव इसी प्रथम यज्ञ से हुआ है और मनुष्य तक का जैविक विकास भी यज्ञ के आगामी चार चरणों में वहाँ वर्णित किया गया है। गीता ने श्लोक-१० की प्रथम पक्ति में इसी तथ्य का संदर्भ दिया है।

एक अन्य उपनिषद में यज्ञ को विष्णु भी कहा गया है (यज्ञ: वै विष्णु:) और विष्णु है ज्ञान रूप वह परमात्म शक्ति जो सर्वव्यापी होकर संपूर्ण जीव सृष्टि का पालन करती है। निष्कर्ष यह की उपनिषद और गीता दोनों ही के अनुसार यज्ञ परमात्म रूप वह ज्ञान शक्ति है जो प्रकृति की दिशा-विहीन क्रिया शक्ति को विकास की दिशा प्रदान करते हुए समस्त व्यक्त सृष्टि का आधार है। वस्तुतः श्लोक-१५ की दूसरी पंक्ति 'तस्मात् सर्व गतम् ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम्' का यही भाव है।

हम यहाँ भौतिक विज्ञान के विद्वतजनों में से उन कुछ महानुभावों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे जिन्हें अपनी नास्तिक धारणा पर बड़ी आस्था है। परमाणु की नाभिक ऊर्जा के रहस्यों के अनुसंधान को और तत्संबंधी तकनीक के विकास को तो वे निश्चित ही मनुष्य की एक बड़ी ज्ञानोपलब्धि मानते हैं किंतु सृष्टि के प्रारम्भ में ही उस खगोलीय परमाणु-भट्टी की रचना को जिससे संपूर्ण जैविक सृष्टि का निर्माण और विकास हुआ है, ज्ञान की नहीं वरन् उस प्रकृति की रचना मानते हैं जिसे वे आकस्मिकता के आधार पर कार्य करने वाली वस्तु मानते रहे हैं। इस विरोधाभास पर क्या यह मित्र ध्यान देंगे?

अगले तीन श्लोकों- १६ से १८ में यज्ञ से निरूपित उपरोक्त विकास पथ का अनुगमन न करने वाले पुरुषों के जीवन को अधोगामी अथवा व्यर्थ नष्ट करने वाला बताकर चौथे श्लोक-१९ में कर्तव्य कर्मों को आसक्ति से मुक्त होकर करते रहने का निर्देश दिया जा रहा है, जिनका अब हम अध्ययन करेंगे।

एवं प्रवर्तितं चक्रं , नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो , मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

एवं प्रवर्तितम् चक्रम् , न अनुवर्तयति इह यः । अघायुः इन्द्रिय-आरामः , मोघम् पार्थ सः जीवति ॥

पार्थ- हे पार्थ ! **यः इह एवं प्रवर्तितम् चक्रम् न अनुवर्तयति-**जो इस संसार में (मनुष्य शरीर प्राप्त कर) इस प्रकार चलाएं हुए यज्ञ-चक्र के अनुसार नहीं बरतता, **सः इन्द्रिय-आरामः अघायुः मोघम् जीवति-** वह इंद्रियासक्त पापी व्यर्थ ही जीता है ।

चक्र शब्द का अर्थ यहाँ वृत्ताकार पुनरावर्ती पथ नहीं है जैसा की कुछ टीकाओं में देखने को मिलता है। यहाँ चक्र का भावार्थ है आगे बढ़ाने वाला पथ। इसी भाव को प्रकट करने के लिए शब्दार्थ में हमने यज्ञ-चक्र शब्द का प्रयोग किया है जिस का भाव है जीवो के परस्पर सहयोग से जीवन का गतिशील बने रहना और विकास भी करते जाना। कुछ सर्व ज्ञात उदाहरण हैं- पेड़-पौधों और प्राणियों के बीच प्राणवायु चक्र, कार्बन चक्र, नाइट्रोजन चक्र आदि। इस प्रकार की भौतिक चक्रीय प्रक्रियाओं से जीवन गतिमान रहता है तो यज्ञ रूप परस्पर आदान प्रदान की श्लोक-११ में वर्णित क्रियाओं से जीवन विकास को प्राप्त करता है। यज्ञ चक्र शब्द में यही भाव समाहित है।

अब आगे के दो श्लोकों-१७,१८ पर अधिक गहराई से मनन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि एक तो इन पर टीकाकारों की व्याख्याओं में काफी मत

भिन्नता है, दूसरे कुछ प्रबुद्ध विचारकों द्वारा आगे पीछे के श्लोकों से तालमेल बैठाने के काफी प्रयासों के बाद भी और अधिक स्पष्टता और समाधान की अपेक्षा बनी हुई है। इस परिपेक्ष्य में हम पहले इन श्लोकों के शब्दार्थ का अवलोकन कर इन पर की गई व्याख्याओं पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालते हुए इनके अधिक समाधान कारक भावार्थ की तलाश करेंगे।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् , आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः ,तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

यः तु आत्म-रतिः एव स्यात् , आत्म-तृप्तः च मानवः । आत्मनि एव च सन्तुष्टः , तस्य कार्यम् न विद्यते ॥

यः तु मानवः आत्मरतिः एव- जो मनुष्य अपने (सुखों में ही) रत रहता हो, **च आत्मतृप्तः च आत्मनि एव सन्तुष्टः स्यात्-** और उस स्वसुख से तृप्त और संतुष्ट हो **तस्य कार्यम् न विद्यते-** उसको कोई कर्त्तव्य नहीं है ।

नैव तस्य कृतेनार्थो , नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु , कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

न एव तस्य कृतेन अर्थः, न अकृतेन इह कश्चन । न च अस्य सर्व-भूतेषु , कश्चित् अर्थ-व्यपाश्रयः ॥

तस्य कृतेन कश्चन अर्थः न- उसका कर्म से कोई प्रयोजन नहीं होता, **न एव अकृतेन इह-** न ही अकर्म से इसमें (कुछ प्रयोजन होता है)। **अस्य सर्व-भूतेषु अर्थ कश्चित् व्यपाश्रयः न-** इसका सब प्राणियों के लिए कोई आश्रय नहीं होता ।

हमारे देखने में आये इन श्लोकों में आए 'आत्म रति, आत्म तृप्त और आत्मनि संतुष्ट' शब्दों का भावार्थ क्रमशः 'आत्मा में रत, आत्मा में तुष्ट, आत्मा में संतुष्ट', लिया गया है और इनमें से अधिकांश में कहा गया है कि ऐसे महापुरुष के लिए अब कुछ भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं है, उनके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं है। इस तरह का भावार्थ शांकर भाष्य सहित स्वामी रामानुजाचार्य, ज्ञानेश्वर देव, स्वामी अखंडानंद, स्वामी प्रभुपाद, स्वामी विष्णु तीर्थ, स्वामी चिन्मयानंद, स्वामी रंगनाथानंद, स्वामी अड़गड़ानंद, स्वामी चितभवानंद आदि संन्यास परंपरा के महात्माओं की टीकाओं में सर्वत्र हुआ है। इसी प्रकार की व्याख्याऐ संन्यासी महात्माओं के बहुत से अनुयाई टीकाकारों यथा जयदयाल जी गोयंदका, हनुमान प्रसाद जी पोद्दार, रामसुखदास जी महाराज, सांवलिया बिहार लालजी वर्मा, गोकुलदास जी बागड़ी आदि ने भी की हैं। इस प्रकार के भावार्थ से इन भाष्यकारों को अगले श्लोक-१९ के 'तस्मात्' शब्द से प्रासंगिकता बैठाने में जो कठिनाई आई उसका निराकरण करने का प्रयास इन्होंने इस प्रकार के शब्द जोड़कर किया है कि 'अर्जुन! तुम अभी वैसी अवस्था में नहीं

पहुंचे हो इसलिए तुम अनासक्त होकर अपने कर्तव्य कर्मों को करते रहो' अथवा यह कि 'जब तक आत्म ज्ञान नहीं होता तभी तक साधनों के आचरण की आवश्यकता है' अथवा यह दलील की 'कर्तव्य तो नहीं है, पर निषेध कहाँ है, अतः कर्म करते रहो'।

दूसरी ओर गीता को कर्मयोग का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ मानने वाले कतिपय मनीषियों ने आत्मरति आदि शब्दों के उपरोक्त अर्थ पर प्रश्न न उठाते हुए भी भावार्थ को गीता के कर्म-योग परक मूल भाव के तथा विवेचित विषय के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, श्री अरविंद ने यह व्याख्या की है कि उस ज्ञानी महापुरुष को यद्यपि कर्म या अकर्म से कोई लाभ नहीं परंतु फिर भी वह आसक्ति से रहित होकर यज्ञ रूप में केवल भगवान के लिए कर्म करता है। विनोबा भावे लिखते हैं कि गीता ने श्लोक ३.९ से १६ में तो जीविका-शुद्धि का वर्णन किया किंतु अब उसमें से ज्ञानी को अलग करके उसकी संन्यास निष्ठा बताई गई है। तिलक ने गीता की कर्मयोग वाली भूमिका से तालमेल बैठाने के लिए उपरोक्त शाब्दिक अर्थ वैसा ही रखते हुए इतना और जोड़ा की आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति के लिए स्वयं अपना कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता और वह बिना आसक्ति के कर्तव्य कर्म करता रहता है अतः तू भी आसक्ति छोड़कर कर्म कर। अठावले पांडुरंग शास्त्री ने तो आत्मरति आदि शब्दों के प्रचलित अर्थ को स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव करते हुए इन श्लोकों का शाब्दिक अर्थ न देते हुए कहा- 'ये श्लोक गंभीर विचारों से परिपूर्ण हैं।..... नित्य कर्म-योग के अभ्यास से कर्तव्य-तत्परता आने के पश्चात् कर्तव्य में सुख-दुख रहता नहीं। ..... तब ऐसा मानव आत्मरति, आत्मातुष्टि, आत्म तृप्ति प्राप्त करता है।' सर्व पल्ली डॉ राधाकृष्णन ने श्री अरविंद की व्याख्या को ही स्वीकार किया है और ग.वा. कविश्वर ने तिलक की विवेचना को उपयुक्त माना है उन्होंने शांकर भाष्य के इस आधारभूत विचार को कि 'ज्ञानी के लिए कुछ भी कर्म नहीं रहता' पूर्णत: अस्वीकार करते हुए लिखा है कि पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति को अपने लिए कुछ चाह नहीं होती फिर भी वह संसार के हित में आवश्यक कर्म का त्याग नहीं करता। इसी प्रकार श्लोक-१८ के शांकर भाष्य के अर्थ 'कर्म न करने में भी (ज्ञानी को) कोई हानि भी नहीं होती' को उल्टा करार देते हुए वे कहते हैं कि आत्म तृप्त योगी दूसरों के दुखों को अपना दुख अनुभव करते हुए वह कर्म किए बिना रहता ही नहीं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ संन्यास परक टीकाओं में आत्मा की अनुभूति करने हेतु और उसके पश्चात् भी कर्म की अनिवार्यता को नकारा गया है, वहीं कर्म-योग मार्ग के अनुयायियों की प्राथमिकता कर्म है जिसका साधन, उनके

अनुसार साधक को आत्मा की अनुभूति कर लेने तक पहुँचा देगा और उसके बाद भी वह लोक हितार्थ कर्म करता रहेगा। किंतु इन दोनों मार्ग के व्याख्याकारों को इन श्लोकों की व्याख्या अपने-अपने मार्ग के अनुरूप करने में बहुत खींचतान करना पड़ी है, फिर भी वे इन श्लोकों का संबंध न तो इनसे पूर्व वाले श्लोक-१६ से और न आगे के श्लोकों-१९,२४ से जोड़ पाए हैं जिनमें भगवान ने राजा जनक का और स्वयं अपना उदाहरण देकर अनासक्त रहते हुए लोक हितार्थ कर्म करते रहने का निर्देश दिया है।

उपरोक्त समस्या के कारण पर विचार करने पर हमने पाया कि यह आत्मरति आदि तीन शब्दों के 'आत्मा' संबंधी अर्थ करने के कारण उत्पन्न हुई है। आत्मन् शब्द का अर्थ तो आत्मा (शुद्ध चैतन्य, परमात्मा का अंश) होता है किंतु 'आत्म-' जब अव्ययीभाव समास में प्रथम शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है तो 'अपना/अपने/ स्वयं का' ऐसा अर्थ देता है। उदाहरणार्थ- आत्महत्या/आत्मघात शब्दों में 'आत्मा की हत्या' ऐसा अर्थ तो कोई भी नहीं करेगा, 'अपनी हत्या' यही एकमात्र अर्थ सूचित होता है। शब्द कोष में आत्म वंचक (अपने आप को धोखा देने वाला), आत्मकाम (अपने काम को प्रेम करने वाला), आत्मवश्य (अपने ऊपर नियंत्रण करने वाला)- इस प्रकार के बहुत से सामासिक शब्द दिए गए हैं जिनमे प्रथम शब्द का अर्थ 'आत्म-' का अर्थ 'अपना' है और इन शब्दों का आत्मा सम्बन्धी अर्थ करना बड़ी विडम्बना पैदा कर देगा। गीता में ही इस प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है जहाँ 'आत्म-' का अर्थ 'अपना' ही हो सकता है आत्मा से संबंधित अर्थ करना बड़ी विसंगति उत्पन्न कर देगा। उदाहरणार्थ- श्लोक २.६४ में आत्मवश्यै: इन्द्रियैः (अपने वश में की हुई इद्रियों द्वारा), श्लोक-४.६ में आत्ममायया (अपनी माया से), श्लोक-४.२७ में आत्मसंयम (अपने मन इंद्रियों पर संयम), श्लोक-५.११ में आत्म-शुद्धये (अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए), श्लोक-६.१२ में आत्मविशुद्धये, श्लोक-१०.१६ में आत्मविभूतय, श्लोक-११.४७ में आत्मयोगात् आदि ऐसे शब्द हैं जहाँ आत्मा संबंधी अर्थ बड़ा बेढंगा हो जाएगा। अतः हमें 'आत्मरति, आत्मातृप्ति, आत्मनि संतुष्टः' शब्दों के अर्थ 'अपनी/ अपने में' इस प्रकार के भाव में करना चाहिए।

अब रति, तृप्ति, तुष्टि, शब्दों पर विचार करें। स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने (श्री गीतारस - रत्नाकर, पृष्ठ १५८) रति और तुष्टि शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा है कि ' स्त्री-पुरुष की परस्पर रति होती है, खाने- पीने से तृप्ति होती है, तथा हम सब का अनुभव है कि धन, शक्ति और सम्मान प्राप्ति से संसारी व्यक्ति को संतुष्टि होती

है, और इसी रूप में इन शब्दों का प्रयोग होता है। अतः स्पष्ट ही ये शब्द यहाँ सांसारिक सुखों में डूबे व्यक्ति को लक्ष्य करके कहे गए हैं। गीता में आत्मा की अनुभूति को तो अनेक स्थलों पर अमृत/ परम शांति/ आत्यंतिक सुख जैसे शब्दों से व्यक्त किया गया है, रति आदि से नहीं।

निष्कर्ष यह है कि उक्त शब्द उस व्यक्ति का वर्णन कर रहे हैं जो इंद्रिय भोगों और मन की ऐषणाओं में डूबा हुआ है। ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा गया है कि वह नितांत स्वार्थी व्यक्ति जब तक अत्यंत निम्न स्थिति से ऊपर नहीं उठता उसके लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। ऐसे व्यक्ति का अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति अचेत होना तो सहज स्वाभाविक है, किंतु है अर्जुन! तू उस स्थिति से बहुत ऊपर पहुँच चुका है इसलिए कर्तव्य कर्म करना तेरा धर्म है, किंतु आसक्ति छोड़कर कर (श्लोक-१९)।

वस्तुतः श्लोक-१७,१८ का यह भावार्थ श्लोक-१६ तथा आगे के श्लोक-१९ से २५ से भी भली-भांति जोड़ देता है। श्लोक-१६ में जिसे अधायु (पापी जीवन जीने वाला) कहा था इन श्लोकों में उसकी ही व्याख्या हुई है यह सिद्ध हो जाता है जब हम इनका अर्थ स्वसुख में डूबे व्यक्ति के संदर्भ में करते हैं। और यह अर्थ इन श्लोकों की श्लोक-१९ से तथा अन्य आगामी श्लोकों से भी निरंतरता पूरी तरह बनाए रखता है यह बात अब हम आगे श्लोकों की विवेचना में स्पष्टता से देख सकेंगे।

तस्मादसक्तः सततं , कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म , परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

तस्मात् असक्तः सततम् कार्यम् कर्म समाचर । असक्तः हि आचरन् कर्म परम् आप्नोति पूरुषः ॥

तस्मात् असक्तः सततम् कार्यम् कर्म समाचर- इसलिए निर्लिप्त होकर सदा कर्तव्य कर्म भली-भांति कर **हि असक्तः पूरुषः कर्म आचरन् परम् आप्नोति-** क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परम पद / स्थिति को प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ तस्मात् (इसलिए) शब्द का प्रयोग स्पष्ट ही इस श्लोक को पिछले श्लोकों से इस रूप में जोड़ता है कि जो मनुष्य अपने स्वार्थ केंद्रित जीवन से अभी किंचित भी ऊपर नहीं उठ पाया है, वह कर्म करे या न करे उसका तो अन्य प्राणियों से कुछ भी सार्थक संबंध नहीं होता (श्लोक-१८) किंतु जो उस स्थिति से ऊपर उठ गए हैं, उनके लिए तो कर्तव्य कर्म करना ही धर्म है, बस उन कर्मों को उसे फलासक्ति छोड़कर करना है, वैसा करने से वे कर्म ही उसके लिए अध्यात्म पथ का सर्वश्रेष्ठ साधन बन जाएंगे (श्लोक-१९)।

अब आगे के कुछ श्लोकों में भगवान, राजा जनक और अपना स्वयं का उदाहरण देकर, इस कर्म मार्ग की विशेषता को प्रकाशित कर रहे हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिम् , आस्थिताः जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि , सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्मणा एव हि संसिद्धिम् , आस्थिताः जनक-आदयः । लोक-संग्रहम् एव अपि , सम्पश्यन् कर्तुम् अर्हसि ॥

जनकदयः कर्मणा एव संसिद्धिम् आस्थिताः-जनक आदि (ज्ञानी लोग आसक्ति रहित) कर्म करके ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे, **हि लोक-संग्रहम् सम्पश्यन् अपि कर्तुम् एव अर्हसि-** तथा लोक कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए भी कर्म करना योग्य है।

उपरोक्त कर्म मार्ग से परम सिद्ध की स्थिति भी प्राप्य है यह राजा जनक जैसे लोगों के उदाहरण सिद्ध करते हैं। ये उदाहरण बताते हैं कि कर्म मार्ग द्विविध रूप में कल्याणकारी है- १. निष्काम कर्म करने वाले की आध्यात्मिक उन्नति होती ही है, २. समाज में लोक कल्याणकारी कार्य करने की परिपाटी स्थापित होती है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठः , तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते , लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

यत् यत् आचरति श्रेष्ठः , तत् तत् एव इतरः जनः । सः यत् प्रमाणम् कुरुते , लोकः तत् अनुवर्तते ॥

श्रेष्ठः यत् यत् आचरति- श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है **इतरः जनः तत् तत् एव-** अन्य लोग भी वैसा-वैसा ही (आचरण करते हैं), **सः यत् प्रमाणम् कुरुते-** वह जो उदाहरण प्रस्तुत करता है, **लोकः तत् अनुवर्तते-** जन समुदाय उसी का अनुसरण करता है ।

श्रेष्ठ अर्थात् अतिशयेन प्रशंसित। ऐसे पुरुष के आचरण का लोग अनुसरण करते हैं। इस उद्देश्य को लोक संग्रह कहा जाता है। अतः ऐसे लोक प्रशंसित व्यक्ति को यदि अब स्वयं के आध्यात्मिक उत्थान के लिए कर्म करने की आवश्यकता न भी रही हो तो भी वह लोक संग्रह हेतु निष्काम कर्म करता रहता है। जनक जैसे ज्ञानी राजाओं का उदाहरण यहाँ इस रूप में दिया गया है कि उन्होंने कर्म मार्ग से परम ज्ञान की प्राप्ति की और उसके बाद भी लोक संग्रह के लिए हमेशा कर्म रत रहे।आगे के श्लोकों (क्रमांक २२ से २४) में भगवान ने स्वयं अपना यह उदाहरण भी दिया है कि सर्वव्यापी परमात्म सत्ता से पूर्ण एकत्व प्राप्त कर लेने के बाद भी वे कृष्ण के व्यष्टि रूप में तो निष्काम कर्म में रत हैं ही (श्लोक-२२,२३), समष्टि रूप में वे सतत क्रियाशील रह कर समस्त प्रजाओं (जीव प्रजातियों) को नष्ट होने से बचाते हैं (श्लोक-२४)।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं , त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं , वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

न मे पार्थ अस्ति कर्तव्यम् त्रिषु लोकेषु किञ्चन । न अनवाप्तम् अवाप्तव्यम् वर्ते एव च कर्मणि ॥

हे पार्थ-हे अर्जुन ! **मे त्रिषु लोकेषु किञ्चन कर्तव्यम् न अस्ति-** मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है, **च न अवाप्तव्यम् अनवाप्तम्-** और न (कोई भी) प्राप्त करने योग्य (वस्तु) अप्राप्त है, (तो भी मैं) **कर्मणि वर्ते एव-** कर्म में ही बरतता हूँ ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं , जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते , मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि हि अहं न वर्तेयम् , जातु कर्मणि अतन्द्रितः । मम वर्त्म अनुवर्तन्ते , मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

यदि अहं जातु अतन्द्रितः न वर्तेयम् कर्मणि- कदाचित मैं कभी चैतन्य होकर कर्मों को न करूँ, **हे पार्थ-** हे पार्थ! **मनुष्याः मम वर्त्म सर्वशः अनुवर्तन्ते-** सभी मनुष्य मेरे द्वारा प्रशस्त मार्ग का सब प्रकार से अनुसरण करेंगे ।

उपरोक्त दोनों श्लोकों में श्रीकृष्ण का कथन अपने भौतिक व्यक्तित्व के रूप में हैं। उनकी जो श्रेष्ठि पुरुष की छवि लोगों में स्थापित हो चुकी थी उसके परिपेक्ष्य में वे कह रहे हैं कि यदि मैं कर्तव्य कर्म न करूं तो लोग मेरा अनुसरण करते हुए आलस्य में पड़ जाएंगे। अपना उदाहरण देकर समझा रहे हैं कि यद्यपि मुझे किसी प्रकार की चाह नहीं है, मैं तीनो लोक (अनुभव के क्षेत्र- शरीर, मन-बुद्धि, अहंकार) के स्तर पर पूर्णकाम हो चुका हूँ, फिर भी हे अर्जुन! तुम देख सकते हो कि मैं सतत निष्काम कर्म करने में व्यस्त हूँ। 'मैं कर्म में ही बरतता हूँ' इन शब्दों से वे अपने विगत और वर्तमान जीवन के क्रिया-कलापों का स्मरण कराते हुए अर्जुन को (और प्रकारांतर से हम सब को भी) प्रेरित कर रहे हैं कि यदि मैं सभी प्रकार की निजी कामनाओं से ऊपर उठकर जन-कल्याण के कार्यों में सतत क्रियाशील बना हुआ हूँ तो तुम भी अवश्य ऐसा कर सकते हो। आततायी मामा कंस को, जरासंध को, शिशुपाल को मारने अथवा मरवाने में अपनी विगत सक्रिय भूमिकाओं का और वर्तमान प्रसंग में भी बार-बार द्वारका से आ कर उसी प्रकार की निस्पृह भूमिका निभाने के उदाहरण-प्रमाण उक्त शब्दों (श्लोक-२३) में इंगित है।

श्रेष्ठि पुरुष के कार्यों का अन्य लोगों द्वारा अनुसरण किए जाने के कारण उसका उत्तर दायित्व विशेष हो जाने की जो बात यहाँ इंगित की गई है उसका संबंध वस्तुतः हम सभी से भी है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कुछ अन्य के लिए श्रेष्ठ होता है। बच्चे के लिए सर्वप्रथम माता, पिता, शिक्षक आदि, पश्चात् व्यक्ति के विकास के मान से श्रेष्ठि पुरुष

बदलते रहते हैं। जिस गुण के कारण व्यक्ति कनिष्ठ के लिए श्रेष्ठ बनता है उस गुण की महत्ता कनिष्ठ के लिए न रहने पर वह श्रेष्ठि भाव स्थाई रूप से अनुकरणीय नहीं रहता। किंतु यदि हम भगवान के निर्देशों के अनुरूप यज्ञ रूप निष्काम कर्म को जीवन में कुछ स्थान देना प्रारंभ कर दें तो यह गुण निश्चित ही अनेकों के लिए श्रेष्ठ गुण के रूप में मान्य होकर अनुकरणीय बनेगा और यह संसार हम सब के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए उर्वरा भूमि बन सकेगा।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-२४) में जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भगवान अपने सर्वव्यापी ज्ञान स्वरूप चेतना के क्रियाकलापों से हमें परिचित करा रहे हैं।

उत्सीदेयुरिमे लोका , न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्याम् , उपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

उत्सीदेयुः इमे लोकाः , न कुर्याम् कर्म चेत् अहम् । सङ्करस्य च कर्ता स्याम् , उपहन्याम् इमाः प्रजाः ॥

चेत् अहम् कर्म न कुर्याम्- यदि मैं कर्म न करूं (तो) **इमे लोकाः उत्सीदेयुः-** यह लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायॅ **च सङ्करस्य कर्ता स्याम्-** और (मैं) संकरता और (अव्यवस्था) करने वाला होऊँ **इमाः प्रजाः उपहन्याम्-** (तथा) इस प्राणी जगत का नाश करने वाला बनूंगा ।

इस श्लोक में भगवान ने सृष्टि रचना की दो मूलभूत सत्ताओं- प्रकृति और पुरुष- की शक्तियों के कार्य को इंगित किया है। श्री कृष्ण यहाँ व्यक्ति के रूप में नहीं वरन् पुरुष रूप चेतन सत्ता के समष्टि रूप में अपने कार्य का परिचय तो प्रत्यक्ष रुप में करा ही रहे हैं, अप्रत्यक्ष रूप से वे मूल प्रकृति के कार्य को भी इंगित कर रहे हैं। वे बता रहे हैं कि यदि वे कर्म न करें अर्थात् मूल प्रकृति की ज्ञान रहित क्रियाओं को दिशा प्रदान न करें तो स्थिति क्या होगी। उनका कथन है कि उस दशा में विकास की क्रियाएं न केवल समाप्त हो जाएंगी, वरन् जड़-चेतन सृष्टि में जो विकास हो चुका है, उसमें जितनी व्यवस्था स्थापित हो चुकी है, वह सब भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी। थोड़ा विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थापित व्यवस्था नष्ट तो तभी हो सकती है जबकि नष्टकारी कोई बल उपस्थित हो। स्पष्ट है कि व्यवस्थाकारी/ विकासपरक बल भगवत्/पुरुष सत्ता का है तो विनाशकारी बल मूल प्रकृति का है। मूल प्रकृति के अंशों को ही भगवत् सत्ता द्वारा अपनी शक्ति की विभिन्न मात्राओं से नियंत्रित किया जाकर (अष्टधा) अपरा प्रकृति, चेतना रूप परा प्रकृति तथा त्रिगुणी माया प्रकृति का निर्माण हुआ है। मूल प्रकृति का शेष अनियंत्रित अंश ही बाढ़/आंधी/तूफान/भूकंप/ सुनामी आदि विनाशकारी कार्य करता रहता है और जब भगवत् सत्ता कम या अधिक समय के लिए सुषुप्ति ग्रहण करती है तो प्रलय या महा प्रलय घटित होता है।

इन स्थितियों को ही भगवान ने यहाँ यह कहकर इंगित किया है कि 'यदि मैं कर्म न करूं तो यह सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो जाए'। मूल प्रकृति का इस प्रकार का अनियंत्रित अंश प्राकृतिक जड़ जगत के अतिरिक्त मनुष्यों में भी, उनके मन/बुद्धि/अहंकार में भी, न्यूनाधिक रूप में क्रियाशील हो सकता है और तब इसकी प्रबलता के घटते क्रम के मान से उसे क्रमश: राक्षसी, आसुरी अथवा मोहिनी कहा गया है(श्लोक-९.१२)। मूल प्रकृति के विपरीत कार्यों को ही भारत सहित संसार के सभी पौराणिक (मायथोलॉजिकल) साहित्य में राक्षस/दैत्य/शैतान के कार्यों के रूप में वर्णित किया गया है। उक्त कथा कहानियों में इन ऋणात्मक (आसुरी) शक्तियों का विनाश दैवी शक्तियों द्वारा किए जाने का भी वर्णन हुआ है जो भगवत् शक्ति द्वारा जगत की रक्षा और विकास किए जाने को निरूपित करता है। यहाँ श्लोक में भगवान ने इस सब का सार इंगित कर दिया है।

भगवान के उपरोक्त कथन में संकर शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं किंतु इसके अर्थ की पर्याप्त विवेचना हमें टीकाओं में देखने को नहीं मिली। कुछ भष्यों में तो शब्द की कुछ भी व्याख्या नहीं की गई है (उदाहरण- शांकर भाष्य, ज्ञानेश्वरी, अरविंद की Essays On Geeta, तिलक का गीता रहस्य), तथा बहुत से भाष्यों में मनुष्य जीवन की सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने के रूप में व्याख्या की गई है (उदाहरण- रामानुज भाष्य में कहा गया 'शिष्ट कुलों को अर्थात् श्रेष्ठ कुलीन पुरुषों को संकर बनाने वाला होऊँ', और सांभवतः इनका अनुसरण करते हुए ही जयदयाल जी गोयन्दका, स्वामी रामसुखदास, स्वामी चिन्मयानंद, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी विष्णु तीर्थ, कवीश्वर महोदय, अठावले जी आदि महात्माओं/ विद्वत् जनों के भाष्यों में वर्ण व्यवस्था/जीवन व्यवस्था बिगड़ने- वर्ण संकरता फैलने- की बात कही गई है)। किंतु कुछ व्याख्याकार इस प्रकार की व्याख्याओं से सहमत न होते हुए उन्होंने भिन्न दृष्टि अपनाने का प्रयास भी किया है (उदा. स्वामी अड़गडानंद ने व्यक्ति को केंद्र मानकर उसके आत्म पथ से भटक कर प्रकृति में खो जाने को वर्ण संकरता कहा है तथा डॉ राधाकृष्णन ने संकरता का अनुवाद भर दिया है 'अव्यवस्थित जीवन')। इन सभी भाष्यों में प्रतीत होता है कि, श्लोक में प्रयुक्त 'प्रजा' शब्द से मनुष्य जाति का अर्थ ग्रहण करके भगवान के वचनों को समझने का प्रयास हुआ है और इस कारण भावार्थ बहुत सीमित हो गया है। वस्तुतः 'प्रजा' शब्द का अर्थ यहाँ और गीता में अन्यत्र भी प्राणी जगत (वनस्पतियों और जीवो) की प्रजातियाँ (Species) लेने पर जो अर्थ प्रकाशित होता है वह आधुनिक विज्ञान के निष्कर्षों से तो समरूप होता ही है, विज्ञान को भी केवल इंद्रिय-दृश्य-प्रकृति की सीमाओं से परे झांकने को प्रेरित करता

है। वस्तुतः कुछ वैज्ञानिक तो इस और प्रवृत्त हो भी चुके हैं (जिनका कुछ परिचय स्वामी रंगनाथानंद के गीता तथा उपनिषदों पर उनकी प्रकाशित प्रवचन पुस्तकों से प्राप्य हैं), और जैसे-जैसे गीता के विज्ञान पुष्ट अर्थ प्रकाश में आएंगे और अधिक वैज्ञानिक इस प्रकार के अनुसंधानों में प्रवृत्त होंगे। अस्तु, संकरता संबंधी भगवान के वचनों को हम अधिक विस्तृत परिपेक्ष्य में समझने का प्रयास करेंगे।

संकरता की विवेचना- भौतिक विज्ञान बनाम गीता : 'संकर' शब्द का अर्थ है- अव्यवस्था की स्थिति, बेतरतीब, अटकल-पच्चू, निरुद्देश्य घटना, halfhazard, random आदि। वस्तुतः मूल प्रकृति का मुख्य गुणधर्म संकरता ही है। भौतिकी के उष्मागतिकीय (thermodynamic) अध्ययन के अंतर्गत प्राकृतिक घटनाओं में अव्यवस्था रूप संकरता का गहन अध्यन किया गया है। यह जानना श्रेयस्कर होगा की इस अध्ययन के निष्कर्ष यहाँ गीता में उल्लेखित श्रीकृष्ण के वचनों की ही पुष्टि कर रहे हैं। भौतिक विज्ञान के उक्त अध्ययन का निष्कर्ष है कि अपने आप घटने वाली (spontanious) प्राकृतिक घटनाओं के परिणाम स्वरुप अव्यवस्था बढ़ती है। वहाँ इस अव्यवस्था का नाप एंट्रॉपी (entropy) के रूप में निर्धारित करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रत्येक प्राकृतिक घटना में एंट्रॉपी (अर्थात् अव्यवस्था) बढ़ती है। इसी अध्ययन का एक निष्कर्ष यह भी है कि जीवों की उत्पत्ति सम्बन्धी क्रियाओं में एंट्रॉपी घटती है (व्यवस्था बढ़ती है)। विज्ञान के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था कि जीवों की उत्पत्ति और विकास में व्यवस्था बढ़ाने वाला कारक क्या है? यहाँ गीता में भगवान के उक्त वचनों में, जो कि आधुनिक विज्ञान से कई हजार वर्ष पूर्व के हैं, हमे न केवल विज्ञान द्वारा खोजे गए निष्कर्षों की स्पष्ट स्थापना बताई गई है, विज्ञान से अनुत्तरित उस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया गया है कि जीवों की उत्पत्ति/विकास प्रक्रिया में प्रकृति के अव्यवस्था बढ़ाने वाले गुण पर नियंत्रण करके व्यवस्था स्थापित करने वाली शक्ति क्या है? उत्तर है- वह शक्ति है चेतन शक्ति रूप परमात्मा, श्रीकृष्ण का समष्टि रूप। इस शक्ति का अनुसंधान तात्कालिक विज्ञान का विषय नहीं था, इस कारण विज्ञान के पास उक्त प्रश्न का समाधान नहीं था।, किंतु अब कुछ वैज्ञानिक उस ओर प्रवृत्त हुए हैं और उनके कार्य के परिणाम बताते हैं कि देर-सवेर वे भी गीता द्वारा स्थापित सत्ता की पूरी तरह पुष्टि अवश्य कर पाएंगे।

अब आगे श्लोक-२५ से २९ में भगवान कर्म और ज्ञान के संबंध को रेखांकित करने हेतु बता रहे हैं कि कर्म तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिए अनिवार्य है किंतु दोनों के

उद्देश्य में भेद होता है। वस्तुतः कर्म तथा ज्ञान की युति ही अज्ञानी को शनैः शनैः ज्ञानी बनाती है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो , यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तः , चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

सक्ताः कर्मणि अविद्वांसः , यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः , चिकीर्षुः लोक-संग्रहम् ॥

हे भारत-हे अर्जुन! **यथा सक्ताः अविद्वांसः कर्मणि कुर्वन्ति-** जिस प्रकार अविद्वान व्यक्ति आसक्त होकर कर्म करते हैं, **तथा विद्वान् लोक-संग्रहम् चिकीर्षुः असक्तःकुर्यात्-** उसी तरह विद्वान व्यक्ति लोकसंग्रह (संसार की व्यवस्था को बनाए रखने) की इच्छा से अनासक्त होकर कर्म करते हैं ।

न बुद्धिभेदं जनयेत् , अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि , विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

न बुद्धि-भेदम् जनयेत् , अज्ञानाम् कर्म-सङ्गिनाम् । जोषयेत् सर्व-कर्माणि , विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

कर्म सङ्गिनाम् अज्ञानाम् बुद्धिभेदम् न जनयेत्- कर्मों में आसक्त अज्ञानी व्यक्ति की बुद्धि में विभाजन उत्पन्न न करें, **विद्वान् सर्व-कर्माणि युक्तः समाचरन् जोषयेत्-** ज्ञानी सब कर्मों को एकाग्र चित्त से भलीभांति करता हुआ (उनसे भी वैसे ही) करवाये।

बुद्धि-भेद : अज्ञानी कर्म में आसक्त रहकर कर्म करते हैं। ऐसे व्यक्ति को यदि ज्ञानी द्वारा संन्यास संबंधी उपदेश देकर उसकी बुद्धि में कर्मों के प्रति वितृष्णा भरकर उसे हटात् कर्मों से हटा दिया जाता है तो उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाएगा और वह मानसिक रूप से अक्षम हो जाएगा। उसकी अतृप्त इच्छायें उसे कर्मों में खींचेंगी और बुद्धि में ठुंसा हुआ वैराग्य संबंधी ज्ञान उसे कर्मों से विमुख करेगा। इस स्थिति को ही गीता ने 'बुद्धि-भेद' कहा है जिसे हमने बुद्धि में विभाजन कहकर व्यक्त किया है। अतः ज्ञानिओं को स्वयं कर्मों को अनासक्त होकर यज्ञ भाव से प्रवृत्त होकर, अज्ञानियों को भी कर्म में लगाना चाहिए न कि उन्हें कर्म से विचलित करना चाहिए।

कर्म से विरत कर दिए जाने पर अज्ञानी व्यक्ति में बुद्धि-भेद क्यों उत्पन्न हो जाता है इसकी विवेचना अगले तीन श्लोकों में की गई है-

प्रकृतेः क्रियमाणानि ,गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा , कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि , गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कार-विमूढ-आत्मा , कर्ता अहम् इति मन्यते ॥

अहङ्कार-विमूढ आत्मा- अहंकार से मोहित अज्ञानी व्यक्ति **प्रकृतेः गुणैः सर्वशः क्रियमाणानि कर्माणि-** प्रकृति के गुणों द्वारा सब प्रकार से किये जाने वाले कर्मों का **कर्ता अहम् इति मन्यते-** कर्ता मैं हूँ ऐसा मानता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो , गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त , इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो , गुण-कर्म-विभागयोः । गुणाः गुणेषु वर्तन्ते , इति मत्वा न सज्जते ॥

हे महाबाहो-हे वीर ! **तु-** परन्तु, **गुण कर्म विभागयोः-** गुण कर्म (से निरूपित प्रकृति) से भिन्न **तत्त्ववित्-** (पुरुष) तत्व को (अथवा पुरुष-प्रकृति रूप दोनों मूल तत्वों के भेद को) जानने वाला व्यक्ति **गुणाः गुणेषु वर्तन्ते-** गुण ही गुण में बरतते हैं **इति मत्वा-** ऐसा जानकर (वह कर्मों के कर्तापन से) **न सज्जते-** आसक्त नहीं होता ।

श्लोक-२७ में जो यह कहा गया है कि कर्म प्रकृति द्वारा किए जाते हैं किंतु व्यक्ति अहंकार के कारण अपने को करता मानता है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि इस कारण कर्म मात्र त्याज्य है, ऐसा कुतर्क कुछ नासमझ लोग करते देखे जाते हैं। वस्तुतः अहंकार को कर्म त्याग द्वारा मिटाया नहीं जा सकता और न ही इसे मिटा देने का प्रयास किया जाना चाहिए। बस, इसका स्वरूप बदलने की आवश्यकता है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने अपने एक शिष्य से चर्चा में कहा था कि उन्होंने अपनी आराध्या काली माँ से प्रार्थना करके अपना अहंकार बचा कर रखा था क्योंकि देह धारण के लिए, भगवत् भक्ति के लिए, भक्तों के साथ सत्संग के लिए, लोगों को मार्गदर्शन देकर उनका कल्याण करने के लिए अहंकार आवश्यक था। स्पष्ट है कि अहंकार को मिटाने की नहीं, उसे परिमार्जित करने की आवश्यकता है। इस परिमार्जन की चर्चा हम आगे करेंगे।

'गुण ही गुणों में बरतते हैं' : इन शब्दों का भावार्थ है- संसार में जितने भी विभिन्न प्रकार की क्रियाएं / प्रतिक्रियाएं हो रही होती है वे प्रकृति के स्तर पर होती हैं क्योंकि प्रकृति ही गुणात्मक है और क्रियात्मक है। प्रकृति के भौतिक पदार्थों में जो अनेक गुण हैं उन्हें हम पंचेंद्रियों के आधार पर पांच विषयों के रूप में जानते हैं, तथा मन बुद्धि अहंकार की प्रतिक्रियाओं का त्रिगुणात्मकता के रूप में उनका मूल्यांकन करते हैं। इस प्रकार अष्टधा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु गुणों से युक्त है। इस गुणमयी प्रकृति की जो विभिन्न प्रकार की क्रियाएं हैं- उदाहरणार्थ जड़ पदार्थों की पारस्परिक क्रियाऐं, इंद्रियाँ-मन-बुद्धि-अहंकार रूप इन चेतन वस्तुओं की जड़ पदार्थों को भोगने संबंधी क्रियाएं, अथवा मन-बुद्धि-अहंकार के स्तर पर व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार रूप प्रतिक्रियाएं- इन सभी को गुणों का गुणों में बरतने के रूप में इंगित करते हुए सूचित किया गया है कि ये सभी क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं प्रकृति के कार्य

हैं। शुद्ध आत्मा / पुरुष-तत्व इन से परे हैं, किंतु जीवात्मा जो कि पुरुष और प्रकृति का संयुक्त अंश है, देह-इंद्रियाँ-मन-बुद्धि-अहंकार द्वारा बाह्य प्रकृति को भोगने हेतु इन सबको तब तक दृढ़ता से पकड़े रखता है जब तक की उसमें पुरुष अंश पर्याप्त प्रभावी न हो जाए। तब प्रकृति के गुणों और क्रियाओं से उसका तादात्म्य क्षीण होने लगता है। पहले वह प्रकृति के क्रियाकलापों का द्रष्टा, 'गुणागुणेशु वर्तन्ते' का देखने वाला और अंत में उसका नियंता बनता है, अर्थात् अब वह ऐसी व्यवस्था की स्थापना करता है जिसमें व्यक्ति स्तर पर और सामाजिक स्तर पर अराजकता के लिए प्रकृति के प्रबल रहने पर होने वाली अव्यवस्था के लिए - कोई स्थान नहीं रहता। 'मानस' में तुलसी ने इसी व्यवस्था का वर्णन राम राज्य के रूप में विस्तार से (७.२०.१ से ४) किया है और महात्मा गांधी भी संभवत: उसी व्यवस्था को दृष्टिगत रखतकर स्वतंत्रता प्राप्ति को 'राम राज्य' के लक्ष्य से जोड़ते थे।

यहाँ प्रस्तुत उपरोक्त अर्थ और विवेचना को पाठक अन्य भाष्यों से प्रथक देखकर संशय ग्रस्त न हों इस हेतु से हम दो शब्द निवेदन करना चाहेंगे। वस्तुतः इस श्लोक की भाषा इतनी गूढ़ है कि लगभग सभी टीकाकारों ने अपनी-अपनी समझ अनुसार भिन्न अर्थ किए हैं जिसमें से अनेक तो विषय से मेल ही नहीं खाते। केवल विनोबा और तिलक के भाष्य हमें सुसंगत लगे किंतु वे शब्दार्थ से दूर चले गए हैं। हमने जो उपरोक्त अर्थ किया है वह इन दो लेखकों के भाष्यों से तो मेल खाता ही है, साथ ही श्लोक के शब्दार्थ से तथा आगे और पीछे के श्लोकों से भी इसका सामंजस्य बैठे, ऐसा हमारा यहाँ और सर्वत्र भी प्रयास रहा है।

अगले श्लोक-२९, जिसे बहुदा श्लोक-२६ का पुनर्कथन कह दिया जाता है, को ठीक से समझने हेतु हम उपरोक्त दो श्लोकों के मूल भाव का पुनः अवलोकन कर लें। मूल भाव यह है कि कोई व्यक्ति जब तक प्रकृति के पाश को ढीला कर के प्रकृति के गुणों और कार्यों का द्रष्टा बनने की चैतन्यता प्राप्त नहीं कर लेता, उस व्यक्ति के अहंकार की अभिव्यक्ति कर्मों के रूप में होना स्वाभाविक है। यह अहंकार का राजस रुप है। कर्मों में इसकी अभिव्यक्ति को बलपूर्वक रोकने पर यह तमस अर्थात् आलस्य/प्रमाद का रूप ले लेगा, परंतु सत कर्मों से इसका स्वरूप भी सात्विक हो जाएगा। अतः अज्ञानी का हित इसमें है कि वह कर्मों का त्याग न करें वरन् उन्हें राजस से सात्विक बनाए, स्वार्थ केंद्रित कर्मों को छोड़कर निस्वार्थ कर्म करें। इसे ही लक्ष्य करके श्लोक-२९ में उन गुरुजनों/उपदेशकों को भी सावधान किया जा रहा है

जो श्रोता की स्थिति को जाने बिना संसार के दुखों का और उसकी असारता का वर्णन करके उसे कर्मों से विरत कर रहे होते हैं।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः , सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् , कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतेः गुण-सम्मूढाः , सज्जन्ते गुण-कर्मसु । तान् अकृत्स्नविदः मन्दान् , कृत्स्नवित् न विचालयेत् ॥

प्रकृतेः गुण सम्मूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते- प्रकृति के गुणों से मोहित व्यक्ति ही उन गुणों से प्रेरित कर्मों में आसक्त होते हैं। **तान् मन्दान् कृत्स्नवित् अकृत्स्नविदः न विचालयेत्-** उन मंदबुद्धि अज्ञानियों को ज्ञानीजन विचलित न करें ।

कर्मों को सात्विक बनाकर अहंकार को सात्विक बनाने का मार्ग तो ऊपर स्पष्ट हुआ किंतु अब प्रश्न उठता है कि अहंकार से मुक्त होना क्या इस कर्मयोग मार्ग से संभव होगा या फिर साधक को अंततः कर्म संन्यास मार्ग की शरण में जाना पड़ेगा? अर्जुन के इस मूक प्रश्न को लक्ष्य करके भगवान श्लोक-३० में इसका उत्तर दे रहे हैं-

मयि सर्वाणि कर्माणि , संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा , युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मयि सर्वाणि कर्माणि , संन्यस्य अध्यात्म-चेतसा । निराशीः निर्ममः भूत्वा , युध्यस्व विगत-ज्वरः ॥

अध्यात्म चेतसा- (सर्वव्यापी) परमात्मा (के चिंतन में रत) बुद्धि से **सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य-** सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके **निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा युध्यस्व-** आशा, ममता छोड़कर (और) संतापरहित होकर युद्ध कर ।

भगवान के इन शब्दों में सांकेतिक एक महत्वपूर्ण बात की और हम ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। यह हमें आगे (श्लोक- ९.१८, १३.२२ में) कहे गए भगवान के वचनों को भी समझने में सहायक होगा। यहाँ भगवान कृष्ण ने अर्जुन को जो यह कहा है कि चिंतन परमात्मा का करते हुए सब कर्म मुझे समर्पित कर, इसका अध्यात्मिक अर्थ तब प्रकट होता है जब हम अर्जुन और श्रीकृष्ण को अपने अंदर पहचान देते हैं। वस्तुतः अर्जुन है हमारा जीवात्मा (अर्थात् मन-बुद्धि-अहंकार स्थित चेतना) जो कर्ता-भोक्ता रूप में क्रियाशील है, और श्रीकृष्ण है उससे उच्च चेतन सत्ता जो (प्रकृति मुक्त होने से) अभोक्ता, अकर्ता, जीवात्मा का सखा / पथ प्रदर्शक/ गुरु है (श्लोक-१३.२२ में कहा गया महेश्वर, उपनिषदों के 'द्वा सुपर्णा....' मंत्र की दूसरी चिड़िया, श्री रामकृष्ण की आराध्या काली माँ और ऐसे अनेक भक्तों के जीवन में प्रत्यक्ष प्रकट होने वाले ईश्वर के विभिन्न रूप) तथा आत्मा है सब प्राणियों में उपस्थित

परमात्मा। कर्म हमें इन महेश्वर रूप श्री कृष्ण के मार्गदर्शन अनुसार निष्काम होकर करना है और इन्हें समर्पित करना है श्रीकृष्ण के सर्वव्यापी रूप परमात्मा को निशक्तजन की सेवा के रूप में।

अहंकार के परिमार्जन का यह मार्ग जिसका अति संक्षेप में यहाँ संकेत किया गया है, अध्याय-१८ (श्लोक-१३ से ४९,५९,६० और ६६) में सविस्तार वर्णित किया गया है।

अब अगले दो श्लोकों- ३१, ३२ में उक्त मार्ग की महत्ता पर प्रकाश डाल रहे हैं।

ये मे मतमिदं नित्यम् , अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो , मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये मे मतम् इदम् नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः । श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः मुच्यन्ते ते अपि कर्मभिः ॥

श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः ये मानवाः- श्रद्धा से युक्त होकर, असहिष्णुता से रहित होकर जो लोग **इदम् मे मतम् नित्यम् अनुतिष्ठन्ति-** इस मेरे मत का निरंतर पालन करते हैं **ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते-** वे भी कर्मों (के बंधन) से मुक्त हो जाते हैं ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो , नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् , विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः , न अनुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्व-ज्ञान-विमूढान् तान् , विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥

तु ये एतत् अभ्यसूयन्तः- परंतु जो इस (उपदेश) के प्रति द्वेष बुद्धि रखते हुए **मे मतम् न अनुतिष्ठन्ति-** मेरे मत का पालन नहीं करते **सर्व-ज्ञान-विमूढान् तान्-** संपूर्ण ज्ञान के प्रति अंधे उन **अचेतसः नष्टान् विद्धि-** सोई हुई बुद्धि वालों को नष्ट हुआ (ही) जान ।

भगवान अभी तक बता चुके हैं कि व्यक्ति को कर्म तो करते ही रहना है, निष्काम रहकर करना है, परमेश्वर को अर्पण करने के भाव से करना है, अब इस क्रम में तीन और निर्देश अगले तीन श्लोकों में वे दे रहे हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः , प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि , निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सदृशम् चेष्टते स्वस्याः , प्रकृतेः ज्ञानवान् अपि । प्रकृतिम् यान्ति भूतानि , निग्रहः किम् करिष्यति ॥

भूतानि प्रकृतिम् यान्ति-सभी मनुष्य प्रकृति अपने संस्कार जनित स्वभाव को प्राप्त होते हैं **। ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशम् चेष्टते-** ज्ञानवान भी अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं **। निग्रहः किम् करिष्यति-** (स्वभाव पर) नियंत्रण कैसे हो सकेगा ? (स्वभाव के विपरीत कर्मों में सिद्धि प्राप्त करना कठिन है।)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे , रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् , तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य-अर्थे , राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोः न वशम् आगच्छेत् , तौ हि अस्य परिपन्थिनौ ॥

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य-अर्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ- (मनरूपी) इंद्रिय का इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष होता है**, तयोः वशम् न आगच्छेत्-** उन (राग-द्वेष) के वश में (मनुष्य को) नहीं हो जाना चाहिए **। हि तौ अस्य परिपन्थिनौ-** क्योंकि वे दोनों (राग व द्वेष) ही इस (जीवात्मा) के लुटेरे/ डाकू रूप शत्रु हैं ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः , परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः , परधर्मो भयावहः ॥३५॥

श्रेयान् स्वधर्मः विगुणः , परधर्मात् स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनम् श्रेयः , परधर्मः भय-आवहः ॥

परधर्मात् स्वनुष्ठितात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्- दूसरे के धर्म से (जिसका) बहुत अच्छी प्रकार आचरण (भी उनके द्वारा) किया गया हो, उस की अपेक्षा अपना धर्म (यदि) कम गुण वाला है (तो भी) श्रेष्ठ है । **स्वधर्मे निधनम् श्रेयः-** अपने धर्म में (तो) मरना (भी) कल्याण कारक है, **परधर्मः भय-आवहः-** दूसरे का धर्म भयप्रद है ।

उपरोक्त तीनों श्लोकों पर विचार करें तो प्रकट होता है कि इनमें कर्म करने के संबंध में तीन निर्देश दिए हैं- १. अपने स्वभाव को ध्यान में रखकर कर्मों का निर्धारण करें। २. सभी प्रकार के राग द्वेष से मुक्त रह कर कर्म करें। ३. अपने स्वधर्म के अनुरूप कर्मों का चुनाव करें। अब यहाँ हमें स्वभाव और स्वधर्म के भेद को समझना होगा। स्वभाव का अर्थ होता है जन्मजात मानसिकता या चित्तवृत्ति। अंतर स्पष्ट है कि स्वधर्म जन्म के पश्चात् वर्तमान जीवन के अनुभवों से निर्धारित होता है। वस्तुतः व्यक्ति युवा-वय में जो विशेष व्यवसाय/वृत्ति/उद्यम/हुनर/प्रोफेशन सीखता है वह उसका स्वधर्म होता है। धर्म का अर्थ 'धारण किया हुआ है', इस दृष्टि से व्यक्ति ने जिस प्रकार के कर्मों में विशेष ज्ञान/शिक्षण प्राप्त किया है वहीं उसका स्वधर्म बन जाता है।

अर्जुन (और महाभारत युद्ध के अन्य सभी पात्र) इसी दृष्टि से क्षत्रिय थे कि उन्हें युद्ध कर्म का शिक्षण प्राप्त हुआ था। उस काल में जीवन यापन के काम-धंधो को मुख्य चार ही वर्गों में बांटा गया था जिन्हें चार वर्ण कहा गया है। आज के तकनीकी युग में ये वर्ण अनेक हो गए हैं और इन्हें हम प्रोफेशन कहते हैं। वर्तमान काल सहित सभी समय के लिए उपयोगी जो महत्वपूर्ण संदेश श्लोक-३५ में निहित है वह यह है कि व्यक्ति को अधिक भौतिक सुख की लालसा से अपना स्वधर्म अर्थात् कर्म क्षेत्र नहीं बदलना चाहिए, वरन् जिस क्षेत्र में भी उसे दक्षता प्राप्त है उसे अपनी पूरी योग्यता और अध्यवसाय के साथ सर्वजन में परमेश्वर सत्ता का और उन कर्मों को ईश्वर सेवा

के रूप में समर्पण करना चाहिए(श्लोक-१८.४६)। यदि वह स्वार्थवश प्रोफेशन बदलता रहता है तो परधर्म रुप यह कार्य असफलता का कारण बन कर स्वयं के जीवन यापन में भी बाधक बनने तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी अश्रेयस्कर होने के कारण इसे भयावह कहा गया है। इस दूसरे लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही श्लोक-३४ में कर्म करने के सम्बन्ध में राग-द्वेष छोड़कर उन्हें करने की बात कही गई है।

अब श्लोक-३३ में प्रकृति/स्वभाव अर्थात् जन्मजात चित्तवृत्ति से कर्म-निर्धारण की जो बात कही गई है उसे हृदयंगम करने हेतु प्रथम हमें अपने को इस बात के प्रति आश्वस्त कर लेना चाहिए कि व्यक्ति में बहुधा कुछ मनोवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं। इस विषय पर भगवान बुद्ध के बाल्यकाल, जब उन्हें सिद्धार्थ नाम से पुकारा जाता था, की वह प्रसिद्ध घटना भी प्रकाश डालती है जो वर्णन करती है कि उनके चचेरे भाई द्वारा शिकार में घायल किए गए कबूतर को बचा कर उन्होंने उसे भाई को सौंपने से मना कर दिया था और अंततः न्याय सिद्धार्थ के पक्ष में हुआ था। उक्त घटना में दोनों बच्चों की मनोवृत्तियों में जो अंतर था वह जन्मजात था और इस प्रकार के अंतर जुड़वाँ पैदा हुए बच्चों में भी स्पष्ट देखा जाता है। अब जन्मजात मनोवृत्ति से व्यक्ति के कर्म क्षेत्र के निर्धारण की बात को समझें। उदाहरण से यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाएगी। किसी व्यक्ति में यदि जन्म से ही दया भाव अधिक है और वह सेना में भर्ती होता है तो युद्ध के मोर्चे पर उसकी सफलता संदिग्ध ही होगी। अतः आवश्यक है कि व्यक्ति अपने व्यवसाय को अपनी जन्मजात वृत्तियों के मान से चुने। इसी बात को आगे (श्लोक-१८. ४१ से ४७) में विस्तारपूर्वक समझाया गया है जिसका सारांश यह है कि स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा कर्मों का निर्धारण और इस प्रकार नियत कर्म करने से किसी प्रकार का दोष या हानि नहीं होती। वस्तुतः चतुवर्ण्य व्यवस्था का आधार तो यही था जो उत्तरवर्ती काल में जाति प्रथा के रूप में विकृत होकर उसने भारतीय समाज को अकल्पनीय क्षति पहुंचाई।

उपरोक्त श्लोकों का सारांश यह है कि जीवन-वृत्ति रूप कर्मों के निर्धारण में व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्तियों/गुणों (अर्थात् स्वाभाव) का एवं व्यक्ति ने परिस्थिति वश जिस प्रकार के कर्मों में शिक्षण/दक्षता (अर्थात् स्वधर्म) प्राप्त किया है, इन दोनों कारकों का ध्यान रखा जाना हितकर है। अधिक आर्थिक लाभ के लालच से कर्म-क्षेत्र को चुनना या बदलना न तो उस व्यक्ति के लिए ही और न समाज के लिए हितकर होगा। इसके साथ ही श्लोक-३४ में कही गई यह बात भी महत्वपूर्ण है कि उक्त प्रकार से चुने हुए

कर्म-क्षेत्र में स्थित होकर व्यक्ति यदि सावधानीपूर्वक सभी प्रकार के राग-द्वेषो से परे रह कर कर्म करेगा तो उसका आध्यात्मिक मार्ग भी प्रशस्त होगा।

भगवान ने कर्म के बारे में अपनी विवेचना का समापन स्वधर्म रूप कर्मों की महत्ता बताकर किया। संदेश यह था कि परिस्थितियों के मान से अर्जुन का स्वधर्म क्षत्रियों वाला था और उसका पालन करना ही उसके लिए श्रेयस्कर था। कर्म-संन्यास उसके लिए परधर्म होने से सर्वथा विपरीत परिणाम वाला होता। अर्जुन ने संभवत कौरव महारथियों की ओर देखकर प्रश्न उठाया कि स्वधर्म में स्थित होकर भी तो मनुष्य पाप का आचरण करता है जैसा कि दुर्योधन आदि कर ही रहे थे, तथा सर्वाधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि भीष्म, द्रोण जैसे पूज्य जन जो पांडवों के पक्ष को सदा न्याय पूर्ण मानते रहे थे उस समय जब क्षत्रिय रुप स्वधर्म पालन का मौका उपस्थित हुआ तो वे पापियों के पक्ष में लड़ने के लिए खड़े थे, अतः उसे (अर्जुन को) स्वधर्म पालन की बात सार सारहीन प्रतीत हुई। वह अपने इस भाव को प्रश्न के रूप में गुरु भगवान कृष्ण के सम्मुख इस प्रकार रखता है-

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं , पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय , बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अथ केन प्रयुक्तः अयं , पापम् चरति पूरुषः । अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय , बलात् इव नियोजितः ॥

हे वार्ष्णेय- हे वृष्णि वंश के मूर्धन्य पुरुष श्रीकृष्ण! **अथ अयं पूरुषः अनिच्छन् अपि-** फिर यह व्यक्ति न चाहते हुए भी **केन बलात् प्रयुक्तः नियोजितः इव पापम् चरति-** किसके के द्वारा बलपूर्वक लगाए हुए की भांति विवश किया जाकर पाप का आचरण करता है।

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष , रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा , विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

कामः एषः क्रोधः एषः , रजः गुण-समुद्भवः । महा-अशनः महा-पाप्मा , विद्धि एनम् इह वैरिणम् ॥

रजः गुण-समुद्भवः- रजोगुण गुण से उत्पन्न **एषः कामः, एषः क्रोधः-** यह काम है, यह क्रोध है **महा-अशनः-** (जो विवेक को) पूर्णतः खा जाने वाला है, **महा-पाप्मा-** महा पापी है, **एनम् इह वैरिणम् विद्धि-** इसको ही (तू) वैरी जान ।

टीकाकारों में इस विषय में मतभेद है कि श्लोक में काम/क्रोध को जो शत्रु बताया गया है, वे दो स्वतंत्र रूप से क्रिया करने वाली बुराइयां हैं अथवा क्रोध काम का ही परिणाम होने से एक के ही दो रुप है। वस्तुतः यह मत भिन्नता क्रोध शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाने के कारण पैदा हुई हो, ऐसा हो सकता है। यद्यपि हम सबका अनुभव है कि जिसे हम क्रोध कहते हैं वह हमेशा कामना की पूर्ति न हो तभी उत्पन्न होता हो ऐसा नहीं है, वह अन्य परिस्थितियों में भी आता है, तथापि गीताकार ने यहाँ क्रोध को काम से उत्पन्न माना है यह बात इससे सिद्ध होती है कि यहाँ 'एनम्' तथा 'एष:' शब्दों का जो प्रयोग हुआ है वे 'एक वचन' में है, दूसरे आगे के श्लोकों में व्याख्या केवल काम (अर्थात् कामना) की ही की गई है। इस प्रकरण के पूर्व तो गीताकार ने स्पष्ट ही क्रोध को काम से उत्पन्न हुआ ही कहा था (कामात् क्रोध: अभी जायते- श्लोक-२.६२) जिसकी विवेचना विनोबा ने यह कहकर की है कि यहाँ क्रोध का अर्थ गुस्सा आना नहीं है, वरन् मन में क्षोभ उत्पन्न होना है। क्षोभ अर्थात् व्याकुलता,उत्तेजना, चिढ़। निष्कर्ष यह निकलता है कि क्रोध का भावार्थ उस काल में और गीताकार के मंतव्य मैं तो निश्चिय ही वह नहीं था जो आज हम गुस्से के रूप में समझते हैं। हमें यहाँ क्रोध का अर्थ क्षोभ/चिढ़ ही लेना चाहिए जो कामना की पूर्ति न होने पर मन में बहुधा उठता है।

भगवान ने यहाँ रजोगुण से उत्पन्न काम/क्रोध की बात की है तो इससे प्रश्न उठता है कि क्या यह वृत्तियाँ तमोगुण से उत्पन्न नहीं होती? वस्तुतः तमोगुण में तो ये अधिक अनिष्टकारी रूप में होती है। अतः हमें विचार करना चाहिए कि फिर भगवान ने यहाँ रजोगुण से उत्पन्न काम/क्रोध की बात क्यों कही? तथ्य यह है कि यह वृत्तियाँ तो त्रिगुणों में से किसी भी गुण से आवृत्त व्यक्ति में क्रियाशील हो उठती हैं। सतोगुणी में भी ये होती हैं किंतु वहाँ उद्देश्य पवित्र होता है जैसा कि राक्षसों/दुष्टों का हनन करते समय अवतार रुप राम और कृष्ण में इनके आविर्भाव का वर्णन ग्रंथों में देखा जाता है।

प्रस्तुत प्रकरण में रजोगुण से उत्पन्न काम/क्रोध को इंगित करने का कारण यह है कि यह बात भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि के संबंध में कही गई है। भीष्म, द्रोण में रजोगुणी कामना तथा कर्ण में रजोगुणी क्रोध को इंगित करते हुए उक्त बात कही गई कि इनके विवेक को इन गुणों ने आवृत्त कर दिया था। भीष्म पितामह में रजोगुणी कामना यह थी कि लोग उन्हें उस भीष्म प्रतिज्ञा का आजीवन पालन करने वाले के रूप में याद रखें जो उन्होंने युवा काल में पिता शांतनु के साथ मत्स्यकन्या सत्यवती

के विवाह हेतु उसके पिता से की थी कि वे हस्तिनापुर की राजगद्दी को कभी ग्रहण तो करेंगे ही नहीं, आजीवन अविवाहित रहते हुए राजगद्दी पर सत्यवती की संतान को आसीन करके उसकी रक्षा हमेशा अपने शौर्य से करते रहेंगे। द्रोणाचार्य भी अपने पुत्र अश्वत्थामा को प्रसन्न रखने की कामना से इतने बंधे थे कि स्वयं के मन में पांडवों के प्रति और विशेषकर अर्जुन के प्रति अत्यधिक प्रेम होते हुए भी वह कौरव पक्ष में उपसेनापति के रूप में खड़े थे। इसी प्रकार कर्ण को अर्जुन के प्रति जो क्रोध अर्थात् क्षोभ था उसका कारण यह था कि योग्य होते हुए भी उसे अर्जुन से प्रतिस्पर्धा करने के दो-दो मौकों पर यह कहकर वंचित कर दिया गया कि वह सूत पुत्र अर्थात् दलित जाति से था। काम-क्रोध के ये प्रकरण राजसिक ही कहे जाएंगे क्योंकि ये परिस्थितिजन्य प्रवृतियाँ थी जबकि दुर्योधन आदि की कामनाएं स्वभाव गत होने से तामसिक थी।

वस्तुतः गीताकार ने यहाँ इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि राजसिक काम/क्रोध भी विवेक का हरण करके सत्य पथ देख सकने में मनुष्य को अक्षम बना देते हैं अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह आध्यात्मिक जीवन जीने का लक्ष्य अपने सामने रखे और सदा सावधान रहते हुए अपने कर्तव्य कर्मों का निर्धारण करें।

ये राजसिक कामनायें अथवा क्रोध रूप आवेग व्यक्ति के विवेक को कितनी अधिक या कम दृढ़ता से ढक देते हैं इसकी विवेचना अगले दो श्लोकों में की गई है-

धूमेनाव्रियते वह्निः , यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भः , तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

धूमेन आव्रियते वह्निः , यथा आदर्शः मलेन च । यथा उल्बेन आवृतः गर्भः , तथा तेन इदम् आवृतम् ॥

यथा धूमेन वह्निः-जिस प्रकार अग्नि धुऐं से, **च आदर्शः मलेन, आव्रियते-** और दर्पण मैल से ढक जाता है, तथा **यथा गर्भः उल्बेन आवृतः-** जैसे (गर्भाशय में) जेर से गर्भ ढका रहता है, **तथा तेन इदम् आवृतम्-** वैसे ही उस (काम/ क्रोध) के द्वारा यह (विवेक) ढका रहता है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन , ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय , दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

आवृतम् ज्ञानम् एतेन , ज्ञानिनः नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय , दुष्पूरेण अनलेन च ॥

च कौन्तेय- और, हे अर्जुन! **ज्ञानिनः नित्यवैरिणा एतेन दुष्पूरेण कामरूपेण अनलेन-** ज्ञानियों के नित्यवैरी इस कभी तृप्त न होने वाली काम रूप अग्नि से **ज्ञानम् आवृतम्-** ज्ञान ढका रहता है ।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने यहाँ विवेक को ढक देने वाले जिन आवरणों का वर्णन किया है वे एक तो अज्ञानांन्धकार की विरलता/सघनता का वर्णन करते ही हैं, साथ ही वे भीष्म, द्रोण और कर्ण की मानसिक स्थिति की ओर मूक इशारा करते हुए हमारे लिए भी इस आवश्यकता को रेखांकित करते हैं कि हम अपने सोच-विचार और कर्म-व्यवहार का सूक्ष्म आकलन करते रहें।

अग्नि पर धुआँ छा जाने पर अग्नि की चमक छुप जाती है किंतु वह धुआँ अधिक देर नहीं ठहरता और थोड़े से प्रयास से ही अग्नि प्रकाशित हो उठती है। भीष्म के विवेक पर भी प्रतिज्ञा-पालन रूप अहंकार का जो धुआँ छा गया था उसे श्रीकृष्ण ने युद्ध के नवे दिन अपनी शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा तोड़कर क्षण मात्र में छिन्न-भिन्न कर दिया था और इसके बाद भीष्म ने स्वयं यह रास्ता पांडवों को बता दिया था कि अगले दिन अर्जुन शिखंडी को अपने आगे खड़ा करके किस प्रकार वह उन्हें जीत सकेगा। स्पष्ट है कि भीष्म की विवेकाग्नि पर अहंकार रूप धुऐं का जो हल्का आवरण छाया हुआ था वह श्रीकृष्ण के तनिक से प्रयास से तत्काल दूर हो गया था। किंतु द्रोणाचार्य पर पुत्र मोह का अंधकार अधिक गहन था। युद्ध में पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु संबंधी सूचना को पूरी तरह से सुनने के पूर्व ही वे शस्त्र फेंककर आंखें बंद कर बैठ जाते हैं और धृष्टद्युम्न द्वारा मार दिए जाते हैं, जबकि कोई दूसरा क्षत्रीय योद्धा होता तो उस समाचार से क्रोधित होकर अधिक भयंकर युद्ध करता। वस्तुतः उनके पुत्र-मोह की सघनता को श्रीकृष्ण जानते थे और उन्होंने उस घने अज्ञानावरण के कारण दुष्ट कौरवों को मिलने वाले बल को ध्वस्त करने हेतु वह योजना बनाई थी। कर्ण का अज्ञान तो इतना गहरा था कि युद्ध करते हुए जब उसका रथ खराब हो जाता है तो वह हताश होकर अर्जुन को युद्ध रोकने का कहता है। जब श्रीकृष्ण कर्ण के सुझाव को अमान्य कर देते हैं तो युद्ध के अन्य उपलब्ध साधनों का उपयोग करने की अपेक्षा वह अर्जुन और श्रीकृष्ण पर दोषारोपण करता है, किंतु जब श्रीकृष्ण उसे उसके दुष्कृत्यों का आईना दिखाते हैं तो वह निरुत्तर और निरुत्साहित होकर मारा जाता है। वस्तुतः महाभारतकार ने इस चरित्र के द्वारा हमें यह बताया है कि किसी व्यक्ति को कभी-कभी संयोगवश जो विपरीत परिस्थितियाँ मिल जाती हैं, जैसी कि कर्ण को नाविक द्वारा पाले जाने के कारण मिली थी, उनको सहज भाव से स्वीकार न करते हुए यदि वह दूसरों से इर्षा करने में ही डूबा रहता है तो अपने मूल्यवान जीवन को व्यर्थ नष्ट कर लेता है। यह अज्ञानान्धकार मोह के आवरण से भी अधिक घना है और व्यक्ति उसके साये में पूरे जीवन को कलुषित कर सकता है। इस बात को गीता के इस श्लोक में 'जेर से गर्भ ढके होने' के उदाहरण से इंगित की गई है, किंतु हम

देखें कि यह उदाहरण एक सकारात्मक आश्वासन को भी इंगित करता है। जैसे गर्भ पर जेर का आवरण समय आने पर दूर हो जाता है इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति में अज्ञानान्धकार, वह कितना भी गहन हो, जीवन की अनंत यात्रा में वह कभी न कभी अवश्य दूर होगा और उसमें ढकी आत्मा का प्रकाश अवश्य प्रकट होगा। अतः ऐसे व्यक्ति के प्रति हमारा भाव द्वेष या घृणा का न होकर हमारा ध्यान उसके प्रति हमारे कर्तव्य पर होना चाहिए।

कामना द्वारा अथवा उससे उत्पन्न क्षोभ द्वारा ज्ञान के आवृत्त किए जाने का वर्णन करने के बाद भगवान अब आगे अध्याय के अंतिम चार श्लोकों में इससे मुक्त होने के उपाय बता रहे हैं।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः , अस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष , ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाणि मनः , बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते । एतैः विमोहयति एषः , ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ॥

इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते- इंद्रियाँ , मन, बुद्धि इसके (काम के) निवास स्थान (अधिष्ठान) कहे जाते हैं । **एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् विमोहयति-** यह (काम) इनके ज्ञान को ढक कर जीवात्मा को मोह में डाल देता है ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ , नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं , ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाणि आदौ , नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानम् प्रजहि हि एनं , ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् ॥

तस्मात्- इसलिए **भरतर्षभ-** हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन!(जैसे ही यह बात हृदयंगम हो जावे कि काम) **ज्ञानविज्ञान नाशनम्-** ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाला है, **त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य-** तू प्रारंभ से ही इंद्रियों का नियमन करके**, एनं पाप्मानम् हि प्रजहि-** इस पापी को मार ही डाल ।

इन्द्रियाणि पराण्याहु , इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः , यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाणि पराणि आहुः , इन्द्रियेभ्यः परम् मनः । मनसः तु परा बुद्धिः , यः बुद्धेः परतः तु सः ॥

इन्द्रियाणि पराणि आहुः- इंद्रियों को श्रेष्ठ (बलवान और सूक्ष्म) कहा जाता है**, इन्द्रियेभ्यः परम् मनः-** इंद्रियों से श्रेष्ठ मन है, **मनसः तु परा बुद्धिः-** मना से भी श्रेष्ठ बुद्धि है और**, यः बुद्धेः परतः सः-** जो बुद्धि से भी अति श्रेष्ठ है वह (भी) है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा , संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो , कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवम् बुद्धेः परम् बुद्ध्वा , संस्तभ्य आत्मानम् आत्मना । जहि शत्रुम् महाबाहो , काम-रूपम् दुरासदम् ॥

हे महाबाहो- हे वीर! **एवम् बुद्धेः परम् बुद्ध्वा-** इस प्रकार बुद्धि से (उस) अतिश्रेष्ठ को जानकर **आत्मना आत्मानम् संस्तभ्य-** (निम्नतर) आत्मा अर्थात् जीवात्मा का (उच्चतर) आत्मा द्वारा (अर्थात् माहेश्वर/ दृष्टा और आंतरिक सखा द्वारा) नियमन / नियंत्रण करके**, काम-रूपम् दुरासदम् शत्रुम् जहि-** (तू इस) कामना रूप दुर्जय शत्रु को मार डाला ।

कामनाओं से मुक्त होना है तो हमें यह जान लेना चाहिए कि इस शत्रु के मुकाम क्या है? श्लोक-४० में भगवान ने मनुष्य में कामनाओं के तीन वास- स्थान बताए- इंद्रियाँ, मन और बुद्धि और फिर इनकी क्रमगत श्रेष्ठता बताते हुए बुद्धि से भी जो श्रेष्ठ है उसको इंगित करके उसके द्वारा काम को निर्मूल करने का मार्ग बताया है (श्लोक-४२,४३)। किंतु इन अंतिम दो श्लोकों में वर्णित मार्ग की व्याख्या टीकाकारों ने दो प्रकार की की है। विनोबा ने इन्हे योग प्रक्रिया (पातञ्जल योग अथवा अन्य कोई ध्यान साधना) और भक्ति प्रक्रिया (ईश्वर अर्पण भावना से कर्मयोग) नाम दिया है। योग/ध्यान विधि के अंतर्गत प्रथम इंद्रियों का नियंत्रण, फिर क्रम से मन और बुद्धि को कामनाओं से मुक्त करते हुए परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करना होती है, दूसरी विधि में ईश्वर का आलंबन सर्वप्रथम लेना होता है और ऐसा करने से बुद्धि, मन, इंद्रियाँ एक के बाद एक कामनाओं से मुक्त होती जाएंगी।

हमारी धारणा है कि क्योंकि गीता ने अष्टांग योग/ध्यान योग के मार्ग को दुरूह और कर्म/भक्ति मार्ग को श्रेष्ठ बताते हुए इस दूसरे मार्ग की अनुशंसा की है, जैसा कि आगे के अध्यायों में स्पष्ट होगा, अतः यहाँ भी हमें उसके अनुरूप ही अर्थ समझने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह बात भी सहज ही समझ में आती है कि इंद्रियें विषयों के तथा बुद्धि आत्मा/परमात्मा के निकट है अतः व्यक्ति को प्रथम बुद्धि को ईश्वर-निष्ठ बनाकर ऐसी बुद्धि से मन को और उस मन से इंद्रियों को भोगों की कामना से मुक्त करना अपेक्षाकृत सरल होगा। वस्तुतः गीताकार ने प्रक्रिया भी यही अनुशंसित की है किंतु इसे समझने में श्लोक-४१ के शब्द 'इंद्रायाणि आदौ नियम्य- पहले इन्द्रियों का नियमन करके' इस कारण बाधक प्रतीत होते हैं क्योंकि हम 'नियमन' शब्द का अर्थ इंद्रियों को विषयों से बलपूर्वक रोक लेना चाहिए, ऐसा मान लेते है। वस्तुत गीताकार का आशय यह नहीं है। श्लोक-३३ में वे कह हीं चुके हैं कि 'ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, निग्रह (हठ पूर्वक इन्द्रिय दमन) क्या करेगा?' स्पष्ट है कि इन्द्रियों का नियमन करने का अर्थ है निरपेक्ष भाव से

उनका उपयोग करते हुए भी मन-बुद्धि को उन से हटाकर उन्हें राग-द्वेष से मुक्त रखते हुए (श्लोक-३४), ईश्वर कार्य की ओर इन्हे प्रवृत्त करना। इंद्रियों का नियमन करने का यह अर्थ आगे श्लोक-४.२६ में भी व्यक्त हुआ है जहाँ कहा गया है कि कुछ लोग इंद्रियों को संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं (अर्थात् इंद्रियों को वासना शून्य कर लेते हैं, किंतु जो ऐसा करने में असमर्थ हैं वे विषयों को इंद्रियों की अग्नियों में हवन करें अर्थात् विषयों को तो भोग लें किंतु मन बुद्धि में भोगों की कामना न रखें)। संयमन का यह अर्थ लेने पर श्लोक-४१ की उक्त कठिनाई दूर हो जाती है।

अध्याय-३ से अध्याय-४ में प्रवेश

अध्याय-३ में भगवान ने बताया कि कोई भी मनुष्य क्षण मात्र भी कर्म किए बिना नहीं रहता। मनुष्य सहित सृष्टि का प्रत्येक जीव प्रकृति और पुरुष इन दो तत्वों से बना है इस कारण उनमें जो प्रकृति अंश है वह उसे सर्वदा क्रियाशील रखता है, वह शारीरिक/मानसिक/परामानसिक स्तरों में से एक या अधिक पर सर्वदा क्रियाशील बना रहता है। अतः व्यक्ति यदि चाहे तो वह अपनी इस ऊर्जा को ऐसे सत् कर्मों में लगा सकता है जो उसकी स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायक हो और अन्यों के लिए भी हितकारी हो। ऐसे कर्मों को 'यज्ञ' नाम से संबोधित करते हुए जैविक सृष्टि के विकास में भी इसकी भूमिका को एक नैसर्गिक नियम के रूप में प्रकाशित किया गया है। प्रकाशित करने का उद्देश्य है कि व्यक्ति भी इस नियम को अपने जीवन में धारण कर अपने तथा अन्यों के भी आध्यात्मिक विकास को गति प्रदान करें। अब अध्याय-४ में भगवान बता रहे हैं कि अज्ञान रूपा प्रकृति से भी 'यज्ञ' कराने वाली वह भगवत् सत्ता ही है जिसे उन्होंने (श्रीकृष्ण) ने अपने वैयक्तिक जीवन में पूर्ण रूप से धारण की थी और अन्य कोई भी वैसा करके अपने जीवन को दिव्य बना सकता है।

◆ ◆ ◆

चतुर्थः अध्याय

यज्ञ कर्म

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं , प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह , मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

इमम् विवस्वते योगम् , प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह , मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ॥

इमम् अव्ययम् योगम् अहम् विवस्व मते प्रोक्तवान्- इस अनश्वर योग को मैंने विवस्वान को बताया था, **विवस्वान् मनवे प्राह-** विवस्वान ने (इसे) मनु को कहा, **मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्-** मनु ने (इसे) इक्ष्वाकु को बोला ।

एवं परम्पराप्राप्तम् , इमम् राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता , योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

एवम् परम्परा-प्राप्तम् , इमम् राजर्षयः विदुः । सः कालेन इह महता , योगः नष्टः परन्तप ॥

एवम् परम्परा-प्राप्तम् इमम् राजर्षयः विदुः- इस प्रकार परंपरा से प्राप्त इस (योग) को राजर्षियों ने जाना। **परन्तप-** हे शत्रुओ को संतप्त करने वाले अर्जुन ! **सः योगः महता कालेन इह नष्टः-** वह योग बहुत काल बीत जाने पर यहाँ लुप्त हो गया ।

स एवायं मया तेऽद्य , योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति , रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सः एव अयम् मया ते अद्य , योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तः असि मे सखा च इति , रहस्यम् हि एतत् उत्तमम् ॥

मे भक्तः च सखा असि- (तू) मेरा भक्त और सखा है **इति अयम् पुरातनः योगः ते मया अद्य प्रोक्तः-** अतः यह प्राचीन योग तुझे मेरे द्वारा आज कहा गया, **च हि एतत् उत्तमम् रहस्यम्-** और निश्चय ही यह परम रहस्य है (अर्थात् जीवन विकास का रहस्य इसमें समाहित है) ।

भगवान ने श्लोक-१ में कर्मयोग की जो परंपरा बताई है वह मानवीय इतिहास जैसा प्रतीत होने से टीकाकारों ने जो विवेचनायें की है उनमें से प्रायः सभी ने जहाँ

विवास्वान को सूर्य (आकाश स्थित हमारा सूरज) माना है, वहीं मनु और इक्ष्वाकु को अधिकांश ने किसी प्राचीन कालखंड के राजपुरुष माना है जो बुद्धि-ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः अधिक बुद्धि गम्य विवेचना की आवश्यकता पहले भी कतिपय विद्वानों ने अनुभव की है, उदाहरणार्थ योगीराज भूपेंद्र नाथ सान्याल ने अपनी पुस्तक 'गीता विश्वकोश' (प्रकाशक- संस्कृति संस्थान बरेली- २४३००१, पृष्ठ-३५६,सं-१९७४) में विचार व्यक्त किया है कि मनु कोई व्यक्ति नहीं वरन मन का प्रतीक हो सकता है। इस हेतु से हम यहाँ एक व्याख्या दे रहे हैं जो श्लोक के 'प्रोक्त, प्राह और अब्रवीत्' शब्दों के विशिष्ट अर्थों पर आधारित है, वैज्ञानिक तथ्यों के अनुरूप है, तथा सृष्टि विकास में परमात्म सत्ता की भूमिका को स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुए व्यक्ति को जीवन जीने के गीतोक्त मार्ग के स्पष्ट स्वरूप से परिचित कराती है।

'प्रोक्त, प्राह और अब्रवीत्' शब्दों के विशिष्ट अर्थ

इन तीनों शब्दों का सामान्यतः एक ही अर्थ 'कहना/कहा' कर लिया जाता है। किंतु शब्दों के कुछ विशिष्ट भाव भी होते हैं, और यहाँ शब्दों के विशिष्ट भावों पर ध्यान देने से श्लोक में वर्णित परंपरा पर से रहस्य का आवरण दूर होता है।

प्रोक्त (प्र+वच्+क्त) का जहाँ एक अर्थ 'कहा हुआ' है, वहीं एक अन्य अर्थ है 'नियत किया हुआ, निर्धारित किया हुआ'। इसी प्रकार प्राह = प्रकर्षेण 'आह' शब्दों यत्र अर्थात् जैसे 'आह' शब्द अर्थात्मक न होकर ध्वन्यात्मक है वैसे ही प्राह शब्द भी ध्वन्यांत्मक अभिव्यक्ति को इंगित करता है। तीसरा शब्द 'ब्रवीति' धातु 'ब्रूञ/ब्रू/बच' से बना होकर अर्थ देता है 'शुद्ध वाक्ये कथनं' अर्थात् शब्दों/वाक्यों द्वारा बात करना, विचार व्यक्त करना। श्लोक में इन तीनो शब्दों का प्रयोग क्रमशः विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु के सम्बन्ध में जो प्रयोग किया गया है उसका रहस्य इन तीनों नामों के भी विशेष अर्थ समझने पर प्रकट हो जाता है अतः अब पहले हमें इन नामों के अर्थ पर विचार करना होगा।

'विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु' नामों से विशेष संकेत

ये नाम भी विशेष अर्थ वाले हैं। विवस्वान् = वि + वस् + वान और वस् धातु में 'बसने' के अतिरिक्त 'वेग से चलने', 'डटे रहने' के अर्थ भी सन्निहित हैं। अतः इस नाम से उस वस्तु का संकेत है जो वेग से निरंतर गतिमान है अर्थात् सूर्य और इसी कारण आकाशीय पिंड- सूर्य का नाम विवस्वान् प्रसिद्ध है।

वर्णित परंपरा में दूसरा नाम 'मनु' है। मनु क्या है, यह विचारणीय है। पुराणों में मनु १४ कहे गए हैं। उपलब्ध वर्णनों के आधार पर हमारी मान्यता बनी है कि प्राणी विकास क्रम को मनुओं के रूप में वर्णित किया गया होना चाहिए। प्रथम मनु स्वयंभूव तथा वर्तमान (सातवें) मनु का नाम वैवस्वत कहा गया है जो उपरोक्त मान्यता को पुष्ट करता है। ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न होने के कारण स्वयंभूव कहे गए हैं (भागवत-३.१८.१५) भागवत सहित कई पुराणों में नानाविध प्राणियों की उत्पत्ति के कथात्मक वर्णन के अंतर्गत कहा गया है कि ब्रह्मा ने अपने शरीर को जब मनु और शतरूपा दो रूपों में विभाजित किया तब उन दो से मैथुनी सृष्टि प्रारंभ होकर विभिन्न प्रकार के प्राणियों की सृष्टि हुई। उससे पूर्व जो जीव उत्पन्न हुए थे (पुराणों में उन्हें हर्यस्व/शव्लाश्व कहा गया है) उनसे प्राणियों की प्रजातियों (species) का विकास नहीं हुआ था। संभवतः एक कोशिकीय जीव थे और इस प्रथम जीवन सृष्टि को ही स्वायंभुव मनु नाम से संबोधित किया गया होना चाहिए। जब मैथुनी सृष्टि प्रारंभ हुई तो बहू कोशीय जीवों में क्रमशः इंद्रियें-मन-बुद्धि युक्त प्राणियों को सात मनु के रूप में निरूपित माना जा सकता है। इसके बाद मनुष्य की उत्पत्ति हुई तो उसे इक्ष्वाकु कहा गया क्योंकि मनुष्य को अपनी इच्छा/विचार को वाक (शब्दों) द्वारा व्यक्त करने की शक्ति प्राप्त है (इक्ष्वाकु= इक्ष् + वाक + प्रत्यय उ) और जिसके लिए अब्रवीत शब्द का प्रयोग भी हुआ है (विवेचना आगे दी जा रही है)।

श्लोक ४.१ का तर्कसंगत अर्थ

प्रोक्त आदि शब्दों के विशिष्ट अर्थ और मनुआदि नामों की विवेचना के प्रकाश में श्लोक का तर्कसंगत अर्थ यह प्रकट होता है कि ज्ञान स्वरूप परमात्मा (पुरुष तत्व) ने सूर्य की उत्पत्ति के साथ ही उसके लिए निरंतर जलते रहकर पृथ्वी को उर्जा देकर जीवन का आधार प्रदान करते रहने का कार्य नियत किया (प्रोक्त)। जब प्राणियों की उत्पत्ति हुई तो वे भी एक दूसरे के जीवन का आधार बनते हुए और उच्च से उच्चतर क्षमताऐं प्राप्त करते हुए विकसित हुए, मानों उन्होंने भी 'परार्थ' जीवन का संदेश अपने पूर्वज सूर्य से ग्रहण किया। 'प्राह' शब्द इंगित करता है कि मानव प्राणियों को यह संदेश उन्हें उनके द्वारा ग्रहणीय ध्वन्यात्मक भाषा में प्राप्त हुआ (प्राह)। इसी क्रम में जब आदिमानव का आविर्भाव हुआ तो उसका जीवन भी इसी नियम के अनुरूप था। इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया गया है मानों उसे यह सन्देश शब्दों और वाक्यों वाली बोली में कहा गया था (इक्ष्वाकवे अब्रवीत)।

स्पष्ट है कि श्लोक में किन्ही व्यक्तियों द्वारा ज्ञान संप्रेषण किये जाने वाली परंपरा का वर्णन न होकर जीवन विकास के उक्त (यज्ञ रूप) नियम की सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता को प्रकट किया गया है।

श्लोक ४.२ की विवेचना

उक्त परंपरा आगे कैसे लुप्त हो गई इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- मनुष्य के आविर्भाव के प्रारंभिक काल में उसका जीवन प्रकृति नियंत्रित अधिक था अतः था तो वह यज्ञमय ही किंतु ज्ञान/बोध का तब सामान्यत: अभाव ही था। समय के साथ मनुष्य में जैसे-जैसे बुद्धि का विकास हुआ वह प्रकृति को अपने सुख के लिए अधिकाधिक नियंत्रित करने लगा। उस दशा में कुछ विरले लोगों को छोड़कर शेष का जीवन यज्ञ मार्ग से भटक गया। उक्त 'यज्ञ' नियम के पीछे परमात्मा की इच्छा को देख-समझकर ज्ञान सहित कर्म-यज्ञ में प्रतिष्ठित रहने वाले ऐसे विरले महानुभावों को भगवान ने 'राजर्षि' कहा है। किंतु इस काल के बाद ऐसा समय भी आया जब स्वार्थमय जीवन की आपा-धापी में वह जीवन पद्धति लुप्तप्राय हो गई। ऐसे समय में अधर्म और अव्यवस्था अत्यधिक गहन और विस्तृत होकर परिस्थितियें जब आध्यात्मिक विकास के लिए सर्वथा विपरीत हो जाती हैं तो परमात्म शक्ति धर्म की पुनर्स्थापना हेतु मानव शरीर में अवतरित होती हैं अथवा किन्हीं सक्षम आत्माओं को जन्म लेने के लिए प्रेरित कर देती हैं। अवतार लेने संबंधी बात भगवान ने श्लोक-७,८ में आगे कहीं हैं, किंतु उन्होंने श्लोक-१,२ में जिस पौराणिक शैली में नैसर्गिक नियम का वर्णन किया था वह हमारे समान अर्जुन को भी दुरूह प्रतीत हुआ और उसने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म , परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां , त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अपरम् भवतः जन्म , परम् जन्म विवस्वतः । कथम् एतत् विजानीयाम् , त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥

भवतः जन्म अपरम्- आपका जन्म तो अभी हाल का है (अर्वाचीन काल में हुआ है), **विवस्वतः जन्म परम्-** सूर्य की उत्पत्ति तो बहुत प्राचीन है, **इति कथम् विजानीयाम्-** इस बात को कैसे समझू (कि) **त्वम् आदौ एतत् प्रोक्तवान्-** आपने आदिकाल में (सूर्य से) यह योग कहा था ?

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि , जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि , न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

बहूनि मे व्यतीतानि , जन्मानि तव च अर्जुन । तानि अहम् वेद सर्वाणि , न त्वम् वेत्थ परन्तप ॥

अर्जुन- हे अर्जुन! **मे च तव बहूनि जन्मानि व्यतीतानि-** मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, **तानि सर्वाणि त्वम् न वेत्थ-** उन सबको तू नहीं जानता (किन्तु) **परन्तप-** हे अर्जुन! **अहम् वेद-** मैं जानता हूँ ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा , भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय , सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अजः अपि सन् अव्यय-आत्मा , भूतानाम् ईश्वरः अपि सन् । प्रकृतिम् स्वाम् अधिष्ठाय , सम्भवामि आत्म-मायया ॥

(अहं) अजः अव्यय-आत्मा सन् अपि- मैं अजन्मा हूँ (और) अविनाशी स्वरुप होते हुए भी (तथा) , **भूतानाम् ईश्वरः सन् अपि-** सब प्राणियों का हूँ (तो) भी , **स्वाम् प्रकृतिम् अधिष्ठाय-**अपनी प्रकृति को अधीन करके **आत्म-मायया सम्भवामि-**अपनी माया से जन्म धारण करता हूँ ।

भगवान के उपरोक्त वचनों में तीन बातें ऐसी है जिन पर हमें समुचित ध्यान देना होगा। ये कथन हैं-

1. भगवान अर्थात् अवतारी पुरुष प्रकृति पर नियंत्रण कर के जन्म धारण करते हैं, आगे श्लोक-९.८ में उन्होंने यह भी कहा है कि मानव सहित सभी प्राणी प्रकृति के परवश जन्म लेते हैं (प्रकृतेर्वशात्)। यही अंतर है एक अवतारी महापुरुष में और हम जैसे साधारण मनुष्य में।

2. भगवान कृष्ण जैसे अवतारी महापुरुष को अपने तथा अन्यों के भी सभी पूर्व जन्मों का पूर्ण ज्ञान होता है क्योंकि उन्होंने अपनी प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया होता है, और क्योंकि दिक-काल प्रकृति के ही अंग है अतः उनका ज्ञान सर्वकालिक और सार्वभौमिक होता है जबकि अर्जुन तथा हम जैसे सामान्य व्यक्तियों को वैसा ज्ञान नहीं होता।

3. भगवान ने कहा है कि वे अपनी प्रकृति का नियंत्रण करके अपनी माया से (आत्ममायया) प्रकट होते हैं। माया शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। वेदांत में माया का अर्थ होता है कि यह जगत 'अवास्तविक,मिथ्या,आभासी' है,जब की सांख्य में प्रकृति तत्व को माया कहा गया है। गीता ने वेदांत और सांख्य दोनों के भावों का समन्वय करते हुए तत्वार्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है। वेदांत में जो यह कहा गया है कि

जगत एक भ्रान्ति है, माया है, उसका यह भाव लेकर कि जगत के बारे में सामान्य मनुष्य जो मानसिक समझ ग्रहण करता है वह बहुधा वास्तविकता से परे होती है क्योंकि उसके मन-बुद्धि-अहंकार ज्ञान से कम, प्रकृति से अधिक संचालित होते हैं, दूसरी ओर सांख्य ने माया को जो प्रकृति कहा है उसका भावार्थ गीता ने मन-बुद्धि-अहंकार में स्थित प्रकृति अंश के रूप में किया है (श्लोक- ७.१२ से १४) तथा इन दोनों का समन्वय इस रुप में किया है कि इस प्रकृति अंश को क्योंकि भगवान पूर्णतः नियंत्रित कर लेते हैं अतः ये नियंत्रित मन-बुद्धि-अहंकार उनके (भगवान के) ज्ञान स्वरूप को ही व्यक्त करते हैं।

सारांश यह कि भगवान के वचनों में जिस प्रकृति को नियंत्रित कर लेने की बात कही गई है वह मन-बुद्धि-अहंकार रूप सूक्ष्म शरीर में क्रियाशील प्रकृति है, वही माया है जो उनके वश में होकर उनके ज्ञान स्वरूप को प्रकट करती है किंतु वही प्रकृति रूप माया हमें वास्तविक सत्य से दूर किए हुए हैं क्योंकि हमारे मन-बुद्धि-अहंकार अज्ञान रूपा प्रकृति के वश में है, उससे संचालित हैं।

भगवान के वचनों में 'सम्भवामि' शब्द का प्रयोग हुआ है। साधारण अर्थ है- 'प्रकट होता हूँ' अथवा 'जन्म लेता हूँ'। किंतु यहाँ एक विशिष्ट अर्थ भी अंतर्निहित है। संभव = सम् + भव = पूर्णता स्थित होना। अतः भगवान के शब्दों में यह भाव सन्निहित है कि वे अपनी प्रकृति को अधीन करके और पूर्णता प्राप्त करके जन्म लेते हैं। अधिकांश मनुष्य या तो अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक जागृति के लिए जन्म लेते हैं, किंतु अवतारी महापुरुष इस प्रकार के किसी भी अपने व्यक्तिगत उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लेते क्योंकि ये उद्देश्य तो वे कभी पहले ही पूर्ण कर चुके होते हैं, फिर वे क्यों और कब जन्म लेते हैं, इसे अगले दो प्रसिद्ध श्लोकों में प्रकट कर रहे हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य , ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य , तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

यदा यदा हि धर्मस्य , ग्लानिः भवति भारत । अभ्युत्थानम् अधर्मस्य , तदा आत्मानम् सृजामि अहम् ॥

भारत- हे भारत ! **यदा यदा धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य अभ्युत्थानम् भवति-**जब जब भी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है **, तदा हि अहम् आत्मानम् सृजामि-**तब तब ही मैं अपने आप को प्रकट करता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां , विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय , सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय साधूनाम् , विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्म-संस्थापन-अर्थाय , सम्भवामि युगे युगे ॥

साधूनाम् परित्राणाय- सज्जनों की (उन पर होने वाले अत्याचारों से) रक्षा करने के लिए, **दुष्कृताम् विनाशाय-** दुष्टों व पापियों के विनाश के लिए, **च धर्म-संस्थापन-अर्थाय-** और धर्म की अच्छी प्रकार से पुनर्स्थापना के लिए **युगे युगे सम्भवामि-** समय समय पर मैं प्रकट होता हूँ ।

धर्म की पुनर्स्थापना के कार्य का नेतृत्व करते हुए वे अन्य लोगों को भी अधर्म के विरुद्ध चैतन्य और प्रवृत्त करने हेतु अगले श्लोक में बता रहे हैं कि वे स्वयं उस स्थिति तक किस प्रकार पहुँचे थे और इस बात को भली प्रकार समझकर उस मार्ग का अनुसरण करते हुए कोई भी उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

**जन्म कर्म च मे दिव्यम् , एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म , नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥**

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवम् यः वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहम् पुनः जन्म न एति माम् एति सः अर्जुन ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **मे जन्म च कर्म दिव्यम्-** मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, **एवम् तत्त्वतः वेत्ति सः देहम् त्यक्त्वा-** इस प्रकार जो (मनुष्य) तत्व से जान लेता है, वह देह त्याग कर, **पुनः जन्म न एति, माम् एति-** फिर (साधारण) जन्म को प्राप्त नहीं होता, मुझे ही प्राप्त होता है ।

श्लोक के ममार्थ को ग्रहण करने के लिए हमें यहाँ प्रयुक्त कुछ शब्दों के विशिष्ट अर्थों पर ध्यान देना होगा-

दिव्य : यह शब्द 'दिव्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'देना' है। ('दीप' या 'दिया' भी प्रकाश देने वाला होने से यह नाम 'दिव्' धातु से ही बने हैं। भगवान का मनुष्य देह में अवतरण संसार को, मनुष्य समाज को, कुछ ऐसा देने के लिए होता है जो उसे ऊँचा उठाने में, विकास करने में सहायक हो, जैसा कि पिछले श्लोकों (क्रमांक ७ और ८) में कहा जा चुका है। वे लोगों को सुख देते हैं, ज्ञान देते हैं, धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना फले-फूले ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। इसी सत्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने अपने जन्म और कर्म को दिव्य कहकर इंगित किया है कि हम सभ भी अपने जीवन को दिव्य बनाने का लक्ष्य निर्धारित करें। ये बात श्लोक के शेष कथन से और अगले श्लोक-१० से प्रकट हो रही हैं।

तत्वतः जानने का फलः इस श्लोक के शेष कथन में दिव्यत्व के तथ्य को 'तत्वतः जान लेने' पर पुनर्जन्म से छुटकारा पाकर 'मुझे' अर्थात् भगवत् सत्ता को प्राप्त होने

की बात कही गई है। तत्वतः जान लेने का अर्थ एक वस्तु को अन्य से विभेद करके समग्र रूप में जान लेना है। यहाँ सामान्य मनुष्य के पुनर्जन्म लेने में और अवतारी महापुरुष के जन्म लेने में जो भेद है उसकी ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। इससे पूर्व श्लोक-४.७ में भी भगवान ने अपने जन्म के संबंध में 'सृजामि अहम्- स्वयं अपना सृजन करने' की बात कहकर इस भेद को प्रकाशित किया था। साधारण मनुष्य तो बहुधा प्रकृति प्रेरित सांसारिक कामनाओं के परवश हुआ जन्म लेता हैं, और जब उसमें ज्ञान रूप पुरुष तत्व कुछ अधिक प्रबल हो जाता हैं तो वह उस तत्व से प्रेरित हुआ आध्यात्मिक विकास के हेतु से जन्म ग्रहण करता है, किन्तु अवतारी महापुरुष प्रकृति पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर चुके होते हैं (अर्थात् उनका अंत:करण- मन, बुद्धि, अहंकार- पूर्णत: ज्ञान से संचालित हो चुका होता है) और इस कारण उनके जन्म लेने का स्वयं के लिए कुछ भी प्रायोजन नहीं होता, वे तो सत पुरुषों की विकास यात्रा में उनको सहायता देने हेतु ही जन्म लेते हैं जिसे अवतरित होना कहा जाता है। इस भेद को इंगित करते हुए श्लोक की दूसरी पंक्ति- त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म न एति, माम् एति, सः अर्जुन- में कहा गया है की भगवन के पद चिन्हों पर चलकर कोई भी सामान्य मनुष्य परवश-पुनर्जन्म वाली प्रक्रिया से मुक्त होकर भगवत् स्थिति, भगवान जैसी स्थिति को, प्राप्त हो सकता है अर्थात् वह परमात्मा से प्रेरित होकर जब और जिस देश में आवश्यकता होती है तब वहाँ जन्म ग्रहण करता है। ऐसे शुद्ध-बुद्ध जीवात्मा के जन्म लेने को अंशावतार का अवतरित होना कहा गया है।

इस प्रकार, व्यक्ति चेतना से समष्टि चेतना तक कि विकास प्रक्रिया को समझ लेने पर, तत्व से जान लेने पर, यदि व्यक्ति में इस ओर आगे बढ़ने की इच्छा जाग्रत होती है तो प्रथम कदम है अपने कर्मों को दिव्य बनाने का प्रयास करना अर्थात् कर्मों को स्वार्थ भाव त्यागकर दूसरों के हित के लिए करना। व्यक्ति यथाशक्ति अपने स्वार्थ प्रेरित कर्मों को त्याग कर परार्थ कर्मों को करता हुआ, साथ ही सर्वव्यापी परमात्मा का अनुसमरण करता हुआ (श्लोक-८.७) आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ता जाएगा तो एक दिन भगवान के समान स्थिति को भी प्राप्त कर सकेगा। यही आश्वासन भगवान के अपना उदाहरण देते हुए हमें दिया है। श्लोक-४.५ में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरे (भगवान के) और तेरे (अर्जुन सहित हम सब के) बहुत से जन्म हो चुके हैं, उनको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता, अर्थात् मैंने उन जन्मों को दिव्य कर्मों के साथ जीया है तब पूर्ण चेतनता प्राप्त कर अवतार रूप जन्म ग्रहण किया है और तुझे वही मार्ग बता रहा हूँ।

निष्काम-कर्म रूप कर्मयोग की साधना वस्तुतः प्राथमिक साधना है जो हमारे अंदर गहरे जमें स्वार्थ भाव को क्षीण करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। कर्मयोग की उक्त साधना के साथ-साथ साधक को जो अतिरिक्त साधना करना है उसका निर्देश भगवान ने अगले श्लोक-१० मैं बहुत संक्षेप में इस प्रकार किया है-

वीतरागभयक्रोधा , मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा , पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वीत-राग-भय-क्रोधाः , मन्मयाः माम् उपाश्रिताः । बहवः ज्ञान-तपसा , पूताः मद्भावम् आगताः ॥

वीत राग भय क्रोधाः- राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर **मन्मयाः-** मेरे भाव में मस्त हुए, **माम् उपाश्रिताः-** मेरे शरण हुए, **ज्ञानतपसा पूताः-** ज्ञान की तपस्या द्वारा पवित्र हुए **बहवः मद्भावम् आगताः-** बहुत से लोगों ने मेरी ही स्थिति को प्राप्त किया है, अर्थात् जो कुछ मैं हूँ, वही वे भी बन चुके हैं ।

मनुष्य में चेतना के पांच स्तर पंचकोशों के रूप में कहे गए हैं- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय। इनमें से अन्नमय कोष में अर्थात् शारीरिक स्तर पर इतनी व्यवस्था स्थापित हो चुकी है कि सामान्यत: वह स्व संचालित रहता है और हम में से अधिकांश में अंतिम कोष (आनंदमय कोश) अर्थात् प्रकृति मुक्त आत्म स्तर अभी जाग्रत नहीं है जिसे जागृत करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। अतःशेष तीनों कोशों को ही प्रकृति की अव्यवस्थाओं से मुक्त करने की ओर हमें ध्यान देना है-

अभी इन तीन कोशों में प्रकृति का वर्चस्व होने से प्राणमय कोष में भय (मृत्यु भय), मनोमय में राग (वस्तु विशेष एवं व्यक्ति विशेष के प्रति लगाव और अन्य से द्वेष, घृणा आदि), और विज्ञानमय कोष (बुद्धि-अहंकार) में क्रोध उदित होता है। ये विकार पृथकत्व भाव के कारण होते हैं जो कि प्रकृति का मूल स्वभाव है। जब हम अपने को दूसरों से भिन्न अथवा श्रेष्ठ समझते हैं तभी भय,राग तथा क्रोध उत्पन्न होते हैं। किंतु यदि हम उस एक सर्वव्यापी परमात्म सत्ता को अपने प्राण, मन और बुद्धि में धारण करेंगे तो प्राण में भय के स्थान पर उस सत्ता का आश्रय (मामुपाश्रिता),मन में राग के स्थान पर सबके प्रति प्रेम (मनमय) तथा बुद्धि में अलगाव के कारण उपजने वाले क्रोध के स्थान पर अपनत्व रूप पवित्रता (ज्ञानतपसा पूता मद्भावम) प्रकट होगी। लेकिन यह पवित्रता और ईश्वर भाव कोरे बौद्धिक ज्ञान से प्राप्त नहीं होगा। परमेश्वर की सर्वव्यापकता वाले ज्ञान को व्यवहार में उतारना होगा। उस ज्ञान को कर्म में उतारना तप है जिससे वह पवित्र भाव स्थाई होगा। गीता ने आगे (श्लोक- १७.१४ से १६ में) शरीर, वाणी और मन के स्तर पर व्यवहार को तप कहा है और सब प्राणियों में किसी न किसी रूप में परमेश्वर की उपस्थिति का भाव रखते हुए शरीर, वाणी और

मन इन तीनों स्तरों पर व्यवहार (कर्म) करते रहने पर अंततः साधकों को परमेश्वर की अनुभूति प्राप्त करने में सफलता अवश्य मिलती है (मद्भावं आगतः), यह बात यहाँ कही गई है।

अब अगले श्लोक में भगवान बता रहे हैं कि उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) जो स्थिति प्राप्त की थी उसे प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग हैं और व्यक्ति यदि अपनी आंतरिक स्थिति के अनुरूप मार्ग का अवलंबन करता है तो वह लक्ष्य सिद्धि अवश्य प्राप्त कर लेगा क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में परमात्म सत्ता का एक अंश उपस्थित है वह उसको लक्ष्य सिद्ध करने में सहायता प्रदान करता हैं ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते , तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते , मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ये यथा माम् प्रपद्यन्ते , तान् तथा एव भजामि अहम् । मम वर्त्म अनुवर्तन्ते , मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

ये यथा माम् प्रपद्यन्ते- जो लोग जिस प्रकार मेरी (मुझ परमात्मा की) उपासना करते हैं **तान् तथा एव अहम् भजामि-** उनको उसी प्रकार मैं अपनाता हूँ । **पार्थ-** हे अर्जुन ! **मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते-** (वे) मनुष्य सभी प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

श्लोक के मामार्थ को समझने के लिए हमें कुछ शब्दों पर गहराई से विचार करना होगा। हम यहाँ दो बिंदुओं पर चर्चा करेंगे-

1. 'मेरी शरण ग्रहण करने' और 'मेरे मार्ग' (मम् वर्त्म) का अनुसरण करने, इन दो शब्द समूहों में भगवान के दो स्वरूपों की झलक स्पष्ट है। जब वे 'मेरी शरण' की बात कह रहे हैं तो यहाँ 'मेरी' से तात्पर्य स्पष्ट है कि वे सर्वव्यापी परमात्म सत्ता से एकाकार हो बोल रहे है, किंतु जब वे मेरे मार्ग की बात कर रहे है तो उनका 'मम्' संबोधन व्यक्ति रूप श्रीकृष्ण से है। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि उन्होंने पूर्ण ज्ञान की जो स्थिति प्राप्त की है वह भले ही एक विशेष साधना पथ (कर्मयोग मार्ग) की उपलब्धि का परिणाम है किंतु उस सार्वभौम ज्ञान के प्रकाश में वे जानते हैं कि कुछ लोग अन्य साधन पथों से भी उसी मुकाम / ज्ञानावस्थिति पर पहुँचे हैं। अतः वे विश्वास दिलाते हैं कि कोई भी किसी भी उपयुक्त साधन पद्धति अपनाकर उस परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है जो उन्होंने प्राप्त की थी 'मम् वर्त्म अनुवर्तन्ते मनुष्या: सर्वश:' का यही अर्थ है।

2. 'तान् तथा एव भजामि अहम्' भगवान के इन शब्दों के भावार्थ को ग्रहण करने के लिए हमें 'भजन करने' के प्रचलित अर्थ से परे जाना होगा। 'भज' धातु के विभिन्न अर्थों में से 'सेवा में प्रस्तुत रहने' वाला अर्थ ही यहाँ प्रयुक्त बैठता है। इस भाव में भगवान के वचन का अर्थ होगा कि व्यक्ति जिस प्रकार भी परम सत्ता की उपासना करता है, वे तदनुरूप साधक को उसकी उपासना की सिद्धि प्रदान करते हैं। डॉ राधाकृष्णन तथा स्वामी रंगनाथन की विवेचनाओं का सार हमारे अनुसार यह है कि वेदांती जिसे ब्रह्म मानते हैं शैव जिसे शिव कहते हैं, शाक्त जिसे शक्ति के रूप में उपासते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध, जैन अर्हत, ईसाई ईशा और मुसलमान जिसे अल्लाह कहते हैं वह सत्ता एक ही है जो सभी को अपने अपने उपास्य के अनुचिंतित रूप, गुण, शक्ति के अनुरूप अनुभूति कराकर उनके आध्यात्मिक उन्नति में सहायता करती है। किंतु इसके विपरीत ऐसे भी लोग हैं जो अपने प्रबल अहंकार में डूबे होने के कारण परमात्मा के उक्त सर्वहितकारी स्वरूप को व्यक्त करने वाले उनके वचनों की भी अवहेलना करते हुए केवल अपनी मान्यता को सत्य और अन्यों की धारणाओं और यहाँ तक कि उनकी अनुभूतियों को भी असत्य मानकर उनका तिरस्कार ही नहीं करते बल्कि उन्हें शत्रु भी मान बैठते हैं।

इस प्रकार श्लोक-११ में भगवान ने उन सभी भक्तों की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होने का आश्वासन दिया है जो किसी भी रूप में उनकी उपासना करते हैं।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-१२) में भगवान बता रहे हैं कि वे उन राजसिक वृत्ति वाले लोगों की भी सहायता करते हैं जो अभी सांसारिक कामनाओं से मुक्त नहीं हो पाये है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं , यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके , सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

काङ्क्षन्तः कर्मणाम् सिद्धिम् , यजन्ते इह देवताः । क्षिप्रम् हि मानुषे लोके , सिद्धिः भवति कर्मजा ॥

इह कर्मणाम् सिद्धिम् काङ्क्षन्तः देवताः यजन्ते- इस लोक में कर्मों की सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक (लोग) देवताओं को पूजते हैं, **हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रम् भवति-** क्योंकि मनुष्य लोक में (इन काम्य) कर्मों का फल शीघ्र मिल जाता है ।

पूर्व श्लोकों में आध्यात्मिक पथ पर चलने वालों की बात कही गई थी, इस श्लोक में उन अधिकांश व्यक्तियों का वर्णन किया जा रहा है जो अभी भौतिक सुखों की कामनाओं से ऊपर नहीं उठे हैं। ये लोग किसी न किसी देवता का अनुष्ठान करके अपनी कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करते हैं। भगवान ने इस विषय की आगे (श्लोक-७.२१,२२ में) अधिक व्याख्या करते हुए कहा है कि इन अनुष्ठानों का जो फल प्राप्त होता है वह मेरे (अर्थात् परमात्मा) द्वारा ही निर्धारित नियमों के अंतर्गत प्राप्त होता है। वह फल यद्यपि शीघ्र प्राप्त होता है किंतु नाशवान होता है अतः देर-सबेर वे लोग भी अंततः अव्यय सुख की चाह में मेरे शरण होकर सबके आत्म रूप मेरी प्राप्ति हेतु ही प्रयत्नशील होते हैं(श्लोक-७.२९)।

देवता संबंधी उपरोक्त कथन को हम आज जीव विज्ञान की भाषा में इस प्रकार समझ सकते हैं। डार्विन और लेमार्क के विकासवाद वाले सिद्धांत में कहा गया है कि प्राणियों के क्रम विकास में उनकी इच्छा शक्ति की भूमिका मुख्य रही है। ये दोनों कथन वस्तुतः प्रेक्षित तथ्यों पर आधारित हैं अतः दोनों में (देवता वाले कथन और प्राणी विकास वाले कथन में) क्रियाशील मूल तत्व एक ही होना चाहिए। स्पष्ट ही वह तत्व 'इच्छा शक्ति' ही है जिसे डार्विन की खोज में प्रजाति की इच्छा शक्ति कहा भी गया है। अतः देवता की उपासना में भी क्रियाशील तत्व व्यक्ति की इच्छा शक्ति को ही मानना तर्कसंगत होगा। इस व्याख्या में हम इतना और जोड़ सकते हैं कि क्योंकि कम विकसित प्राणियों में 'मन' रूपी यंत्र का विकास भी अल्प रूप में हुआ है अतः उसमें इच्छा शक्ति की मात्रा अल्प ही होगी, और इस कारण अनेक पीढ़ियों तक सामूहिक रूप में क्रियाशील रखने पर उस इच्छाशक्ति का वांछित परिणाम (शारीरिक बदलाव) घटित होता है। यह इच्छा शक्ति वस्तुतः परमात्मा रूप चेतना का ही एक रूप है जो मनुष्य को पर्याप्त प्रबल रूप में प्राप्त है। अतः इस मानसिक शक्ति को केंद्रित करके कोई भी व्यक्ति वांछित फल प्राप्त कर सकता है। देवता का पूजन वस्तुत व्यक्ति की इच्छा शक्ति को केंद्रित करने की एक ऐसी विधा है जिसमें व्यक्ति का अहंकार भी जाग्रत नहीं हो पाता और कामना सिद्धि के संयोग प्रबल बन जाते हैं। इस विधा के सामूहिक प्रयोग का उदाहरण, प्रतीत होता है कि, उस काल में वे कर्मकाण्डीय यज्ञ थे जिनसे वर्षा भी करा ली जाती थी। आज क्योंकि यज्ञों में जनसाधारण का विश्वास नहीं रहा अतः ऐसे प्रयोग बहुधा असफल हो जाते हैं। किंतु सिद्धांतों को समझकर फल प्राप्त करने की शक्ति, जिसे हम विज्ञान कहते हैं, भी उसी चेतन शक्ति का परिमार्जित रूप है और इसका प्रयोग अब मनुष्य भौतिक सुख साधनो के अधिकाधिक अर्जन में और एक देश, समाज अथवा व्यक्ति द्वारा दूसरे पर

वर्चस्व स्थापित करने में कर रहा है। इस विकृति का कारण भी यह है जैसा कि स्वामी विवेकानंद ने कहा था, कि हम अध्यात्म से दूर होते जा रहे हैं, भौतिक विज्ञान की आधुनिक विधा में मन-बुद्धि को शुद्ध करना, उन्हें समष्टि निष्ठ बनाना, प्राथमिक शर्त नहीं रह गई है, अतः उपलब्धियों के दुरुपयोग की संभावना भी भयावह होती जा रही है। उक्त श्लोकों के माध्यम से भी हमारे ध्यान में यह बात लाई गई है कि यह हमारे विवेक पर निर्भर है कि हम नाशवान भौतिक सुखों (और उनके साथ अपरिहार्य रूप से जुड़े दुखों) की इच्छा करते रहें अथवा सर्वव्यापी परमात्म सत्ता के व्यक्त रूप मनुष्यों, प्राणियों से एकत्व और प्रेम स्थापित करके उससे होने वाले अखंड आनंद की प्राप्ति हेतु प्रयास करें।

श्लोक-११ और १२ में मनुष्य की मानसिक चेतना के दो स्तरों -सात्विक और राजसिक- को इंगित करने के बाद अब श्लोक १३ में व्यक्ति के मानसिक विकास के उस संपूर्ण पथ का दिग्दर्शन करा रहे हैं जिस पर चलाकर वे हम सभी को अपने समान पूर्ण बनाना चाहते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं , गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां , विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम् , गुण-कर्म-विभागशः । तस्य कर्तारम् अपि माम् , विद्धि अकर्तारम् अव्ययम् ॥

गुणकर्म विभागशः मया चातुर्वर्ण्यम् सृष्टम्- (प्रकृति) के गुण व कर्मों के आधार पर मेरे द्वारा चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की रचना की गई है। **तस्य कर्तारम् माम् अव्ययम् अकर्तारम् अपि विद्धि-** उस (व्यवस्था) के कर्ता मुझ अविनाशी को अकर्ता ही जान ।

श्लोक की प्रथम पंक्ति में मनुष्य की मानसिक चेतना के क्रम-विकास के उन चार चरणों को रेखांकित किया गया है जिसके विकृत स्वरूप को हम आज अज्ञानवश जन्मजात वर्ण या जाति के रूप में जानते हैं। प्राणियों में जैसे इंद्रियों का विकास क्रमगत रूप में हुआ है, उसी प्रकार का क्रम-विकास मनुष्य में मानसिक स्तर पर होता है जो व्यक्ति में गुण और कर्म के रूप में परिलक्षित होता है। जैविक विकास की भांति इस मानसिक विकास पथ का निर्माण भी भगवत् सत्ता ने प्रकृति में गुण पैदा करके (श्लोक-७.१२) और तदनुरूप कर्मों का विधान करके (श्लोक-१८.४१) किया है। यहाँ प्रकृति से आशय व्यक्ति में मन और बुद्धि रूपी उपकरणों की रचना करने वाली अपरा प्रकृति के तत्वों से है जिनमें परमात्म शक्ति से (सत्, रज आदि) गुणों के रूप में चेतनता उत्पन्न होती है और व्यक्ति तदनुरूप कर्मों को करता है। परमात्म शक्ति की बढ़ती प्रबलता से उक्त मनो-बौद्धिक विकास का निर्धारण होता

है जिसके क्रमगत चार चरणों को शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण कहा गया है। मनुष्य शरीर में परमात्म अंश जब प्रथम बार जीवात्मा (जिसे गीता में देहिन्-२.१३, देही-२.३०, सनातन जीव-१५.७, कूटस्थ अक्षर- १५.१६ आदि नामों से इंगित किया गया है) का रूप ग्रहण करता हैं तो उसके मन-बुद्धि में प्रकृति तत्व की प्रधानता और परमात्मा तत्व की मात्र न्यून होती है, व्यक्ति की स्थिति को शूद्र कहा गया है। इसे तमस भी कहा जा सकता है क्योंकि इस दशा में व्यक्ति में मानसिक चेतना इतनी देह केंद्रित रहती है कि वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही श्रम सेवा करता है, अन्यथा आलस्य, प्रमाद, निद्रा और मोह में पड़ा रहता है (श्लोक-१४.८)। मानसिक चेतना विकास की इस प्रारंभिक निम्न स्थिति में जीवन बिताने वाले को ही शूद्र कहा गया था। इससे अधिक चेतना वाली स्थिति वाले मनुष्यों को वैश्य कहा गया ('विश्' धातु का अर्थ प्रविष्ट होना है, क्रिया क्षेत्र में प्रवेश के कारण वैश्य) इस वर्ग में कुछ लोग तो केवल धनार्जन के क्रियाकलापों में ही जीवन बिता देते हैं। इस वर्ग का ही वर्णन श्लोक-१२ में अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु देवताओं का पूजन करने वालों के रूप में किया गया था। इन्हें रजस गुणी कहा जा सकता है। तीसरी उच्च श्रेणी क्षत्रियों की है जिनमें दूसरों की रक्षा करने की बुद्धि और उस हेतु युद्ध में कितनी भी शारीरिक पीड़ा झेलना पड़े उसे सहज रूप में सहन करने की दृढ़ता होती है। इन्हें गुण के मान से सात्विक कहना होगा। मानसिक चेतना की सर्वोच्च स्थिति परब्रह्म के उपासक ब्राह्मणों की है। इनकी उपासना का वर्णन श्लोक-१० में समाहित था, कर्मों का वर्णन आगे (श्लोक-१८.४२ में) हुआ है तथा गुण की दृष्टि से इनका वर्ग गुणातीत अवस्था (श्लोक-१४.२२ से २५) के साधक / सिद्ध के रूप में चिन्हित किया जा सकता है।

व्यक्ति के मानसिक विकास का यहाँ संकेतात्मक परिचय देने के साथ ही भगवान हमें अपनी कर्म शैली का भी परिचय देते हुए ये मार्गदर्शन दे रहे हैं कि हम उक्त विकास यात्रा के किसी भी चरण पर हों, यदि हम उनके बताए मार्ग- अकर्ता रहकर अर्थात् अफलाकांशी होकर परहितार्थ कर्म करते रहेंगे तो उन्होंने जो परम स्थिति प्राप्त की थी हम भी उस तक पहुँच सकते हैं।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में भगवान ने अपनी उपरोक्त कर्म शैली का उदाहरण देकर आगे श्लोक-१४,१५ में उसकी विवेचना प्रस्तुत की है और हमें भी उसी कर्म-मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति , न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति , कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

न माम् कर्माणि लिम्पन्ति , न मे कर्म-फले स्पृहा । इति माम् यः अभिजानाति , कर्मभिः न स बध्यते ॥

न माम् कर्माणि लिम्पन्ति- न तो मुझे कर्म लिप्त करते हैं **न मे कर्मफले स्पृहा-**न ही मुझे कर्मों के फल प्राप्ति की चाह है **इति यः माम् अभिजानाति-**इस प्रकार जो मुझे ठीक-ठीक जान लेता है **सः कर्मभिः न बध्यते-** वह भी कर्मों से नहीं बंधता ।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म , पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं , पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

एवम् ज्ञात्वा कृतम् कर्म , पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः । कुरु कर्म एव तस्मात् त्वम् , पूर्वैः पूर्वतरम् कृतम् ॥

एवम् ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतम्- ऐसा जानकर पहले के मुमुक्षु (कर्मफल से मुक्त होने के या मुक्ति के इच्छुक) पुरुषों द्वारा भी (इसी प्रकार) कर्म किए गए हैं, **तस्मात् त्वम् पूर्वैः पूर्वतरम् कृतम् एव कर्म कुरु-** इसलिए तू (भी) उन पुरुषों द्वारा पूर्व में किए गए (निष्काम सर्वहितकारी) कर्म कर ।

निष्काम कर्म से परम लक्ष्य प्राप्त करने के अपने उदाहरण से उक्त मार्ग की सामर्थ्य के बारे में तो संभावित शंकाओं का निराकरण किया गया, किंतु अर्जुन के उस मूल प्रश्न का समाधान अभी शेष है कि वह दूसरा मार्ग कर्म-सन्यास का (अकर्म वाला) मार्ग क्यों न अपना ले जिससे आत्मकल्याण भी सधेगा और पूज्यजनों को मारने जैसा भयंकर कर्म भी न करना पड़ेगा। अब इस प्रश्न के समाधान हेतु भगवान कर्म-अकर्म की एक गूढ़ विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं। भगवान ने भी इस विषय को 'गहन' कहा है अतः हमें बहुत सावधानीपूर्वक, संदर्भ का पूरा ध्यान रखते हुए, भगवान के कथन को समझने का प्रयास करना होगा।

किं कर्म किमकर्मेति , कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि , यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

किम् कर्म किम् अकर्म इति , कवयः अपि अत्र मोहिताः । तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि , यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभात् ॥

किम् कर्म किम् अकर्म इति-क्या कर्म है, क्या अकर्म है **अत्र कवयः अपि मोहिताः-**इस विषय में बड़े विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं, **तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि-** वह कर्म तत्व (मैं) तुझे बताऊंगा**, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे-** जिसे जानकर अशुभ से अर्थात् कर्म बंधन से मुक्त हो जाएगा ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं , बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं , गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मणः हि अपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मणः । अकर्मणः च बोद्धव्यम् गहना कर्मणः गतिः ॥

बोद्धव्यम् कर्मणः- यह जानना चाहिए कि कर्म क्या है, **बोद्धव्यम् विकर्मणः-** विकर्म (विपरीत कर्म भी) समझ लेना चाहिए **च अपि बोद्धव्यम् अकर्मणः-** और यह भी जान लेना चाहिए कि अकर्म क्या है, **हि कर्मणः गतिः गहना-** निश्चय ही कर्म की गति गहन है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् , अकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु , स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्मणि अकर्म यः पश्येत् , अकर्मणि च कर्म यः । सः बुद्धिमान् मनुष्येषु , सः युक्तः कृत्स्न-कर्म-कृत् ॥

यः कर्मणि अकर्म पश्येत्-जो कर्म में अकर्म देखता है, **च यः अकर्मणि कर्म (पश्येत्)-**और जो अकरम में कर्म (देखता है), **सः मनुष्येषु बुद्धिमान्-**वह मनुष्यों में बुद्धिमान है , **सः युक्तःकृत्स्न कर्मकृत्-**वही योगी है एवं समस्त कर्म करने वाला है ।

ऊपर श्लोक-१६,१७ में कर्म, अकर्म और विकर्म (विपरीत कर्म) के तत्व (मूल स्वरूप) को जानने की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है कि इनकी गति गहन है अर्थात् इनकी वास्तविक पहचान बहुत गहराई से विचार करने पर प्रकट होती है। इस गहन चिंतन की आवश्यकता को ही प्रमुखता से प्रकट करने हेतु ही मानो उन्होंने श्लोक-१८ की भाषा इतनी गूढ़ कर दी है कि वह पहेलीनुमा बन गई है। परिणामतः विभिन्न टीकाओं में से कोई भी इस पहेलीनुमा श्लोक की सीधी सरल व्याख्या प्रस्तुत करती नहीं दिखती। किंतु ये व्याख्यायें हमारे चिंतन को आधार अवश्य प्रदान करती हैं। उस आधार पर हमें जो समझ में आया उसे हम यहाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्म का सामान्य अर्थ- कायिक / वाचिक / मानसिक क्रियाओं का संपादन और अकर्म का अर्थ है कर्मशून्यता । सन्यास मार्गी अकर्म के इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। किंतु गीता की दृष्टि भिन्न है। क्योंकि कोई भी मनुष्य कभी भी कर्मशून्य तो रह ही नहीं सकता, अतः सन्यास-मार्गीयों का अकर्म का अर्थ गीता स्वीकार नहीं करती। गीता कर्म-अकर्म की परिभाषा कर्मफल को दृष्टिगत रखकर करती है। फलाशा त्यागकर, निष्काम बुद्धि से जब कर्म किया जाए तो वह सच्चा अकर्म है जिसे आगे श्लोक-२० में स्पष्ट कर दिया गया है। इस वास्तविक अकर्म को गुणों की दृष्टि से गीता ने सात्विक कर्म (श्लोक-१८.९) और भक्त की दृष्टि से 'तदर्थ कर्म' और 'मदर्थ कर्म' कर्म कहा है। इस प्रकार कर्म ही अकर्म बन जाते हैं। मोह और अज्ञान से किए गए कर्म तामस कहे गए हैं (श्लोक-१८.२५), उन्हें ही यहाँ विकर्म कहा गया है। सारांश यह कि सत,रज और तम रूप गुणों में स्थित पुरुष द्वारा किए जाने वाले कार्यों को

यहाँ फल की दृष्टि से क्रमशः अकर्म, कर्म, विकर्म कहा गया है, तिलक महोदय की इस विवेचना को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है।

अब हम श्लोक-१८ के इस कथन को समझने का प्रयास करें कि 'जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देख सकता है वह ज्ञानी है, योग युक्त है, और समस्त कर्म करने वाला है'। इस श्लोक की पुष्टि में तिलक ने, डॉक्टर राधाकृष्णन ने और स्वामी रंगनाथनन्द ने अपनी अपनी टीकाओं में (सन्यास मार्गी) अष्टावक्र गीता का एक श्लोक (१८.६१) उद्धृत किया है। श्लोक हैं- 'निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरूप जायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्ति फलभागिनी।।' अर्थात् मूढ़ की निवृत्ति भी प्रवृत्तिरूप कर्म है, और बुद्धिमान की प्रवृत्ति (निष्काम कर्म) से निवृत्ति (कर्म त्याग) का फल मिलता है। किंतु यहाँ भी गीता के उपरोक्त श्लोक (क्रमांक-१८) की तरह निष्कर्ष का स्पष्ट कथन तो है, व्याख्या नहीं है। एक नासमझ की कर्मशून्यता, कर्म (वस्तुतः विकर्म/ पाप कर्म) का फल कैसे दे सकता है इसका उदाहरण तिलक ने 'गीता रहस्य' में दिया है और हम यहाँ उसी प्रकार की किंतु आजकल के हमारे जीवन में जो सामान्य है ऐसी घटना के संदर्भ से इसे समझने का प्रयास करें। किसी दुर्घटना में घायल व्यक्ति के प्रति यदि हम उदासींन रह जाते हैं तो वह कर्मशून्यता वस्तुतः हमारा विकर्म ही होगा। इसी प्रकार किसी व्यक्तिपरक या सामाजिक अन्याय के प्रति मूक दर्शक बने रहने का अकर्म भी फल की दृष्टि से विकर्म ही कहा जाएगा।

एक और दृष्टि से भी हम कर्म-अकर्म के संबंध में उपरोक्त वचन (श्लोक-१८) को समझ सकते हैं। कर्म यदि निष्काम भाव से (नि:स्वार्थता से) किया जाए तो कर्म बंधन नहीं होगा और इस प्रकार सन्यासियों का कर्म त्यागने का जो उद्देश्य होता है वह कर्म करते हुए भी सिद्ध हो जाएगा, यही कर्म में अकर्म देखना है। अब अकर्म में कर्म देखने को इस प्रकार समझा जा सकता है कि जो लोग कर्म त्याग इस डर से करते हैं कि कर्म करने से 'मुझे' कर्म बंधन होगा, जैसा कि अर्जुन ने व्यक्त किया था, ऐसा भाव वस्तुतः कर्म छोड़ने वाले के 'मैं' भाव को, स्वार्थ भाव को, बढ़ाने वाला होने से सकाम कर्म के प्रभाव वाला होगा। अतः जो इस सत्य को देख सकेगा वह अकर्म में कर्म देखने वाला होगा और वह कर्म-अकर्म के वास्तविक भाव को समझकर कर्म छोड़ेगा नहीं बल्कि निष्काम भाव से कर्म करेगा।

अब अगले पांच श्लोकों (क्रमांक-1९ से २३) में भगवान बता रहे हैं कि क्योंकि मनुष्य को कुछ कर्म तो करना ही होते हैं अतः यदि वह किसी प्रकार की साधना

करके आध्यात्मिक पथ पर बढ़ना चाहता है तो उसे कर्म इस प्रकार से करना चाहिए कि वे कर्मफल उत्पन्न करके मार्ग के रोड़े न बनें। उसे निष्काम कर्म ही करना चाहिए क्योंकि ऐसे कर्म परिणाम में अकर्म जैसे होकर अध्यात्मिक साधना को पुष्टि प्रदान करेंगे। इन श्लोकों में कर्मयोग साधना (श्लोक-१९,२०) कर्म सन्यास साधना (श्लोक-२१,२२), और यज्ञ साधना (श्लोक - २३) करने वालों के अकर्म रूप कर्मों की विवेचना की गई है।

यस्य सर्वे समारम्भाः , कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं , तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

यस्य सर्वे समारम्भाः , काम-सङ्कल्प-वर्जिताः । ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम् , तम् आहुः पण्डितम् बुधाः ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः- जिसके सब कार्य **काम सङ्कल्प वर्जिताः-** कामना आधारित निश्चय से रहित हैं (अर्थात् इंद्रिय तृप्ति हेतु कर्म नहीं कर रहा है), **ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्-** परमात्मा ज्ञान रूपी अग्नि से जिनके कर्म फल जल गए हैं (नाश को प्राप्त हो गए हैं) **तम् बुधाः पण्डितम् आहुः-** उनको ज्ञानी लोग पंडित (अर्थात् कर्मों में दक्ष / कुशल) कहते हैं ।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं , नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि , नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

त्यक्त्वा कर्म-फल-आसङ्गम् , नित्य-तृप्तः निराश्रयः । कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि , न एव किञ्चित् करोति सः ॥

कर्म-फल-आसङ्गम् त्यक्त्वा-कर्म फलों की आसक्ति त्याग कर **नित्यतृप्तः निराश्रयः-** सदा तृप्त है और निराश्रय है(अब कोई भी सांसारिक कामना शेष नहीं है) **कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि-** कर्म में पूर्णतः संलग्न रहकर भी **न एव किञ्चित् करोति-** मानो कुछ भी नहीं करता ।

उपरोक्त दो श्लोकों में कर्मयोगी का वर्णन है। ऐसा साधक कर्मों को अपने किसी लाभ के लिए नहीं करता। वह तो दीन दुखीयों की सेवा रूप कर्मों को परमेश्वर की सेवा के भाव से करता हुआ इसे आध्यात्मिक साधना बना लेता है। उसके वे कर्म फलासक्ति से मुक्त होने के कारण अकर्म रूप ही होते हैं।

अगले दो श्लोकों में सन्यास मार्ग के साधक के अकर्म का वर्णन किया जा रहा है -

निराशीर्यतचित्तात्मा , त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म , कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निराशीः यत-चित्त-आत्मा , त्यक्त-सर्व-परिग्रहः । शारीरम् केवलम् कर्म , कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् ॥

निराशीः- जिसने समस्त आशाओं (इच्छाओं) का परित्याग कर दिया है, **यतचित्तात्मा**-जिसने अपने चित्त (अर्थात् मन-बुद्धि) को वश में कर लिया है, **त्यक्त सर्व परिग्रहः**-जिसने समस्त भोग सामग्री का परित्याग कर दिया है, **केवलम् शारीरम् कर्म कुर्वन्-** केवल शरीर निर्वाह के लिए कर्म करता हुआ (वह) **किल्बिषम् न आप्नोति-** पाप (अर्थात् कर्मफल रूपी दोष) को प्राप्त नहीं करता ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो , द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च , कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः , द्वन्द्व-अतीतः विमत्सरः । समः सिद्धौ असिद्धौ च , कृत्वा अपि न निबध्यते ॥

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः- संयोगवश प्राप्त वस्तु से ही जो संतुष्ट रहता है, **द्वन्द्व-अतीतः-** जो (सुख-दुख आदि) द्वंद्वो से परे है, **विमत्सरः**-जो इर्षा से मुक्त है, **सिद्धौ च असिद्धौ समः-** जो सफलता और विफलता में एक सा रहता है**, कृत्वा अपि न निबध्यते-** (वह) कर्म करता हुआ भी उसके बंधन में नहीं पड़ता ।

उपरोक्त दो श्लोकों में चित्त (अर्थात् मनबुद्धि, द्दष्टव्य श्लोक- १२.८ , ९) को नियंत्रित कर लेने वाले, समस्त भोग सामग्री का परित्याग कर देने वाले, केवल संयोगवश प्राप्त वस्तुओं से जीवन यापन कर के भी संतुष्ट रहने वाले, सुख-दुख आदि द्वंद्वों से परे रहने वाले, सफल अथवा विफल होने पर भी अप्रभावित रहने वाले का जो यह वर्णन है वह निश्चित ही सन्यास मार्ग के साधक का बोध कराता है।

सन्यास मार्ग का साधक वैसे तो कर्मों का त्याग करके ध्यान आदि साधन अपनाता है फिर भी उसे अपने शरीर को जीवित रखने के लिए कुछ न कुछ कर्म तो करना ही पड़ते हैं, किंतु क्योंकि इन कर्मों में उसकी किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होती अतः कर्मफल की दृष्टि से सन्यासी के इन कर्मों को अकर्म ही कहा जाएगा और ये कर्म उसके साधना पथ में बाधक भी नहीं बनते।

उपरोक्त साधनाओं में कर्म के अकर्म स्वरूप (अर्थात् उसकी फलासक्ति से मुक्ति वाले स्वरूप) का वर्णन करने के बाद भगवान अब यज्ञ-कर्म वाली साधना का वर्णन प्रारंभ करने जा रहे हैं। यज्ञ को भगवान विगत अध्याय में संपूर्ण जैविक सृष्टि में क्रम-विकास का मूल तत्व बता चुके हैं। श्लोक-२३ में यज्ञ साधना द्वारा कर्मों के बंधनकारी प्रभाव से संपूर्ण मुक्ति की प्राप्ति के साथ ही साधक को उन उपलब्धियों के प्राप्त हो जाने की जानकारी भी दी गई है जो कि अन्य साधनाओं से प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार यज्ञ साधना की सर्वोच्च उपलब्धियों का वर्णन करने के बाद आगे के श्लोकों (क्रमांक-२४ से ३०) में इस साधना के बारह चरणों का (उतरते क्रम में) वर्णन करके साधक को संपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान किया गया है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य , ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म , समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

गत-सङ्गस्य मुक्तस्य , ज्ञान-अवस्थित-चेतसः । यज्ञाय आचरतः कर्म , समग्रम् प्रविलीयते ॥

गतसङ्गस्य- जिसकी आसक्तियाँ समाप्त हो चुकी है, **मुक्तस्य-** जो मुक्त हो चुका है, **ज्ञान-अवस्थित-चेतसः-** जिसके मन-बुद्धि दृढ़ता पूर्वक ज्ञान में स्थित हो गए हैं, **यज्ञाय आचरतः-** जो (केवल) यज्ञ के लिए (समष्टि हितार्थ) कर्म करता है, **कर्म समग्रम् प्रविलीयते-** (उसका वह) कर्म पूर्णतः विलीन हो जाता है ।

इस श्लोक के भावार्थ को अच्छी तरह समझने के लिए हमें कुछ बिंदुओं पर विचार करना आवश्यक होगा। श्लोक की प्रथम पंक्ति में जो तीन बातें कही गई है वस्तुतः वही उपलब्धियाँ हैं जो क्रमश श्लोक-२०,२१,२२ और श्लोक- १९ में वर्णित साधनाओं के फल स्वरुप प्राप्त होने के रूप में वर्णित की गई थी। दूसरी पंक्ति में यज्ञ भाव से जीवन के समस्त व्यवहार करने वाले के कर्म पूर्णत: (समग्रं) विलीन हो जाने की बात कही गई है जिसका आशय यह दिखता है कि क्योंकि यज्ञ एक नैसर्गिक क्रिया है इस साधक के कर्मफल के साथ ही उसका कर्तापन समाप्त हो जाता है। अतः संपूर्ण श्लोक का भावार्थ यह बनता है कि केवल यज्ञार्थ कर्म करने वाले साधक के कर्मफल के साथ ही उसके कर्तापन की समाप्ति तो होंगे ही उसे कर्मयोग की सिद्धि से प्राप्त होने वाले ज्ञान और अनासक्ति की उपलब्धि तथा सन्यास साधना से प्राप्त होने वाली मुक्ति की उपलब्धि भी प्राप्त हो जाती है।

यज्ञ का यह विशेष गौरव बताने के बाद इस साधना के बारह चरणों का वर्णन श्लोक-२४ से ३० में अवरोही (कम होते) क्रम में इस उद्देश्य से किया गया है ताकि साधक अपनी स्थिति के अनुरूप साधना का प्रारंभ करके आगे बढ़ सके।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः , ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं , ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

ब्रह्म-अर्पणं ब्रह्म हविः , ब्रह्म-अग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्म एव तेन गन्तव्यम् , ब्रह्म-कर्म-समाधिना ॥

अर्पणं ब्रह्म- (उसके लिए) अर्पण करने का कार्य भी परमात्मा (ब्रह्म) है, **हविः ब्रह्म-** अर्पित की जाने वाली वस्तु भी परमात्मा है, **ब्रह्म-अग्नौ-** (जिसे) परमात्मा रूप अग्नि में **ब्रह्मणा हुतम्-** परमात्मा द्वारा ही अर्पित की जाती है। **तेन ब्रह्म-कर्म-समाधिना-** उस परमात्मा रूप कर्म में स्थित रहने वाले साधक द्वारा **गन्तव्यम् ब्रह्म एव-** प्राप्तव्य भी परमात्मा ही है ।

यह साधक की सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति का प्रतीकात्मक वर्णन है। यहाँ भौतिक यज्ञ को प्रतीक बनाकर साधक की सिद्ध अवस्था का वर्णन किया गया है। वह कर्म करता अवश्य है किंतु परमात्मा भाव में पूर्णतः डूबा हुआ।

साधक जिनमे अभी कर्तापन का भाव समाप्त नहीं हुआ है वे 'ब्रह्मयज्ञ' रूप कर्म की उपरोक्त सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते उनके लिए 'देवम् यज्ञ' वाली दूसरे क्रम की साधना और जिन के लिए ये भी कठिन प्रतीत हो उनके लिए 'कर्मयज्ञ' वाली तीसरे चरण की साधना बताई जा रही है। इन दोनों का वर्णन श्लोक-२५ की दोनों पंक्तियों में क्रमशः इस प्रकार हुआ है-

दैवमेवापरे यज्ञं , योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं , यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दैवम् एव अपरे यज्ञम् , योगिनः पर्युपासते । ब्रह्म-अग्नौ अपरे यज्ञं , यज्ञेन एव उपजुह्वति ॥

अपरे योगिनः दैवम् यज्ञम् एव पर्युपासते- दूसरे योगीजन देवताओं के पूजन रूप यज्ञ की ही भलीभांति उपासना करते हैं। **अपरे ब्रह्म-अग्नौ यज्ञेन यज्ञं एव उपजुह्वति-** दूसरे ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का ही हवन कर देते हैं ।

देवताओं के पूजन रूप यज्ञ करने का तात्पर्य है कि साधक अपने में क्रियाशील इन्द्रियें, मन, बुद्धि आदि शक्तियों को इनके समष्टि रूप देवताओं से प्रदत्त मानते हुए इनका समर्पण समष्टि हितार्थ कर्मों के संपादन में करें।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में तीसरे क्रम के यज्ञ का निर्देश उन लोगों के लिए किया गया है जिनका अहंकार अभी प्रबल बने रहने के कारण वे क्रम एक अथवा दो की साधना करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उनके लिए कहा गया है कि वे ब्रह्म-अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करें। इस कथन से हमें दो शब्द समूहों को समझना आवश्यक होगा।

१. ब्रह्म-अग्नि इससे तात्पर्य है अनंत विस्तार वाली चेतन सत्ता (अर्थात् परमात्मा) और २. यज्ञ द्वारा यज्ञ का हवन अर्थात् व्यष्टि यज्ञ द्वारा समष्टि यज्ञ में आहुति। एक यज्ञ समष्टि स्तर पर चल रहा है जिसका संचालन प्रभु कर रहे हैं (वर्णन श्लोक- ३.९ से १६ में हो चुका है) और जिससे यह संपूर्ण जैविक सृष्टि के क्रियाकलाप व्यवस्थित रूप में चल रहे हैं। उसी का एक अति लघु रूप व्यक्ति में भी चल रहा है जिसका संचालन करके विभु (अर्थात् व्यक्ति में क्रियाशील आत्मा) व्यक्ति को कर्म शक्ति प्रदान करता है। श्लोक में कहा गया है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह इस कर्म शक्ति

की आहुति समष्टि यज्ञ में करें। इस कवित्तमय भाषा का प्रयोग हमारे चिंतन को जाग्रत करने हेतु किया गया है (जिसे महाभारतकार ने ग्रन्थ के प्रारंभ में ही मुनि व्यास और बुद्धि के देवता गणेश के बीच परस्पर हुए शर्त/समझौते के रूप में इंगित किया ही है)।

सारांश यह है कि इस तृतीय यज्ञ साधना के वर्णन द्वारा यह बताया गया है कि जो व्यक्ति अभी कर्तापन के अहंकार से मुक्त नहीं हो पाए हैं तो वे अभी तो उक्त चिंता छोड़कर इस कर्तव्य पथ पर चलना प्रारंभ कर दें कि सृष्टि में जो विकास यज्ञ चल रहा है उसमें मुझे अपने कर्मों की आहुति सेवा रूप में देना है।

किंतु यदि व्यक्ति का मन अभी तो इस प्रकार के निष्काम कर्म करने में नहीं लगता है तो उसे अपने मन को नियंत्रित करने हेतु आगे वर्णित कुछ साधनाऐं करना होगीं। (क्योंकि इन आंतरिक साधनाओं का लक्ष्य व्यक्ति को क्रमशः उपरोक्त कर्म-यज्ञ, देवम्-यज्ञ, ब्रह्म-यज्ञ के लिए सक्षम बनाना है, अतः गीता ने इन प्राथमिक और प्रारंभिक साधनाओं को भी यज्ञ कहा है।

मन को अनुशासित करने हेतु जो प्राथमिक तीन साधन-यज्ञ (उतरते क्रम में) बताए गए हैं उनमें से प्रथम दो- १. इंद्रियों का संयम, २. विषयों का प्रभोग (हवन रूप भोग) का वर्णन श्लोक-२६ में इन शब्दों में किया गया है -

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये , संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य , इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

श्रोत्र-आदीनि इन्द्रियाणि अन्ये , संयम-अग्निषु जुह्वति । शब्द-आदीन् विषयान् अन्ये , इन्द्रिय-अग्निषु जुह्वति ॥

अन्ये संयम-अग्निषु श्रोत्र-आदीनि इन्द्रियाणि जुह्वति- दूसरे (साधक) संयम रूपी अग्नि में श्रवण आदि इंद्रियों का हवन करते हैं। **अन्ये इन्द्रिय-अग्निषु शब्द-आदीन् विषयान् जुह्वति-** अन्य (साधक) इन्द्रियां रूपी अग्नि में शब्द आदि विषयों का हवन करते है ।

चौथे (उतरते) क्रम की साधना है- इंद्रियों को संयम रूप अग्नि में हनन करना अर्थात् इंद्रियों को विषयों से हटाकर मन को नियंत्रित करना। जो ऐसा न कर पाए उनके लिए पांचवे क्रम की साधना बताई गई है इंद्रियों की अग्नि में विषयों का हवन करना। इन शब्दों का अर्थ है कि परिस्थिति विशेष उपस्थित हो तो विषयों को भोगले किन्तु मन में चाहना पैदा न करें।

जो मन को भोगों की लालसा से मुक्त नहीं कर सकते उनके लिए मन को अनुशासन में लाने के लिए छठे क्रम में 'हठयोग' साधना का निर्देश श्लोक-२७ में इन शब्दों में किया गया है-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि , प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ , जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सर्वाणि इन्द्रिय-कर्माणि , प्राण-कर्माणि च अपरे । आत्म-संयम-योग-अग्नौ , जुह्वति ज्ञान-दीपिते ॥

अपरे सर्वाणि इन्द्रिय कर्माणि च प्राण कर्माणि-अन्य (साधक)सब इंद्रियों के कार्यों को और प्राणों के कार्यों को **ज्ञानदीपिते आत्मसंयम-योग-अग्नौ जुह्वति-** ज्ञान से प्रज्वलित आत्म संयम रूपी अग्नि में हवन करते हैं ।

इंद्रियकर्माणि का अर्थ- शरीर की ऐच्छिक क्रियाएँ और प्राणकर्माणि का अर्थ अनैच्छिक क्रियाएँ (श्वास, हृदयगति आदि) हैं ऐसा समझना उचित होगा। इनको नियंत्रित करने का अभ्यास हठयोग में किया जाता है जिसके द्वारा मन की संकल्प शक्ति प्रबल होती है। किन्तु इस संबंध में एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण निर्देश 'ज्ञान दीपिते' शब्द द्वारा दिया गया है। निर्देश है कि इस साधना के मूल उद्देश्य का ज्ञान साधक की बुद्धि में प्रकाशित रहना चाहिए। साधना का उद्देश्य है- मन की संकल्प शक्ति को कर्मयोग आदि आध्यात्मिक साधनाओं (क्रमांक-१ से ५) हेतु प्रबल बनाना। जो इस उद्देश्य की अवहेलना कर देते है वे अभ्यास सिद्ध होने पर या तो इसे आत्म प्रशंसा प्राप्त करने का अथवा जीविका चलाने का साधन बना लेते हैं।

मन के बलवान होने के पहले मन-बुद्धि का विकारों से मुक्त होना अति आवश्यक है, अन्यथा दूषित मन बलवान होकर व्यक्ति को पतन के रास्ते पर धकेल देगा। अतः चित्त शुद्धि अर्थात् मन-बुद्धि में पड़ी विकार वृत्तियों से मुक्ति हेतु चार साधन यज्ञों के रूप में श्लोक-२८ कहे गये हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा , योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च , यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्य-यज्ञाः तपो-यज्ञाः , योग-यज्ञाः तथा अपरे । स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः च , यतयः संशितव्रताः ॥

तथा अपरे संशितव्रताः यतयः- और अन्य दृढ़ प्रतिज्ञ होकर तथा प्रयत्नशील होकर **द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः च स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाः-** द्रव्य यज्ञ, तपयज्ञ,योगयज्ञ, और स्वाध्याय रूप ज्ञानयज्ञ की साधना करने वाले होते है ।

यहाँ जिन चार यज्ञ रूप साधनाओं का वर्णन है उनमें से प्रत्येक साधना एक विकार विशेष के लिए निर्देशित की गई है जिसकी विवेचना हम आगे करने वाले हैं। किंतु उस विवेचना से पूर्व हम श्लोक के शब्द 'संशित व्रता' पर कुछ चर्चा करना चाहेंगे। यहाँ हमने परंपरा से हटकर अर्थ किया है 'दृढ़प्रतिज्ञ होकर' जो विषय और शब्दार्थ के अनुरूप हैं। वस्तुतः कुछ विकार हमारे चित्त में गहरे संस्कारों के रूप में अंकित हो चुके होते हैं, अतः इनको समाप्त करने के लिए जिस प्रकार ये बने हैं उसके विपरीत प्रक्रिया अपनाना होगी और उसका निष्ठा पूर्वक सतत अभ्यास करना होगा। इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिए यहाँ 'दृढ़प्रतिज्ञ होकर' अभ्यास करना होगा, यह निर्देश दिया गया है।

अब हम विचार करें कि गीताकार ने चित्त के किस विकार के निराकरण हेतु कौनसी साधना बताई है।

द्रव्य यज्ञः लोभवृत्ति का शमन द्रव्य-यज्ञ अर्थात् न्याय पूर्वक अर्जित धन को लोक सेवा या अन्य प्राणियों के कष्ट दूर करने हेतु व्यय करने से होगा।

तप यज्ञ : सुखवृत्ति का निरसन तप के अभ्यास से होता है। तप अर्थात् व्रत, उपवास या अन्य कोई भी अच्छे कार्य जो कष्टप्रद प्रतीत हों।

योग यज्ञः स्वार्थवृत्ति का शमन अष्टांग योग में वर्णित सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य व्रतों के पालन करने से पहले यहाँ वर्णित साधनायें करने की क्षमता प्राप्त होगी।

ज्ञान यज्ञः बुद्धि को शुद्ध करने का उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ है आध्यात्मिक ग्रंथों से और सत्संग से प्राप्त बौद्धिक ज्ञान पर चिंतन-मनन और फल है विवेक जाग्रति।

उपरोक्त प्राथमिक साधनाओं के वर्णन के बाद अब दो प्रारंभिक साधनाऐं, जो शरीर को स्वस्थ रखने हेतु आवश्यक हैं, उनका वर्णन श्लोक-२९ और ३० में किया जा रहा है। सर्वविदित है कि आध्यात्मिक यात्रा का प्रथम चरण शरीर को स्वस्थ रखना है अतः तत् संबंधी नित्य कार्यों को भी यज्ञ साधनाओं के रूप में वर्णित किया गया है।

अपाने जुह्वति प्राणं , प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा , प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपाने जुह्वति प्राणम् , प्राणे अपानम् तथा अपरे । प्राण-अपान-गती रुद्ध्वा , प्राणायाम-परायणाः ॥

अपरे अपाने प्राणम् प्राणे अपानम् जुह्वति- दूसरे (साधक) अपान में प्राण का, प्राण में अपान का हवन करते हैं **तथा प्राण-अपान-गती रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः-** और (अन्य) प्राण-अपान की गति रोककर (भी) प्राणायाम करने वाले हैं।

अपरे नियताहाराः , प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो , यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे नियत-आहाराः , प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । सर्वे अपि एते यज्ञविदः , यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः ॥

अपरे नियत-आहाराः प्राणेषु प्राणान् जुह्वति-अन्य नियत आहार करने वाले साधक प्राणों में प्राणों की आहुति देते हैं।**एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः-** ये सभी साधक यज्ञों के जानने वाले होकर यज्ञों द्वारा अपने पापों (अध्यात्म पथ की रुकावटों) का नाश कर देने वाले हैं।

श्लोक-२९ में श्वास की पूरक, रेचक, कुंभक क्रियाओं को इंगित करते हुए प्राणायाम साधना को यज्ञ रूप में वर्णित किया गया है। प्राणायाम शरीर और मन को बल तथा स्वास्थ्य प्रदान करने वाली साधना है, यह तो सर्वविदित है किंतु यहाँ इसे भी यज्ञ रूप में वर्णित करके यह स्मरण कराया गया है कि इस शरीर स्वास्थ्य के साधन को भी साधक यज्ञ भाव से करें अर्थात् इसे वह अपने लिए नहीं वरन समष्टि हितार्थ कर्म करने की क्षमता बनाए रखने के उद्देश्य से कर रहा है।

श्लोक-३० की प्रथम पंक्ति में आहार संयम को यज्ञ के रूप में वर्णित करते हुए जो यह कहा गया है कि साधक प्राणों का प्राणों में हवन करें उसका भाव यह है कि साधक इस भाव से भोजन करे कि वह अन्नरूप प्राण शक्ति के द्वारा शरीर को प्राण शक्ति प्रदान करने के लिए ही भोजन कर रहा है, स्वाद के लिए नहीं। प्राण शक्ति वह इसलिए बढ़ाना चाहता है ताकि उसे कर्मयोग के लिए आवश्यक कर्म शक्ति और संकल्प शक्ति प्राप्त हो सके। इस भाव से आहार ग्रहण करने वाले साधक को यहाँ नियत-आहारा कहा गया है और भोजन करना भी उसके लिए यज्ञ बन जाता है।

अब श्लोक-३१ में उपरोक्त यज्ञ साधना पथ के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है-

यज्ञशिष्टामृतभुजो , यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य , कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः , यान्ति ब्रह्म सनातनम् । न अयम् लोकः अस्ति अयज्ञस्य , कुतः अन्यः कुरुसत्तम ॥

कुरुसत्तम- हे कुरुकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! **यज्ञशिष्ट-अमृत-भुजः-** यज्ञ में शिक्षित होकर अमृत लाभ करने वाले (साधक) **सनातनम् ब्रह्म यान्ति-** सनातन ब्रह्म रूप परमात्मा की प्राप्ति करते हैं **। अयज्ञस्य अयम् लोकः न**

अस्ति- यज्ञ साधना न करने वालों के लिए तो यह लोक (संसार सुख) भी नहीं है**, कुतः अन्यः-** फिर दूसरे लोकों की तो बात ही क्या ?

'यज्ञशिष्ट' शब्द की व्याख्या श्लोक-३.१३ में पहले हो चुकी है। दो प्रकार के विभिन्न अर्थों में से 'यज्ञ से शेष बचा' अर्थ यहाँ तो और भी अनुपयुक्त हो जाता है क्योंकि ऊपर के श्लोकों में द्रव्य यज्ञों के अलावा कई प्रकार के यज्ञों का वर्णन आया है जिनमें इस प्रकार का अर्थ सर्वथा अनुपयुक्त हो जाता है, उदाहरणार्थ स्वाध्याय यज्ञ से शेष बचा ही ग्रहण किया जाना चाहिए यह बात सर्वथा असंगत हो जाएगी। अतः सिद्ध है कि यज्ञशिष्ट का सामान्यतः किया जाने वाले 'यज्ञ से शेष बचे' ऐसे अर्थ की अपेक्षा हमें 'यज्ञ में शिक्षित/संस्कारित' यह अर्थ ही लेना चाहिए और ऊपर शब्दार्थ में हमने यही अर्थ किया है।

यज्ञ से अमृत लाभ और ब्रह्म प्राप्ति : सामान्यत मनुष्य इंद्रिय सुखों और मानसिक ऐषणाओं की पूर्ति से होने वाले सुखों में डूबा रहता है किंतु जब ज्ञान चेतना जागृत होने पर व्यक्ति उपरोक्त यज्ञ पथ पर आगे बढ़ता है तो उसका देह केंद्रित 'मैं' धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और एक दिन वह देहात्म चेतना से मुक्ति की अनुभूति अर्थात् अपने अमृत होने की और अंत में (श्लोक-२४ में वर्णित) सर्वव्यापी परमात्म तत्व की अनुभूति में स्थित हो जाता है।

अध्याय के शेष श्लोकों में भगवान ने कामनाओं की पूर्ति हेतु वेदों में वर्णित द्रव्यमय यज्ञों से उपरोक्त ज्ञान प्राप्त करने वाले यज्ञ की तुलना करते हुए अर्जुन को संशय त्याग कर श्रद्धा पूर्वक 'ज्ञान-यज्ञ' वाले मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है। वे बता रहे हैं कि वह ज्ञान जो कि कर्म सन्यासी तत्त्व-ज्ञानियों के मार्गदर्शन पर चलकर बड़ी कठिनाई से प्राप्त करते है, वही आत्म दर्शन और परमात्म दर्शन करा देने वाला ज्ञान ऊपर वर्णित ज्ञान-यज्ञ रूप निष्काम कर्म वाले मार्ग पर चलने वाले को कुछ काल में स्वयं अपने आप प्राप्त हो जाता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवम् बहुविधाः यज्ञाः , विततः ब्रह्मणः मुखे । कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् , एवम् ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

एवम् बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे वितताः-और (भी) बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं **तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि-** उन सबको (तू) कर्म फल उत्पन्न करने वाले जान**, एवम् ज्ञात्वाविमोक्ष्यसे-** इस प्रकार जानकर (तू उनसे) मुक्त हो जाएगा ।

'कर्मजान्' शब्द में यहाँ हमने कर्म का अर्थ कर्मफल लिया है जो शब्दकोश सम्मत है तथा गीता श्लोक-६.४६ (कर्मिभ्यश्चाधिक: योगी) में इसी अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। शांकर भाष्य सहित उन सभी टीकाओं में जो हमारे देखने में आईं उनमें अर्थ किया गया है 'सभी यज्ञ कर्म से संपन्न होते हैं ऐसा जान, ऐसा जान कर तू कर्म बंधन से मुक्त हो जाएगा'। किंतु इस प्रकार का कथन जहाँ एक ओर निरर्थक प्रतीत होता है वहीं सत्य से भी दूर जान पड़ता है क्योंकि बिना कर्म यज्ञ नहीं हो सकते यह सामान्य बात तो हम सभी जानते हैं किंतु क्या हम कर्म बंधन से मुक्त हो गए हैं? यदि मुक्त ही हो गए होते तो गीता पढ़ने की क्या आवश्यकता होती? वस्तुतः यहाँ श्लोक में कर्म का अर्थ क्रिया या कार्य नहीं, कर्मफल लेने पर ही वचन का अर्थ बनेगा कि वेद (पूर्व मीमांसा) में वर्णित कर्मकांडीय यज्ञ तो कामना पूर्ति हेतु कहे गए हैं, उनसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी, जो यज्ञ यहाँ बताए गए हैं उनके अभ्यास से ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी।

कर्म सन्यास की ओर अर्जुन दो बातों से आकर्षित हो रहा था- एक तो युद्ध में अपने पूज्य जनों को मारने जैसे घोर पाप कर्म के फल से डर कर, दूसरे कुछ सन्यासी महात्माओं से ज्ञान चर्चा सुनकर ज्ञान प्राप्त कर लेने के लोभ से। आज भी बहुत से लोग बिना अपनी आंतरिक स्थिति समझे-बुझे केवल इन्ही कारणों से सन्यासी जीवन अपना कर 'माया मिली न राम' वाली उक्ति चरितार्थ कर रहे होते हैं। भगवान ने पाप कर्म के फल वाले भय का निराकरण तो कर्म-अकर्म की इस विवेचना द्वारा कर दिया कि कर्म इस प्रकार किए जाने चाहिए कि वे फल उत्पन्न न करें और इस हेतु उन्होंने १२ यज्ञ रूप साधनाओं की उपरोक्त प्रणाली प्रस्तुत की। अब ज्ञान लाभ वाले दूसरे आकर्षण की विवेचना इस रूप में कर रहे हैं कि साधक को जो ज्ञान, कर्म सन्यास मार्ग से सक्षम गुरु मिल जाने और फिर उनकी कृपा प्राप्त होने जैसी बाह्य परिस्थितियों का सुयोग बैठने पर ही मिल पाता है, वही ज्ञान यज्ञ-साधना मार्ग से उसे स्वयं के प्रयास से मिलना सुनिश्चित है। इस दूसरे बिंदु को श्लोक-३३,३४ में इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् ,ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ , ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् , ज्ञान-यज्ञः परन्तप । सर्वम् कर्म-अखिलम् पार्थ , ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

परन्तप- हे शत्रुविजेता अर्जुन! **द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञान-यज्ञः श्रेयान्-** द्रव्यमय (वेदोक्त सकाम) यज्ञों की अपेक्षा (उपरोक्त) ज्ञानयज्ञ (अर्थात् ज्ञान प्राप्त कराने वाले यज्ञ) श्रेष्ठ हैं । **पार्थ-** हे अर्जुन ! **अखिलम् सर्वम् कर्म ज्ञाने**

परिसमाप्यते-निरपवाद रूप से सब कर्मफल ज्ञान में पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन , परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं , ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत् विद्धि प्रणिपातेन , परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम् , ज्ञानिनः तत्त्व-दर्शिनः ॥

तत् विद्धि ज्ञानम् तत्त्व-दर्शिनः ज्ञानिनः ते उपदेक्ष्यन्ति- (यह) जान ले कि उसी ज्ञान का (ही) तत्वदर्शी ज्ञानी महात्मा तुझे उपदेश करेंगे **सेवया प्रणिपातेन परिप्रश्नेन-** (जब तू गुरु द्वारा बताए गए आश्रम के) सेवा कार्य करके, सविनय आदर सहित प्रश्नोत्तर करके (उन्हें अपनी योग्यता से संतुष्ट करेगा)।

ज्ञान चाहे तत्वदर्शी ज्ञानी महात्मा से गुरु दीक्षा प्राप्त करके अर्जित किया जाए अथवा श्रीकृष्ण द्वारा यहाँ निर्देशित यज्ञ पथ पर चलकर प्राप्त किया जाए वह एक ही है और उसकी महत्ता का वर्णन अगले चार श्लोकों क्रमांक-३५ से ३८ में किया जा रहा है-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम् , एवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषाण , द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यत् ज्ञात्वा न पुनः मोहम् , एवम् यास्यसि पाण्डव । येन भूतानि अशेषाणि , द्रक्ष्यसि आत्मनि अथो मयि ॥

पाण्डव- हे पाण्डव ! **यत् ज्ञात्वा पुनः एवम् मोहम् न यास्यसि-** जिस(ज्ञान को) पाकर (तू) फिर इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा, **येन अशेषेण भूतानि-**जिस के द्वारा (तू) निरपवाद रुप से सब प्राणियों को **आत्मनि द्रक्ष्यसि-** अपने 'स्व' में देखेगा **अथो मयि-** और मुझ वासुदेव में देखेगा ।

सब प्राणियौं को अपने में और परमात्मा में देखने का जो कथन है, वह वस्तुतः व्यक्तिगत आत्मा, प्राणी और भगवान इनमे त्रिविध भेद नष्ट होकर एकत्व ज्ञान की स्थापना को सूचित करता है।

अपि चेदसि पापेभ्यः , सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव , वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अपि चेत् असि पापेभ्यः , सर्वेभ्यः पाप-कृत्तमः । सर्वम् ज्ञान-प्लवेन एव , वृजिनम् सन्तरिष्यसि ॥

चेत् सर्वेभ्यः पापेभ्यः पाप-कृत्तमः अपि असि- यदि (तू) सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला भी हो **ज्ञान-प्लवेन एव सर्वम् वृजिनम् सन्तरिष्यसि-** (तो भी तू) ज्ञान रूप नौका द्वारा निसंदेह सब पापों को पार कर जाएगा ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निः , भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि , भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

यथा एधांसि समिद्धः अग्निः , भस्मसात् कुरुते अर्जुन । ज्ञान-अग्निः सर्व-कर्माणि , भस्मसात् कुरुते तथा ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **यथा समिद्धः अग्निः**-जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि **एधांसि भस्मसात् कुरुते-** ईंधनों को राख कर देती है, **तथा ज्ञान-अग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुते-** वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सभी कर्मफलों को जला डालती है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं , पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः , कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

न हि ज्ञानेन सदृशम् , पवित्रम् इह विद्यते । तत् स्वयं योग-संसिद्धः , कालेन आत्मनि विन्दति ॥

हि ज्ञानेन सदृशम् इह न पवित्रम् विद्यते- निश्चय ही ज्ञान के समान यहाँ (इस संसार) में कुछ भी पवित्र नहीं है । **योग-संसिद्धः स्वयं तत् कालेन आत्मनि विन्दति-** कर्मयोग में सिद्ध हुआ (साधक) स्वयं ही उस ज्ञान को यथा समय अपने आप में प्राप्त कर लेता है ।

उपरोक्त श्लोक क्रमांक-३५ से ३८ में ज्ञान-यज्ञ (यज्ञों से ज्ञान प्राप्ति के मार्ग) के चार सुपरिणामों / विशेषताओं की विवेचना की गई है।

1. श्लोक-३५ में कहा गया है कि ज्ञान का प्रादुर्भाव होने पर अर्थात् प्राणियों के प्रति एकत्व की अनुभूति होने पर मोह का समूल नाश हो जाता है। मोह का अर्थ ही है भेद दृष्टि, मेरा-तेरा का भाव जो अज्ञान रूपा प्रकृति तत्व की प्रबलता से उत्पन्न होता है और ज्ञान-स्वरूपा परमात्म शक्ति के सक्रिय होने पर नष्ट हो जाता है।

2. ज्ञान के उदय होने पर पूर्वकृत पाप कर्मों का भी फल सहित समूल नाश हो जाता है, यह बात श्लोक-३६ में कही गई। पाप अर्थात् परमात्म सत्ता के विकास और एकत्व स्थापना वाली प्रेरणा से विपरीत कार्य। कर्मों के फल संस्कार प्रक्रिया के माध्यम से ही क्रियान्वित होते हैं और जब हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है तो संस्कार नष्ट हो जाते हैं, इस रूप में पुराने पाप कर्मों के फल सहित नष्ट हो जाने के बात समझी जा सकती है।

3. केवल पाप ही नहीं, पाप और पुण्य कहे जाने वाले सभी कर्मफल ज्ञान के उदय होने पर समूल नष्ट हो जाते हैं, यह बात श्लोक-३७में कही गई है क्योंकि 'मैं' नष्ट हो जाता है।

4. श्लोक-३८ में एक बहुत महत्वपूर्ण बात यह कही गई है कि इस मार्ग में गुरु कृपा जैसी किसी बाह्य आलंबन/सहायता की आवश्यकता नहीं होती। पुराने संस्कार समाप्त होते जाते हैं और समय आता है जब वह

पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं तो साधक में ज्ञान का पूर्ण प्रकाश फैल जाता है।

परम् ज्ञान तक पहुँचाने वाले यज्ञ-मार्ग की महत्ता का वर्णन करने के पश्चात अब भगवान दो श्लोकों क्रमांक-३९,४० में बता रहे हैं कि साधक में कुछ मूलभूत गुणों का होना आवश्यक है। यदि इन गुणों का अर्जन व्यक्ति अभी नहीं कर पाया है तो उसके लिए यहाँ निर्देशित यज्ञ साधन पथ, जो कि अन्य साधन पथों की अपेक्षा सहज और सुनिश्चित है, पर भी चलकर सिद्धि प्राप्त करने की तो बात ही क्या, उसके लिए तो सांसारिक जीवन को भी सुख पूर्वक जीना कठिन होता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं , तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् , अचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् , तत्परः संयत-इन्द्रियः । ज्ञानम् लब्ध्वा पराम् शान्तिम् , अचिरेण अधिगच्छति ॥

संयत-इन्द्रियः तत्परः श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्- इंद्रियों को नियंत्रित कर लेने वाला, दृढ़निश्चयी (तथा) श्रद्धावान साधक ज्ञान प्राप्त कर लेता है**, ज्ञानम् लब्ध्वा अचिरेण पराम् शान्तिम् अधिगच्छति-** ज्ञान प्राप्त करके अति शीघ्र परम शांति को प्राप्त होता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च , संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो , न सुखं संशयात्मनः ॥ ४०॥

अज्ञः च अश्रद्दधानः च , संशय-आत्मा विनश्यति । न अयं लोकः अस्ति न परः , न सुखं संशयात्मनः ॥

अज्ञः संशय-आत्मा च अश्रद्दधानः विनश्यति-जड़मति, संशय में जीने वाला, तथा श्रद्धा विहीन मनुष्य (का जीवन) नष्ट अर्थात् निरर्थक हो जाता है । **संशयात्मनः न अयं लोकः अस्ति, न परः च सुखं-** संशयालु स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए न तो यह संसार है, न परलोक है, और न उसे सुख ही प्राप्त हो सकता है।

उक्त श्लोकों में आये कुछ शब्दों के उचित अर्थ करने हेतु हम दो तथ्यों पर पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे- १. श्लोक-३९ में जिन तीन गुणों को आवश्यक बताया गया है वे इंद्रिये, चित्त (मन और बुद्धि) और उससे गहरे सूक्ष्म स्तर (श्रद्धा/आस्था) से संबंधित हैं; २. श्लोक-४० इससे विपरीत स्थिति का वर्णन कर रहा है, अतः इसमें प्रयुक्त कुछ शब्दों से भी हमें श्लोक-३९ के शब्दों को समझने में सहायता मिल सकेगी। इन तथ्यों के परिपेक्ष्य में हमने निम्नांकित शब्दों के अर्थ इस प्रकार किए हैं-

तत्पर : श्लोक-३९ का 'तत्पर' शब्द श्लोक-४० का 'संशयात्मा' शब्द के विपरीत भाव में प्रयुक्त हुआ है, अतः तत्पर के जो विभिन्न अर्थ हैं उनमें से यहाँ हमने 'निश्चयात्मक बुद्धि वाला' / 'दृढ़ निश्चयी' अर्थ चुना है।

अज्ञ : इसी प्रकार, 'अज्ञ' शब्द 'संयतेन्द्रिये' के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ हमने 'सुख लोलुप' अर्थ चुना है जो कि शब्दकोश में दिये गए 'सुखम्-आराध्य' के भाव को ही व्यक्त करता है।

श्रद्धा : शब्द के सामान्य अर्थ हैं आस्था, निष्ठा, भरोसा, प्रबल इच्छा। यह शब्द 'धा' धातु में 'श्रत' उपसर्ग लगाकर बना है और 'धा' धातु का भाव होता है बुद्धि में धारणा बनाना, विचारों को धारण करना। अतः यह शब्द उन धारणाओं / विचारों के लिए प्रयुक्त हुआ माना जाना चाहिए जो व्यक्ति ने चिंतन मनन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में धारण किए हैं।

इस प्रकार, श्लोक-३९ में 'संयतेन्द्रिये' शब्द व्यक्ति की इंद्रियों और मन की नियंत्रित अवस्था को, 'तत्पर' निश्चयात्मक बुद्धि को और 'श्रद्धा' बुद्धि से ऊपर गहराई में निष्कर्ष रूप धारण किए हुए ज्ञान / बोध / समझ को इंगित करता है। अतः श्लोक का भावार्थ यह बनता है कि व्यक्ति को परम् ज्ञान तक पहुँचने के लिए क्रमशः इंद्रिय-संयम, बुद्धि और श्रद्धा इन तीनों स्तरों को चैतन्य करना होगा। गीता के अनुसार इस कार्य की सिद्धि 'यज्ञ-मार्ग' द्वारा प्राप्त करना अन्य मार्गों की अपेक्षा अधिक सहज और सरल होगा।

अध्याय के पूर्वार्ध में भगवान ने बताया कि उन्होंने पहले जड़ प्रकृति में और फिर जैविक सृष्टि में कर्मयोग का मंत्र फूंक कर किस प्रकार प्राणी विकास को गति प्रदान की और आवश्यकता होने पर उस कार्य हेतु वे मनुष्य देह भी धारण करते हैं। पश्चात् उत्तरार्ध में बताया कि व्यक्ति भी किस प्रकार उस मार्ग पर चलने हेतु अपने को तैयार करते हुए उनके समान ही परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। अब भगवान उक्त मार्ग दर्शन का निष्कर्ष इन शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं-

योगसंन्यस्तकर्माणं , ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि , निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

योग-संन्यस्तकर्माणं , ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि , निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

योग-संन्यस्तकर्माणं- कर्मयोग के द्वारा जिन्होंने कर्मफल का त्याग कर दिया है, **ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्-** ज्ञान द्वारा जिनका संशय दूर हो गया है, **आत्मवन्तं-** जो सबको आत्मावत (अपने जैसा समझकर व्यवहार करता है)

कर्माणि न निबध्नन्ति-(उसे) कर्म नहीं बांधते । **धनञ्जय**- हे अर्जुन !

तस्मादज्ञानसम्भूतं , हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगम् , आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात् अज्ञान-सम्भूतम् , हृत्स्थम् ज्ञान-असिना-आत्मनः । छित्त्वा एनम् संशयम् योगम् , आतिष्ठ उत्तिष्ठ भारत ॥

भारत-हे अर्जुन ! **तस्मात् अज्ञान-सम्भूतम् आत्मनः हृत्स्थम् संशयम्**-इसलिए अज्ञान से उत्पन्न अपने हृदयस्थ संशय को **ज्ञान-असिना छित्त्वा**- ज्ञान की तलवार से छिन्न-भिन्न करके **योगम् आतिष्ठ उत्तिष्ठ**- योग में स्थिर होकर(युद्ध करने के लिए) खड़ा हो ।

ये दोनों श्लोक लगभग एक ही भाव को व्यक्त कर रहे हैं, अंतर इतना ही है कि जहाँ श्लोक-४१ में कर्म बंधन से मुक्त होने का सैद्धांतिक विश्लेषण है वहीं श्लोक-४२ में उस मार्ग पर चलने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। दोनों श्लोकों में अज्ञान जनित संशय को ज्ञान से नष्ट करने और योग में स्थित होकर कर्म करने (अर्थात् कर्मयोग) की बात कही गई है। इन दोनों बातों का उस काल में अर्जुन के लिए क्या महत्व था और आज हमारे लिए क्या महत्व है इसे समझने का प्रयास करेंगे।

संशय : अर्जुन के हृदय में संशय यह था कि भीष्म, द्रोण जैसे उसके पूज्यजन दुर्भाग्यवश उस समय युद्ध में उस दुष्ट दुर्योधन के पक्ष में खड़े थे जो संपूर्ण राज्य हड़प लेने के उद्देश्य से उसके परिवार को मिटा देने के लिए हमेशा से षडयंत्र रचता रहा था, फिर भी क्या उन पूज्यजनों को मारकर युद्ध जीतना उसके लिए पाप कर्म नहीं होगा? हम भी बहुधा विभिन्न प्रकार के संशयों से ग्रस्त होकर किम्-कर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। किंतु भगवान ने अर्जुन को जो मार्गदर्शन दिया है वह सार्वकालिक है तथा वह हमारे लिए भी हमेशा उतना ही हितकारी होगा जितना उस विशेष परिस्थिति में अर्जुन के लिए था। भगवान के उत्तर में, सार रूप, में दो बातें मुख्य है १. ज्ञान से संशयनाश, २. ज्ञान सहित कर्म (अर्थात् ज्ञान-यज्ञ)।

ज्ञान से संशय नाश : भगवान के वचनों का सार यह है कि कोई भी कर्म यदि निज स्वार्थ हेतु किया जाएगा तो उसका फल भी अवश्य भोगना पड़ेगा, किंतु यदि वही कर्म परमार्थ दृष्टि से अर्थात् जगत हितार्थ किया जाता है तो फल कल्याणकारी होगा। हे अर्जुन! मैं भी जो यहाँ युद्ध में तुम्हारे पक्ष में खड़ा हूँ वह व्यक्तिगत संबंधों के कारण नहीं, बल्कि समष्टिहित की दृष्टि से मैंने यह निर्णय लिया है (श्लोक- ४.७ , ८), अन्यथा मैं भी बड़े भैया बलरामजी का अनुसरण करते हुए युद्ध से दूर होता। मैं देख रहा हूँ कि तुम पांडव लोग राज्य का संचालन सर्वहित को सामने रखकर कर सकोगे,

जबकि कौरव पक्ष महान स्वार्थी होने से ही तुम्हारे प्रति अन्यायी रहा है और उसका शासन भी जन-मानस के लिए उतना ही अन्याय पूर्ण होगा। स्वार्थ दृष्टि त्याग कर समाष्टिहितार्थ कर्म ही ज्ञान का व्यवहारिक रूप है जो सभी संशयों का नाश करके व्यक्ति को सच्चे कर्तव्य का बोध करा देता है और उसके आध्यात्मिक पक्ष को भी पुष्ट करता है।

ज्ञान सहित कर्म : इस पूरे अध्याय में वर्णित और निष्कर्ष रूप उपरोक्त अंतिम दोनों श्लोकों में भगवान ने उपरोक्त ज्ञान के अनुरूप कर्म करने की सलाह दी है। ऐसे कर्मों को तथा इस हेतु व्यक्ति अपने को सक्षम बनाने हेतु भी जो प्रयास करेगा उन सब को भगवान ने ज्ञानयज्ञ कहा है। ज्ञान और कर्म, इन दोनों के समन्वित उपयोग पर भगवान ने गीता में जो इतना बल दिया है इसका कारण उन्होंने आगे (अध्याय-७, ९, १३ आदि में) यह बताया है कि व्यक्ति में भी, अन्य सभी चैतन्य रचनाओं (सत्त्वम्,श्लोक-१३.२६) के सामान दो तत्व- ज्ञान-शक्ति रूप पुरुष और कर्म-शक्ति रूप प्रकृति- उपस्थित हैं अतः दोनों का समन्वय होने पर ही व्यक्ति का और समष्टि का उत्थान होकर सच्चे आनंद की उपलब्धि होना संभव है।

पांचवें अध्याय की पूर्व-भूमिका

चौथे अध्याय की समाप्ति से पूर्व भगवान ने कहा कि समस्त कर्मों का पर्यावसान ज्ञान में हो जाता है (श्लोक-४.३३) तथा कहा कि ज्ञान से संपूर्ण कर्म (अर्थात् कर्म फल) भस्म हो जाते हैं (श्लोक-४.३७), किंतु जब अंत के दो श्लोकों (श्लोक- ४.४१, ४२) में उन्होंने कर्मयोग में स्थित होकर युद्ध करने हेतु उठ खड़े होने वाली वही बात फिर कहीं जो पूर्व में (श्लोक-२.३७ से ४०, ४७ से ५१, ३.४ से ८ आदि में) कई बार कह चुके थे तो अर्जुन भगवान के मंतव्य को समझ नहीं पाया क्योंकि अर्जुन के मनस-पटल पर तो अध्यात्म पथ के अंतर्गत केवल उन कर्म-सन्यासियों का ही चित्र था जो कर्म छोड़कर आत्मज्ञान प्राप्त करने हेतु ध्यान आदि साधनाओं में रत उसने देखे थे। वस्तुतः भगवान कर्मयोग के उस मार्ग को बता रहे थे जिसके अनुसार व्यक्ति यज्ञ भावना से कर्म करता हुआ स्वयं ही धीरे-धीरे ज्ञान के उच्च स्तर को प्राप्त कर सकता है 'जहाँ कर्म (कर्मफल) पूर्णत: समाप्त हो जाते हैं' एवं उसके कर्तापन का भाव भी नष्ट हो जाता है और वह परम शांति वाली 'ब्रह्मभूत' वाली स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अर्जुन तो अपनी एकांगी जानकारी पर आधारित पूर्व धारणा के कारण भगवान के वचनों के मंतव्य को न समझते हुए पुनः वही प्रश्न दोहराता है जो उसने पूर्व में

(अध्याय-३ के प्रारंभ में) किया था किंतु भगवान अर्जुन की कठिनाई को समझते हुए कर्मयोग और कर्म-सन्यास दोनों मार्गों के तुलनात्मक विवेचना प्रारंभ करते हैं।

◆ ◆ ◆

पञ्चमः अध्यायः

कर्म सापेक्ष कर्म-संन्यास

अर्जुन उवाच ।

**संन्यासं कर्मणां कृष्ण , पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं , तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥**

संन्यासम् कर्मणाम् कृष्ण , पुनः योगम् च शंससि । यत् श्रेयः एतयोः एकम् , तत् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

कृष्ण-हे कृष्ण(आप)! **कर्मणाम् संन्यासम् च पुनः योगम् शंससि-** कर्मों के सन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। **एतयोः यत् एकम् मे सुनिश्चितम् श्रेयः-** इन दोनों में से जो एक मेरे लिए निश्चित रूप से कल्याण कारक (साधन हो) **तत् ब्रूहि-** उसको कहिए ।

श्रीभगवानुवाच ।

**संन्यासः कर्मयोगश्च , निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् , कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥**

संन्यासः कर्म-योगः च , निःश्रेयसकरौ उभौ । तयोः तु कर्म-संन्यासात् , कर्म-योगः विशिष्यते ॥

संन्यासः च कर्मयोगः उभौ निःश्रेयसकरौ-कर्म सन्यास और कर्मयोग (ये) दोनों (ही) परम कल्याण करने वाले हैं, **तु तयोः कर्म-संन्यासात् कर्म-योगः विशिष्यते-** परंतु उन दोनों में कर्म सन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है ।

यहाँ भगवान ने दो टूक शब्दों में अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दे दिया कि दोनों मार्ग कल्याणकारी हैं अर्थात् व्यक्ति को सीमित अहम् से मुक्ति प्रदान करने वाले हैं किंतु यदि दोनों में से एक को चुनने की बात है तो कर्म सन्यास से कर्म योग मार्ग श्रेष्ठ हैं।

अब अगले तीन श्लोकों (क्रमांक-३ से ५) में वे पहले अपने इस कथन की व्याख्या कर रहे हैं कि दोनों ही मार्ग कल्याणकारी किस रूप में है, और बाद में यह बताएगे कि दोनों में से कर्म योग मार्ग को उन्होंने श्रेष्ठ क्यों कहा।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी , यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो , सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

ज्ञेयः सः नित्य-संन्यासी , यः न द्वेष्टि न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वः हि महाबाहो , सुखम् बन्धात् प्रमुच्यते ॥

यः न द्वेष्टि, न काङ्क्षति सः नित्य-संन्यासी ज्ञेयः- जो न (तो किसी से) द्वेष करता है, न हीं कुछ इच्छा (कामना) रखता है, वह (कर्मयोगी) सदा सन्यासी (ही) समझने योग्य है, **हि महाबाहो! निर्द्वन्द्वः सुखम् बन्धात् प्रमुच्यते-** क्योंकि हे अर्जुन! राग-द्वेष आदि द्वन्दों से रहित (कर्मयोगी) सहज ही बंधन से मुक्त हो जाता है ।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः , प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यक् , उभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

साङ्ख्य-योगौ पृथक् बालाः , प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकम् अपि आस्थितः सम्यक् , उभयोः विन्दते फलम् ॥

बालाः साङ्ख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति पण्डिताःन- बालबुद्ध अपरिपक्व बुद्धि वाले ही कर्म सन्यास व कर्मयोग को अलग अलग फल देने वाले बताते हैं, बुद्धिमान नहीं । **एकम् अपि सम्यक् आस्थितः उभयोः फलम् विन्दते-** एक में भी अच्छी तरह स्थित (पुरुष) दोनों के फलरुप (परमात्मा को) प्राप्त होता है ।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं , तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च , यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानम् , तत् योगैः अपि गम्यते । एकम् साङ्ख्यम् च योगम् च , यः पश्यति स पश्यति ॥

साङ्ख्यैः यत् स्थानम् प्राप्यते- कर्म सन्यासियों द्वारा जो उच्च स्थान (लक्ष्य) प्राप्त किया जाता है, **तत् योगैः अपि गम्यते-** वही (स्थान/ उपलब्धि) कर्मयोगी ओं द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। **यः साङ्ख्यम् च योगम् एकम् पश्यति, स पश्यति-** इसलिए जो पुरुष कर्म सन्यास मार्ग और कर्मयोग मार्ग को (फलरूप में) एक देखता है वही (यथार्थ) देखता है ।

यद्यपि साधना के इन दोनों मार्ग से प्राप्त होने वाला फल एक ही है, परंतु दोनों की यात्रा भिन्न है। भगवान ने आगे के श्लोकों में दोनों मार्गों की मुख्य मुख्य बातों का वर्णन इस दृष्टि से किया है कि अर्जुन (अथवा कोई भी जिज्ञासु) अपने लिए उपयुक्त मार्ग का चुनाव कर अध्यात्म पथ को निर्विघ्नतः पूर्ण कर सके।

संन्यासस्तु महाबाहो , दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म , नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

संन्यासः तु महाबाहो , दुःखम् आप्तुम् अयोगतः । योग-युक्तः मुनिः ब्रह्म , न चिरेण अधिगच्छति ॥

तु महाबाहो-परन्तु हे अर्जुन ! **अयोगतः संन्यासः आप्तुम् दुःखम्-**कर्म योग के अभ्यास के बिना तो सन्यास प्राप्त होना अत्यंत कठिन है **, मुनिः योगयुक्तः-** मनन करने वाला कर्मयोगी **ब्रह्म न चिरेण अधिगच्छति-** ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा , विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा , कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

योग-युक्तः विशुद्ध-आत्मा , विजित-आत्मा जित-इन्द्रियः । सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा , कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥

योग-युक्तः-कर्मयोग का आचरण करने वाला, **विशुद्ध-आत्मा-** जिसका अंतःकरण राग-द्वेष आदि से रहित होकर शुद्ध हो गया है, **विजित-आत्मा-** जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, **जित-इन्द्रियः-** जिसने अपनी इंद्रियों को वश में कर लिया है, **सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा-** जिसने सब प्राणियों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया है, **कुर्वन् अपि न लिप्यते-** (लोक संग्रह के लिए) कर्म करता हुआ भी उस में आसक्त नहीं होता ।

गीता में भगवान कृष्ण की वाणी को समझने के लिए श्लोक-५.६ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ भगवान ने दोनों मार्गों को एक ही लक्ष्य प्राप्त कराने वाला बता कर भी स्पष्ट कर दिया कि कर्म योग की साधना के बिना सन्यास मार्ग सिद्ध होना कठिन होगा। इससे पूर्व (श्लोक-३.४ में) भी भगवान कह चुके हैं कि यदि कोई कर्मयोग द्वारा अपने अंतःकरण को शुद्ध किए बिना ही कर्म त्याग का मार्ग अपनाता है तो वह निष्कर्मता प्राप्त नहीं कर सकेगा और इसी कारण उसकी सन्यास साधना सधेगी नहीं। प्रकारांतर से आगे (श्लोक-६.३ में) भी इस तथ्य को पुनः समझाया है कि कर्मयोग में सिद्ध (योगारूढ़) हो जाने के पश्चात् तो कर्म सन्यास (शमः) साधन सफल हो सकता है किंतु उससे पूर्व योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले (आरुरुक्षों:) साधकों के लिए निष्काम कर्म का मार्ग की उपयुक्त साधन है। कुछ जिज्ञासु भगवान शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर अथवा महर्षि रमण जैसे जन्मजात सन्यासी महापुरुषों के जीवन वृतांत को देख-सुनकर भगवान कृष्ण के उपरोक्त वचनों की उपेक्षा करने लगते हैं किंतु हमें ऐसा न करते हुए यह समझना चाहिए कि ये विभूतियें तो पूर्व जन्मों में कर्म योग साधना से पवित्र होकर सन्यास में दीक्षित होने के पश्चात् अवतरित हुई होंगी। हमें अपनी आंतरिक स्थिति का सही परीक्षण करने के उपरांत ही कर्मयोग की अपेक्षा किसी अन्य मार्ग को अपनाना चाहिए।

अस्तु, श्लोक-७ को हमे श्लोक-६ के परिपेक्ष में समझने का प्रयास करना होगा। ऊपर इस श्लोक का हमने शाब्दिक अनुवाद दिया है। सभी प्रमुख टीकाओं में भी अनुवाद यही दिया गया है और व्याख्यायें भी इसी अनुवाद पर आधारित हैं। किंतु ये संतोषप्रद नहीं लगतीं। कारण यह है कि कर्म योगी तो जो भी कर्म करेगा वह निष्काम भाव से करेगा और उनसे कर्म बंधन हो ही नहीं सकता, यह बात भगवान पूर्व में (श्लोक-३.३१, ४.२० आदि में) कह चुके हैं, तो फिर यहाँ वे यह क्यों कहेंगे कि 'विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेंद्रिय और सर्वभूतात्म भूतात्मा' जैसे उच्चतर और

उच्चतम गुणों वाला योग युक्त साधक कर्म करके भी कर्म बंधन से मुक्त रहेगा। वस्तुतः अध्याय के विषय के अनुरूप श्लोक का भावार्थ इस प्रकार किया जाना चाहिए- 'कर्मयोगी भी निष्काम कर्म करता हुआ कर्मफल से उसी प्रकार नहीं बंधता जिस प्रकार कोई विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेंद्रिय और सर्वभूतात्म भूतात्मा रूप परम सिद्ध सन्यासी। सन्यासी यद्यपि बाह्य व्यवहार रूप कर्मों का तो सर्वथा त्याग कर चुका होता है किंतु जीवन धारण हेतु जो कुछ कर्म उसे करना पड़ते हैं उनसे उसे कर्म बंधन नहीं होता।' भगवान ने यह बात इसलिए कहीं क्योंकि अर्जुन के मन में पूज्य जनों को मारने से पाप होने का भाव गहरा बैठा हुआ था जिसके निराकरण हेतु वे यह बता रहे थे कि अध्यात्म पथ पर चलने वाले कर्मयोगी को बाह्य कर्म भी उसी प्रकार नहीं बांधते जिस प्रकार कि सन्यासी को वे आंतरिक कर्म और न्यूनतम बाह्य कर्म भी नहीं बांधते जो कि उसके द्वारा जीवन धारण हेतु होते हैं किंतु बिना 'मैं भाव' के बिना कामना के। कर्मयोगी बाह्य कर्मों को करता है किंतु किसी स्वार्थ हेतु नहीं, समष्टि हित हेतु ही करता है, अतः वे कर्म उसके लिए किसी प्रकार के कर्म-बंधन नहीं बनाते। इस प्रकार भगवान ने उसके पाप-भय का निराकरण करते हुए यह बात बहुत स्पष्टत: उसके सामने रख दी कि उसे उसके मानस के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और बहुत कठिनता से सिद्ध होने वाले सन्यास मार्ग को पकड़ने की आवश्यकता नहीं है, वह वही लक्ष्य बहुत सरलता से कर्मयोग मार्ग द्वारा प्राप्त कर सकेगा।

कर्म हमेशा बंधन कारी नहीं होते इसका एक और प्रबल उदाहरण वे श्लोक-८, ९ में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

नैव किञ्चित्करोमीति , युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन् , अश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

न एव किञ्चित् करोमि इति ,युक्तः मन्येत तत्त्ववित् । पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् , अश्नन् गच्छन् स्वपञ् श्वसन् ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् , उन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु , वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि । इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेषु वर्तन्ते इति धारयन् ॥

तत्त्ववित् युक्तः अपि-तत्वों की सच्चाई को जानने वाला सांख्य योगी अर्थात् कर्म सन्यासी भी **पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्-** देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, **अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्-** खाता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, **प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन् निमिषन्-** बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आंखें खोलता हुआ और मूँदता हुआ,**इति धारयन् एव इति मन्येत-** इस

प्रकार समझकर निसंदेह ऐसा माने (कि मैं) **किञ्चित् न करोमि -** कुछ भी नहीं करता हूँ, **इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेषु वर्तन्ते-**सब इंद्रियां अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं ।

सन्यास साधना के उक्त उच्च चरण की तुलना में कर्मयोग साधना के उच्च रूप (भक्ति) को श्लोक-१० में इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है -

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि , सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन , पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि आधाय कर्माणि , सङ्गम् त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न सः पापेन , पद्म-पत्रम् इव अम्भसा ॥

यः कर्माणि ब्रह्मणि आधाय- जो पुरुष सब कर्मों को सर्वव्यापी परमात्मा में अर्पण करके, **सङ्गम् त्यक्त्वा-** आसक्ति को त्याग कर **करोति-** (कर्म) करता है, **सः अम्भसा पद्म-पत्रम् इव पापेन न लिप्यते-** वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भांति पाप से लिप्त नहीं होता ।

श्लोक-८,९ में सांख्य योगी अर्थात् कर्म-सन्यासी की साधना का और श्लोक-१० में कर्मयोगी की साधना का जो वर्णन किया गया है उसमें दोनों मार्गों की तुलना निहित है। दोनों मार्गों का लक्ष्य है साधक की प्रकृति की दासता से मुक्ति। इस लक्ष्य सिद्धि हेतु सांख्य (कर्म सन्यास) मार्ग के प्रारंभिक चरण में साधक कर्मों को यथासंभव छोड़ने का प्रयत्न करता है क्योंकि कर्म प्रकृति के द्वारा क्रियान्वित होते हैं, और दूसरे चरण में साधक श्लोक-८,९ में वर्णित साधना का अभ्यास करता है। यह सूक्ष्म स्तर की साधना है जिसमें साधक उन क्रियाओं से जो शरीर में अपने आप (स्वमेव) होती हैं उनसे अपने को अर्थात् अपने अंतःकरण को मुक्त करने का अभ्यास करता है। यह क्रियाएं प्रकृति से हो रही हैं, 'मैं' नहीं कर रहा हूँ इस भाव में स्थित होने का सतत अभ्यास वस्तुतः प्रकृति से अपनी चेतन सत्ता को पृथक अनुभव करने का अभ्यास है और इस पर स्थिर होने पर जिस सत्ता का भाव होगा वह अपना आत्म स्वरूप होगा। महादेव भाई देसाई ने ('The Geeta According To Gandhi' में) व्याख्या की है कि जब तक साधक का 'क्षुद्र मैं' भाव अवस्थित रहेगा मुक्ति की यह अनुभूति होना संभव नहीं है, जो कि सांख्य साधना का लक्ष्य होता है।

कर्मयोग साधना के प्रथम चरण में साधक अपनी स्वार्थ परक वृत्तियों से मुक्त होने के लिए परहित/ निष्काम-कर्म करने का अभ्यास करता है और दूसरे चरण में श्लोक-१० में वर्णित सब प्राणीयों में स्थित परमात्मा के प्रति समर्पण के रूप में कर्म करने का, अर्थात् भगवत् सेवा भाव से कर्म करने का, अभ्यास करता है। इस प्रकार की भक्ति साधना का सुपरिणाम दो रूपों में उसे प्राप्त होता है- १. भगवत् सत्ता का सानिध्य, और २. अपने क्षुद्र अहं का उस सत्ता के प्रति समर्पण। दूसरे शब्दों में,

परमात्मा के प्रति दास्य भाव का स्वीकार। इस भगवत दासता से प्रकृति की दास्ता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार, इस कर्म युक्त भक्ति मार्ग द्वारा दुरूह सन्यास मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता से, प्रकृति से मुक्ति वाला वांछित परिणाम प्राप्त हो जाता है।

तत्ववित् : गीता ने सांख्य दर्शन की इस स्थापना को तो स्वीकार किया ही है कि यह सब दृश्य जगत दो मूल (अनादि) तत्वों- प्रकृति और पुरुष से निर्मित है (श्लोक-१३.१९)। जीवो में इन दोनों तत्वों की विशिष्ट भूमिकाओं को गीता में स्पष्टतः प्रथक-प्रथक वर्णित किया गया है (श्लोक-१३.२०, २१)। इन तथ्यों की सच्चाई को जानने वाले को 'तत्ववित्' कहा गया है।

अगले दो श्लोक क्रमांक-११,१२ कर्मयोग की उपलब्धियों का वर्णन करते हैं-

कायेन मनसा बुद्ध्या , केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति , सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन मनसा बुद्ध्या , केवलैः इन्द्रियैः अपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति , सङ्गम् त्यक्त्वा आत्म-शुद्धये ॥

योगिनः आत्म-शुद्धये मनसा, बुद्ध्या, कायेन, केवलैः इन्द्रियैः अपि-कर्मयोगी अंतःकरण की शुद्धि के लिए मन, बुद्धि, शरीर द्वारा (और) समस्त इंद्रियों द्वारा भी **सङ्गम् त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति-** आसक्ति त्याग कर कर्म करते हैं ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा , शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण , फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः कर्म-फलं त्यक्त्वा , शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण , फले सक्तः निबध्यते ॥

युक्तः कर्म-फलं त्यक्त्वा- लक्ष्यनिष्ठ साधक कर्म के फल का त्याग करके **नैष्ठिकीम् शान्तिम् आप्नोति-** अपनी निष्ठा का अंतिम लक्ष्य परम शांति को प्राप्त करता है,**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते-** लक्ष्य विहीन व्यक्ति कामनाओं के कारण फल की आसक्ति से बंधन को प्राप्त होता है ।

आसक्ति त्याग कर कर्म करने वाले कर्मयोगी की यद्यपि और कोई अपेक्षा नहीं होती, फिर भी उसे प्राप्त होने वाली उन दो उपलब्धियों की यहाँ चर्चा की गई है जिस हेतु से वह साधना करता है। वे हैं १. अंत:करण की शुद्धि और २. परम शांति की प्राप्ति।

आत्म शुद्धि : इसका अर्थ है अंतःकरण की शुद्धि अर्थात् इंद्रियें, मन, बुद्धि, अहंकार की स्वार्थ भाव से पूर्ण मुक्ति।

आसक्ति मुक्त कर्म : मन, बुद्धि, शरीर और इंद्रियों से होने वाले सभी कर्मों को आसक्ति और कामना से रहित होकर किए जाने का निर्देश दिया गया है। इनके कुछ उदाहरण इस प्रकार के हो सकते हैं- १. मन से होने वाले कर्म- जैसे कि प्राणियों के प्रति दया, करुणा, सहायता; २. बुद्धि से होने वाले कर्म- उदाहरणार्थ किसी को उचित सलाह, उपदेश आदि; ३. शारीरिक कर्म- किसी की सेवा-सुश्रुषा आदि। इस प्रकार के बहुत से कर्मों में मन, बुद्धि, शरीर रूप उपकरणों में किसी एक का, दो का या अधिक का उपयोग होता है। इन सभी कार्मों में कर्मयोगी को आसक्ति अर्थात् स्वार्थ पूर्ति या अपने लाभ का भाव नहीं होना चाहिए। ये कथन तो स्पष्ट है किन्तु एक बात और कही गई है जिस पर कुछ गहराई से विचार किया जाना वांछनीय होगा। यहाँ समस्त इंद्रियों के कर्मों में भी आसक्ति त्याग की बात कही गई है। यहाँ हमें ज्ञानेंद्रियों के कर्मों पर मुख्यतः विचार करना है क्योंकि हाथ-पैर आदि कर्म इंद्रियों से कर्मों का विचार तो शारीरिक कर्मों के अंतर्गत हो चुका है। जिव्हा, कर्ण, नेत्र आदि से निष्काम कर्म किये जाने का अर्थ इस रूप में लेना होगा कि इन इंद्रियों का उपयोग सुख भोगने के उद्देश्य से न करते हुए शरीर को निरोग और पुष्ट रखने हेतु किया जाए ताकि शरीर, मन, बुद्धि से निष्काम कर्म संपन्न हो सकें। इस उद्देश्य से इन इंद्रियों के कर्म भी निष्काम /आसक्ति रहित कर्मों की श्रेणी में ही आएंगे जैसा कि पूर्व में श्लोक-४.३० में 'नियताहारा यज्ञ' के अंतर्गत कहा भी जा चुका है।

अब आगे के श्लोकों में भगवान ने कर्म सन्यास मार्गों की विवेचना की है ऐसे साधक का जीवन दर्शन कैसा होता है इसका वर्णन श्लोक-१३ से १७ में किया गया है।

सर्वकर्माणि मनसा , संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही , नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सर्व-कर्माणि मनसा , संन्यस्य आस्ते सुखम् वशी । नव-द्वारे पुरे देही , न एव कुर्वन् न कारयन् ॥

देही मनसा सर्व-कर्माणि संन्यस्य वशी-शरीर धारी जीवात्मा जिसने मनसे सब कर्मों का त्याग करके अपनी प्रकृति को वश में कर लिया है, **न कुर्वन् न कारयन् एव नव-द्वारे पुरे सुखम् आस्ते-** न कोई कर्म करता हुआ और न ही कोई कर्म करवाता हुआ नौ द्वारों वाले नगर (अर्थात् मनुष्य शरीर) में सुख पूर्वक निवास करता है ।

नव द्वारे पूरे देही : मनुष्य शरीर को नौ द्वार वाला माना गया है- दो आंखें, दो कान, नासिका के दो छिद्र, मल-मूत्र विसर्जन की दो इंद्रियाँ और मुंह- इन नौ द्वार वाले शरीर में स्थित जीवात्मा का भोक्ता स्थिति से ऊपर उठकर दृष्टा स्थिति प्राप्त कर लेने वाले कर्म-सन्यासी की सिद्धावस्था का इस श्लोक में वर्णन किया गया है।

न कुर्वन् न कारयन्: ये शब्द कर्म-सन्यासी के बाह्य और आंतरिक दोनों स्तरों पर लागू होते हैं- १. ऐसा साधक अपने शरीर की प्राण रक्षा के लिए भी कोई उद्योग नहीं करता, अनायास जो प्राप्त हो जाए केवल वही खाकर सदा प्रसन्न रहते हुए आत्मानुभूति की साधना में अथवा सिद्धावस्था में स्थित रहता है, उदाहरणार्थ कुछ तपस्वी जैन साधुओं को इस प्रकार के व्रत का पालन करते हम आज भी देख सकते हैं। वे अनायास मिले ऐसी भिक्षा ही ग्रहण करते हैं, कोई गृहस्थ उनकी भिक्षा के निमित्त भोजन न बनाए, बचे-खुचे, भोज्य की अल्प मात्रा भी अनायास ही प्राप्त हो, इस हेतु वे प्रतिदिन मन में कुछ विशेष धारणा बना कर ही भिक्षा के लिए निकलते हैं। उस दिन में केवल चार पांच उन लोगों से ही अत्यंत अल्प मात्रा में भिक्षा ग्रहण करते हैं जो भिक्षाटन से पूर्व उन्होंने अपने मन में कल्पित की थी उसके अनुरूप यदि संयोग बने। इस प्रकार वे सुनिश्चित करते हैं कि कोई श्रद्धालु उनके निमित्त भोजन बनाकर उन्हें भिक्षा न दे, वरन् पूर्णतः संयोगवश प्राप्त भिक्षा ही वे स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा संयोग न बने तो वे निराहार ही रह जाते हैं। 2. उक्त शब्दों का दूसरा अर्थ आंतरिक स्तर वाला यह हो सकता है कि वह साधक न मन की प्रेरणा से कुछ करता है और न ही विषयों के आकर्षण उससे कर्म करा सकते हैं।

अगले चार श्लोकों में भगवान कर्म-सन्यासी की उस ज्ञान निष्ठा का वर्णन कर रहे हैं जो उसे सभी कर्मों का त्याग करने की प्रेरणा देती है। उसकी निष्ठा उसके उस दर्शन पर आधारित होती है जिस के अनुसार कर्म अज्ञान रूपा प्रकृति द्वारा संपन्न होते हैं, पुरुष तत्व शुद्ध ज्ञान स्वरूपा है और जीवात्मा (जिसे गीता में 'स्वभाव' कहा गया है) प्रकृति-पुरुष दोनों का युग्म रूप होता है और इसका पुनर्जन्म तब तक होता रहेगा जब तक वह प्रकृति से मुक्त नहीं हो जाता। अतः पुनर्जन्म से छुटकारा हेतु उसे उस प्रकृति से मुक्त होना पड़ेगा जो उससे कर्म कराती है। किंतु यहाँ हमें यह याद रखना है कि सांख्य दर्शन का उक्त उपपत्ति रूप निष्कर्ष (Corollary) भगवान कृष्ण ने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अर्जुन के समक्ष (और महाभारतकार ने हमारे लिए) इस हेतु से इसे वर्णित किया है कि इस ज्ञान मार्ग की तुलना कर्मयोग से करके वह (अथवा हम) अपने लिए उचित मार्ग का चुनाव कर सकें। कर्मयोग मार्ग के आधारभूत दर्शन और कर्म-सन्यास मार्ग के सांख्य दर्शन में बहुत थोड़ा सा किन्तु महत्वपूर्ण अंतर यह है कि कर्मयोग दर्शन में व्यक्ति को स्वयं को प्रकृति से मुक्त नहीं करना होता है वरन् प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करके उससे व्यवस्था परक कर्म कराना होता है जबकि कर्म-सन्यास में साधक संपूर्ण कर्मों को त्याग कर प्रकृति से

अपने को मुक्त करना चाहता है। प्रकृति को अधीन करके अवतरित होने की बात श्रीकृष्ण श्लोक-४.६ में पहले कह ही चुके हैं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि , लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं , स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न कर्तृत्वम् न कर्माणि , लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्म-फल-संयोगम् , स्वभावः तु प्रवर्तते ॥

प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वम्, न कर्माणि, न कर्म-फल-संयोगम् सृजति- प्रभु अर्थात् परमात्मा का अंश (प्रकृति मुक्त आत्मा) महेश्वर न तो लोगों को कर्तव्य प्रदान करता है, न वह कर्म करता है, न वह कर्मों का उनके फल के साथ संयोग करता है । **स्वभावः तु प्रवर्तते-**परंतु जीवात्मा ही कर्मों में प्रवृत्त होता है ।

नादत्ते कस्यचित्पापं , न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं , तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न आदत्ते कस्यचित् पापं , न च एव सुकृतं विभुः । अज्ञानेन आवृतम् ज्ञानम् , तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

विभुः न कस्यचित् पापं, च न सुकृतं एव आदत्ते- सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप कर्मों को और न शुभ कर्मों को ही ग्रहण करता है, **अज्ञानेन ज्ञानम् आवृतम्, तेन जन्तवः मुह्यन्ति-** (किंतु) अज्ञान (रूपा प्रकृति) से ज्ञान (रूप पुरुष) ढका हुआ है उसी से अज्ञानी मनुष्य मूढ़ (किं कर्तव्यविमूढ़) हो जाते हैं ।

स्वभाव : जीवात्मा, स्वयं के होने का जिसे भाव है, जिसे स्वयं का सत्ता बोध है, सीमित अहम् रूप व्यक्ति सत्ता (स्वभाव: अध्यात्म उच्चते, श्लोक-८.३)।

प्रभु और विभु : इनका अर्थ है आत्मा और परमात्मा, एक ही ज्ञान रूप परम सत्ता के दो नाम, व्यक्ति में प्रभु (अर्थात् जीवात्मा का प्रकृति से पृथक चेतन अंश) तथा समष्टि में विभु (अर्थात् जागतिक चेतना रूपी परमात्मा)। इस परिप्रेक्ष्य में श्लोक-१५ में समष्टिगत आत्म तत्व (अर्थात् परमात्मा) का वर्णन किया गया है और श्लोक-१४ में व्यक्तिगत आत्मा का संदर्भ है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं , येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं , प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

ज्ञानेन तु तत् अज्ञानम् , येषाम् नाशितम् आत्मनः । तेषाम् आदित्यवत् ज्ञानम् , प्रकाशयति तत् परम् ॥

तु येषाम् तत् अज्ञानम् आत्मनः ज्ञानेन नाशितम्-परंतु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, **तेषाम् आदित्यवत् ज्ञानम् तत् परम् प्रकाशयति-** उनका (वह) ज्ञान सूर्य के सदृश उस परम तत्व को प्रकाशित कर देता है ।

तद्बुद्धयस्तदात्मानः , तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं , ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तत् बुद्धयः तत् आत्मानः ,तत् निष्ठाः तत् परायणाः । गच्छन्ति अपुनरावृत्तिम् ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः ॥

तत् बुद्धयः-जिनकी बुद्धि परम तत्व में लीन हो जाती है, **तत् आत्मानः-** जिनका अंतःकरण उस तत्व में रम जाता है, **तत् निष्ठाः-** जिनकी निष्ठा उस एक परम तत्व में दृढ़ है, **तत् परायणाः-** जिन्होंने उस परम की शरण ले रखी है, **ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः-** अपना स्वरूप ज्ञान हो जाने से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, **गच्छन्ति अपुनरावृत्तिम् -** वे उस अवस्था को प्राप्त होते हैं जहां पहुंचकर पुनर्जन्म नहीं होता ।

श्लोक-१६ में आत्मज्ञान से अज्ञान के नष्ट होने की जो बात कही गई है उसका अर्थ श्लोक-१५ के संदर्भ से यह होगा कि प्रकृति रूपी अज्ञान से उत्पन्न पृथकत्व भाव के कारण मन-बुद्धि में जो राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, आत्मा का ज्ञान एक ओर तो एकत्व भाव पैदा करके उन्हें समाप्त कर देता है, दूसरी ओर यह ज्ञान सर्वव्यापी परमात्मा की अनुभूति भी प्रदान करता है।

उक्त ज्ञान से मन, बुद्धि आदि व्यक्तित्व के संपूर्ण स्तरों के अभिभूत हो जाने पर पुनर्जन्म से भी जीवात्मा मुक्त हो जाता है, यह बात श्लोक-१७ में कही गई है। इस प्रकार, इन दो श्लोकों में कर्म-सन्यास साधना की पूर्ण सिद्धि प्राप्त होने के सुपरिणामों का वर्णन किया गया है।

अब अगले पांच श्लोकों (क्रमांक-१८ से २२) में उक्त साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेने वाले ज्ञानयोगी के विचार और व्यवहार संबंधी लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है-

विद्याविनयसम्पन्ने , ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च , पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्या-विनय-सम्पन्ने , ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि च एव श्वपाके च , पण्डिताः सम-दर्शिनः ॥

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे च श्वपाके- सुशिक्षित विनयशील ब्राह्मण में और चाण्डाल में, **एव गवि हस्तिनि च शुनि-** वैसे ही गाय, हाथी और कुत्ते में **पण्डिताः सम-दर्शिनः-** ज्ञानीजन समदर्शी होते है ।

इहैव तैर्जितः सर्गो , येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म , तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इह एव तैः जितः सर्गः , येषाम् साम्ये स्थितम् मनः । निर्दोषम् हि समम् ब्रह्म , तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

येषाम् मनः साम्ये स्थितम्- जिनका मन सम भाव में स्थित हो गया है, **तैः इह एव सर्गः जितः-**उनके द्वारा इसी शरीर में रहते हुए भी अपने आंतरिक संसार (सर्गः) को जीत लिया है। **हि ब्रह्म निर्दोषम् समम्-** क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, **तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः-** इसलिए वे ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं ।

उपरोक्त दो श्लोकों में कर्म-सन्यास मार्ग के साधक द्वारा ब्रह्म प्राप्ति की साधना हेतु ज्ञान मार्ग के तीन चरणों का वर्णन किया गया है। बौद्धिक स्तर की एकत्व दर्शन साधना का वर्णन श्लोक-१८ में; मन के स्तर पर समत्व भाव, और तदनुरूप व्यवहार करने में मुख्य बाधा अहंकार को जीत लेने पर ब्रह्म प्राप्ति रूप लक्ष्य सिद्धि होती है यह बात श्लोक-१९ में इंगित की गई है।

सर्ग : सामान्यतः इस शब्द का अर्थ 'संसार' किया जाता है किंतु भागवत् पुराण में सर्ग और विसर्ग का जो वर्णन है उसमें इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ निहित हैं। सर्ग- सुक्ष्म सृष्टि और विसर्ग- स्थूल सृष्टि। सर्ग का यह विशिष्ट अर्थ ही यहाँ उपयुक्त होने से हमने सर्ग का अर्थ 'व्यक्ति की मन-बुद्धि-अहंकार रूप आंतरिक सृष्टि' लेकर सांख्य साधक को इन्हें ब्रह्ममय करना होता है ऐसा भावार्थ किया है।

ज्ञान मार्ग द्वारा ब्रह्म प्राप्त कर लेने वाले सिद्ध पुरुष के कुछ और लक्षणों का वर्णन इन शब्दों में-

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य , नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो , ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

न प्रहृष्येत् प्रियम् प्राप्य , न उद्विजेत् प्राप्य च अप्रियम् । स्थिर-बुद्धिः असम्मूढः , ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः ॥

स्थिर-बुद्धिः- जिसकी बुद्धि स्थिर है, **असम्मूढः-** जो मोह से मुक्त है, **ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः-** जिसे ब्रह्मज्ञान होकर वह उसमें स्थिर है**, प्रियम् प्राप्य न प्रहृष्येत्-** वह प्रिय वस्तु पाकर प्रसन्न नहीं होता, **च अप्रियम् प्राप्य न उद्विजेत्-** और अप्रिय की प्राप्ति से उद्विग्न नहीं होता।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा , विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा , सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य-स्पर्शेषु असक्त-आत्मा , विन्दति आत्मनि यत् सुखम् । सः ब्रह्म-योग-युक्तात्मा , सुखम् अक्षयम् अश्नुते ॥

बाह्य-स्पर्शेषु असक्त-आत्मा- स्पर्श आदि इंद्रियों के विषयों के बाह्य सुखों में जो लिप्त नहीं है**, आत्मनि यत् सुखम् विन्दति-** उसे वह आनंद होता है जो आत्मा में है, **सः ब्रह्म-योग-युक्तात्मा-** वह जिसने अपने को ब्रह्म के योग में लगाया हुआ है **अक्षयम् सुखम् अश्नुते-** अक्षय सुख का अनुभव करता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा , दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय , न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ये हि संस्पर्शजाः भोगाः , दुःख-योनयः एव ते । आदि अन्तवन्तः कौन्तेय , न तेषु रमते बुधः ॥

हि संस्पर्शजाः ये भोगाः- क्योंकि विषयों के साथ संस्पर्श से उत्पन्न होने वाले जो सुख हैं **ते आदि अन्तवन्तः-** वे आदि अन्त वाले हैं **तस्मात् कौन्तेय-** इसलिए हे अर्जुन! **दुःख एव योनयः-** (वे) दुखों को जन्म देने वाले हैं, **बुधः न तेषु रमते-** ज्ञानी उनमे रमण नहीं करते ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं , प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं , स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

शक्नोति इह एव यः सोढुम् , प्राक् शरीर-विमोक्षणात् । काम-क्रोध-उद्भवम् वेगम् , सः युक्तः सः सुखी नरः ॥

यः इह शरीर-विमोक्षणात् प्राक् एव-जो (साधक) इस शरीर के नाश होने से पहले ही **काम-क्रोध-उद्भवम् वेगम् सोढुम् शक्नोति-** कामना और क्रोध से उत्पन्न (क्रिया में प्रवृत्त कराने वाले) आवेद को सहन करने में समर्थ हो जाता है सः नरः युक्तः सः सुखी वहीं पुरुष सफल योगी है, वही अपने आनंद स्वरूप आत्मा की अनुभूति कर पाता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः , तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं , ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

यः अन्तः-सुखः अन्तः-आरामः , तथा अन्तरः-ज्योतिः एव यः । सः योगी ब्रह्म-निर्वाणम् , ब्रह्म-भूतः अधिगच्छति ॥

यः अन्तः-सुखः, अन्तः-आरामः, तथा यः अन्तः-ज्योतिः एव- जो (साधक) अपने अंदर ही सुख, अपने अंदर ही प्रसन्नता, अपने अंदर ही (ज्ञान के) प्रकाश का अनुभव कर लेता है **सः योगी ब्रह्म-भूतः ब्रह्म-निर्वाणम् अधिगच्छति-** वह योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्म-निर्वाणता को प्राप्त करता है ।

अंतः सुखः का शाब्दिक अर्थ सामान्यत: 'अपने अंदर सुख की अनुभूति करने वाला' किया जाता है, किंतु यह अर्थ समाधान कारक इस रूप में नहीं है कि यह नहीं बताता है कि उस सुख का स्रोत क्या होगा? इसका समाधान कारक संकेतात्मा अर्थ हमें गीता पर एक (सिरताज पानडीवाल कृत कम ख्यात टीका में मिला जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह सुख अंतर-आत्मा को सब के प्रति एकत्व की अनुभूति होने पर होती है। इसी प्रकार, अंतरारामः (अन्तः आरामः) और अंतर्ज्योतिः शब्द हैं जो क्रमशः प्रसन्नता और ज्ञान की अनुभूति को व्यक्त करते हैं।

ब्रह्म, ब्रह्मभूत, और ब्रह्मनिर्वाण : ब्रह्म शब्द 'बृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है फैलना, विस्तार प्राप्त करना। अनंत विस्तार वाली सत्ता का नाम ब्रह्म है। इस सृष्टि के दोनों मूल तत्व, प्रकृति और पुरुष, ब्रह्म कहे जाते हैं और संदर्भ अनुसार हमें समझना होता है कि किस वस्तु की- प्रकृति की, पुरुष की, अथवा दोनों की- बात कही जा रही है।

ब्रह्मभूत : यहाँ ब्रह्म से तात्पर्य है सर्वव्यापी चेतन सत्ता और ब्रह्म भूत का अर्थ है व्यक्ति में 'मैं' रूप में व्यक्त हो रही व्यक्ति-सत्ता का विश्व के सभी प्राणियों में क्रियाशील चेतन सत्ता से एकत्व की अनुभूति।

ब्रह्मनिर्वाण : इस शब्द की व्याख्या हम श्लोक-२.७२ के संदर्भ में पहले कर चुके हैं। यहाँ उसके सार का पुनः स्मरण कर लें। ब्रह्म निर्वाण में अनुभूति करता जीवात्मा की पृथक सत्ता नहीं रहती, वह परमात्मा में पूर्णतः विलीन हो जाती है जबकि ब्रह्म भूत अवस्था में एकत्व की अनुभूति करने वाले जीवात्मा का पृथक अस्तित्व वर्तमान रहता है।

गीता में निर्वाण का अर्थ बौद्धों की शून्यता नहीं है। निर्वाण शब्द का अर्थ है 'पूरी तरह से बुझ जाना', और गीता में भाव है 'देह भाव से बंधे अहम् रूप दीपक का बुझ जाना'। वैदिक परिपाटी में अहम् की समाप्ति नहीं होती उसका सर्वव्यापक सत्ता में रूपांतरण होता है अतः वैदिक ऋषियों ने उस अनुभूति को ब्रह्म निर्वाण (ब्रह्म रूपी लक्ष्य में वाण रूपी सत्ता का समा जाना) कहा है। यहाँ ब्रह्म एक वास्तविकता है।

ब्रह्मभूत से ब्रह्मनिर्वाण : श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि साधक पहले ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करता है अर्थात् प्राणियों से एकत्व की अनुभूति करता है, पश्चात् ब्रह्म निर्वाणता प्राप्त करता है अर्थात् जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुभव कर्ता का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस स्थिति को 'वेदांत' शब्द से भी इंगित किया गया है (श्लोक-१५.१५)।

अब अगले चार श्लोक-२५ से २८ में भगवान बता रहे हैं कि कर्म-संन्यास के अंतर्गत ज्ञानमार्ग से परम लक्ष्य रूप जिस ब्रह्म निर्वाण स्थिति की प्राप्ति का वर्णन ऊपर (श्लोक-१३ से २४ में) किया गया है वही स्थिति साधना के अन्य मार्गों द्वारा भी प्राप्य है। श्लोक-२५ में ऋषियों के कर्मयोग मार्ग द्वारा, श्लोक-२६ में यतियों के घोर-तप वाले मार्ग द्वारा, और श्लोक-२७,२८ में मुनियों के ध्यान-मार्ग द्वारा भी उसी स्थिति की प्राप्ति बताई गई है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् , ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः , सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

लभन्ते ब्रह्म-निर्वाणम् , ऋषयः क्षीण-कल्मषाः । छिन्न-द्वैधाः यत-आत्मानः , सर्व-भूतहिते रताः ॥

सर्व-भूतहिते रताः- जो सब प्राणियों के हित में रत है, **क्षीण-कल्मषाः-** जो सब पापों (संस्कार-दोषों) से मुक्त हो गए हैं, **यत-आत्मानः-** जिनने अपने को अनुशासित कर लिया है **छिन्न-द्वैधाः-**जिनके मन की अनिश्चितता समाप्त

हो गई है **ऋषयः-**(ऐसे) ऋषिगण (भी) **ब्रह्म-निर्वाणम् लभन्ते-** (उसी) ब्रह्मनिर्वाण स्थिति को प्राप्त करते हैं ।

कामक्रोधवियुक्तानां , यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं , वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम-क्रोध-वियुक्तानाम् , यतीनाम् यत-चेतसाम् । अभितः ब्रह्म-निर्वाणं , वर्तते विदित-आत्मनाम् ॥

काम- क्रोध-वियुक्तानाम्- कामनाओं और (अहंकार से उत्पन्न) क्रोध से मुक्त हुए, **यत-चेतसाम्-** जीते हुए चित्त वाले (अर्थात् जिन्होंने अपने मन-बुद्धि को वश में कर लिया है) **विदित-आत्मनाम्-** जिन्होंने 'स्व तत्व' को जान लिया है, **यतीनाम् ब्रह्म-निर्वाणं अभितःवर्तते-** (ऐसे) यती साधक (भी) ब्रह्मनिर्वाण स्थिति को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं ।

यहाँ यतियों के जिस मार्ग का उल्लेख है उसका उदाहरण नाथ संप्रदाय हो सकता है। इस परम्परा के गुरु गोरखनाथ के नाम से हम सब परिचित है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान् , चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा , नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिः बाह्यान् , चक्षुः च एव अन्तरे भ्रुवोः । प्राण-अपानौ समौ कृत्वा , नास-अभ्यन्तर-चारिणौ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः , मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो , यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

यत-इन्द्रिय-मनः बुद्धिः , मुनिः मोक्ष-परायणः । विगत-इच्छा-भय-क्रोधः , यः सदा मुक्तः एव सः ॥

यः बाह्यान् स्पर्शान् बहिः एव कृत्वा-जो साधन बाहर के विषयों को बाहर ही निकाल कर(अर्थात् विषयों की कामनाओं से मुक्त होकर) **चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे-** नेत्रों की दृष्टि को भृकुटि के बीच में स्थिर करके **नास-अभ्यन्तर-चारिणौ प्राण-अपानौ समौ कृत्वा-** और नाथुनों के भीतर चलने वाली प्राण-अपान वायु को सम करके (नियंत्रित करके बैठता है) **सः-**वह (इस अभ्यास से) **यत-इन्द्रिय-मनः बुद्धिः-**इंद्रियों, मन-बुद्धि पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, **विगत-इच्छा-भय-क्रोधः-** काम(इच्छा), क्रोध और भय से मुक्त हो जाता है, **मुनिः मोक्ष-परायणः सदा मुक्तः एव-** (ऐसा) मोक्ष परायण मुनि सदा मुक्त ही है (वस्तुतः उसने ब्रह्मनिर्वाण स्थिति को ही प्राप्त कर लिया है) ।

वर्तमान प्रकरण का विहंगावलोकन करें तो हम पाते हैं कि भगवान ने पहले तो कर्मसन्यास मार्ग का वर्णन किया (श्लोक-१३ से २३), फिर उसकी परम सिद्धि के रूप में ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति (श्लोक-२४) बता कर यह भी बताया कि वह परम स्थिति अन्य दूसरी साधना पद्धतियों से भी प्राप्त की जाती है (श्लोक-२५ से २८)। वस्तुतःभगवान ने इन साधना पद्धतियों का जो संक्षिप्त किंतु व्यापक वर्णन यहाँ

किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कर्मसंन्यास मार्ग को अर्जुन सरल समझ कर उसे अपनाना चाहता था वह तो अन्य सभी मार्गो (ऋषिओं के कर्म मार्ग, यतियों के तप-साधना मार्ग और मुनियों के ध्यान मार्ग) से कहीं अधिक दुस्साध्य है क्योंकि इन दूसरे मार्गो में से किसी भी एक विशिष्ट मार्ग के लिए जिन कुछ विशिष्ट गुणों को अर्जित करने का अभ्यास उस मार्ग के साधक को करना होता है, उन सभी गुणों के अर्जन का अभ्यास कर्म-सन्यास मार्ग के साधक को करना होता है।

उक्त विवेचना के अंतिम दो श्लोकों (क्रमांक-२७,२८) में जो ध्यान मार्ग का संक्षिप्त वर्णन है वह वस्तुत: अगले अध्याय-६ की प्रस्तावना है। वहाँ इस मार्ग का विस्तृत वर्णन हुआ है और वहाँ भी ध्यान से ब्रह्मभूत स्थिति तथा इससे भी उच्च ब्रह्मसंस्पर्शम् अर्थात् ब्रह्म निर्वाण स्थिति की प्राप्ति का वर्णन हुआ है (श्लोक-६.२७, २८)। इसी कारण हमने ध्यान संबंधी इन श्लोकों (क्रमांक-५.२७,२८) को ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति के वैकल्पिक साधनों के वर्णन के अंतर्गत माना है।

साधना पद्धतियों की तुलनात्मक विवेचना के पश्चात् अब भगवान अध्याय के अंत में इन सब पद्धतियों को उन दो वर्गों में वर्गीकृत कर रहे हैं जिनका उद्देश्य वे पूर्व में (श्लोक-२.३९ और ३.३ में) कर चुके हैं। इन वर्गों को यहाँ कर्मयोग आधारित 'यज्ञ' और आंतरिक साधना आधारित 'तप' से चिन्हित करते हुए उनकी लक्ष्य सिद्धि के रूप में, कर्मयोग द्वारा प्राप्त विश्वजनीन चेतना प्राप्ति के उदाहरण के रूप में, अपने को इस प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं-

भोक्तारं यज्ञतपसां , सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां , ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

भोक्तारम् यज्ञ-तपसाम् , सर्व-लोक-महेश्वरम् । सुहृदम् सर्व-भूतानाम् , ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ॥

माम् यज्ञ-तपसाम् भोक्तारम्- (साधक) मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता,**सर्व-लोक-महेश्वरम्-**सब लोकों का महान ईश्वर (शासक, नियंत्रक) **सर्व-भूतानाम् सुहृदम्-** सब प्राणियों का सुहृद (हितेशी, दयालु और प्रेमी) **ज्ञात्वा शान्तिम् ऋच्छति-**जानकार शांति को प्राप्त होता है ।

यहाँ भगवान कृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक पहचान जीवात्मा से उच्चतर सत्ता के रूप में प्रकट की है। श्लोक के प्रथम चरण में कहा गया है कि वे 'यज्ञ' और 'तप' के भोक्ता है। 'यज्ञ' शब्द कर्मयोग (निष्काम कर्म साधना) को और 'तप' यतियों / मुनियों / कर्मसन्यासियों की आंतरिक खोज परक साधना को लक्षित कराते हैं। उनके वचनों का शब्दार्थ तो स्पष्ट ही है कि वे कर्म योग साधक में यज्ञ के भोक्ता के रूप में और

कर्म सन्यासियों तथा यतियों / मुनियों में वे तप के भोक्ता के रूप में अपनी भूमिका निभाते हैं। भावार्थ यह है कि जैसे जीवात्मा अन्न का भोग करके शरीर को पुष्टि प्रदान करता है, यह उच्चतर सत्ता उन व्यक्तियों में जिनमें वह 'जाग्रत' हो चुकी है उनमें वह यज्ञ / तप का भोग करके उन्हें 'एकत्व अनुभूति' रूप आध्यात्मिक पुष्टि प्रदान करती है जिसे ब्रह्मभूत और ब्रह्म निर्वाण (ब्रह्मसंस्पर्शम्) के रूप में व्यक्त किया गया है।

श्री भगवान ने अपनी उक्त आध्यात्मिक सत्ता को श्लोक के दूसरे चरण में 'सर्वलोक महेश्वरम्' और तीसरे चरण में 'सर्वभूतानां सुहृदं' कहा है। 'सर्वलोक' से यहाँ अभिप्रेत अर्थ है त्रिलोक- भूः , भुवः, स्वः; व्यक्ति में चेतना के तीन क्षेत्र- प्राण, मन (मनस), आत्मा (आत्म सत्ता); अथवा स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर आदि; और 'महेश्वर' का अर्थ है- महान स्वामी/शासक अर्थात् उक्त तीनों लोकों की नियंत्रक शक्ति। वस्तुतः मनुष्येतर प्राणियों में केवल शरीर की क्रियाओं को नियंत्रित करने वाली चेतन सत्ता होती है, सामान्य मनुष्य में इस प्राणिक सत्ता के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि, अहंकार) को नियंत्रित करने वाली चेतन सत्ता होती है जिसे जीवात्मा कहा जाता है, आध्यात्मिक जाग्रति वाले श्रेष्ठ पुरुषों में इन दोनों के अतिरिक्त एक और उच्च चेतन सत्ता की जाग्रति हो जाती है जिसे गीता ने यहाँ 'सर्वलोक महेश्वर', आगे श्लोक-९.१८ में 'गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत' कहा है तथा श्लोक-१३.२२ में इसे जीवात्मा (भोक्ता) से उच्च और परमात्मा से पूर्व वाली चेतन सत्ता बताकर महेश्वर नाम से ही संबोधित किया है। इसी उच्च सत्ता को उपनिषदों में साक्षी, जीवात्मा का सखा, उच्च चेतना रूप दूसरी चिड़िया- 'द्वा सुपर्णा सयुज सखाया' कह कर उसका बोध कराया है।

श्लोक के तीसरे चरण के 'सुहृदं सर्वभूतानां' शब्दों का अर्थ है- सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीपूर्ण, करुणापूर्ण भावों से युक्त। जिसमें उस महेश्वर सत्ता की जाग्रति हो जाएगी तो वह इन श्रेष्ठ भावों से परिपूर्ण हो ही जाएगा। बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट तथा वर्तमान युग के गांधी में भी हमें वह करुणा से युक्त सुहृदता की जाग्रति देखने को मिलती है।

श्लोक के चौथे चरण में कहा गया है कि उस उच्च चेतन सत्ता को जानकर साधक शांति को प्राप्त कर लेता है। यहाँ जानने का अर्थ 'अनुभव करना' भी हो सकता है तथा 'बुद्धि से जानना' भी हो सकता है। यह दूसरा अर्थ भी लें तो यदि हमें अपने जीवन का आध्यात्मिक लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तो हमारा भटकाव समाप्त होकर बुद्धि के स्तर पर शांति की प्राप्ति होगी और अनुभूति वाला अर्थ लें तब तो परम लक्ष्य के सिद्ध होने पर परम शांति की प्राप्ति होगी ही।

अध्याय ६ की विषय-वस्तु

ब्रह्मनिर्वाण स्थिति की प्राप्ति उन सांख्य मतावलम्बियों का परम लक्ष्य होता है जो निर्गुण ब्रह्म के उपासक होते हैं, किंतु सगुण उपासक की आध्यात्मिक उपलब्धि को भगवान ने अध्याय-५ के अंतिम श्लोक (क्रमांक-५.२९ में) 'महेश्वर' सत्ता की जाग्रति बताते हुए अर्जुन को यह मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया।

अर्जुन ने यह सब विवेचना ध्यान पूर्वक सुनी किंतु वह चुप रहा। भगवान समझ गए कि अर्जुन के मन से कर्म-सन्यास मार्ग का आकर्षण समाप्त नहीं हुआ था। इतना ही नहीं, मुनियों के ध्यान मार्ग का वर्णन जब भगवान कर रहे थे उस समय के अर्जुन की भाव भंगिमा से, हमारा अनुमान है कि, भगवान ने ताड़ लिया कि अर्जुन का आकर्षण उक्त मार्ग के प्रति विशेष रूप से अधिक था। इस कारण भगवान ने अब ध्यान मार्ग का ब्यौरेवार वर्णन करना प्रारंभ किया। यह वर्णन ही अध्याय-६ की विषय वस्तु है।

कर्म-सन्यास मार्ग की सभी विधाओं की तरह ध्यान मार्ग में भी सफलता प्राप्ति हेतु प्राथमिक आवश्यकता निष्काम-कर्म साधना द्वारा आत्म-शुद्धि (अर्थात् स्वार्थ वृत्ति से मुक्ति) है यह बताकर फिर उन्होंने ध्यान मार्ग का विस्तृत वर्णन किया। इस संपूर्ण वर्णन को सुनकर अर्जुन को इस मार्ग की कठिनाइयों का स्पष्ट बोध हुआ और उसने यह शंका भी प्रकट की, कि इस मार्ग से तो फिर किसी भी साधक का सफल होना संदिग्ध होगा। तब भगवान ने स्पष्ट किया कि जो अपने को स्वार्थ वृत्तियों से पूर्णतः मुक्त कर चुकने के कारण वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं वे मन को स्थिर करने के अभ्यास में भी सफल होकर निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने में भी, इस जन्म में अथवा आगामी जन्मों में, सफल हो जाते हैं किंतु वह मार्ग दुरूह और फिसलन युक्त है। कर्मयोग का मार्ग तपस्वियों के मार्ग से और सांख्यिकों के ज्ञान मार्ग से श्रेष्ठ है, अतः हे अर्जुन! तुझे कर्मयोग मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। अध्याय-६ का सारांश यही है।

◆ ◆ ◆

षष्ठः अध्यायः

कर्म सापेक्ष ध्यानयोग

कर्म-संन्यास सहित किसी भी आध्यात्म पथ का प्राथमिक चरण है निष्काम कर्म-साधना यह बात भगवान ने इस अध्याय के प्रथम चार श्लोकों में कहीं है। मनुष्य योनि में 'अहम्' अर्थात् 'मैं हूँ' अनुभूति का जो प्रादुर्भाव होता है तो प्रारंभ में उसका क्षेत्र बहुत सीमित होता है और तब इसे 'अहंकार' अथवा 'इड' कहा जाता है। धीरे-धीरे इसके क्षेत्र का विस्तार शरीर से परिवार और देश आदि में होता है और निष्काम कर्म से इस विकास को त्वरित गति प्राप्त होती है। अहंकार के कारण जो सुख भोग के संस्कार (वृत्तियाँ) जीवात्मा ग्रहण किए हुए रहता है वे ही इसके क्षेत्र-विस्तार अर्थात् आध्यात्मिक विकास में बाधक होते हैं और इसका परिमार्जन निष्काम सेवा कर्म (कर्मयोग) से होता है। इस तथ्य को रेखांकित करने हेतु ही ये श्लोक कहे गए हैं।

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं , कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च , न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अनाश्रितः कर्म-फलम् , कार्यम् कर्म करोति यः । सः संन्यासी च योगी च , न निरग्निः न च अक्रियः

यः कर्म-फलम् अनाश्रितः कार्यम् कर्म करोति-जो पुरुष कर्मफल का आश्रय लेकर करने योग्य कर्म करता है **सः संन्यासी च योगी-** वह संन्यासी है तथा योगी (कर्मयोगी) है, **च न निरग्निः च अक्रियः न-** और वह नहीं जिसने अग्नि का भी त्याग करके पूर्णतः अक्रिय हो गया है ।

यहाँ संन्यासी और योगी (कर्मयोगी) दोनों प्रकार के साधकों के लिए कर्मफल से मुक्त होना आवश्यक बताया है। आम धारणा यह है कि संन्यासी तो कर्मों का पूरी तरह त्याग कर चुका होता है, इसे श्लोक के चौथे चरण में स्पष्ट ही नकार दिया गया है और इसी संदर्भ में श्लोक की प्रथम पंक्ति के शब्द हैं। तो फिर दोनों मार्गों में भेद क्या है? यह भेद आगे के वर्णनों से इस रूप में स्पष्ट हो जाएगा कि कर्मयोगी निष्काम कर्म को न केवल आधारभूत तैयारी के रूप में, आत्मशुद्धि के लिए, वरन् उसके बाद

इसे परमात्म भाव से जोड़कर साधना के रूप में भी अपनाता है, जबकि संन्यासी इसे केवल आत्मशुद्धि हेतु अपनाकर आगे ध्यान साधना अथवा तप का मार्ग अपनाता हैं।

निरग्नि : टीकाकारों ने शांकर भाष्य का अनुसरण करते हुए, 'निरग्नि' का अर्थ किया है अग्नि में होम / श्रोत /स्मार्त आदि किए जाने वाले कर्मो का त्याग और 'अक्रिय' का अर्थ किया है धार्मिक क्रियाएं / दान / तप आदि क्रियाओं को त्याग देने वाला। यह अर्थ समाधान कारक नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः बहुत से संयासी अग्नि न छूने का व्रत लेकर केवल भिक्षा पर जीवन चलाते थे, संभवत: यहाँ ऐसे व्रतधारी संन्यासियों को लक्षित कराया गया है और ये 'निरग्नि' साधक 'अक्रियता' को साधना का आवश्यक अंग मानते थे। ऐसे 'निरग्नि' साधु संन्यासियों का देखा जाना कुछ वर्ष पहले तक आम बात थी। भगवान ने इस प्रकार की संन्यास साधनों को भी अस्वीकार किया है।

जिस प्रकार श्लोक-१ में भगवान ने अग्नि का त्याग करने वाले संन्यासियों की कार्यप्रणाली को अस्वीकृत किया, उसी प्रकार श्लोक-२ में वे संकल्पों (कामनाओं) का त्याग न करने वाले कर्मयोगी की साधना को भी अस्वीकार कर रहे हैं-

यं सन्न्यासमिति प्राहुः, योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो , योगी भवति कश्चन ॥२॥

यम् संन्यासम् इति प्राहुः , योगम् तम् विद्धि पाण्डव । न हि असंन्यस्त-सङ्कल्पः , योगी भवति कश्चन ॥

हे पाण्डव-हे अर्जुन ! **यम् सन्न्यासम् इति प्राहुः-** जिसे संन्यास कह दिया जाता है **तम् योगम् विद्धि-** वैसा ही (तू) योग को समझ, **हि असन्न्यस्त-सङ्कल्पः कश्चन योगी न भवति-** वस्तुतः संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी योगी नहीं होता ।

इस प्रकार दोनों मार्गों के साधकों को भगवान ने इस बारे में सावधान किया है कि वे साधना के अपने मार्ग पर चलने की रस्म अदायगी न करें बल्कि उसके मूल तत्व को समझकर पूरी उत्कटता के साथ उस पर चलेंगे तो ही सफलता की आशा की जा सकती है।

अब अगले श्लोक में बता रहे हैं कि संन्यास मार्ग में सफलता प्राप्ति की पूर्व शर्त के रूप में जो कर्मयोग साधना की आवश्यकता श्लोक-५.६ में बताई थी उसका मापदंड कैसे निर्धारित होगा कि साधक कर्म संन्यास मार्ग पर चलना कब प्रारंभ कर सकता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं , कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव , शमः कारणमुच्यते ॥३॥

आरुरुक्षोः मुनेः योगम् , कर्म कारणम् उच्यते । योग-आरूढस्य तस्य एव , शमः कारणम् उच्यते ॥

योगम् आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणम् उच्यते-कर्मयोग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुनि (मननशील साधक) के लिए निष्काम कर्म ही साधन बताया गया है, **तस्य योग-आरूढस्य एव शमः कारणम् उच्यते-** (और) उस योगारूढ़ हो चुके साधक के लिए ही कर्म संन्यास की साधना बताई गई है ।

आरूरुक्षः और योगरूढ़ शब्द : श्लोक के भावार्थ को समझने के लिए हमें इन शब्दों को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। 'आरूरुक्ष' का अर्थ है- 'ऊपर चढ़ने को उत्सुक'। श्लोक की प्रथम पंक्ति अध्यात्म पथ पर चलने को उत्सुक प्रत्येक व्यक्ति को लक्षित करके कहीं गई है कि उसके लिए कर्म अर्थात् कर्मयोग प्रथम साधन है। कर्म अर्थात् निष्काम कर्म अर्थात् कर्मयोग। परमात्म प्राप्ति अथवा ब्रह्म प्राप्ति वाली उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु फिर आगे भक्ति (परमेश्वर भाव से कर्म) अथवा ध्यान आदि साधनाऐं करना होती है जिनका वर्णन आगे किया गया हैं। लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति का हो अथवा सगुण परमात्मा की प्राप्ति का, यह प्रारंभिक साधना प्रत्येक के लिए अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन यात्रा के प्रारंभिक चरणों में सीमित अहम् में स्थित होता है अतः वह स्वार्थ वृत्तियों से बंधा होता है। इसी कारण वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकारों से ग्रस्त रहता है। जब तक वह स्वार्थ वृत्तियों से मुक्त होकर अंतःकरण की शुद्धता प्राप्त नहीं कर लेता, परमात्म प्राप्ति अथवा ब्रह्म प्राप्ति का प्रयास सफल नहीं हो सकता। निष्काम-कर्म रूप प्रतिकारक उपाय से ही स्वार्थवृत्ति रूप भ्रष्टता का इलाज संभव है, इस कारण प्रत्येक नये साधक के लिए कर्म योग साधना आवश्यक बताई गई है।

आत्मशुद्धि के उपरांत दो वैकल्पिक मार्ग उपलब्ध होते हैं- १. कर्मयोग अनवरत चालू रहे, उसके साथ परमात्म भाव जोड़ा जाए, इस मार्ग की विवेचना गीता ने आगे भक्ति के रूप में अनेक अध्यायों में बहुत विस्तार से की है क्योंकि गीता इसी मार्ग को सामान्य व्यक्ति के लिए सहज, सरल, निर्दोष और सुरक्षित मानती है। दूसरा वैकल्पिक मार्ग है- २. कर्म संन्यास के अंतर्गत अध्याय-५ मे इंगित कोई भी साधना के अभ्यास द्वारा ब्रह्म निर्वाण स्थिति की प्राप्ति अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में आत्मसत्ता का विलोप। क्योंकि इस साधन पथ (क्रमांक-२) में कर्म का त्याग कर दिया जाता है अतः इस प्रकार की कोई भी साधना प्रारंभ करने के पूर्व साधक को कर्मयोग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है और इस सिद्धि को व्यावहारिक रूप में इंगित करने हेतु गीताकार ने एक बहुत ही सटीक शब्द का प्रयोग किया है, वह शब्द है

‘योगारूढ़’ इस शब्द की व्याख्या के पूर्व हम पाठक का ध्यान इस ओर पुनः आकर्षित करना चाहेंगे कि कर्मयोग के साधक को अपनी साधना को भक्तिमय बनाने के पूर्व 'योगारूढ़' की सिद्धि प्राप्त कर लेने जैसी किसी शर्त का उल्लेख इस कारण नहीं किया गया है क्योंकि उसका कर्मयोग तो चालू ही रहता है और उसमें वह भगवत् भाव का समावेश और कर लेता है। इस प्रकार, इस कर्मयोग-सह-भगवत् भाव रूप भक्ति में आत्मशुद्धि के साथ भगवत् प्राप्ति रूप दोनों साधनाएं साथ-साथ चलने लगती हैं अतः इस कर्म-सह-भक्ति मार्ग का कर्म-संन्यास वाले मार्ग की अपेक्षा यह भी एक अतिरिक्त लाभ है।

'योगारूढ़' एक सामासिक शब्द है। इसमें जो आरूढ़ शब्द है उसका शाब्दिक अर्थ है सवारी करना और विशेष भावार्थ है किसी कार्य को इस प्रकार करना कि वह सहज स्वभाव बन जाए। इसे हम अपने एक अनुभव युक्त उदाहरण से समझें। बचपन में जब हमने साइकिल चलाना सीखी थी तो प्रारंभ में हमारा पूरा ध्यान संतुलन साधने पर होता था किंतु जब उस विधा में पारंगत हो गए तो संतुलन साधने पर ध्यान देने की जरूरत नहीं रही, वह हमारा स्वभाव बन गया। इस स्थिति को हम साइकिल सवारी में निष्णात होना कह सकते हैं। इसी प्रकार श्लोक में कर्मयोग की दो स्थितियों की ओर ध्यान दिलाया गया है। कर्मयोग साधना प्रारंभ करते समय हमें कुछ कर्म चुनकार उन्हें निष्काम भाव से करने का अभ्यास करना होता है और विशेष ध्यान देना होता है कि वे कर्म भी हम वैसे ही मनोयोग से करें जैसा कि सकाम कर्मों को हम करते रहे हैं। किंतु, देखा गया है कि कर्मयोग जिनका स्वभाव बन जाता है उनके सभी कर्म निष्काम ही होते हैं, पूरे मनोयोग से, और आनंद पूर्वक किए जाते हैं। इस स्थिति को यहाँ 'योगारूढ़' शब्द से व्यक्त किया गया है।

अगले श्लोक में भगवान बता रहे हैं कि आध्यात्मिक अनुभूति के प्रवेश द्वार रूप योगरूढ़ स्थिति को साधक किस प्रकार प्राप्त कर सकता है -

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु , न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी , योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

यदा हि न इन्द्रिय-अर्थेषु , न कर्मसु अनुषज्जते । सर्व-सङ्कल्प-संन्यासी , योग-आरूढः तदा उच्यते ॥

यदा न इन्द्रिय-अर्थेषु न कर्मसु हि अनुषज्जते- जब (साधक) न तो इंद्रियों के भोगों में (और) न कर्मों में ही आसक्त होता है, **तदा सर्व-सङ्कल्प-संन्यासी योग-आरूढः उच्यते-**तब सभी संकल्पों(अर्थात् भौतिक इच्छाओं) का त्याग कर देने वाला साधक योगारूढ़ कहा जाता है ।

सर्व संकल्प संन्यासी : इन शब्दों का अर्थ है सभी संकल्पों का त्याग कर देने वाला। यहाँ अनुष्यूत भाव है कि जब निष्काम कर्म करने हेतु भी संकल्प नहीं करना होंगे, ये स्वाभाविक रूप से होने लगेंगे, उस स्थिति को योगरूढ़ कहा जाता है।

अब अगले पांच श्लोकों (क्रमांक- ५ से ९) में भगवान उन कुछ विशेष अभ्यासों का वर्णन कर रहे हैं जो कि संन्यास पथ के साधक को सफल होने के लिए आवश्य करना होंगे। प्रथम दो श्लोकों (क्रमांक- ५ और ६) में इस बात पर बल दिया गया है कि साधक को स्वयं को अर्थात् अपने जीवात्मा को ऊँचा उठाना होगा। सांख्य दर्शन के अनुयायी क्योंकि ब्रह्म अर्थात् निर्गुण परमात्मा के उपासक होते हैं अतः उन्हें अपनी आध्यात्मिक यात्रा के लिए शक्ति स्रोत अपने भीतर ही खोज कर उसके द्वारा जीवात्मा को ऊँचा उठाना होता है। (कर्मयोगी से तुलना करना चाहे तो क्योंकि वह सगुण परमात्मा का उपासक होता है, अतः उसे परमात्मा की भक्ति द्वारा अपने को ऊँचा उठाना होता है।)

उद्धरेदात्मनात्मानं , नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः , आत्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

उद्धरेत् आत्मना आत्मानम् , न आत्मानम् अवसादयेत् । आत्मा एव हि आत्मनः बन्धुः , आत्मा एव रिपुः आत्मनः ॥

आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्- अपना अपने द्वारा उद्धार करें, **आत्मानम् न अवसादयेत्-** अपने को अधोगति में न डाले । **हि आत्मा एव आत्मनः बन्धुः-** क्योंकि (वह) आप ही तो अपना मित्र है (और) **आत्मा एव आत्मनः रिपुः-**आप ही अपना शत्रु है ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य , येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे , वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

बन्धुः आत्मा आत्मनः तस्य , येन आत्मा एव आत्मना जितः । अनात्मनः तु शत्रुत्वे , वर्तेत आत्मा एव शत्रुवत् ॥

येन आत्मना आत्मा जितः-जिसने अज्ञान में स्थित अपने मन-बुद्धि को ज्ञान द्वारा जीत लिया है, **तस्य आत्मनः बन्धुः-** उसका वह स्वयं अपना बन्धु है, **तु अनात्मनः आत्मा-** परंतु जो अनात्म है अर्थात् शरीर और मन के स्तर पर जीता है, **शत्रुवत् शत्रुत्वे एव वर्तेत-** वह स्वयं अपने साथ शत्रुवत् बर्ताव कर रहा होता है ।

उपरोक्त दो श्लोकों में इस तथ्य को रेखांकित किया गया है की संन्यास पथ (सांख्य/ज्ञान मार्ग) के साधक को केवल अपने स्वप्रयास द्वारा ही अपने आत्मा की अथवा निर्गुण ब्रह्म की उपासना करनी होती है। इस हेतु उसे जिन गुणों का अर्जन करना होगा उन्हें अगले तीन श्लोकों (क्रमांक-७,८,९,) में भगवान ने वर्णित किया है-

जितात्मनः प्रशान्तस्य , परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु , तथा मानापमानयोः ॥७॥

जित-आत्मनः प्रशान्तस्य , परमात्मा समाहितः । शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु , तथा मान-अपमानयोः ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा , कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी , समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा कूटस्थः विजित-इन्द्रियः । युक्तः इति उच्यते योगी सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः ॥

शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मान अपमानयोः प्रशान्तस्य- सर्दी-गर्मी में, सुख-दुख में, मान-अपमान में जो प्रशांत (पूर्णतःशांत) रहता है, **जित-आत्मनः-** जिसने अपने को(अर्थात् निम्न 'स्व' को, self को) जीत लिया है **परम-आत्मा समाहितः-** (जिसमें) उच्चतम आत्मा पूर्णतः स्थापित हो गया है। **ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा कूटस्थः विजित-इन्द्रियः-** जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्त और स्थिर होकर इंद्रियों पर जिसने स्वामित्व स्थापित कर लिया है, **सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः-** मिट्टी पत्थर, सोना जिसके लिए एक जैसे हो गए हों, **योगी युक्तः इति उच्यते-** वह (संन्यास मार्गी) योगी युक्त (अर्थात् स्थिर बुद्धि) कहा जाता है ।

सुहृन्मित्रार्युदासीन , मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु , समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृत् मित्र-अरि-उदासीन , मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु । साधुषु अपि च पापेषु , सम-बुद्धिः विशिष्यते ॥

सुहृत्- स्वार्थ रहित हित करने वाला, **मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-** स्नेही मित्र, शत्रु, पक्षपात रहित और दोनों ओर की भलाई चाहने वाला **द्वेष्य-बन्धुषु साधुषु च पापेषु अपि-** द्वेष रखने वालों में और शुभेच्छुकों में, साधु पुरुषों में और पापियों में भी **सम-बुद्धिः विशिष्यते-** जो सम बुद्धि रखता है वह विशेष श्रेष्ठता प्राप्त है ।

इन श्लोकों में जीवात्मा की विजय यात्रा के बढ़ते कदमों का, विकास यात्रा का, वर्णन हुआ है। वस्तुतः गीता में जीवात्मा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, वहाँ आत्मा शब्द है जो व्यक्ति के विभिन्न चेतना स्तरों- शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, इनके विभिन्न समूहों- के लिए प्रयुक्त हुआ है और इसलिए इस शब्द का आशय हमें प्रकरण के विषय से समझना होता है। इन स्तरों के अतिरिक्त एक सर्वोच्च स्तर भी है जो अपरिवर्तनीय, अनश्वर, सभी में एक जैसा है, उसे भी आत्मा / शुद्धआत्मा / परम आत्मा कहकर संबोधित किया गया है। अर्वाचीन काल में नामों की इस कठिनाई को कुछ कम करने के प्रयास हुए हैं और अब व्यक्ति में चेतना के उस अंश को जो कर्ता-भोक्ता के रूप में क्रियाशील रहता है, उसे हम जीवात्मा नाम से संबोधित करते हैं। इस नाम का प्रयोग करते हुए उपरोक्त श्लोकों के भावार्थ की समीक्षा करें तो कहा जा सकता है कि चेतना को जीवात्मा स्तर से ऊपर उठाने की साधना का जो

संन्यास मार्ग है उसके क्रमगत चरण हैं- शरीरगत प्राणिक संवेदनाओं (सर्दी, गर्मी) से, इंद्रियों से होने वाले खट्टे-मीठे अनुभवों से, मानसिक संवेदनाओं (सुख-दुखों) से, बुद्धि के इहलौकिक और पारलौकिक विचारों से, मन-बुद्धि-अहंकार प्रेरित लोगों के प्रति भेद जनित व्यवहारों से- ऊपर उठने का अभ्यास करके आत्म-चेतना को इन प्राकृतिक पाशों के बंधन से मुक्त करना होगा, पश्चात् ध्यान द्वारा उसके मूल स्वरुप का अनुभव करने का प्रयास करना होगा।

इस क्रम में भगवान अब ध्यान साधना का एक संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन कर रहे है। अगले छः श्लोकों (क्रमांक-१० से १५) में भगवान ने इस हेतु स्थान और आसन का चुनाव, शारीरिक मुद्रा, मन को एकाग्र करके ब्रह्म में चर्यन् (घूमना, सैर करना, आचरण करना, जीवन जीना, आश्रय लेना) करने की साधना से उसी परम शांति रूप निर्वाण स्थिति प्राप्त होने की बात कही है जो कि उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) कर्मयोग मार्ग से प्राप्त की थी और अर्जुन को भी उसी कर्मयोग मार्ग पर चलकर प्राप्त करने की सलाह दे रहे हैं। (इस संबंध में श्लोक-१५ के ध्यान देने योग्य शब्द हैं- मत्-संस्थाम् निर्वाण-परमाम् शान्तिम् अधिगच्छति')

योगी युञ्जीत सततम् , आत्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा , निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी युञ्जीत सततम् , आत्मानम् रहसि स्थितः । एकाकी यत-चित्त-आत्मा , निराशीः अपरिग्रहः ॥

योगी यत-चित्त-आत्मा, निराशीःअपरिग्रहः- योगी जिसने अपने मन बुद्धि को वश में कर लिया है, जिसने सब आशाओं और सांसारिक वस्तुओं के संग्रह का त्याग कर रखा है, **रहसि स्थितः एकाकी सततम् आत्मानम् युञ्जीत-**एकांत स्थान में रहकर अकेला ही निरंतर अपने को ध्यान में लगाता है ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य , स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं , चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य , स्थिरम् आसनम् आत्मनः । न अति-उच्छ्रितम् न अति-नीचम् , चैल-अजिन-कुश-उत्तरम् ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा , यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्यात् , योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र एकाग्रम् मनः कृत्वा , यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः । उपविश्य आसने युञ्ज्यात् , योगम् आत्म-विशुद्धये ॥

शुचौ देशे-किसी स्वच्छ स्थान में **न अति-उच्छ्रितम्, न अति-नीचम्-** ऐसी जगह जो न बहुत ऊंची हो और ना बहुत नीची हो**, चैल-अजिन-कुश-उत्तरम्-** कुशाघास मृगचर्म और वस्त्र एक के ऊपर एक रखकर,**तत्र आसने**

उपविश्य- उस आसन पर बैठ कर **आत्मनः स्थिरम् आसनम् प्रतिष्ठाप्य-** अपने शरीर को स्थिर मुद्रा में स्थापित करके **यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः-** शरीर की क्रियाओं, इंद्रियों,चित्त (अर्थात् मन-बुद्धि) को वश में करके **मनः एकाग्रम् कृत्वा-** मन को एकाग्र करके,**आत्म-विशुद्धये योगम् युञ्ज्यात्-** विशुद्ध आत्म तत्व की प्राप्ति के लिए योग का अभ्यास करें।

समं कायशिरोग्रीवं , धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं , दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

सममम् काय-शिरः-ग्रीवम् , धारयन् अचलम् स्थिरः । सम्प्रेक्ष्य नासिक-अग्रं स्वम् , दिशः च अन् अवलोकयन् ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीः , ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो , युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

प्रशान्त-आत्मा विगत-भीः , ब्रह्मचारि-व्रते स्थितः । मनः संयम्य मत्-चित्तः , युक्तः आसीत मत्-परः ॥

काय-शिरः-ग्रीवम् अचलम् समम् धारयन्- शरीर सिर गर्दन को एक सीध में (समम् = एक-तल में) अचल धारण करके **च स्थिरः दिशः अनवलोकयन्-** और स्थिर (दृष्टि) होकर इधर-उधर न देखते हुए **स्वम् नासिक-अग्रं सम्प्रेक्ष्य-** अपनी नासिका के अग्रभाग पर (भुवों के मध्य जहां से नासिका प्रारंभ होती है) दृष्टि जमा कर, **मनः संयम्य, मत्-चित्तः मत्-परः विगत-भीः-** मन को रोक कर, मुझ में चित्त (मन-बुद्धि) स्थिर कर और मेरे परायण हो भयमुक्त होकर, **प्रशान्त-आत्मा-** पूरी तरह से शांत मन हो कर **ब्रह्मचारि-व्रते स्थितः-** ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर **युक्तः आसीत-**युक्त होकर बैठ जाये ।

विगतभी : इस शब्द का अर्थ है भय मुक्त होकर। यदि साधक का मन भय मुक्त नहीं है तो उसे सगुण परमात्मा का आश्रय लेना ही पड़ेगा। इस कारण यहाँ 'मच्चित' और 'मत्पर' होने अर्थात् सगुण परमात्मा का आश्रय ग्रहण करने की बात को भी निर्गुण ब्रह्म साधना के एक चरण के रूप में अनुशंसित किया गया है।

ब्रह्मचारी व्रत : इसके दो अर्थ हैं- १. मैथुन क्रिया अथवा तत्संबंधी विचार/चिंतन का त्याग। यह अर्थ, प्रतीत होता है कि, प्राचीन काल में नहीं था। प्रस्तुत ध्यान साधना के प्रकरण में तो यह अर्थ पूर्णतः असंगत ही दिखता है। ध्यान साधना में तत्पर व्यक्ति का उस काल में इस प्रकार के भावों से ग्रस्त होने की बात सर्वथा असंगत लगती है। इस कारण ब्रह्मचर्य शब्द के मूल अर्थ- ब्रह्म में चर्यन - को ही यहाँ ग्रहण करना उपयुक्त होगा। चर्यन शब्द का अर्थ हम ऊपर (श्लोक-१० से १५ की भूमिका में) दे चुके हैं। वही अर्थ यहाँ उपयुक्त है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं , योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां , मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

युञ्जन् एवं सदा आत्मानम् , योगी नियत-मानसः । शान्तिम् निर्वाण-परमाम् , मत्-संस्थाम् अधिगच्छति ॥

एवं योगी नियतमानसः- इस प्रकार वह योगी जिसने मन को वश में कर लिया है , **आत्मानम् सदा युञ्जन्-** अपने को निरंतर योग में लगाता हुआ **मत्-संस्थाम् शान्तिम् निर्वाण-परमाम् अधिगच्छति-** मुझ में रहने वाली शांति और निर्वाण स्थिति को प्राप्त कर लेता है ।

इस श्लोक में भगवान ने बहुत स्पष्ट रूप में कहा है कि कर्म-संन्यासी / ध्यानयोगी भी अंततः उसी स्थिति को प्राप्त कर सकेगा जो उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) कर्मयोग मार्ग द्वारा प्राप्त की थी।

इस मार्ग पर चलने में समर्थ होने के लिए साधक के लिए कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख आगे के तीन श्लोकों (क्रमांक-१६, १७, १८) में किया गया है-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति , न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य , जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

न अति अश्नतः तु योगः अस्ति , न च एकान्तम् अनश्नतः । न च अति-स्वप्न-शीलस्य , जाग्रतः न एव च अर्जुन ॥

अर्जुन-हे अर्जुन! **योगः न तु अति अश्नतः-**यह योग न तो अधिक खाने वाले का **च न एकान्तम् अनश्नतः-** और न बिल्कुल न खाने वाले का, **च न अति-स्वप्न-शीलस्य-** तथा न बहुत स्वप्नशील का, **च न जाग्रतः एव अस्ति-** तथा न ही (सदा) जागने वाले का ही सिद्धि होता है ।

अति स्वप्नशील : अधिक स्वप्न उसको आते हैं जो आवश्यकता से अधिक सोता है अतः आवश्यकता से अधिक सोने वाले के लिए 'अति स्वप्नशील' शब्द का प्रयोग किया गया है।

युक्ताहारविहारस्य , युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य , योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

युक्त-आहार-विहारस्य , युक्त-चेष्टस्य कर्मसु । युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य , योगः भवति दुःखहा ॥

युक्त-आहार-विहारस्य- जिसका आहार (खाना पीना) और विहार (चलना फिरना) संतुलित हो, **कर्मसु युक्त-चेष्टस्य-** जिसकी कर्मों में भी चेष्टा संतुलित हो, **युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य-**जिसका सोना व जागना संतुलित हो **योगः दुःखहा भवति-** (उसके लिए) यह योग दुखों का हरण करने वाला होता है ।

'युक्त' शब्द : यद्यपि इस शब्द का अर्थ यहाँ ऊपर वाले श्लोक (क्रमांक-१६) के संदर्भ से 'संतुलित/अनुशासित' इस रूप में लिया जा सकता है और उपरोक्त अनुवाद में हमने भी परिपाटी के अनुरूप वैसा ही किया है, तथापि अगले श्लोक के सन्दर्भ से देखे तो युक्त की जो वहाँ परिभाषा दी गई है, और गीता में यह शब्द इसी परिभाषा

वाले अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त हुआ दिखता है अतः इस श्लोक का तदनुरूप अर्थ करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'युक्त' शब्द का अर्थ है परमात्मा से सतत जुड़ा हुआ। 'युक्त' शब्द के इस अर्थ को लेने पर श्लोक-१७ का भावार्थ इस प्रकार होगा-

'जिसको सभी समय परमेश्वर का अनुस्मरण रहता है- खाते-पीते, सोते-जागते, और प्रत्येक कर्म करते समय यह भाव रहता है कि वह कार्य परमेश्वर का कार्य है, मैं केवल उसका निमित्त बन रहा हूँ, उस साधक के लिए योगसाधना कष्टप्रद नहीं होगी, आनंददायी हो जाएगी।'

यदा विनियतं चित्तम् , आत्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो , युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यदा विनियतम् चित्तम् , आत्मनि एव अवतिष्ठते । निःस्पृहः सर्व-कामेभ्यः , युक्तः इति उच्यते तदा ॥

विनियतम् चित्तम् यदा आत्मनि एव अवतिष्ठते- पूरी तरह वश में किया हुआ चित्त (अर्थात् मन-बुद्धि) जब आत्मा में ही भली भांति स्थित हो जाता है, **तदा सर्व-कामेभ्यः निःस्पृहः युक्तः इति उच्यते-** उस समय सभी प्रकार की कामनाओं से रहित हुआ साधक युक्त है ऐसा कहा जाता है ।

अगले पांच श्लोकों (क्रमांक-१९ से २३) में ध्यान योग की सफलता के लक्षणों / परिणामों का वर्णन किया जा रहा है। सर्वप्रथम ध्यान में मन की स्थिरता का वर्णन एक उदाहरण से किया जा रहा है।

यथा दीपो निवातस्थो , नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य , युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यथा दीपः निवातस्थः , नेङ्गते सा उपमा स्मृता । योगिनः यत-चित्तस्य , युञ्जतः योगम् आत्मनः ॥

यथा दीपः निवातस्थः न इङ्गते- जैसे कोई भी दीपक ऐसे स्थान पर रखा हो जहाँ हवा न बहती हो तो उसकी दीपशिखा कम्पायमान नहीं होती **सा उपमा, आत्मनः यत-चित्तस्य-** वही उपमा वश में किए हुए चित्त को आत्मा में धारण करने वाले **योगिनःयोगम् युञ्जतः स्मृता-** (ध्यान) योग के योगियों के लिए कही गई है ।

यत्रोपरमते चित्तं , निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं , पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र उपरमते चित्तम् , निरुद्धम् योग-सेवया । यत्र च एव आत्मना आत्मानम् , पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥

यत्र योग-सेवया निरुद्धम् चित्तम् उपरमते-जिस अवस्था में योगाभ्यास से एकाग्र हुआ चित्त शांत (स्थिर) हो जाता है, **च यत्र एव आत्मना आत्मानम् पश्यन् आत्मनि तुष्यति-** और जिसमें वह आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता हुआ आत्मा में आनंद प्राप्त करता है।

'यहाँ आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में देखता हुआ' इन शब्दों की व्याख्या हमें आशय समझते हुए इस प्रकार करनी होगी- 'मन-बुद्धि के द्वारा अपनी उच्चतर सत्ता को सर्वव्यापी आत्मा में देखता हुआ' साधक आनंद प्राप्त करता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् , बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं , स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

सुखम् आत्यन्तिकम् यत् तत् बुद्धि-ग्राह्यम्-अतीन्द्रियम् । वेत्ति यत्र न च एव अयम् स्थितः चलति तत्त्वतः ॥

अतीन्द्रियम् बुद्धिग्राह्यम् यत् आत्यन्तिकम् सुखम् तत् यत्र वेत्ति- इंद्रियों से अतीत (सूक्ष्म) बुद्धि द्वारा ग्रहण योग्य जो अनंत आनंद है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है **च (यत्र) स्थितः अयम् तत्त्वतः न एव चलति-** और (जिस अवस्था में) स्थित हुआ यह योगी मूल तत्व से विचलित होता ही नहीं-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं , मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन , गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यम् लब्ध्वा च अपरम् लाभम् मन्यते न अधिकम् ततः । यस्मिन् स्थितः न दुःखेन गुरुणा अपि विचाल्यते ॥

यम् लाभम् लब्ध्वा ततः अधिकम् अपरम् न मन्यते- (और) जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा (कुछ भी लाभ) नहीं मानता , **च यस्मिन् स्थितः गुरुणा दुःखेन अपि न विचाल्यते-** और जिस अवस्था में स्थित हुआ (योगी) बड़े भारी दुख से भी विचलित नहीं होता-

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

तम् विद्यात् दुःख-संयोग-वियोगम् योग-संज्ञितम् । सः निश्चयेन योक्तव्यः योगः अनिर्विण्ण-चेतसा ॥

दुःख-संयोग-वियोगम् तम् योग-संज्ञितम् विद्यात्- दुख के संयोग से अलग हो जाने वाली जो अवस्था प्राप्त हो जाती है उसे योग कहा जाता है उसे जानना चाहिए, **सः योगः अनिर्विण्ण-चेतसा निश्चयेन योक्तव्यः-** वह योग बिना खिन्नता के (अर्थात् उत्साह पूर्वक) और दृढ़ संकल्प के साथ किया जाना चाहिए ।

अनिर्विण्ण चेतसा : 'निर्विण्ण' शब्द का अर्थ है- खिन्न; भय या शोक से मुरझाय मन वाला। अतः 'अनिर्विण्ण चेतसा' का अर्थ हुआ- उत्साह से युक्त मन वाला।

दुःख-संयोग वियोग : योग में स्थित होने की एक पहचान यह होगी कि दुःख का संयोग होने पर उस दुःख का मन-बुद्धि पर कोई प्रभाव न हो, साधक उससे अछूता रहे, दृष्टा भाव में स्थित रहे। इस स्थिति की प्राप्ति हेतु सतत अभ्यास करना होगा।

श्लोक-१९ से २३ का विहंगावलोकन करें तो एक और बात भी प्रकट होती है। ऐसा उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को ऋषि उपमन्यु ने धारणा-ध्यान-समाधि वाले मार्ग की तथा महर्षि अंगिरस ने कर्मयोग मार्ग की शिक्षा दी थी। महात्मा उपमन्यु ने समाधि मार्ग की साधना की सफलता में आड़े आने वाली जो बाधाएं (शरीर व्याधि, आलस्य, प्रमाद, विषयलोलुपता, दौर्मनस्य, भ्रान्ति, संशय, अनवस्थित चित्तता, दुःख और अश्रद्धा- ये दस बाधाएं) श्रीकृष्ण को बताई थी, यहाँ गीता के उपरोक्त श्लोकों में भगवान ने उनमे से अधिकांश को सकारत्मक निर्देश, आचरणीय गुणों, के रूप में इस हेतु से वर्णित किया है ताकि अर्जुन अथवा कोई भी साधक कर्मयोग विरुद्ध कर्म-संन्यास मार्गों की तुलना करके स्वविवेक से मार्ग चयन का निर्णय कर सके।

अब जब हम आगे के श्लोकों का अध्ययन प्रारंभ करते हैं तो प्रथम दृष्टया यह आश्चर्य होता है कि श्लोक-२३ तक ध्यान मार्ग का विषय जिस अंतिम ठौर तक वर्णित कर दिया गया था तो श्लोक-२४ में साधना के प्रारंभिक चरण- इंद्रिय संयम- की बात पुनः क्यों कही गई है? इसका समाधान हमें अध्याय-५ के श्लोक-२६ और उससे आगे-पीछे के श्लोकों का पुनः अवलोकन करने पर प्राप्त होता है। वहाँ विभिन्न साधनाओं का परिचय देते हुए कहा गया था कि ज्ञान मार्गी साधक ब्रह्म प्राप्ति रूप जिस लक्ष्य को प्राप्त करते हैं, वहीं लक्ष्य ध्यान मार्ग, तप मार्ग एवं निष्काम कर्म मार्ग के साधक भी प्राप्त करते हैं। वहाँ ज्ञान मार्ग की तो विशद विवेचना की गई थी किंतु उक्त दूसरे मार्गों का उल्लेख भर था। इस अध्याय में ध्यान मार्ग का विस्तार से वर्णन करने के उपरांत, हमारे अनुसार, भगवान अब श्लोक- २४ से २८ में ब्रह्म प्राप्ति हेतु यतियों द्वारा की जाने वाली साधना का वर्णन कर रहे हैं।

सङ्कल्पप्रभवान्कामान् , त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं , विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

सङ्कल्प-प्रभवान् कामान् , त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः । मनसा एव इन्द्रिय-ग्रामम् , विनियम्य समन्ततः ॥

शनैः शनैरुपरमेद् , बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा , न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

शनैः शनैः उपरमेत् , बुद्ध्या धृति-गृहीतया । आत्म-संस्थम् मनः कृत्वा , न किञ्चित् अपि चिन्तयेत् ॥

सङ्कल्प-प्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा-संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण रूप से त्याग कर, **मनसा एव इन्द्रिय-ग्रामम् समन्ततः विनियम्य-** मन के द्वारा इंद्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभांति रोककर **धृति-गृहीतया बुद्ध्या मनः आत्म-संस्थम् कृत्वा-** दृढ़ता युक्त बुद्धि से मन को आत्मा के

साथ संयुक्त करके **किञ्चित् अपि चिन्तयेत् न-** किसी भी अन्य वस्तु का चिंतन न करते हुए **शनैः शनैः उपरमेत्-** धीरे-धीरे उपरामता (विरक्ति) को प्राप्त होवे ।

यतो यतो निश्चरति , मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैत् ,आत्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यतः यतः निश्चरति , मनः चञ्चलम् अस्थिरम् । ततः ततः नियम्य एतत् , आत्मनि एव वशं नयेत् ॥

यतः यतः एतत् अस्थिरम् चञ्चलम् मनः निश्चरति-जिस-जिस (विषय में) यह स्थिर न रहने वाला चंचल मन विचरता है, **ततः ततः नियम्य आत्मनि एव वशं नयेत् -** उस-उस (विषय से) हटाकर इसे आत्मा में ही निरुद्ध करें।

प्रशान्तमनसं ह्येनं , योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं , ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

प्रशान्त-मनसम् हि एनम् , योगिनम् सुखम् उत्तमम् । उपैति शान्त-रजसम् , ब्रह्म-भूतम् अकल्मषम् ॥

हि प्रशान्त-मनसम् - निश्चय ही जिसका मन पूर्णत: शांत हो चुका है, **अकल्मषम्-** जो पाप रहित है,**शान्त-रजसम्-** जिसका रजोगुण शांत हो गया है, **ब्रह्म-भूतम्-** ब्रह्मभूत हुए ऐसे **योगिनम् उत्तमम् सुखम् उपैति-**योगी को श्रेष्ठ आनंद प्राप्त होता है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं , योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं, अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

युञ्जन् एवम् सदा आत्मानम् , योगी विगत-कल्मषः । सुखेन ब्रह्म-संस्पर्शम् , अत्यन्तम् सुखम् अश्नुते ॥

एवम् योगी विगत-कल्मषः आत्मानम् सदा युञ्जन्- इस प्रकार (वह) योगी जो सब पापों से मुक्त हो गया है, आत्मा को (अपने को) सदा योग में लगाता हुआ **सुखम् ब्रह्म-संस्पर्शम् अत्यन्तम् सुखेन अश्नुते-** सहज ही ब्रह्म के संस्पर्श से होने वाले परम सुख का अनुभव करता है ।

यति/तपस्वी का लक्ष्य भी ब्रह्मानंद की प्राप्ति होता है। इस हेतु से प्राण और मन में उत्पन्न होने वाले संवेगों की अनुभूति से अपने को (अर्थात् जीवात्मा को) विलग करने के अभ्यास रूप, तपस्या करने के बाद साधक आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए उपरोक्त वर्णित साधनों में से किसी एक को अपनाता है। वह आत्मानुभूति दो चरणों में प्राप्त होती है जिन्हें यहाँ ब्रह्मभूत और ब्रह्मनिर्वाण/ ब्रह्मसंस्पर्श शब्दों से इंगित किया गया है।

'ब्रह्मभूत' स्थिति की बुद्धिगत विवेचना हम पहले श्लोक-५.२४ की विवेचना में कर चुके हैं। वहीं हमने ब्रह्मभूत से अगली ब्रह्मनिर्वाण स्थिति को भी समझने का प्रयास

किया था। हमने अनुमान व्यक्त किया था कि ब्रह्मभूत स्थिति वह है जब व्यक्ति (चेतना) अपने जैसा अन्य सब को अनुभूत कर सके, दूसरों के सुख-दुख अपने जैसे ही अनुभूत करने लगे। इसी प्रकार ब्रह्मनिर्वाण स्थिति के बारे में अनुमान व्यक्त किया था कि यह वह स्थिति होना चाहिए जब अनुभूति कर्ता जीवात्मा की सत्ता समष्टि चेतना (अर्थात् परमेश्वर/ब्रह्म) से पृथक न रहकर उस में विलीन हो जावे। यहाँ ब्रह्मभूत से अगली उच्चतर स्थिति को 'ब्रह्मसंस्पर्शम्' कहा गया है। डॉ राधाकृष्णन ने इसकी व्याख्या के अंतर्गत कहा है कि यह ब्रह्म के साथ वास्तविक संपर्क, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की स्थिति, को व्यक्त करता है। शाब्दिक अर्थ 'ब्रह्म के साथ संपर्क' भी इसी बात को इंगित करता है।

ऊपर जिन दो प्रकार के योग साधकों का वर्णन किया गया है (श्लोक-१० से २३ में ध्यान योगी का और श्लोक- २४ से २८ में यतियों का) उनके द्वारा सिद्धी प्राप्त कर लेने पर दोनों जिस स्थिति पर पहुंचेंगे उसका वर्णन श्लोक-२९ में इस प्रकार किया गया है-

सर्वभूतस्थमात्मानं , सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा , सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्व-भूतस्थम् आत्मानम् , सर्व-भूतानि च आत्मनि । ईक्षते योग-युक्त-आत्मा , सर्वत्र सम-दर्शनः ॥

योग-युक्त-आत्मा सर्वत्र सम-दर्शनः- (जो साधक) योग सिद्ध होकर समत्व दर्शन स्थिति को प्राप्त हो जाता है **आत्मानम् सर्व-भूतस्थम्-**(वह) सब प्राणियों में आत्मा को **च आत्मनि सर्व-भूतानि ईक्षते-** और आत्मा में सब प्राणियों को देखता है ।

इस श्लोक का भावार्थ डॉ राधाकृष्णन में बहुत सटीक रूप में इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'यद्यपि आत्मा का दर्शन प्राप्त करने की प्रक्रिया में हमें बाह्य वस्तुओं से पीछे हटना पड़ा था और अपने को संसार से प्रथक करना पड़ा था, परंतु जब वह दर्शन प्राप्त हो जाता हैं तब संसार फिर आत्मा में खिंच आता है।'

यहाँ हम इतना और स्पष्ट करते हुए कि विषय यहाँ कर्म-संन्यास मार्ग की साधना का है, दो ऐतिहासिक उदाहरणों का भी स्मरण करना चाहेंगे। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी के जीवन से उक्त कथन की सत्यता पूर्णतः चरितार्थ हुई स्पष्ट देखी जा सकती है। दोनों महान पुरुषों ने आत्म तत्व की आंतरिक खोज वाला कर्म-संन्यास मार्ग अपनाकर आत्मज्ञान प्राप्त किया था किंतु ज्ञान प्राप्त होने पर वे आत्मानंद में बैठे

नहीं रहे। संसार के दुखी लोगों को उस ज्ञान का उपदेश करके उन्हें दुखों से मुक्त करने हेतु नगर-नगर और ग्राम-ग्राम पैदल घूमते रहे, जीवन भर।

सांख्य दर्शन से अनुप्राणित उपरोक्त साधकों का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म की उपासना होता है और वे जिस प्रकार उस लक्ष्य को प्राप्त करते हैं उसका वर्णन श्लोक-२८ तक में करके और परिणाम की प्राप्ति श्लोक-२९ में बता कर अब अगले तीन श्लोकों (क्रमांक- ३० से ३२) में भगवान श्रीकृष्ण अपने प्रिय साधन पथ- कर्मयोग द्वारा सगुण परमात्मा की प्राप्ति का- तथा साधक को प्राप्त होने वाली उपलब्धि का भी वर्णन, बहुत संक्षेप में, केवल परिचय देने हेतु सार रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि साधक स्वयं सब बातों पर विचार करके अपने लिए उचित मार्ग का चयन कर सके।

यो मां पश्यति सर्वत्र , सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि , स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

यो माम् पश्यति सर्वत्र , सर्वम् च मयि पश्यति । तस्य अहं न प्रणश्यामि , सः च मे न प्रणश्यति ॥

यः माम् सर्वत्र पश्यति- जो मुझे सर्वत्र (अर्थात् सब प्राणियों में) देखता है **च सर्वम् मयि पश्यति-** और जो सब (प्राणियों) को मुझमें देखता है, **तस्य अहं न प्रणश्यामि-** उसके लिए मैं कभी निष्प्राण नहीं होता (अर्थात् दूर नहीं होता) **च सः मे न प्रणश्यति-** और वह भी मुझसे कभी दूर नहीं होता ।

सर्वभूतस्थितं यो मां , भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि , स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

सर्व-भूत-स्थितम् यः माम् , भजति एकत्वम् आस्थितः । सर्वथा वर्तमानः अपि , सः योगी मयि वर्तते ॥

यः एकत्वम् आस्थितः सर्व-भूत-स्थितम् माम् भजति- जो पुरुष एकत्व में स्थित होकर सब प्राणियों में स्थित मुझे भजता है (मेरी सेवा करता है,भजति=सेवते,सेवा करता है), **सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि मयि वर्तते-** वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझ में ही बरतता है ।

मयि वर्तते : 'मुझ में बरतता' का भाव है कि उस कर्मयोगी भक्त में अब व्यक्ति का 'स्व/मैं/self' व्यवहार नहीं कर रहा होता वरन् परमात्मा (The Self) ही सभी व्यवहार कर रहा होता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र , समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं , स योगी परमो मतः ॥३२॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र , समम् पश्यति यः अर्जुन । सुखम् वा यदि वा दुःखम् , सः योगी परमः मतः ॥

अर्जुन-हे अर्जुन ! **यः सर्वत्र समम् वा आत्मौपम्येन सुखम् यदि वा दुःखम् पश्यति**-जो योगी सर्वत्र समानता और अपने सदृश्य सबके सुखों अथवा दुखों को देखता है (अर्थात् उनका अनुभव करता है) **सः योगी परमः मतः**- वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।

इन श्लोकों (क्रमांक-३० से ३२) में 'माम्' और 'मयि' शब्दों का प्रयोग स्पष्ट ही समष्टि में व्यक्त चेतन सत्ता से एकीभूत हुए श्रीकृष्ण के संबंध में हुआ है, अतः यहाँ सगुण परमात्मा के उपासक को, कर्मयोग-सह-भक्ति मार्ग के साधक को, लक्ष्य करके ये श्लोक कहे गए हैं, ऐसा मानना सर्वथा उपयुक्त होगा। यह अर्थ संपूर्ण अध्याय के इस लक्ष्य के अनुरूप बैठता है कि भगवान ने यहाँ साधना के सभी मुख्य-मुख्य पथों की एक साथ विवेचना इस उद्देश्य से कर दी है कि अर्जुन अथवा कोई भी साधक भली प्रकार विचार करने के उपरांत अपने लिए उपयुक्त साधना का चुनाव कर सके।

भगवान ने कर्मयोग द्वारा सगुण (सर्वव्यापी) परमात्मा की उपासना से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का वर्णन करते हुए इस मार्ग को परम श्रेष्ठ भी कहा किन्तु अर्जुन की जिज्ञासा इस और नहीं जगी। उसका ध्यान तो कर्म-संन्यास मार्गों का जो विस्तृत वर्णन भगवान ने किया था उनके चिंतन पर ही टिका था क्योंकि जिस मार्ग को सरल और उचित मानकर वह उस ओर आकर्षित हुआ था भगवान से उक्त विवेचना सुनकर वह विचलित हो गया और अगले दो श्लोकों में प्रश्न करता है-

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः , साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि , चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

यः अयं योगः त्वया प्रोक्तः , साम्येन मधुसूदन । एतस्य अहं न पश्यामि , चञ्चलत्वात् स्थितिम् स्थिराम् ॥

मधुसूदन-हे मधुसूदन ! **यः अयं योगः त्वया साम्येन प्रोक्तः**- जो यह (कर्म-संन्यास/ध्यान) योग आपने समग्रता से (विस्तार पूर्वक) कहा है **चञ्चलत्वात्** -(मन के) चंचल होने से **अहं एतस्य स्थिराम् स्थितिम् न पश्यामि**- मैं इसकी स्थिर स्थिति को प्राप्त करना संभव नहीं देखता हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण , प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये , वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

चञ्चलम् हि मनः कृष्ण , प्रमाथि बलवत् दृढम् । तस्य अहम् निग्रहम् मन्ये , वायोः इव सुदुष्करम् ॥

कृष्ण- हे कृष्ण! **हि मनः चञ्चलम् प्रमाथि दृढम् बलवत्**-निश्चय ही मन बड़ा चंचल, उपद्रवी, दृढ़ (और) बलवान है **(अतः) तस्य निग्रहम् अहम् वायोः इव सुदुष्करम् मन्ये**- (इसलिए) उसका वश में करना मैं वायु (को रोकने) की भांति अति दुष्कर मानता हूँ ।

अर्जुन के कथन का आशय है कि यदि मन को ऊपर (श्लोक-१९ में) बताई गई सीमा तक स्थिर करने के बाद ही ध्यान लगाया जाना (श्लोक-२५,२६) और तब ब्रह्मभूत तथा ब्रह्मसंस्पर्श (श्लोक-२७,२८) स्थिति तक पहुंचना संभव होता है तो मन की चंचल प्रकृति को देखते हुए तो किसी के लिए भी लक्ष्य तक पहुंचना कैसे संभव होता होगा।

भगवान का उत्तर (श्लोक-३५,३६ में) है- कठिन भले ही हो, असंभव नहीं। वैराग्य और अभ्यास से कठिनता से वश में होने वाला मन भी वश में हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो , मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय , वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

असंशयम् महाबाहो , मनः दुर्निग्रहम् चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय , वैराग्येण च गृह्यते ॥

महाबाहो-हे अर्जुन ! **असंशयम् मनः दुर्निग्रहम् चलम्-**निस्संदेह मन बड़ी कठिनता से वश में होने वाला और चंचल है, **तु कौन्तेय-** परन्तु हे अर्जुन ! **अभ्यासेन च वैराग्येण गृह्यते-** यह वैराग्य और अभ्यास (करते रहने) से यह वश में हो जाता है ।

वैराग्य का अर्थ है विषयों से रूचि और व्यक्तियों से आसक्ति हटा लेने का नाम वैराग्य है।

असंयतात्मना योगो , दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता , शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

असंयत-आत्मना योगः , दुष्प्रापः इति मे मतिः । वश्य-आत्मना तु यतता , शक्यः अवाप्तुम् उपायतः ॥

असंयत-आत्मना योगः दुष्प्रापःइति मे मतिः- जिनका मन वश में नहीं है ऐसे लोगों द्वारा यह ध्यान प्राप्त होना दुष्प्राप्य है यह मेरा (निश्चित) मत है, **तु यतता वश्य-आत्मना उपायतः अवाप्तुम् शक्यः-** परंतु प्रयत्नशील पुरुष द्वारा जिसने अपना मन वश में कर लिया है (यह योग) यत्न करने पर प्राप्त होना संभव है।

यद्यपि भगवान यह स्पष्ट कर चुके थे कि ध्यान योग के माध्यम से परम तत्व की अनुभूति प्राप्त करना उस व्यक्ति के लिए दुष्कर है जिसने कर्मयोग की प्रारंभिक साधना द्वारा आत्मशुद्धि न कर ली हो, तथापि अर्जुन, संभवतः अपने को शुद्ध मानते हुए, मन में ध्यान साधना के प्रति आकर्षण इस कारण संजोए हुए है कि अन्यथा उसे अपने पूज्यजनों से ही युद्ध करना पड़ेगा। वह सोचता है कि यदि अभ्यास एक जन्म में पूरा न भी हो किंतु यदि किए गए अभ्यास का प्रभाव मृत्यु के साथ समाप्त न हो

जाता हो तो उसके लिए तो फिर भी यह साधन कर्मयोग की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही रहेगा। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर वह दूसरा प्रश्न करता है-

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो , योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं , कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अयतिः श्रद्धया उपेतः , योगात् चलित-मानसः । अप्राप्य योग-संसिद्धिम् , काम् गतिम् कृष्ण गच्छति ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः ,छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो , विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

कच्चित् न उभय-विभ्रष्टः , छिन्न-अभ्रम् इव नश्यति । अप्रतिष्ठः महाबाहो , विमूढः ब्रह्मणः पथि ॥

कृष्ण-हे कृष्ण! **श्रद्धया उपेतः अयतिः-** जो श्रद्धावान होते हुए भी समुचित तप न कर पाए,और **योगात् चलित-मानसः-** मन की चंचलता के कारण योग से विचलित हो जाएं तो (वह) , **योग-संसिद्धिम् अप्राप्य-** योग की सिद्धि को प्राप्त न होकर, **काम् गतिम् गच्छति-** किस गति को प्राप्त होता है?

महाबाहो-हे महाबाहो ! **ब्रह्मणः पथि विमूढः-** ब्रह्म प्राप्ति की राह में मोहित हुआ **अप्रतिष्ठः-** बिना लक्ष्य प्राप्त किये ही **उभय-विभ्रष्टः**-दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ **छिन्न-अभ्रम् इव-** बिखरे हुए बादलों की भांति **न नश्यति कच्चित्-** कदाचित नष्ट तो नहीं हो जाता?

उपरोक्त प्रश्न और उसके भगवान द्वारा दिए जाने वाले उत्तर को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें निम्नलिखित शब्दों के यहाँ क्या अर्थ हैं उस पर विचार कर लेना चाहिए।

योग : यहाँ योग का अर्थ है ध्यान योग, क्योंकि प्रकरण ध्यान का ही चल रहा है। ध्यान द्वारा मन को निर्विकल्प करने पर निर्गुण ब्रह्म की उपासना संभव होती है। इस साधना को यहाँ योग कहा गया है।

श्रद्धया उपेत : जिस साधक की यह धारणा पक्की है कि ध्यान योग से ब्रह्म प्राप्ति होती है और इस कारण वह यह साधना पूरे उत्साह से प्रारंभ करता है किंतु 'अयति' होने पर अर्थात् इंद्रियें-मन-बुद्धि को नियंत्रित न कर पाने के कारण मन योग से हट जाता है (योगत् चलित मानसः), तो उसकी क्या गति होगी?

उभय विभ्रष्ट : दोनों ओर से अर्थात् संसार के सुखों से तथा उस परमसुख से भी जिसके लिए उसने संसार-सुखों का परित्याग करके वह योग में लगा था, इन दोनों से वंचित होकर क्या उसकी गति 'माया मिली न राम' वाली नहीं हो जाएगी?

एतन्मे संशयं कृष्ण , छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य , छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

एतत् मे संशयम् कृष्ण , छेत्तुम् अर्हसि अशेषतः । त्वत् अन्यः संशयस्य अस्य , छेत्ता न हि उपपद्यते ॥

कृष्ण- हे कृष्ण! **मे एतत् संशयम् -** मेरे इस संशय को **अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि-** संपूर्ण रूप से छेदन (नष्ट) करने योग्य है **हि त्वत् अन्यः**-निश्चय ही आपके सिवा अन्य कोई **अस्य संशयस्य छेत्ता-** इस संशय का नाश करने वाला **न उपपद्यते-** मिलना संभव नहीं है ।

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र , विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् , दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पार्थ न एव इह न अमुत्र , विनाशः तस्य विद्यते । न हि कल्याण-कृत् कश्चित् , दुर्गतिम् तात गच्छति ॥

पार्थ-हे पृथा पुत्र अर्जुन ! **तस्य विनाशः न इह न अमुत्र एव विद्यते-** उस पुरुष का विनाश न (तो) यहाँ (इस जीवन में) और न परलोक में ही होता है । **तात-** हे भाई ! **हि कल्याण-कृत् कश्चित् दुर्गतिम् न गच्छति -** क्योंकि आत्मोद्धार के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

भगवान के वचन में 'तस्य' शब्द का प्रयोग उस अयति के संदर्भ में हैं जिसके बारे में अर्जुन का प्रश्न था। अयति से तात्पर्य था ध्यान योग का अभ्यास छोड़ देने वाला। उसके बारे में यहाँ भगवान ने कहा है कि ऐसे व्यक्ति को विनाश या दुर्गति की प्राप्ति न तो उसके शेष जीवन काल में और न ही परलोक या पुनर्जन्म में हो सकती है, क्योंकि दुर्गति तो अशुभ कर्मों से ही होती है और मात्र अभ्यास छोड़ देने से वह अशुभ कर्मों में लिप्त नहीं हो सकता, इतना ही होगा कि वह उस साधन पथ को पूर्ण न कर पाने के कारण लक्ष्य प्राप्ति टल जायगी, कुछ समय के लिए दूर चली जायगी। वस्तुतः फिसल जाने में और बैठ जाने में जो अंतर है वही अंतर साधना पथ से च्युत / भटक जाने में और अभ्यास छोड़ देने में हैं। ध्यान मार्ग में फिसलन का खतरा है अवश्य, विशेषकर उस साधक के लिए जिसने आत्म शुद्धि के लिए कर्मयोग की साधना कभी की ही नहीं है(श्लोक-५.११), परंतु उस फिसलन की विवेचना भगवान ने आगे (श्लोक-८.२१,२३,२५ में) की है। यहाँ उस फिसलन की बात नहीं की गई है वस्तुत: अभ्यास च्युति की बात कही गई है अर्थात् ध्यान में मन स्थिर न कर पाने के कारण थककर अभ्यास छोड़ देने वालों की बात कही गई है।

अब अगले कुछ श्लोकों में भगवान उपरोक्त योग से विचलित (योगभ्रष्ट) पुरुष का क्या भविष्य बनता है इसकी चर्चा कर रहे हैं। दो संभावनाएं बनती है जिन्हे

श्लोक-४१ , ४२ में क्रमशः इंगित किया गया है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्, उषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे , योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

प्राप्य पुण्य-कृताम् लोकान् , उषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनाम् श्रीमताम् गेहे , योग-भ्रष्टः अभिजायते ॥

योग-भ्रष्टः पुण्य-कृताम् लोकान् प्राप्य-योग से विचलित हुआ पुरुष पुण्य कार्य करने वालों के लोकों को पाकर **शाश्वतीः समाः उषित्वा-** बहुत काल तक (वहाँ भोग) भोगकर **शुचीनाम् श्रीमताम् गेहे अभिजायते-** पवित्र आचरण वाले श्री युक्त पुरुषों के घर में जन्म लेता है ।

योग से चलायमान हो जाने वाले साधकों की अर्थात् ब्रह्म प्राप्त न कर पाने वाले साधकों को दो श्रेणी में रखा जा सकता है- एक वे जो ब्रह्मानंद प्राप्ति की बात सुनकर, बिना अपने चित्त को शुद्ध किए, ध्यान साधना प्रारंभ कर देते हैं और जब उस आनंद की प्राप्ति शीघ्र नहीं हो पाती है तो वह साधना को थोड़े अभ्यास के बाद ही छोड़कर स्वर्ग-सुख प्राप्ति की ओर आकर्षित होकर पुण्य कर्मों की ओर लौट आते हैं। ये पुण्यात्माओं के लोकों- इह लोक अथवा स्वर्गादि परलोकों में सुख भोगकर फिर आगे सदाचारी और समृद्धशाली लोगों के घर पुनर्जन्म ग्रहण करते है इनका वर्णन भगवान ने ऊपर श्लोक-४१ में किया है।

दूसरी श्रेणी उन साधकों की है जो आत्मशुद्धि प्राप्त करके ध्यानयोग साधना में रत रहते हैं किन्तु यदि शरीर के रोग ग्रस्त हो जाने अथवा मृत्यु हो जाने के कारण साधना पूर्ण न हो पाये तो उनकी आगे की गति श्लोक-४२ से ४५ में वर्णित की गई है-

अथवा योगिनामेव , कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं , लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा योगिनाम् एव , कुले भवति धीमताम् । एतत् हि दुर्लभतरं , लोके जन्म यत् ईदृशम् ॥

अथवा धीमताम् योगिनाम् एव कुले भवति- अथवा (वह) ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है (परंतु) ईदृशम् यत् एतत् **जन्म-** जो यह जन्म है **लोके हि दुर्लभतरं -** संसार में निसंदेह अत्यंत दुर्लभ है।

दुर्लभ इस कारण है कि वास्तविक योगी तो होते ही बहुत कम है और फिर गृहस्थ योगी के यहाँ जन्म लेने का संयोग तो दुर्लभतम ही होता है जो ईश्वर प्रेरणा से ही संभव हो पाता है। इस प्रकार का एक प्रत्यक्ष उदाहरण महाराज ज्ञानेश्वर और उनके बड़े भ्राता (निवृत्तिनाथ), छोटे भाई (सोपानदेव) और सबसे छोटी बहन (मुक्ताबाई) चारों ही मुक्त और परम ज्ञानी आत्माओं के जन्म से संबंधित है। इन चारों का जन्म

१३वीं शती (ईस्वी) में प्रसिद्ध संत रामानंद स्वामी से संन्यास दीक्षा ले चुके एक महात्मा विट्ठल पंत के यहाँ एक चमत्कारी संयोगवश हुआ था। एक बार स्वामी रामानंद के पास कुछ तीर्थ यात्री दर्शनार्थ पहुंचे, उनमे विट्ठल पंत की पत्नी भी थी। अनजाने में ही उसके लिए स्वामीजी के मुँह से आशीर्वाद निकला 'पुत्रवती भव'। वह हंस पड़ी। कारण पूछने पर स्वामीजी को उसने बताया कि उसके पति तो साधु होकर कहीं जा चुके हैं। स्वामीजी ने अचानक मुँह से निकले आशीर्वाद का कारण जानने के लिए ध्यान लगाया तो समझ गए कि उपरोक्त पवित्र आत्मायें वैराग्य वान ज्ञानी महात्मा के घर जन्म लेने हेतु दीर्घकाल से प्रतीक्षा कर रही थी और कि उस स्त्री का पति कोई और नहीं उनका ही शिष्य विट्ठल पंत था। उन्होंने पंत को पुनः गृहस्थ आश्रम की आज्ञा दी। तब उक्त चारों महान ज्ञानी बालकों का जन्म हुआ। गीता पर योग परक प्रसिद्ध टीका 'ज्ञानेश्वरी' इन्हीं अवतारी पुरुष ज्ञानेश्वर देव की है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं , लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः , संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र तम् बुद्धि-संयोगम् , लभते पौर्व-देहिकम् । यतते च ततः भूयः , संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

तत्र तम् पौर्व-देहिकम् बुद्धि-संयोगम् लभते- वहाँ (नए जीवन में) उस पूर्व जन्म वाली (योग) बुद्धि का (वर्तमान बुद्धि से) संयोजन प्राप्त कर लेता है, **च कुरुनन्दन-** और हे अर्जुन ! **ततः भूयः संसिद्धौ यतते-** उससे (वह) फिर योग की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है ।

बुद्धि संयोग : इस सामासिक शब्द का अर्थ टीकाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है किंतु मूल भाव यही है कि पूर्वजन्म में योग साधना का जितना प्रभाव साधक ग्रहणकर चुका है, पुनर्जन्म में वह उससे आगे बढ़ता हुआ पूर्ण सिद्धि प्राप्त करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव , ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य , शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्व-अभ्यासेन तेन एव , ह्रियते हि अवशः अपि सः । जिज्ञासुः अपि योगस्य , शब्द-ब्रह्म अतिवर्तते ॥

हि सः तेन पूर्व-अभ्यासेन एव अवशः अपि ह्रियते- निश्चय ही वह (योग-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील साधक अपने) उस पहले अभ्यास के द्वारा ही विवश-सा होकर आगे भी ले जाया जाता है। **योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्द-ब्रह्म अतिवर्तते -** योग का जिज्ञासु भी ब्रह्म के शाब्दिक चिंतन से परे पहुंच जाता है।

अवशः -अवश शब्द का प्रयोग दो परस्पर विरोधी अर्थों में होता है- १. परवश नहीं अर्थात् स्वतंत्र / मुक्त/ स्वेच्छाचारी; और २. लाचार / पराजित / विवश आदि। यहाँ दूसरा अर्थ ही उपयुक्त बैठता है जिसका भाव है कि पूर्व जन्म में किए गए अभ्यास

का प्रभाव उसे परवश करता हुआ वर्तमान जन्म में प्राप्त विपरीत परिस्थितियों में से खींच कर भी उसे पूर्वजन्म वाली दिशा में लगा देता है जैसा कि हमें बुद्ध, महावीर, राम-कृष्ण, रमण महर्षि आदि अनेकानेक महात्माओं के जीवन चरित्रों में घटित हुआ देखने को मिलता है।

जिज्ञासु......अतिवर्तते : निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले साधक की यात्रा का प्रथम चरण ब्रह्मजिज्ञासा से प्रारंभ होता है और अंतिम सोपान ब्रह्मनिर्वाण / ब्रह्म-संस्पर्श की अनुभूति प्राप्त करना है। एक बार पूरे मनोयोग से यात्रा प्रारंभ होने पर वह रुकती नहीं है। कई जन्मों तक भी पूर्ण होने तक निरंतर चलती रहती है।

किंतु इस साधना की निर्बाध गति बनी रहे इस हेतु स्वार्थवृत्ति रूप 'महान पाप' से शुद्ध होना महती आवश्यकता होती है, यह बात अगले श्लोक में व्यक्त की गई है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु , योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धः , ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नात् यतमानः तु , योगी संशुद्ध किल्बिषः । अनेक-जन्म-संसिद्धः , ततः याति पराम् गतिम् ॥

तु संशुद्ध किल्बिषः प्रयत्नात् यतमानः योगी-परंतु सब पापों से शुद्ध हुआ प्रयत्न पूर्वक अभ्यास में लगा रहने वाला योगी **अनेक-जन्म-संसिद्धः-** अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करके **ततः पराम् गतिम् याति -** फिर परम गति प्राप्त कर लेता है।

संशुद्ध किल्विष : - पाप (किल्विष) क्या है? वह कार्य जो मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधा पैदा करें, पाप है। सभी पापों के छः कारक कहे गए हैं- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। इनका भी मूल स्रोत एक ही है, वह है व्यक्ति का निम्न अहं जिसका व्यवहारीय रूप हो जाता है स्वार्थ और गीता ने इससे शुद्ध होने का श्रेष्ठतम उपाय बताया है निष्काम-कर्म अर्थात् कर्मयोग (श्लोक-५.११)।

अनेक जन्म संसिद्ध : - कर्म-संन्यास साधनाओं के अंतर्गत ज्ञान साधना (श्लोक-५.१३ से २४),ध्यान साधना (श्लोक-६.७ से ९, १३ से १५, १८ से २०) यतियों के तपमार्ग (श्लोक-६.२४ से २७) का जो यहाँ वर्णन किया गया है इनसे निर्गुण ब्रह्म रूप परम् लक्ष्य की प्राप्ति में अनेक जन्म लग सकते हैं यह बात कही गई है। इसका संभावित कारण यह हो सकता है कि इन साधनों में व्यक्तित्व के दो संगठक तत्वों- पुरुष और प्रकृति- में से केवल एक ही तत्व- पुरुष (अर्थात् ज्ञान शक्ति)- का ही उपयोग किए जाने से दूसरे तत्व प्रकृति की दिशा बहुत धीरे-धीरे अनुशासन में आएगी। दूसरी ओर, कर्मयोग के साथ ज्ञान का समावेश करने अर्थात् सगुण

परमात्मा की भक्ति से अपेक्षाकृत कम समय में लक्ष्य पूर्ण होने की संभावना बनती है, इसी कारण भक्ति (अर्थात् कर्मयोग-सह-भगवतभाव) को गीता सहित अधिकांश ग्रंथों में वरीयता दी गई है।

परम् गतिम् : कर्म-संन्यास मार्ग के साधकों का लक्ष्य होता है निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अर्थात् उस सत्ता में अपनी व्यक्ति सत्ता का लोप। उस स्थिति की प्राप्ति को यहाँ 'परम गति' कहा गया है और गीता में सगुण परमात्मा की प्राप्ति को 'परम् धाम / मेरी गति / मेरी स्थिति' जैसे शब्दों से व्यक्त किया गया है।

यहाँ निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति विषयक कर्म-संन्यास साधनाओं का विवेचन समाप्त हुआ। अब अगले दो श्लोकों में भगवान कर्मयोग द्वारा सगुण परमात्मा की उपासना को इनसे श्रेष्ठ बताते हुए अध्याय का समापन कर रहे हैं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी , ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी , तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्विभ्यः अधिकः योगी , ज्ञानिभ्यः अपि मतः अधिकः । कर्मिभ्यः च अधिकः योगी , तस्मात् योगी भव अर्जुन ॥

योगी तपस्विभ्यः अधिकः- (कर्म) योगी तप मार्ग के साधकों से श्रेष्ठ है, **ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः-** ज्ञान मार्ग के साधकों से भी श्रेष्ठ माना गया है, **च कर्मिभ्यः योगी अधिकः-**और (ध्यान) क्रिया साधकों से (भी कर्म) योगी श्रेष्ठ है , **तस्मात् हे अर्जुन! योगी भव-**इसलिए हे अर्जुन(तू) कर्मयोगी हो ।

योगिनामपि सर्वेषां , मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां , स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

योगिनाम् अपि सर्वेषाम् , मत् गतेन अन्तर-आत्मना । श्रद्धावान् भजते यः माम् , सः मे युक्ततमः मतः ॥

सर्वेषाम् योगिनाम् अपि - सब योगियों में भी **मत् गतेन अन्तर-आत्मना-** मुझ को समर्पित अंतः करण से **यः श्रद्धावान् माम् भजते-** जो श्रद्धावान मुझको भजता है **सः युक्ततमः मे मतः-** वह (योगी) सबसे श्रेष्ठ है, (ऐसा) मेरा मत है ।

इन श्लोकों के ठीक भावार्थ को ग्रहण करने हेतु हमें यहाँ प्रयुक्त कुछ शब्दों के विशेष अर्थों पर ध्यान देना होगा। ये शब्द हैं-

योग : इस शब्द का सामान्य अर्थ 'जुड़ना' या 'जुड़ा हुआ' है। आध्यात्मिक संदर्भों में अर्थ होता है परम सत्ता से जुड़ना अथवा वह साधना प्रणाली जिसके द्वारा उस सत्ता से जुड़ने का प्रयास किया जाता है। इसी अर्थ में ज्ञानयोग, कर्मयोग, तपयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किंतु गीता ने केवल योग

शब्द का भी प्रयोग किया है और तब इसका आशय है उस विशेष साधना पद्धति से होता है इसकी विवेचना चल रही होती है। अतः संदर्भ अनुसार हमें इस शब्द से साधना प्रणाली विशेष का अर्थ ग्रहण करना होगा। क्योंकि गीता का मुख्य विषय कर्मयोग है अतः अनेक स्थलों पर तो योग शब्द कर्मयोग के लिए ही प्रयुक्त हुआ है किंतु कहीं-कहीं अन्य साधना प्रणालियों के लिए भी योग शब्द प्रयुक्त हुआ है अतः हमें सावधानी पूर्वक 'योग' शब्द से इंगित सही प्रणाली विशेष का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यहाँ संदर्भित श्लोकों (अध्याय-६ के अंतिम दो श्लोकों) में 'योग' शब्द का अर्थ 'कर्मयोग' ही लिया जाना चाहिए, यह बात निर्णायक निर्देश करने वाले 'तस्मात् योगी भव अर्जुन' इन शब्दों से स्पष्ट है। परंतु कुछ टीकाओं की व्याख्याओं में इसे ध्यान-योग संबंधी निर्देश मानकर अर्थ किए गए हैं। (क्योंकि इससे पूर्व के श्लोकों में ध्यान योग की विवेचना चल रही थी), किंतु यह व्याख्या ठीक नहीं लगती क्योंकि लेखक ने युद्ध की जिस परिस्थिति को गीता ज्ञान के लिए आधार बनाया है न तो वह और न ही भगवान उससे विलग होकर कोई अन्य विसंगत बात कह सकते हैं। अतः यहाँ 'तस्मात् योगी भव अर्जुन' में योगी का अर्थ 'कर्मयोगी' ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं।

इस प्रकार, श्लोक का भावार्थ होगा कि है अर्जुन! तेरे लिए तो कर्मयोग ही अन्य उन सभी मार्गों से श्रेष्ठ होगा जिनका वर्णन इस प्रसंग में यहाँ (अध्याय-५ और ६ में) किया गया है।

कर्मिभ्य : इस शब्द का अर्थ लगभग सभी टीकाओं में, जो हम देख सके, शांकर भाष्य का अनुसरण करते हुए, 'सकाम कर्म' को लेकर किया गया है, किंतु बिना समुचित व्याख्या के यह अर्थ विषय के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। हमें इस संबंध में भगवत गीता पर एनीबेसेंट और भगवान दास की प्रसिद्ध टीका पढ़कर लगा कि संभवत: उन्हें भी उक्त अर्थ समाधान कारक नहीं लगा होगा क्योंकि उन्होंने भी 'सकाम कर्म' वाले अर्थ को तो स्वीकार नहीं किया है और केवल एक अप्रतिबद्ध (non-committed) अर्थ 'कर्म करने वाले' देकर काम चलाया है। अतः हमारा विचार है की मूल अर्थ पर पहुंचने के लिए हमें संदर्भित विषय का पुनः अवलोकन करते हुए अर्थ का अनुसंधान इसप्रकार करना चाहिए-

इन अंतिम दो श्लोकों में भगवान ने अर्जुन के उस मूल प्रश्न का निर्णायक उत्तर दिया है जिसके अंतर्गत उसने प्रार्थना की थी कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में से जो एक मार्ग मेरे लिए कल्याण कारक हो उसका निश्चिय करके बताएं (श्लोक-५.१)।

वस्तुत: अध्याय-५ और ६ में भगवान ने जो कुछ कहा है वह सब श्लोक-३५ से ४५ को छोड़कर जिनमें कि अर्जुन के एक उप-प्रश्न का उत्तर दिया गया है इसी मूल प्रश्न का उत्तर है। अतः भगवान के संपूर्ण वचनों पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि अध्याय-५ में कर्मयोग की संक्षिप्त विवेचना (श्लोक-६ से १२ में) करने के बाद उन्होंने ज्ञानयोग (अर्थात् सांख्य ज्ञान के अनुरूप मन-बुद्धि को संस्कारित करने की साधना) की विवेचना (श्लोक-१३ से २४ में) विस्तार से की है, और इसके बाद कहा कि उक्त मार्ग द्वारा ज्ञान योगी ब्रह्म निर्वाण रूप जो परमसिद्धि प्राप्त करता है वही या वैसी ही सिद्धि कर्मयोगी को निष्काम कर्म साधना से (श्लोक-२५),यतियों को तपयोग से (श्लोक-२६), और मुनियों को ध्यानयोग से (श्लोक-२७,२८) प्राप्त हो जाती है। इसके पश्चात् ध्यान योग की ओर अर्जुन का विशेष आकर्षण देखते हुए जब उन्होंने इसका विस्तार पूर्वक वर्णन (श्लोक-६.५ से ३२ में) किया तो इस मार्ग की कठिनाई की ओर अर्जुन का ध्यान गया और उसने इस संबंध में एक उप-प्रश्न किया जिसका समाधान श्लोक-६.३३ से ४५ में करने के बाद अब भगवान ने श्लोक-४६ में अर्जुन के (श्लोक-५.१ वाले) मूल प्रश्न के उस भाग का उत्तर दिया है कि उसके लिए कौनसा मार्ग श्रेष्ठ होगा। इस प्रश्न के उत्तर में कहे गए श्लोक-४६ का भाव यह है कि कर्मयोग के अतिरिक्त ज्ञान, तप, ध्यान आदि जो मार्ग और जिनकी विवेचना दोनों अध्यायों में की गई है, वे सब सकाम कर्म की श्रेणी में ही आएंगे क्योंकि उन सब में साधक का भाव अपनी मुक्ति (श्लोक-५.२८) अथवा 'अत्यंतम् सुखम्' (श्लोक-६.२८) प्राप्त करने का होता है, जबकि कर्मयोग अथवा भक्ति में ऐसा 'मैं' भाव नहीं होने से वह 'मुझ' (सगुण परमात्मा) को अधिक श्रेष्ठ मान्य हैं।

श्रद्धावान् भजते यः माम् : 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग बहुधा मान्यता के रूप में कर लिया जाता है किंतु यह ठीक नहीं है। प्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर के अनुसार 'श्रद्धा' धातु, शर्त+ध से बना है। जिसका अर्थ होता है- सत्य तत्व के प्रति पोषित धारणा। वे कहते हैं कि श्रद्धा से आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत होती है जिसके बिना मनुष्य निष्काम कर्म, त्याग, प्रेम आदि कुछ भी उत्कृष्ट पुरुषार्थ नहीं कर सकता।

भजते का अर्थ सेवते (सेवा करना) होता है और 'माम्' शब्द यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने सर्वव्यापी सगुण परमात्मा तत्व के संबंध में प्रयुक्त किया है। अतः 'भजते माम्' का अर्थ है उस सर्वव्यापी परमात्म सत्ता को सब प्राणियों में उपस्थित जान, उनके कल्याणार्थ कार्य करना। और यह कार्य उस परम सत्य के प्रति बिना पक्की धारणा

बनाएं संभव नहीं होगा, इस हेतु से ही अगले कुछ अध्याय कहे गए हैं और ६वें अध्याय का उपरोक्त अंतिम श्लोक उसकी पूर्व भूमिका का वर्णन कर रहा है।

◆ ◆ ◆

सप्तमः अध्यायः

परमात्म सत्ता का दृश्य जगत में दर्शन

अध्याय की विषय वस्तु

अध्याय में भगवान अपने अभिव्यक्त सर्वव्यापी स्वरूप से हमें परिचित करा रहे हैं। उस अभिव्यक्त को जानने के दो पक्ष हैं जिन्हें यहाँ ज्ञान और विज्ञान कहा गया है (श्लोक-२)। ये पक्ष है- १. वस्तुओं में उनकी उपस्थिति की जानकारी होना ज्ञान है, और २. उनकी उपस्थिति का अनुभव होना विज्ञान है। यह अनुभव प्रारंभिक काल में उस सत्ता की उपस्थिति से होने वाली विशेष क्रियाओं के द्वारा भी होता है, अतः इन्हें जानना भी विज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान, इन दोनों का वर्णन भगवान ने क्रमशः श्लोक-४ से ९ और श्लोक ९ से १२ में किया है। क्योंकि भगवान के सभी अभिव्यक्त रूप प्रकृति से किसी न किसी अंश से युक्त होते हैं, अतः भगवत् सत्ता को तत्वतः जानना अर्थात् प्रकृति से मुक्त उनके शुद्ध स्वरुप को जान पाना यद्यपि कठिन है (श्लोक-१३ से १५) किंतु सत्कर्मी व्यक्ति उस कठिनाई से धीरे-धीरे पार पता हुआ अंततः उस शुद्ध तत्व को भी जान लेता है। आध्यात्मिक उन्नति के इस पथ के पांच पड़ावों को क्रमशः अर्थार्थी, आर्थ, जिज्ञासु, ज्ञानी और ज्ञानीभक्त कहा गया है जिनका उल्लेख श्लोक-१६,१७ और वर्णन श्लोक-१८ से २८ में किया गया है। इन क्रमगत स्थितियों से होता हुआ व्यक्ति जब देह भाव से मुक्त हो जाता है (जरा-मरण मोक्षाय, श्लोक-२९) तो वह सर्वत्र व्याप्त उस परम सत्ता को पहचानकर उसके प्रति वह स्वयं को समर्पित कर पाता है(श्लोक- २९,३०)।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ , योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां , यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

मयि आसक्त-मनाः पार्थ , योगम् युञ्जन् मत् आश्रयः । असंशयम् समग्रम् माम् , यथा ज्ञास्यसि तत् शृणु ॥

हे पार्थ- हे अर्जुन! **मयि आसक्त-मनाः मत् आश्रयः योगम् युञ्जन्-**मुझ में मन लगा कर, मुझ में शरण लेकर कर्मयोग में लगा हुआ (तू) **यथा समग्रम् माम् असंशयम् ज्ञास्यसि-** जिस प्रकार संपूर्णता से मुझे संशय रहित जानेगा **तत् शृणु-**उनको सुन ।

अर्जुन के इस मूल प्रश्न का कि 'कर्मयोग और कर्म-सन्यास में से मेरे लिए कल्याणकारी मार्ग क्या है', इसके उत्तर का समापन करते हुए भगवान ने कहा था कि समर्पित अंतःकरण से जो श्रद्धावान मुझको भजता है (सेवा करता है) वह सबसे श्रेष्ठ है(श्लोक-६.४७)। अब यहाँ उस कथन की व्याख्या करते हुए वे अपने सर्वव्यापी सगुण स्वरूप की जानकारी दे रहे हैं।

कर्मयोग की सिद्धि और परमात्म तत्व का ज्ञान होना, इन दोनों बातों के परस्पर आश्रित होने के तथ्य को भी यहाँ मुखरित किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अन्य सभी प्राणियों की तरह मनुष्य भी दो मूल तत्वों प्रकृति और पुरुष से निर्मित है जो क्रमशः क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति को निरूपित करते हैं। यदि व्यक्ति में ज्ञानशक्ति की प्रबलता होगी तो उसके कर्म व्यवस्थित, सर्व सुखदायक और विकास में सहायक होंगे, अतः विकासवान जीवन के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अधिकाधिक ज्ञान से युक्त होकर कर्म करें। अध्याय-६ में भगवान ने अन्य साधनों की अपेक्षा अर्जुन अथवा उस जैसे अधिकांश लोगों के लिए कर्मयोग को सहज और महत्वपूर्ण साधन सिद्ध किया था, अब वे उस कर्मयोग की पूर्ण सिद्धि के लिए आवश्यक उस ज्ञान की विवेचना कर रहे हैं।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् , इदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् , ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ज्ञानम् ते अहम् सविज्ञानम् , इदम् वक्ष्यामि अशेषतः । यत् ज्ञात्वा न इह भूयः अन्यत् , ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ॥

अहम् ते इदम् सविज्ञानम् ज्ञानम् अशेषतः वक्ष्यामि-मैं तुझे इस विज्ञान सहित ज्ञान को संपूर्णतया कहूँगा **यत् ज्ञात्वा इह भूयः अन्यत् ज्ञातव्यम् न अवशिष्यते -** जिसे जानकर यहाँ (जीवन में) फिर और कुछ जानने योग्य (ज्ञान) शेष नहीं रहता।

यह ज्ञान इतना महत्वपूर्ण होने पर भी इसे सभी मनुष्य ग्रहण करने में सक्षम नहीं होते, किंतु हे अर्जुन तू इस के योग्य है इसलिए मैं तुझे यह ज्ञान प्रदान कर रहा हूँ - यह बात भगवान अगले श्लोक (क्रमांक-३) में बता रहे हैं। (अर्जुन को वे इस ज्ञान के योग्य क्यों मान रहे हैं? अर्जुन में दूसरों के हितार्थ, अपने पूज्य जनों के लिए अपने हितों का त्याग करने की इतनी क्षमता थी कि जिस युद्ध को जीतने के लिए वह १३ वर्ष तक अथक परिश्रम / तप करके अकेला ही भगवान शिव और इंद्र से दिव्यास्त्र

प्राप्त किये थे उसी जीत को भी पूज्य जनों को मारने की अपेक्षा ठुकरा देने के लिए वह तत्पर था। यह योग्यता देख कर ही भगवान उसे यह ज्ञान / विज्ञान दे रहे हैं। अगला श्लोक-३ इसी तथ्य को प्रकाशित करता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु , कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां , कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

मनुष्याणाम् सहस्रेषु , कश्चित् यतति सिद्धये । यतताम् अपि सिद्धानाम् , कश्चित् माम् वेत्ति तत्त्वतः ॥

सहस्रेषु मनुष्याणाम् कश्चित् सिद्धये यतति- हजारों मनुष्यों में कोई एक विरला ही मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए यत्न करता है (और उन) **यतताम् सिद्धानाम् अपि कश्चित् माम् तत्त्वतः वेत्ति-** यत्न करने वाले सिद्ध पुरुषों में भी कोई एक मुझको तत्व से जानता है ।

तत्त्वतः जानना : भावार्थ की विवेचना हेतु श्लोक-२.१६ में तत्वदर्शिभि शब्द की व्याख्या और श्लोक-३.२८ में तत्त्ववित् का किया गया अर्थ द्रष्टव्य है।

अब आगे के कुछ श्लोकों (क्रमांक-४ से १२) में भगवान जड़-चेतन सृष्टि में अपनी उपस्थिति का दर्शन करा रहे हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः , खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे , भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

भूमिः आपः अनलः वायुः , खम् मनः बुद्धिः एव च । अहंकारः इति इयम् मे , भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां , प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो , ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

अपरा इयम् इतः तु अन्याम् , प्रकृतिम् विद्धि मे पराम् । जीव-भूताम् महाबाहो , यया इदम् धार्यते जगत् ॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्,- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पंच महाभूत) **मनः, बुद्धिः च अहंकारः एव इति-** मन-बुद्धि और अहंकार (अहम् कार) इस प्रकार **इयम् मे प्रकृतिः अष्टधा भिन्ना-**यह मेरी प्रकृति आठ रूपों में विभक्त है। **इयम् अपरा तु महाबाहो इतः अन्याम्-** यह अपरा प्रकृति है परन्तु हे महाबाहो ! इससे अन्य को **यया इदम् जगत् धार्यते-**जिससे यह जगत धारण किया हुआ है, **मे जीव-भूताम् पराम् प्रकृतिम् विद्धि-** मेरी जीव रुपा परा (चेतन) प्रकृति को जान ।

उपरोक्त श्लोकों में अपरा प्रकृति और परा प्रकृति का वर्णन है जिन्हें भगवान ने 'मेरी' कहा है। वस्तुतः भगवान ने तीन प्रकार की प्रकृति को 'मेरी' कहा है- यहाँ अपरा और परा तथा आगे (श्लोक-७.१२ से १४ में) त्रिगुणमयी प्रकृति (श्लोक-१३.१९) को

भी उन्होंने 'मेरी' माया कहा है। अपरा प्रकृति का कार्यक्षेत्र चर-अचर प्राणियों की शरीर रचना में है, परा प्रकृति का कार्य उक्त प्राणियों के शरीर को चेतना / जीवन प्रदान करना है, तथा त्रिगुणी माया प्रकृति का कार्यक्षेत्र मन-बुद्धि-अहंकार रूप अंतःकरण है। इनके अतिरिक्त भगवान पूर्व में (श्लोक-४.६) एक और प्रकृति का भी उल्लेख कर चुके हैं जिसके बारे में उन्होंने कहा था कि 'मैं प्रकृति को अधीन करके, और उस पर स्वत्वाधिकार करके, उस आत्म माया रूप प्रकृति से अवतार रूप में प्रकट होता हूँ (प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय संभाविमि आत्म मायया)'। श्लोक-४.६ में 'मम माया' के स्थान पर सामासिक शब्द 'आत्म माया' का जो उपयोग किया गया हैं वह ध्यान देने योग्य है। जिस वस्तु को हम मेरी कहते है उस पर हमारा अधिकार उसके उपयोग करने जितना ही है किंतु वह हमारा स्वरूप नहीं बनती किंतु 'आत्म' शब्द अपना स्वरूप बन जाने के भाव को प्रकट करता है अतः वाक्य में 'आत्ममाया' का प्रयोग सूचित करता है कि वह प्रकृति (माया) जिसे भगवान अपने अवतार रूप में ग्रहण करते हैं उसकी प्रथक सत्ता नहीं रहती वह भगवान का स्वरूप ही बन जाती है।

गीता में भगवान ने प्रकृति के जिन रूपों को यत्र-तत्र चर्चा की है उन सभी पर एक साथ चर्चा की जाए तो हम कह सकते हैं कि उन्होंने मोटे रूप से पांच और थोड़े विस्तार में जाए तो प्रकृति के सात रूपों से हमें परिचित कराया है। इनमें परमात्मा की ज्ञान शक्ति की बढ़ती मात्रा के मान से इनका क्रम इस प्रकार होगा- १. मूल प्रकृति जो पूर्णतः ज्ञानशून्य होने से विनाशकारी क्रियाओं की संचालक है (विवरण हेतु दृष्टव्य- श्लोक-३.२४ की विवेचना); २. अपरा प्रकृति- प्रकृति का वह रूप जिसे भगवान ने मूल प्रकृति के विनाशकारी स्वरूप को नियंत्रण में लेकर शरीर रचना के लायक आठ तत्वों के रूप में कुछ अंश को रूपांतरित किया; ३. परा प्रकृति का अर्थ यहाँ चेतना अर्थात् प्रकृति का वह रूप है जिसे हम जीवन के रूप में पहचानते हैं, प्राणियों की प्राणिक क्रियायें जिससे संचालित होती है; ४. तम/रज/सत गुणों से युक्त प्रकृति जिसे भगवान ने 'मम माया' कहा है। ये गुण भगवान की ज्ञानशक्ति की बढ़ती मात्रा को निरूपित करते हैं; ५. प्रकृति का ज्ञान से पूर्णतः परिष्कृत रूप जिसे ग्रहण करके भगवान अवतार रूप में जन्म लेते हैं। माया रूप प्रकृति की तीन गुणात्मक अवस्थाओं को यदि प्रकृति के तीन भिन्न रूप गिनें ने तो प्रकृति के कुल सात रूप हो जाते हैं जिनमें भगवान की ज्ञानशक्ति की प्रबलता शुन्य से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पूर्णता को प्राप्त हुई मानी जा सकती है। दूसरे शब्दों में ये सात रूप प्रकृति के क्रम-

विकास को निरूपित करते हैं और साथ ही सर्वव्यापी ज्ञान स्वरूपा भगवत् सत्ता की तदनुरूप अभिव्यक्ति को।

उक्त (श्लोक-४, ५ में कही गई) दोनों प्रकृतियों से यह संपूर्ण जगत निर्मित हुआ है और इसका संचालन मेरे द्वारा किस प्रकार हो रहा है इस बात को भगवान अगले कुछ श्लोकों में बता रहे हैं।

एतद्योनीनि भूतानि , सर्वाणीत्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः , प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

एतत् योनीनि भूतानि , सर्वाणि इति उपधारय । अहम् कृत्स्नस्य जगतः , प्रभवः प्रलयः तथा ॥

इति उपधारय-ऐसा समझ (कि) **सर्वाणि भूतानि एतत् योनीनि-** संपूर्ण प्राणी इन (दोनों प्रकृतियों) से उत्पन्न होने वाले हैं । **अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः-**मैं संपूर्ण जगत का जनक हूँ और (मैं ही इसका) विनाश-कर्ता भी हूँ ।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में भगवान ने जो यह कहा है कि वे जगत को उत्पन्न करने वाले (प्रभव:) और उसके प्रलय के कारण भी वे ही है, इस कथन को पूर्णतः समझने के लिए हमें जगत, प्रभव और प्रलय के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए।

जगत : जो सतत गतिमान है, निरंतर बदल रहा है, उसे जगत कहा जाता है। यह संसार नित्य परिवर्तनशील है, अतः इसे जगत कहते हैं। प्रकृति के आठ तत्व से बने जगत के भी दो विभाग किए जाते हैं- पृथ्वी आदि स्थूल पांच तत्वों से बना बाह्य जगत और मन-बुद्धि-अहंकार से बना अंतर जगत। बाह्य जगत के भी दो विभाग हैं- जड़ जगत और चेतन जगत। चेतन के भी दो विभाग है - चर (चलने वाले जीवों का जगत) और अचर (पेड़-पौधों का जगत)। जगत की इस व्यापक (comprehensive) परिभाषा के कारण टीकाकारों की विवेचनाओं में महत्वपूर्ण अंतर आ गया है। वेदांतवादी टीकाकार जो प्रकृति को भगवान की कृति मानते हैं उन्होंने जड़ जगत की उत्पत्ति और विनाश को भगवान का कार्य माना है, अतः वे भगवान को जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण, दोनों मानते हुए अपने 'एको सत्यं द्वितीय न अस्ति' वाले सिद्धांत को सिद्ध कर लेते हैं। इस मत में श्रद्धा के कारण वे गीता में भगवान के उस कथन को, जिसमें उन्होंने प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि कहा है (श्लोक-१३.१९) उसे गौण मानकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं। किंतु यदि हम ऐसा नहीं कर सकते तो हमें भगवान के सभी वचनों में सामंजस्य बैठाते हुए उन्हें समझना होगा। यदि हम श्लोक की प्रथम पंक्ति को दूसरी पंक्ति के कथन से जोड़कर देखें तो

स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जगत का अर्थ केवल प्राणी जगत है क्योंकि पहली पंक्ति में जो 'सर्वाणि भूतानि' की बात कही गई है दूसरी पंक्ति में उस प्राणी जगत की ही उत्पत्ति और विनाश का कर्ता उन्होंने अपने को बताया है जिसे हमें समझना है।

जगत का प्रभव और प्रलय 'मैं' हूँ : प्राणी जगत का प्रभव 'मैं' हूँ अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति (और उनका जीवित रहना) 'मेरे' से है, भगवान के इन वचनों को समझने में तो कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि यह दोनों पक्ष उस विकास के ही चरण है जिसे भगवान ने अपनी अगोचर (इन्द्रियातीत) सत्ता की उपस्थिति का भान कराने हेतु अनेक स्थलों पर वर्णित किया है (द्रष्टव्य- श्लोक-१३.२२, अध्याय-१४, श्लोक-१५.१२ से १५ पर विवेचनाऐं)। किन्तु प्रलय अर्थात् शारीरिक मृत्यु का 'कारण' भी वह 'विकास पुरुष' है इसे समझने के लिए हमें 'मृत्यु के रहस्य' में थोड़े गहराई में प्रवेश करना होगा। इस रहस्य की व्याख्या योगी श्री अरविंद ने की है। उन्होंने एक लेख में कहा है कि जीवात्मा को अगले जन्म में जो शरीर मिलता है वह इस जन्म की अपेक्षा अधिक ज्ञान धारण करने, उस ज्ञान के अनुरूप जीवन जीने, के योग्य होता है। यही बात उन्होंने अपने 'सावित्री' महाकाव्य में भी स्थापित की है। वस्तुतः 'महाभारत' एवं 'कठोपनिषद' में इसी रहस्य को इंगित करने के लिए जन्म-मृत्यु की नियंता शक्ति 'यम' को देवता अर्थात् परमात्म शक्ति का एक कल्याणकारी रुप बताया गया है। पौराणिक साहित्य में भी ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र को सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और विनाश (मृत्यु/प्रलय) के देव अर्थात् परमात्म शक्ति के विकास कार्यक्रम को संपन्न करने वाली उस समग्र शक्ति के ही विशिष्ट रूप, बताए गए हैं।

भगवान के उक्त कथन का हम सब के लिए महत्वपूर्ण संदेश यह है कि जन्म-मृत्यु की इस व्यवस्था में परमात्मा की कार्ययोजना को समझते हुए हमें मृत्यु से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है वरन् इस उनका कृपा-प्रसाद समझते हुए वर्तमान जीवन का सदुपयोग करने का प्रयास करना चाहिए।

अब अगले श्लोक में भगवान बता रहे हैं कि जगत में उनकी ज्ञान सत्ता का महत्व अन्य (अर्थात् प्रकृतितत्व) की अपेक्षा कहीं अधिक है और ऐसा क्यों है?

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं , सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

मत्तः परतरं न अन्यत् किञ्चित् अस्ति धनञ्जय । मयि सर्वम् इदम् प्रोतम् सूत्रे मणिगणाः इव ॥

धनञ्जय- हे धनञ्जय! **अन्यत् किञ्चित् मत्तः परतरं न अस्ति-**अन्य कुछ भी मुझसे श्रेष्ठ (तत्व) नहीं है,**इदम् सर्वम्-** यह संपूर्ण (जगत) **सूत्रे मणिगणाः इव-**सूत्र में मणियों के सदृश्य **मयि प्रोतम्-** मुझ में गुंथा हुआ है ।

श्लोक में जगत की रचना को मणियों के हार की उपमा से समझाया गया है। हार में मणियें एक धागे में पिरोई हुई रहती है। हार में मणियें दिखाई देती है धागा नहीं दिखता किंतु वह धागा ही माणियों को बांधकर उन्हें हार के रूप में उपयोगी और गरिमामय बनाता है। घर, कुटुम्ब, समाज आदि छोटे-बड़े हार हैं जिनमें उनके संघटक अंग मणिये है जो प्रेम रूप परमेश्वर शक्ति से जब परस्पर गुंथी होती हैं तो सुख / शांति / आनंद देती हैं। यह सुंदर उपमा हमें परमात्म शक्ति का वास्तविक और प्रेरणा देने वाला परिचय प्रदान करता है किंतु यहाँ इस स्थान पर हमारे वास्तविक जीवन के पारिवारिक / सामाजिक / अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहुधा क्रियाशील हो जाने वाली उस दूसरी विभाजक अज्ञान रूपा प्रकृति शक्ति की बात नहीं कही गई है जिस पर यदि हम शासन स्थापित करने के प्रति उदासीन रहते हैं तो वह हमें परस्पर प्रेम सूत्र में बांधने वाली दिव्य शक्ति को भी जीत कर हमें छिन्न-भिन्न कर देती है। मनुष्य को इस प्रकार की त्रासदी में धकेलने वाली उस अज्ञान रूपा प्रकृति शक्ति का परिचय और उस पर विजय पाने का रास्ता भगवान हमें आगे बताने वाले हैं, अभी यहाँ वे हमें परमात्म शक्ति से परिचित करा रहे हैं।

अगले पांच श्लोकों में भगवान उक्त परमात्मशक्ति के प्राणियों में क्रियाशील हुए १५ रूपों का दर्शन करा रहे हैं-

रसोऽहमप्सु कौन्तेय , प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु , शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

रसः अहम् अप्सु कौन्तेय , प्रभा अस्मि शशि-सूर्ययोः । प्रणवः सर्व-वेदेषु , शब्दः खे पौरुषम् नृषु ॥

कौन्तेय-हे कुंतीपुत्र अर्जुन ! **अहम् अप्सु रसः शशि-सूर्ययोः प्रभा-**मैं जल में रस, सूर्य-चन्द्रमा में प्रकाश **सर्व-वेदेषु प्रणवः, खे शब्दः नृषु पौरुषम् अस्मि-**सब वेदों में ॐकार , आकश में शब्द और मनुष्यों में शौर्य/ साहस हूँ ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च , तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु , तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पुण्यः गन्धः पृथिव्याम् च , तेजः च अस्मि विभावसौ । जीवनम् सर्व-भूतेषु , तपः च अस्मि तपस्विषु ॥

पृथिव्याम् पुण्यः गन्धः-पृथ्वी में पवित्र गंध , **च विभावसौ तेजः अस्मि-** और अग्नि में मैं तेज हूँ, **च सर्व-भूतेषु जीवनम्-** तथा संपूर्ण प्राणियों में (उनका) जीवन हूँ , **च तपस्विषु तपः अस्मि -**और तपस्वीयों में तप हूँ ।

बीजं मां सर्वभूतानां , विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि , तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

बीजम् माम् सर्व-भूतानाम् , विद्धि पार्थ सनातनम् । बुद्धिः बुद्धिमताम् अस्मि , तेजः तेजस्विनाम् अहम् ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **माम् सर्व-भूतानाम् सनातनम् बीजम् विद्धि-** मुझे (तू) सब प्राणियों का सनातन बीज जान, **अहम् बुद्धिमताम् बुद्धिः तेजस्विनाम् तेजः अस्मि -** मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।

बलं बलवतां चाहं , कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु , कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलम् बलवताम् च अहम् , काम-राग-विवर्जितम् । धर्म-अविरुद्धः भूतेषु , कामः अस्मि भरतर्षभ ॥

भरतर्षभ-हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! **अहम् बलवताम् बलम् काम-राग-विवर्जितम् -**में बलवानों का बल हूँ जो (अप्राप्य वास्तु को पाने की चाह रूपी) काम और (प्राप्त वास्तु के प्रति लगाव / आसक्ति रूपी) राग से रहित हो **च भूतेषु धर्म-अविरुद्धः कामः अस्मि-** और प्राणियों में धर्मानुकूल वासना हूँ ।

ये चैव सात्त्विका भावा , राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि , न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

ये च एव सात्त्विकाः भावाः , राजसाः तामसाः च ये । मत्तः एव इति तान् विद्धि , न तु अहं तेषु ते मयि ॥

ये च एव सात्त्विकाः भावाः च ये राजसाः च तामसाः- जो भी सात्विक , राजस व तामस बाव (अंतःकरण की स्थितिये)हैं, **तान् मत्तः एव इति विद्धि-**उन्हें मुझ से ही उत्पन्न हुई जान **तु तेषु अहं ते मयि न-** परन्तु उनमें मैं हूँ , वे मुझ में नहीं है ।

उपरोक्त श्लोकों में जो १५ बातें कही गई हैं उनमें प्रथम दृष्टय: तारतम्यता नहीं दिखती। लेखक ने वर्णन को संभवत: सउद्देश्य परस्पर मिश्रित करके प्रस्तुत किया है ताकि पाठक विषय पर समुचित सोच-विचार करें। अस्तु, हमें इन्हें क्रम-व्यवस्थित करके समझने का प्रयास करना चाहिए। उक्त १५ बातों की परीक्षा करने पर प्रकट होता है कि इनमें से पांच तो ज्ञानेंद्रियों के विषयों (तन्मात्राओं) का, पांच समस्त भूत प्राणियों के सामान्य लक्षणात्म गुणों का, और पांच ऐसे विशेष गुणों का उल्लेख किया गया है जो कोई-कोई व्यक्ति विशेष साधना / प्रयास करके प्राप्त करता है। यहाँ इन तीन संवर्ग के गुणों के वर्णन द्वारा हमें परमात्म शक्ति की अभिव्यक्ति का जो दर्शन कराया गया है वह इस प्रकार है।

1. पाँच ज्ञानेंद्रियों द्वारा ग्रहणीय गुण रूप परमात्म तत्व : आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा द्वारा ग्रहण किए जाने वाले विषय रूप जो गुण हैं उन्हें भगवान ने अपना स्वरूप बताया है और इसीलिए उनके लिए विशेषण

'पवित्र' का प्रयोग किया है। सूर्य-चंद्र में जो प्रकाश है और जिसे हम आँखों से ग्रहण करके अनुभव करते हैं उस प्रकाश में और उसके स्रोत में निश्चित ही परमात्मा की चेतन शक्ति है तभी हमारा चेतन जीवात्मा उस का अनुभव करता है। इसकी क्रियाविधि को रेडियो तरंगों के मॉडुलन (modulation) से ध्वनि प्रसारण की तर्ज पर समझा जा सकता है। इसी प्रकार कान से ध्वनि को ग्रहण कर जब हम व्यक्ति को अथवा वस्तुओं को पहचान लेते हैं तो इससे भी सिद्ध होता है कि ध्वनि में और उसके स्रोत में भी परमात्मा की चेतन शक्ति उपस्थित होती है जिसे हमारा चेतन जीवात्मा ग्रहण करता है। इस तथ्य को (श्लोक-८ में) 'आकाश में शब्द मैं हूँ' कहकर व्यक्त किया गया है। यहाँ 'शब्द' का अर्थ ध्वनि है जो आकाश अर्थात् वस्तु के कणों के बीच जो अवकाश (space) होता है उसी के कारण विशिष्ट ध्वनि तरंगे उत्पन्न होती है। वस्तुतः यहाँ सर्वव्यापी परमात्मा की उपस्थिति का ध्वनि में और उसके स्रोत आकाश में सर्वत्र होने का एक प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार गंध, स्वाद (रस) और तेज (गर्मी) को हम क्रमशः नासिका, जीभ और त्वचा के द्वारा अनुभव करते हैं तो यह प्रमाणित होता है कि उन विषय रूप गुणों में और उनके स्रोत (पृथ्वी, जल, अग्नि) में भी परमात्मा की चेतन शक्ति उपस्थित है।

2. दूसरा संवर्ग मनुष्य सहित संपूर्ण प्राणी जगत का है जिसके अंतर्गत परमात्म शक्ति के परिचायक कुछ सामान्य गुणों का वर्णन किया गया है। यहाँ भी पांच गुणों का उल्लेख है जिसमें दो- पौरुषता अर्थात् शौर्य (श्लोक-८) और त्रिगुण (श्लोक-१२) मन-बुद्धि-अहंकार रूप अंतःकरण की तामसिक, राजसिक और सात्विक स्थितियाँ- मनुष्य को प्राप्त है जबकि शेष तीन गुण- जीवन (अर्थात् आयुष श्लोक-९), सनातन बीज (अर्थात् वंश सातत्य, श्लोक-१०) और धर्मानुकूल काम (अर्थात् रति भाव,श्लोक-११)- ये सभी प्राणियों को प्राप्त सामान्य गुण हैं जो ईश्वर प्रेरणा से संचालित होते हैं।

3. तीसरा संवर्ग उन गुणों का है जिनमें से कोई एक गुण भी बड़ी साधना / प्रयत्न द्वारा कोई विरला व्यक्ति प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार के विशिष्ट गुणों में परमात्मा की विशेष शक्ति अभिव्यक्त होती है। यहाँ ऐसे पांच

गुणों का उल्लेख हुआ है- बल, बुद्धि, तप, तेज और ज्ञान (वेद)। भगवान ने इन गुणों को अपना स्वरूप बताया है किंतु तब जब उन का सदुपयोग किए जाने हेतु उनका अर्जन किया जाए।

'वेदों में ॐकार मैं हूँ' (श्लोक-८)। ओमकार अर्थात् ओम् नामक सत्ता जिसने आकार ग्रहण कर लिया है, प्रकृति में अलग-अलग रूपों में और गुणों में जो अभिव्यक्त हो रही है। ओम् क्या है इसकी सटीक परिभाषा श्लोक-८.३ में दी गई है- 'ॐ इति एक अक्षरं ब्रह्म'- ओम् बस अद्वितीय अक्षर ब्रह्म है। यहाँ सांख्य शास्त्र का पूर्ण दर्शन आ गया। 'एक' शब्द का भाव होता है- दो में से एक, प्रधान तत्व। प्रकृति और परमात्मा इन दो मूल तत्वों में से प्रकृति परिवर्तनीय है, क्षर है। परमात्मा अपरिवर्तनीय है, अक्षर है और अनंत विस्तार वाला है अतः ब्रह्म नाम से संबोधित किया जाता है। जब यह अक्षर सत्ता प्रकृति के साथ मिलकर भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करती है, पृथक गुण अभिव्यक्त करते हुए भिन्न सत्ताओं के रूप में भाषित होती है तो इन्हें भिन्न नामों से संबोधित कर दिया जाता है। कुल १४ लोकों में से ७ उच्च से उच्चतर चेतना वाले वर्णित किए गए हैं, उनमें से ३ हमारे स्थूल शरीर में भू:, मन-बुद्धि में भुव: और अहम् / जीवात्मा रूप में स्वः- वे स्तर हैं जिनका ज्ञान सामान्य व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व के रूप में आसानी से कर लेता है। इस प्रकार उस सर्वव्यापी अक्षर ब्रह्म को ओम् नाम से और उसके व्यक्त स्वरूपों को भू:, भव:, स्वः नामक व्याहृतियों अर्थात् उच्चारित नामों से वेदो में और गीता सहित सभी ग्रंथों में संबोधित किया गया है।

'तपस्वीओं का तप मैं हूँ' (श्लोक-9) : इन शब्दों के तत्वार्थ पर विचार करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अपनी मुक्ति अर्थात् दुखों से छुटकारे के हेतु से किए जाने वाली तपस्या की बात नहीं है, भले ही प्राथमिक रूप में वह दिखती वैसी ही हो। तप का साधारण अर्थ है कष्ट सहना किंतु भगवान जिस तप को अपना स्वरूप बता रहे हैं, निश्चिय ही वह तप व्यक्ति को अपने छोटे 'स्व' (lower self) से ऊपर उठाकर 'सर्वव्यापी स्व' (The Higher Self) में स्थित कराने वाला होगा। यह बात हो सकती है कि उस महत् उद्देश्य के लिए प्राथमिक स्तर पर व्यक्ति को अपने 'छोटे स्व' के शुद्धिकरण के लिए भी कुछ तप करने की उसी प्रकार की आवश्यकता हो सकती है जैसा कि 'ब्रह्म-यज्ञ' की सामर्थ्य प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को व्यैक्तिक स्तर पर प्राणायाम अथवा आहार यज्ञ करना आवश्यक हो सकता है (दृष्टव्य: श्लोक-४.२४ से ३० पर विवेचना)।

'तेजस्वीओं का तेज मैं हूँ' (श्लोक-१०) : विनोबा ने तेजस्वी की एक सुंदर व्याख्या की है- वह जो अन्याय का प्रतिकार करे। उनकी ये व्याख्या 'तेंज' शब्द के जो विभिन्न अर्थ है उनमें से 'शौर्य, साहस और आत्मबल' वाले अर्थों को पुष्ट करती है।

'बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ' (श्लोक- १०) : यहाँ बुद्धि का अर्थ मस्तिष्क की निर्णय करने वाली उस क्षमता से नहीं है जो जन्म से ५-६ वर्ष की आयु तक मस्तिष्क के ग्रे-मैटर की बढ़त पर निर्भर करती है। यहाँ 'बुद्धिमानों की बुद्धि' का अर्थ है उपरोक्त प्राकृतिक प्रक्रिया से प्राप्त बुद्धि का जीवन का उद्देश्य समझने में उपयोग करने से हुई विवेक जाग्रति अथवा प्रज्ञा प्राप्ति। इसे भगवान ने अपना स्वरूप कहा है जिसका अर्थ है कि इस प्रकार के चिंतन से बुद्धि का विवेक/प्रज्ञा में जो परिवर्तन होता है वह परमात्म शक्ति के बुद्धि में अवतरण के कारण होता है।

बल जिसका उपयोग कामना और आसक्ति की पूर्ति के लिए न हो वह भगवान का ही स्वरुप है (श्लोक-११)। भगवत् भाव से निष्काम सेवा के लिए अर्जित बल में भगवान का ही अवतरण होता है ऐसे बल के पूर्ण उदाहरण के रूप में हम 'राम काज करिबे को आतुर' वाले श्री हनुमान के बल का स्मरण कर सकते हैं। अतुलित बल के धाम होते हुए भी हनुमान ने उस बल को कभी अपना माना ही नहीं। असंभव से दिखने वाले कार्य संपन्न करके उन्होंने उस बल को हमेशा प्रभु राम का ही बल माना।

१२ वें श्लोक में भगवान ने कहा था कि तम-रज-सत गुण मुझ से उत्पन्न होते हैं। आगे श्लोक-१४.५ में भगवान ने इन्हें 'प्रकृतिसम्भवा:' (प्रकृति में उत्पन्न) भी कहा है। स्पष्ट है कि ये गुण भगवत् सत्ता से, प्रकृति से निर्मित मनुष्य के मन-बुद्धि-अहंकार में, उत्पन्न होते हैं। श्लोक के अंतिम शब्दों में भगवान ने एक और महत्वपूर्ण बात कही है- 'न तु अहम् तेषु ते मयि' जिसका अर्थ कई वेदांतवादी टीकाकारों ने, शांकर भाष्य का अनुगमन करते हुए यह कर दिया है कि 'मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझ में है'। यह अर्थ तो सर्वथा असंगत प्रतीत होता है क्योंकि एक तो भगवान ने इसी पंक्ति में यह स्पष्ट कहा है कि वे गुण मुझसे हुए हैं और जब वे भगवान से उत्पन्न हुए हैं तो भगवान का अंश उनमे होना उसी प्रकार एक स्वाभाविक बात होगी जिस प्रकार कि पिता के कुछ शारीरिक गुणों का संतान में पाया जाना एक स्वाभाविक घटना होती है। दूसरे भगवान में तम आदि गुणों के होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए हमने वेदान्तियों द्वारा खींचतान की जाकर अपने अर्थ को तर्क पूर्ण सिद्ध करने के अथक प्रयासों (दृष्टव्य- स्वामी अखंडानंद सरस्वती की गीता-रस-रत्नाकर, पृष्ठ-३२७) को दरकिनार करते हुए सीधा-साधा हम जैसों के लिए बोधगम्य, अर्थ यहाँ स्वीकार

किया है। वस्तुतः गीता ने परमात्मा को सर्वत्र गुण रहित ही कहा है, प्रकृति में उनकी उपस्थिति से और जाग्रति से विभिन्न विशिष्ट गुणों का प्रकृति में प्राकट्य होता है, गीता इस बात का ही प्रतिपादन करती है।

तीनों गुण भगवान से उत्पन्न है तो उनमें इतनी भिन्नता का क्या कारण है, इस प्रश्न की विवेचना हमारे पढ़ने में नहीं आई। किन्तु गीता में भगवान द्वारा अनेक स्थलों पर जिस क्रम-विकास (evolution) को उन्होंने अपना स्वरूप घोषित किया है (द्दष्टव्य : श्लोक-१५.१२ से १५ की विवेचना) उसके परिपेक्ष में यही कहा जा सकता है कि हमारे मन-बुद्धि-अहंकार में जैसे-जैसे भगवत् सत्ता अधिकाधिक उतरेगी, तम-रज-सत गुणों का और अंत में त्रिगुणातीत अवस्था का प्रादुर्भाव क्रमशः होता जाएगा।

अब आगे के श्लोकों में भगवान बता रहे हैं कि इन गुण रूपी पर्दों के कारण परमात्म सत्ता का वास्तविक स्वरूप ढक जाता है और इस कारण हम न तो अपने में और न दूसरों में ही उसको देख पाते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः , एभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति , मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

त्रिभिः गुणमयैः भावैः , एभिः सर्वम् इदम् जगत् । मोहितम् न अभिजानाति , माम् एभ्यः परम् अव्ययम् ॥

एभिः त्रिभिः भावैः गुणमयैः इदम् सर्वम् जगत् मोहितम्- इन तीनों प्रकार के भावों से गुणमय हुआ यह सारा संसार मोहित (अर्थात् भ्रमित हो रहा है, **एभ्यः परम् माम् अव्ययम् न अभिजानाति-**इनसे उच्च मुझ अविनाशी को नहीं जानता ।

दैवी ह्येषा गुणमयी , मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते , मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । माम् एव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एताम् तरन्ति ते ॥

हि एषा गुणमयी मम दैवी माया दुरत्यया- निश्चय ही त्रिगुणमयी मेरी दिव्य माया बड़ी दुस्तर है, (किंतु)**। ये माम् एव प्रपद्यन्ते, ते एताम् मायाम् तरन्ति-** जो मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं ।

माया क्या है इसकी विवेचना यहाँ भगवान ने बहुत स्पष्ट शब्दों में की है। मनुष्य के मनस (अर्थात् मन-बुद्धि-अहंकार, सायकी) का इन गुणों से युक्त होने को ही भगवान ने माया कहा है और इसे उन्होंने 'मेरी' तथा दैवी (अर्थात् दिव्य) भी कहा है। इसका कारण यह है कि इस त्रिगुणमयी माया के द्वारा ही वे मनुष्य को भ्रमण कराते हुए, ज्ञान की सीढ़ियों पर चढ़ाते हुए, सनातन शांति रूप अपने परमधाम की प्राप्ति करा

देते है (श्लोक-१८.६१,६२) अर्थात् ज्ञान की अपने जैसी सर्वोच्च स्थिति तक पहुंचा देते हैं।

अब अगले कुछ श्लोकों (क्रमांक-१५ से 23) में भगवान बता रहे हैं कि उनकी माया किस व्यक्ति को तो ज्ञान की सीढ़ियों पर चढ़ाती है, किसे नीचे गिराती है और किसे संसार चक्र में घुमाती है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः , प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना , आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

न माम् दुष्कृतिनः मूढाः , प्रपद्यन्ते नर-अधमाः । मायया अपहृत-ज्ञानाः , आसुरम् भावम् आश्रिताः ॥

दुष्कृतिनः मूढाः मायया अपहृत-ज्ञानाः आसुरम् भावम् आश्रिताः-दुष्कर्म करने वाले मूर्ख लोग, जिनका ज्ञान माया से हरा हुआ है, जो आसुरी स्वभाव को धारण किए हुए हैं, **नर-अधमाः न माम् प्रपद्यन्ते-** ऐसे नीच पुरुष मेरी शरण ग्रहण नहीं करते ।

चतुर्विधा भजन्ते मां , जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी , ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

चतुः-विधाः भजन्ते माम् , जनाः सुकृतिनः अर्जुन । आर्तः जिज्ञासुः अर्थार्थी , ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

भरतर्षभ अर्जुन- हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! **सुकृतिनः जनाः चतुः-विधाः भजन्ते माम्** -उत्तम कर्म करने वाले लोग मुझे चार प्रकार से भजते हैं **अर्थार्थी आर्तः, जिज्ञासुःच ज्ञानी-**सांसारिक सुखों के लिए, संकट निवारण के लिए, जिज्ञासु होकर, और (मेरी सर्वव्यापकता) का ज्ञान प्राप्त करके।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त , एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषाम् ज्ञानी नित्य-युक्तः , एक-भक्तिः विशिष्यते । प्रियः हि ज्ञानिनः अत्यर्थम् , अहम् सः च मम प्रियः ॥

तेषाम् नित्य-युक्तः एक-भक्तिः ज्ञानी विशिष्यते- उनमें नित्य युक्त अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है **हि ज्ञानिनः अहम् अत्यर्थम् प्रियः-** क्योंकि ज्ञानियों को मैं अत्यंत प्रिय हूँ, **च सः मम प्रियः -** और वह (ज्ञानी) मुझे प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते , ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा , मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उदाराः सर्वे एव एते , ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतम् । आस्थितः सः हि युक्त-आत्मा , माम् एव अनुत्तमाम् गतिम् ॥

एते सर्वे एव उदाराः- यह सभी ही श्रेष्ठ हैं, **तु ज्ञानी आत्मा एव-** परंतु ज्ञानी (तो) मेरा स्वरूप ही है, **मे मतम्-** (ऐसा) मेरा मत है, **हि सः युक्त-आत्मा -**क्योंकि वह अपने (संपूर्ण व्यक्तित्व प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार) को मुझ से युक्त कर चुका है, मुझ में समाहित कर चुका है, **अनुत्तमाम् गतिम्-** (ऐसी) अति उत्तम उपलब्धि वाला **माम् एव आस्थितः-** मुझ में ही स्थित है।

उपरोक्त श्लोकों में भगवान ने व्यक्ति की जीवन-यात्रा की और पुनर्जन्म-यात्रा की, दो दिशाओं का वर्णन किया है तथा इनके निर्धारण में कर्मों की भूमिका को निर्णायक बताया है। दुष्कर्म करने वालों को भगवान की त्रिगुणी माया आसुरी मार्ग पर ले जाती है (श्लोक-१५), अर्थात् ऐसे लोग तमस से घोर तमस में तब तक गिरते जाते हैं जब तक कि उनमें मार्ग बदल लेने की इच्छा जाग्रत नहीं हो जाती। वस्तुतः दुष्कर्म तो किसी न किसी प्रकार के स्वार्थ की पूर्ति हेतु ही किए जाते हैं और स्वार्थ सुख की जैसे-जैसे पूर्ति होती जाती है, व्यक्ति की स्वार्थ लालसा बढ़ती जाती है। परिणाम स्वरूप दुष्कर्म प्रवृत्ति (आसुरी वृत्तियाँ) भी तब तक बढ़ती जाती है जब तक की व्यक्ति किसी दुसाध्य कष्ट में पड़कर अपना मार्ग बदलने का निश्चय नहीं कर लेता। दूसरी ओर, सत्कर्म अर्थात् निस्वार्थ कर्मों से अपने को जोड़ने वाले की चेतना का विस्तार होता जाता है और वह क्रमशः प्राण,मन,बुद्धि और अनुभूति के स्तर पर परमात्म शक्ति से जुड़ता जाता है। इन्हीं क्रमिक स्तरों पर जुडाव को भक्ति के चार रूप- अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी कहा गया है (श्लोक-१६)।

श्लोक-१७ में ज्ञानी के लिए प्रयुक्त विशेषण 'अत्यर्थम्' शब्द का एक उत्कृष्ट भाव स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने इस प्रकार प्रकट किया है- अत्यर्थम् = अर्थम् अतिक्रम्य = ऐसा ज्ञानी जिसने सभी प्रकार के अर्थ या चाहनाओं का अतिक्रमण कर दिया है।

भगवान ने ज्ञानी-भक्त को अपना स्वरूप बताया है (श्लोक-१८), उसकी व्याख्या डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में बड़ी सटीक है। वे कहते हैं- 'प्रथम तीन प्रकार के भक्त अपने-अपने विचारों (वस्तुतः आवश्यकताओं) के अनुसार परमात्मा का उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं, परंतु ज्ञानी (भक्त) तो परमात्मा के ही बन जाते हैं जिससे परमात्मा अपनी इच्छा के अनुसार उनका उपयोग कर सके।..... परमात्मा की योजना को देखने समझने के लिए ज्ञानी एकाग्र संकल्प होता है और वह उस प्रयोजन की पूर्णता के लिए प्रार्थना और प्रयत्न करता है, 'मेरी नहीं, तेरी इच्छा पूर्ण हो'।

ऊपर जिस युक्तात्मा रूप ज्ञानीभक्त की बात कही गई है उसकी पूर्णता को साधक कैसे पहचान सकेगा और उस स्थिति तक वह कैसे पहुंच सकेगा इसकी विवेचना

अगले श्लोक-१९ में इस प्रकार की गई है।

बहूनां जन्मनामन्ते , ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति , स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते , ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वम् इति , सः महात्मा सुदुर्लभः ॥

बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते - अनेक जन्म लेकर **ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते 'वासुदेवःसर्वम्' इति-** विश्व को वासुदेव के रूप में देखता है,**सः महात्मा सुदुर्लभः -** वह महात्मा अत्यंत दुर्लभ है ।

अनेक जन्मों में साधक ज्ञान की उच्च से उच्चतर अवस्थायें प्राप्त करता हुआ 'मेरी' शरण ग्रहण कर लेता है और अंत में उसे यह प्रत्यक्ष बोध प्राप्त हो जाता है कि सब कुछ वासुदेव ही हैं। वासुदेव अर्थात् सर्वत्र निवास करने वाला देव - 'ईशावास्यं इदम् सर्वम् यत् किंचित् जगत्यां जगत्' द्वारा सूचित दिव्य सत्ता जिसे ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा विष्णु, आद्याशक्ति आदि अनेक नामों से इंगित किया गया है। यह सर्वोच्च स्थिति है जहाँ तक कोई विरल व्यक्ति ही पहुंच पाता है। अतः इसकी प्राप्ति भी बहुत दुर्लभ कही गई है (सुदुर्लभः), किंतु फिर भी यदा-कदा ऐसी परम उपलब्धि को प्राप्त हुए व्यक्ति इस संसार में होते रहे हैं जिन्हें अवतार, बुद्ध, परमात्मा का पुत्र, अथवा पैगंबर कहा गया है।

ज्ञानी द्वारा अपने अंत के जन्म में परमात्मा की शरण ग्रहण किए जाने की जो बात यहाँ कही गई है वह विचारणीय है। श्लोक-१८,१९ में ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति की व्याख्या 'युक्तात्मा, माम् आस्थितः और माम् प्रपद्यते' शब्दों द्वारा की जाकर यह कहा गया है कि वह स्थिति अनेक जन्मों के अंत में प्राप्त होती है। इस कथन से, प्रतीत होता है कि, यह भाव प्रेषित किया गया है कि प्राण (कर्म), मन और बुद्धि को तो भगवत् सत्ता से युक्त करना कुछ जन्मों में संभव हो जाता है किंतु अहंकार का समर्पण, उसका परम सत्ता में विलीनीकरण अत्यंत कठिन है अतः उसका उस सत्ता के शरणागत होना (भक्त बनना, अपनी इच्छा को मिटाकर परमात्मा की उस इच्छा को, जिसका ज्ञान ज्ञानी को हो जाना अब सहज संभव होगा, पूर्ण करने में अपने को उसका सेवक बना देना) भी ज्ञानी की सर्वोच्च स्थिति होगी जिसे अंतिम जन्म में प्राप्त करने के बाद वह भगवान का स्वरूप ही बन जाएगा। इन श्लोकों का यह भाव हो सकता है ऐसा हमारा मत है।

उपरोक्त श्लोकों (क्रमांक-१५ से १९) में त्रिगुणमयी माया के दो आयामों- तम और सत- की विवेचना की गई है। श्लोक-१५ में घोर तमोगुणी की भवितव्यता बताई कि

वह दुष्कर्म करने वाला आसुरी स्थितियों में कैसे गहरे गिरता जाता है। पश्चात् श्लोक-१६ से १९ में भगवान ने वर्णन किया कि सात्विकता में स्थित व्यक्ति सुकर्म करता है और वह अपने प्राण, मन, बुद्धि और अनुभूति इन स्तरों के प्राकृत दुखों के निवारणार्थ क्रमशः आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी के रूप में परमात्मा के शरण होता है, तथा वह परमात्मा का अधिकाधिक प्रेमी भक्त होकर अंततः उनका स्वरूप ही बन जाता है।

अब आगे श्लोक-२० से २५ में बता रहे हैं कि राजसिक गुणों में स्थित व्यक्ति देवताओं को पूजकर सुखभोग संबंधी अपनी कामनाओं अथवा ऐषणाओं की पूर्ति को तो प्राप्त कर लेता है किंतु उसकी जीवन यात्रा आध्यात्मिक पथ पर न बढ़कर संसार चक्र में ही तब तक भ्रमित होती रहेगी जब तक कि सुखों के साथ आने वाले दुखों के थपेड़े उसे परमात्मा की ओर न मोड़ दें ।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः , प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय , प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

कामैः तैः तैः हृत-ज्ञानाः , प्रपद्यन्ते अन्य-देवताः । तम् तम् नियमम् आस्थाय , प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

तैः तैः कामैः हृत-ज्ञानाः- विभिन्न कामनाओं से जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है **स्वया प्रकृत्या नियताः-** (वे) अपनी (सत/ रज/ तम) प्रकृति से नियंत्रित हो **अन्य-देवताः प्रपद्यन्ते-** (मुझे त्याग कर) अन्य देवताओं की शरण लेते हैं, **तम् तम् नियमम् आस्थाय -** तत्सम्बन्धी अनुष्ठानों पर आस्था रखते हुए ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः , श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां , तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

यः यः याम् याम् तनुम् भक्तः , श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति । तस्य तस्य अचलाम् श्रद्धाम् , ताम् एव विदधामि अहम् ॥

यः यः भक्तः याम् याम् तनुम्- जो-जो (सकाम) भक्त जिस-जिस स्वरुप को **श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति-** श्रद्धा से पूजना चाहता है, **तस्य तस्य श्रद्धाम् -** उस उस (भक्त की) श्रद्धा को **अहम् ताम् एव अचलाम् विदधामि -** मैं उसी (देवता के प्रति) अचल करता हूँ ।

स तया श्रद्धया युक्तः , तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान् , मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

सः तया श्रद्धया युक्तः , तस्य अराधनम् ईहते । लभते च ततः कामान् , मया एव विहितान् हि तान् ॥

सः तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् ईहते- वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की अर्चना करने की चेष्टा में लगता है, **ततः च मया एव विहितान् तान् कामान् लभते हि -** और मेरे द्वारा निश्चित किए नियम

अनुसार उन भोगों को प्राप्त करता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां , तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति , मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्तवत् तु फलम् तेषाम् , तत् भवति अल्प-मेधसाम् । देवान् देव-यजः यान्ति , मत् भक्ताः यान्ति माम् अपि ॥

तु तेषाम् अल्प-मेधसाम् तत् फलम् अन्तवत् भवति- परंतु उन अल्प बुद्धि वालों द्वारा (देवताओं से) प्राप्त फल नाशवान होता है। **देव-यजः देवान् यान्ति, मत् भक्ताः अपि माम् यान्ति** -(तथा)देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।

भगवान के उपरोक्त वचनों को अधिक गहराई से समझने की आवश्यकता हो सकती है यदि, हमारे मन में इस संबंध में कुछ प्रश्न उठते हैं। एक प्रश्न तो यह है कि भगवान ने अपने और देवताओं के बीच मनुष्यों की सहायता संबंधी जो कार्य विभाजन बताया है उसका स्पष्ट स्वरूप क्या है? श्लोक-१६ से १९ में भगवान ने अपने भक्तों के जो चार प्रकार बताए हैं उसकी व्याख्या हम इन श्लोकों की पूर्व टिप्पणी में कर चुके हैं कि वे उनके प्राण, मन, बुद्धि और अनुभूति के स्तरों पर आने वाले दुखों/कष्टों का निवारण करते हैं और श्लोक २० से २३ में ऊपर जो कहा गया है उसका यह सार भी स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु देवताओं को पूजते हैं और उन कामनाओं की पूर्ति भी भगवान के द्वारा ही देवताओं के माध्यम से होती है, यद्यपि फल चिर स्थाई नहीं होते। अब प्रश्न बनता है कि भगवान कामना पूर्ति स्वयं न करते हुए देवताओं को शक्ति देकर पूर्ति की व्यवस्था उनके माध्यम से क्यों करवाते हैं? थोड़ा विचार करने पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भगवान का कार्य है जीवात्मा को आध्यात्मिक प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ाना, इस कारण वे जीवात्मा की सहायता वहाँ अवश्य करेंगे जहाँ प्रकृति के कारण रुकावट आती हो। श्लोक-१६ से १९ में इन्हीं रुकावटों में परमात्मा की सहायता की बात कही गई है। किंतु यदि व्यक्ति अपने निजी सुखों की कामनाओं / ऐषणाओं के पीछे दौड़ता है तो यह आध्यात्मिक मार्ग से भटकाव होगा जिसमें भगवान की सहायता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अब प्रश्न का यह भाग शेष रहता है कि कामना पूर्ति के लिए व्यक्ति जिस देवता की श्रद्धा से अर्चन / आराधन करता है भगवान उस देवता के प्रति उसकी श्रद्धा स्थिर करके उसे फल प्राप्त कराते हैं ऐसा क्यों? समाधान प्राप्त करने हेतु हमें समझना होगा कि ये देवता क्या है? इस संबंध में डॉ. राधाकृष्णन ने श्रीधर स्वामी की ये व्याख्या उद्‌धृत की है कि 'सभी देवता भगवान के ही मूर्त रूप हैं..... और सब

फलों को देने वाला भगवान ही है'। इन सब बातों के साथ जब हम श्लोक-२० में देवताओं के संबंध में कहे गए शब्दों 'प्रकृत्या नियतः स्वया' अर्थात् 'ये लोग अपनी-अपनी तामस, राजस अथवा सात्विक) प्रकृति के अनुरूप देवता को और उसकी उपासना विधि को नियत करते हैं', पर विचार करते हैं तो निष्कर्ष यह निकलता है कि देवता कोई बाह्य शक्ति नहीं है, वरन हमारे मन / विचार / श्रद्धा में घनीभूत हुई आत्मा की ही शक्ति है। स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने कहा है- 'आत्मा जिस मनोभाव में, वृत्ति में, अनुगत होगा, वह जिससे तादात्म्य करेगा, वही शक्तिशाली हो जाएगा'। अतः भगवान के वचनों का भाव यह प्रकट होता है कि व्यक्ति प्रकृति के-तम,रज,सत जिस भी गुण में स्थित है, वह वैसी ही कामना करेगा और उसकी प्राप्ति हेतु वैसे ही देवता तथा उपासना में अपनी आत्मा की शक्ति का निवेश करके फल प्राप्त करेगा, और जो भगवान को प्राप्त करना चाहेगा भगवत रूप या भगवत्-भक्त होना चाहेगा वह प्रकृति के गुणों में नहीं बैठेगा, वह प्रकृति को अधीन करके भक्त होने का प्रयास करेगा।

सामान्य लोग परमात्मा को न पूजते हुए देवताओं को क्यों पूजते हैं, भगवान इसकी व्याख्या अगले पाँच श्लोकों (क्रमांक - २४ से २८) में कर रहे है -

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं , मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो , ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अव्यक्तम् व्यक्तिम् आपन्नम् , मन्यन्ते माम् अबुद्धयः । परम् भावम् अजानन्तः , मम अव्ययम् अनुत्तमम् ॥

मम परम् अव्ययम् अव्यक्तम् अनुत्तमम् भावम् अबुद्धयः अजानन्तः- मेरी अव्यय (अविनाशी) अव्यक्त सर्वोपरि परम सत्ता को अविकसित बुद्धि वाले नहीं जानते हुए **माम् व्यक्तिम् आपन्नम् मन्यन्ते -** मुझे (देवता रूप) में व्यक्त हुई सत्ता को ही जानते हैं।

अधिकांश टीकाकारों ने श्लोक की व्याख्या इस रूप में की है कि परमात्मा का अव्यक्त रूप सर्वोपरि है जिसे केवल बुद्धिमान पुरुष ही जान पाते हैं, साधारण लोग तो उनके व्यक्त स्वरूप (श्रीकृष्ण हमारे जैसे शरीरधारी एक व्यक्ति हैं, इस रूप) को ही जानते हैं। किंतु यह व्याख्या विषय की तारतम्यता को बनाये नहीं रखती इसीलिए संभवतः डॉ. राधाकृष्णन ने अपने टीका में कहा है- 'एक अव्यक्त नित्य ब्रह्म को छोड़कर अन्य देवता उस ब्रह्म पर आरोपित रूप मात्र हैं.... वह देवताओं के पीछे विद्यमान एक परमात्मा है'। यह व्याख्या विषय के अनुरूप होने से हमने ऊपर श्लोक के अर्थ में 'देवता रूप में' ये शब्द जोड़कर इस भाव को अभिव्यक्त किया है और इसी भाव के अनुरूप हमने आगे के श्लोकों का अर्थ किया है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य , योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति , लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

न अहम् प्रकाशः सर्वस्य , योग-माया-समावृतः । मूढः अयम् न अभिजानाति , लोकः माम् अजम् अव्ययम् ॥

योग-माया-समावृतः अहम् सर्वस्य प्रकाशः न - मेरी योग माया द्वारा मैं ढका हुआ सबके प्रत्यक्ष नहीं होता। **अयम् मूढः लोकः माम् अजम् अव्ययम् न अभिजानाति-** यह अज्ञानी जन समुदाय मुझे जन्म रहित अविनाशी को नहीं जानता ।

योगमाया : माया के दो रूप है- मोहनी और प्रकाशनी। माया अर्थात् त्रिगुणी मानसिक प्रकृति। जब व्यक्ति का मनस तमोगुण में स्थित होता है तो वह मोह में और रजोगुण में होता है तो सकाम कर्मों में बंधा होता है तथा सत्व गुण में होने पर वह ज्ञान के प्रकाश से(श्लोक-१४.६) और श्रेय सुख से(श्लोक-१८.३६) से परिपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः माया का प्रकाशनी रूप ही योगमाया है क्योंकि यह व्यक्ति को परमात्मा की प्राप्ति कराता है, परमात्मा से योग कराता है। माया की इस भूमिका का वर्णन भगवान ने आगे श्लोक-१८.६१ में भी किया है। किंतु वे सर्वसाधारण लोग जिनका मनस अभी सत्व गुणी नहीं हुआ है वे अज्ञानि 'मेरे अजन्मा (अर्थात् अनादि) और अव्यय (अविनाशी) स्वरूप को नहीं जान पाते, वे माया में फसे होते हैं जिन से मुक्त होने का उपाय भगवान आगे बताएंगे। टीकाकारों ने 'योगमाया समावृत:' के भी दो भावार्थ किए हैं और दोनों ही समीचीन जान पड़ते हैं। माया से आवृत्त कौन- जगत में व्याप्त परमेश्वर या जगत को देखने वाले की मन-बुद्धि? जगत में परमेश्वर तत्व माया रूप त्रिगुणी प्रकृति से ढका हुआ है- अधिकांशतः यह अर्थ किया गया है, किंतु कुछ अन्य टीकाकारों ने यह अर्थ भी किया है कि देखने वालों की दृष्टि (मन-बुद्धि) माया से आवृत्त होने पर वे परमात्म तत्व के मूल स्वरूप को नहीं देख पाते। इनमें से दूसरा अर्थ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अगले दो श्लोकों में परमात्मा के 'अजम अव्ययम्' स्वरुप की व्याख्या इस प्रकार की गयी है-

वेदाहं समतीतानि , वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि , मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

वेद अहम् समतीतानि , वर्तमानानि च अर्जुन । भविष्याणि च भूतानि , माम् तु वेद न कश्चन ॥

अर्जुन- हे अर्जुन! **अहम् समतीतानि च वर्तमानानि च भविष्याणि भूतानि वेद-** मैं भूतकाल के, वर्तमान के, वह आगे भविष्य में होने वाले समस्त प्राणियों को जानता हूँ , **तु माम् कश्चन न वेद-** परंतु मुझे कोई नहीं जानता ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन , द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं , सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन , द्वन्द्व-मोहेन भारत । सर्व-भूतानि सम्मोहम् , सर्गे यान्ति परन्तप ॥

परन्तप भारत- हे शत्रुदमन अर्जुन ! **इच्छा-द्वेष-समुत्थेन-** इच्छा (कामना) व द्वेष से उत्पन्न **द्वन्द्व-मोहेन-** सुख दुख आदि द्वंद्वों से तथा मोह से **सर्व-भूतानि सर्गे सम्मोहम् यान्ति-** सभी प्राणी अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं ।

श्लोक-२६ में भगवान ने ज्ञान की सर्वकालिकता का और सामान्य मनुष्य की अज्ञता का जो वर्णन किया है उसका संदर्भ, हमारा मत है, इस प्रश्न से है कि मनुष्य भगवान को छोड़कर देवताओं को क्यों पूजता है और वह यदि भगवान को पूजता भी है तो वह पूजन क्योंकि कामना पूर्ति के लिए ही होता है अतः वह देवता पूजन से भिन्न नहीं होता। जब तक हम स्वसुख की कामना में फंसे होंगे तब तक हमारा पूजन (कर्म-ज्ञान-भक्ति) हमारे 'मैं' को संकुचित क्षेत्र में ही सीमित रखेगा और वह भगवत प्राप्ति में, एकत्व अनुभूति में बाधक ही होगा।

श्लोक-२७ में मनुष्य की अज्ञता की स्थिति के कारण के रूप में 'इच्छा द्वेष से उत्पन्न द्वंद्व मोह' की बात कही गई है। किंतु इन शब्दों के वास्तविक अर्थ तक पहुंचने के लिए हमें कुछ चिंतन करना होगा। कुछ टीकाकारों ने तो, 'इच्छा-द्वेष' की व्याख्या की ही नहीं है और बहुतों ने इन शब्दों का अर्थ 'राग-द्वेष' माना है किंतु ये दो कारण से उचित नहीं जान पड़ता। एक तो, यदि दोनों शब्द समूह समानार्थी होते तो बहु प्रचलित सामासिक शब्द 'राग-द्वेष' को छोड़कर 'इच्छा -द्वेष' का प्रयोग किया ही क्यों जाता, विशेषकर तब जबकि श्लोक, जो कि अनुष्टुप छंद में है, उसमें 'राग-द्वेष' के प्रयोग से भी उसके चरण में अक्षर संख्या आठ ही रहती, अतः स्पष्ट है कि छंद की बंदिश के कारण शब्दों का बदलाव नहीं किया गया है। दूसरे, श्लोक के दूसरे चरण के शब्द 'द्वंद्व मोहेन' का भाव भी तब स्पष्ट नहीं होता जब 'इच्छा द्वेष' को 'राग-द्वेष' मानकर अर्थ किया जाता है। किंतु यदि 'इच्छा द्वेष' शब्द को हम इच्छा और राग-द्वेष का संघनित या संक्षिप्त रुप मानकर श्लोक का अर्थ करें तो उसका रूप होगा- 'इच्छा अर्थात् कामनाओं से उत्पन्न सुख-दुख रूप द्वंद्व से और राग-द्वेष से उत्पन्न मोह से, इन बाधक दुर्गुणों से सब लोग सम्मोह अर्थात् अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं। कामनाओं की पूर्ति / अपूर्ति से सुख / दुख होना और राग-द्वेष से मोह होना सहज स्वीकार्य तथ्य होने से उपरोक्त अर्थ उचित प्रतीत होता है।

अगले श्लोक (क्रमांक-२८) में ऊपर वर्णित रुकावटों से पार पाने के दो उपाय बताए जा रहे हैं-

येषां त्वन्तगतं पापं , जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता , भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

येषाम् तु अन्तगतम् पापम् , जनानाम् पुण्य-कर्मणाम् । ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः , भजन्ते माम् दृढ-व्रताः ॥

तु येषाम् पुण्य-कर्मणाम् जनानाम् - परंतु जिन श्रेष्ठ कर्म करने वाले पुरुषों का **पापम् अन्तगतम्-** (स्वार्थ वृत्तिरूप) पाप समाप्त हो गए हैं, **ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः-** वे (सुख-दुखादि) द्वंदों से और (राग-दोष जनित) मोह से मुक्त हुए **दृढ-व्रताः माम् भजन्ते -** दृढ़ निश्चयी होकर मुझ को भजते हैं (अर्थात् दीन दुखियों को मेरा ही स्वरूप जानकर उनकी सेवा करते हैं)।

गीता में आए पाप-पुण्य शब्द और इसी प्रकार के नरक-स्वर्ग शब्दों के अर्थ हमें प्रचलित रूढ़ीवादी मान्यताओं से पृथक आध्यात्मिक रूप में लेना होंगे। यहाँ आध्यात्मिक उन्नति में सहायक कर्मों को पुण्य तथा बाधक कर्मों को पाप कहा गया है। अतः स्वार्थ वृत्ति को पुष्ट करने वाले क्रियाकलाप पाप हैं और इसे क्षीण करने वाले कर्म पुण्य हैं। क्योंकि निष्काम परहितार्थ किए जाने वाले कर्मों से स्वार्थ वृत्ति क्षीण होती जाती है अतः इन कर्मों को ही गीता ने पुण्य कर्म कहा है। इस प्रकार के कर्मों को जब ईश्वर भाव के साथ किया जाता है तो एक तो कर्म करने में आनंद आने लगता है जिससे कर्म सहज होते जाते हैं; दूसरी उपलब्धि यह होती है कि व्यक्ति का सीमित 'मैं' जल्दी गलता है। अतः भगवत् रूप सर्वात्म भाव की प्राप्ति में ये दो कदम बहुत महत्वपूर्ण है- निस्वार्थ कर्म और साथ में जिस की सेवा की जा रही है उसके प्रति भगवत भाव। गीता में भगवान ने यहाँ इसी द्वि-विध मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया है और आगे भी अनेक स्थलों पर इस बात को दोहराया है (उदाहरण दृष्टव्य है- ८.७, ११.५५, १२.६, १८.४६ आदि)। वस्तुतः यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ और वैज्ञानिक इस रूप में हैं कि इसमें परमात्मा की प्राप्ति हेतु व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व समष्टि रूप परमात्मा से जुड़ता है- प्रकृति अंश का जुड़ाव कर्म द्वारा और पुरुष अंश का ज्ञान द्वारा।

सुकृत कर्मों द्वारा और चिंतन-मनन द्वारा भगवत् सत्ता से जुड़ते हुए जब साधक में देह भाव से मुक्ति और परमात्मा के प्रति शरणागति दृढ़ हो जाती है तो उसे सृष्टि में और स्वयं अपने में परमात्मा के कार्यकारी स्वरूप का स्पष्ट बोध होता है और तब अंत में वह परमात्मा के समग्र स्वरूप की प्राप्ति हेतु सक्षम होता है। इन बातों का परिचयात्मक वर्णन भगवान अध्याय के आगामी और अंतिम दो श्लोकों-२९ और ३० में कर रहे हैं।

जरामरणमोक्षाय , मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम् , अध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जरा-मरण-मोक्षाय , माम् आश्रित्य यतन्ति ये । ते ब्रह्म तत् विदुः कृत्स्नम् , अध्यात्मम् कर्म च अखिलम् ॥

ये माम् आश्रित्य जरा-मरण-मोक्षाय यतन्ति- जो मुझ में आश्रित होकर बुढ़ापा व मृत्यु (अर्थात् देहाभिमान/ देहाभाव) से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं, **ते तत् ब्रह्म कृत्स्नम् अध्यात्मम् च अखिलम् कर्म विदुः-** वे उस ब्रह्म को, समस्त अध्यात्म को तथा संपूर्ण कर्मों को जान लेते हैं ।

साधिभूताधिदैवं मां , साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां , ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

स अधिभूत-अधिदैवम् माम् , साधियज्ञम् च ये विदुः । प्रयाणकाले अपि च मां , ते विदुः युक्त-चेतसः ॥

च ये साधिभूत-अधिदैवम् साधियज्ञम् माम् विदुः- और जो अधिभूत और अधिदैव के रूप में तथा अधियज्ञ के रूप में मुझे जान लेते हैं **च प्रयाण-काले अपि युक्त-चेतसः ते माम् विदुः-** और (देह से) प्रयाण करने पर भी युक्तचित्त रहते हैं वे (ही) मुझे (संपूर्णतः) जान पाते हैं ।

श्लोक-२९ में कहे गए ब्रह्म,अध्यात्म और कर्म तथा श्लोक-३० में उल्लेखित अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ क्या है इसका विवरण भगवान ने आगे अध्याय आठ के प्रारम्भ में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में किया है अतः इन को समझने का प्रयास हम वहीं करेंगे, यहाँ हम कुछ अन्य बातों पर विचार करना चाहेंगे।

विदु : 'विद्' धातु का अर्थ मानना, जानना, समझना, अनुभव करना आदि है । इससे प्रकट होता है कि मन, बुद्धि, अनुभूति के प्रत्येक स्तर के अनुरूप यह धातु विशेष अर्थ देती है अतः हमें यह समझ लेना होगा कि वक्ता किस स्तर पर जानने की बात कह रहा है। इन श्लोकों में 'विदु' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ दिखता है। ब्रह्म, आध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के संबंध में 'विदु' का जो प्रयोग है, प्रतीत होता है कि यहाँ बुद्धि से जानने का भाव है। किंतु अंतिम पंक्ति में जब यह कहा गया कि 'प्रयाणकाले अपि युक्तचेतसः ते माम् विदुः' तो यहाँ विदु का अर्थ बुद्धि से जानना न होकर अनुभूति स्तर पर भगवान को पूर्णत: जानना होना चाहिए क्योंकि मृत्यु के बाद जीवात्मा के साथ केवल अनुभूति रहती है (अनुभूति किसी भी स्तर की हो सकती है)।

प्रयाण काले : इस शब्द का प्रचलित अर्थ 'शरीर छोड़ते समय' लिया जाता है। किंतु यह अर्थ यहाँ हमें उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि किसी साधक ने भगवान का सतत स्मरण निष्काम कर्म रूप सेवा द्वारा अथवा और किसी साधना द्वारा किया है किंतु प्रकृति की संयोगवश घटने वाली किसी घटना/ दुर्घटना में उसका शरीरान्त

इस प्रकार होता है कि उन भयंकर कष्ट के क्षणों में उसका ध्यान शरीर कष्ट से दूर नहीं होता है तो क्या उसकी जन्म भर की, बल्कि विगत सभी जन्मों की, साधना शून्य हो जाएगी और उन अंतिम क्षणों का कष्टप्रद त्रासद अनुभव ही उसके भविष्य की जीवन यात्रा का निर्धारण करेंगे? वस्तुतः यह विचार पूर्णत: असंगत, अवैज्ञानिक तथा आध्यात्म विषयक भगवान के भी अन्य वचनों के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। यदि प्रयाण काले का उपरोक्त अर्थ ही सही होता तो उन अनेक महापुरुषों को, जिन्होंने अपनी चेतना को शरीर से अलग कर लेने की साधना सिद्ध न करते हुए ज्ञान /कर्म /भक्ति द्वारा ही भगवत् प्राप्ति का मार्ग अपनाया था, उन्हें कैंसर जैसी बीमारियां तो होना ही नहीं चाहिए थीं। वस्तुतः प्रयाण काले (अथवा अंत काले) का यह अर्थ स्वीकार योग्य नहीं है। हमें उपरोक्त रूढ़िवादी अर्थ न लेकर यह समुचित अर्थ लेना चाहिए कि देह त्याग के बाद जब जीवात्मा, देह पीड़ा से मुक्त हो जाता है तो उसका अंत:करण उस भगवत्-भाव में पुनः स्थित होकर अपनी उस यात्रा पर आगे बढ़ेगा जहाँ तक उसने वर्तमान जन्म में पूरी की है।

इस संबंध में कबीर के एक दोहे के ये शब्द भी अंत काल (अर्थात् प्रयाणकाल) शब्द के हमारे इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। दोहे के शब्द है- अंत काल पछतायेगा जब प्राण जाएंगे छूट। स्पष्ट ही यहाँ प्राण छूटने के बाद की जीवात्मा की मन-बुद्धि (या अंतःकरण / सूक्ष्म शरीर) की स्थिति को 'अंत काल' शब्द से संबोधित किया गया है।

निष्कर्ष यह की अंतकाल / प्रयाण काल शब्द से यहाँ जीवात्मा के अंतःकरण (सूक्ष्म शरीर) की उस स्थिति को लक्षित कराया गया है जो उसने वर्तमान स्थूल शरीर छोड़ने तक प्राप्त की होती है। यह अर्थ तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक आधार युक्त और समाधान कारक प्रतीत होता है।

युक्त चेतस : 'चेतस' शब्द चेतना, ज्ञान, चिंतनशील मन / हृदय के लिए प्रयुक्त होता है अतः युक्त चेतस का अर्थ है वह जिसने चिंतन-मनन के द्वारा अपने हृदय को परमात्मा में स्थिर कर लिया है, चित्त को लीन कर लिया है (डॉ. राधाकृष्णन), जिसको सत्य को देखने-समझने का अभ्यास सध गया है (विनोबा), जिसको युक्तियुक्त ज्ञान प्राप्त हो गया है (स्वामी अखंडानंद सरस्वती), जिसका मन सुअनुशासित हो चुका है (स्वामी रंगनाथन)।

अध्याय ७ का सारांश और आगे-पीछे के अध्यायों से संगति

अध्याय-६ का समापन करते हुए भगवान ने कहा था कि मनुष्य जीवन का जो परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति (अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति एकत्व और प्रेम की अनुभूति) करना है, उस हेतु तप / ज्ञान / कर्म आदि जो विभिन्न साधनायें की जाती है उनमें 'मेरे'(श्रीकृष्ण) मतानुसार सर्वोत्तम वह है जिसमें साधक मन से और कर्म से मेरे प्रति समर्पित हो जाता है, और अध्याय-७ के प्रारंभ में ही उस हेतु को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अर्जुन को कहा कि मेरे उस सर्वव्यापी (समग्र रूप) को जान लेना आवश्यक है, जिसे जानकर ही समर्पण करना संभव होगा। इस हेतु से भगवान ने सृष्टि में अपनी व्याप्ति से प्रकृति में होने वाले तीन रूपांतरों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। प्रकृति के इन क्रमगत रूपांतरों को उन्होंने 'मेरी' अपरा प्रकृति (अष्टधा प्रकृति, श्लोक-४), 'मेरी' पराप्रकृति (चेतन प्राणी जगत, श्लोक-५), और 'मेरी माया' रूप त्रिगुणी प्रकृति (मनुष्य की सायकी / मनस / अंतःकरण) के क्रमगत विकास के तम, रज, सत रूप तीन चरणों के रूप में (श्लोक-१२ से १४ में) वर्णित करके इससे अगले विकास चरण को परमात्म तत्व (मेरे स्वरूप) की प्राप्ति बताई है।

सत्व गुण में स्थित होकर अच्छे कर्म करने वाले (सुकृतिन) व्यक्ति की तो गिरावट (रजस अथवा तमस में गिरने) की संभावना नहीं रहती। उसका विकास अर्थार्थी से आर्त, जिज्ञासु और अंत में ज्ञानी भक्त के रूप में होता जाता है(श्लोक-१६ से १९)। किन्तु तम स्थिति में प्रकृति का बल अधिक प्रबल होता है अतः गिरावट की संभावना काफी अधिक होती है और ऐसे लोग दूषित कर्मों को करते हुए आसुरी अथवा उससे भी निम्न राक्षसी वृत्तियों में गिरते जाते हैं (श्लोक-१५)। रजस स्थिति में क्योंकि प्रकृति और पुरुष के बल लगभग समान होते हैं, अतः रज से तम में गिरावट की अथवा रज से सत में उत्थान की संभावनायें तो रहती है किंतु यह रज से रज में घूमते रहने की संभावनाओं की अपेक्षा कम बनती है। अधिक संभावना पुनर्जन्म द्वारा रज में फसे रहने की बनती है जिसकी विवेचना भगवान ने सकाम देव-पूजा के रूप में (श्लोक-२० से २३ में) की है। ऐसे कम समझ लोग सब में और स्वयं में भी जो अविनाशी परम सत्ता उपस्थित है उसे नहीं जान पाते, वे केवल प्राण-इंद्रियों आदि में व्यक्त हुई चेतना को ही जानते हुए उनसे प्राप्त सुखों में ही डूबे रहते हैं (श्लोक-२४)। इस भंवर जाल से मुक्ति का मार्ग सद्कर्मो द्वारा पाप (स्वार्थवृत्ति) नष्ट करना और परमेश्वर के सर्व संचालक स्वरूप को जानकर उसकी शरण ग्रहण करना है (श्लोक-२५ से ३०)।

सृष्टि और व्यष्टि का संचालन करने वाले परमात्मा के स्वरूपों को भगवान ने जिन पारिभाषिक शब्दों में इंगित किया है (श्लोक-७.२९, ३०), वे क्या है और व्यक्ति परमात्मा को समग्रत: कैसे प्राप्त कर सकेगा, अर्जुन का यह प्रश्न और भगवान के उत्तर अध्याय-८ की विषय-वस्तु है जिसके बाद भगवान ने अध्याय-९ में पुनः अध्याय-७ की विवेचना को ही आगे बढ़ाया है, यह अध्ययन हम उन अध्यायों में करेंगे।

◆ ◆ ◆

अष्टमः अध्यायः

सृष्टि और व्यष्टि में परमात्मा की व्याप्ति और उनकी प्राप्ति

अर्जुन उवाच ।

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं , किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम् , अधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

किम् तत् ब्रह्म किम् अध्यात्मम् , किम् कर्म पुरुषोत्तम । अधिभूतम् च किम् प्रोक्तम् , अधिदैवम् किम् उच्यते ॥

हे पुरुषोत्तम- हे पुरुषोत्तम! **तत् ब्रह्म किम्-** वह ब्रह्म क्या है ? **अध्यात्मम् किम्-** अध्यात्म क्या है ? **कर्म किम्-** कर्म क्या है? **अधिभूतम् किम् प्रोक्तम्-** अधिभूत किसे कहा गया है? **च अधिदैवम् किम् उच्यते -** और अधिदेव किसे कहा जाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र , देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं , ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अधियज्ञः कथम् कः अत्र , देहे अस्मिन् मधुसूदन । प्रयाण-काले च कथम् , ज्ञेयः असि नियत-आत्मभिः ॥

हे मधुसूदन- हे मधु-कैटभ दैत्यों को मारने वाले विष्णु के अवतार! **अत्र अस्मिन् देहे अधियज्ञः कः कथम्-** यहाँ इस शरीर में अधिकांश कौन है, कैसे हैं? **च नियत-आत्मभिः प्रयाण-काले कथम् ज्ञेयः असि -** और जिसने अपने को युक्तचित्त कर लिया है उसके द्वारा (आप) अंत समय तक भी कैसे जानने में आते हैं?

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं , स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो , विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

अक्षरम् ब्रह्म परमम् , स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते । भूत-भाव-उद्भव-करः , विसर्गः कर्म-संज्ञितः ॥

अक्षरम् परमम् ब्रह्म- (जो) अविनाशी परम तत्व (है वह) ब्रह्म है। **स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते-** अपने होने का जिसे भाव है उसे (उस जीवात्मा को) अध्यात्म कहा जाता है। **भूत-भाव-उद्भव-करः विसर्गः कर्म-संज्ञितः -** सब भूत प्राणियों को अस्तित्व में लाने वाली सृजन शक्ति को कर्म कहा जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः , पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र , देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूतम् क्षरः भावः , पुरुषः च अधिदैवतम् । अधियज्ञः अहम् एव अत्र , देहे देह-भृताम् वर ॥

हे देह-भृताम् वर- हे देह धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! **क्षरः भावः अधिभूतम्-** प्राणियों में नश्वर प्राणिक चेतना अधिभूत है, **अत्र देहे पुरुषः अधिदैवतम्-** इस (मनुष्य शरीर में (रहने वाला) पुरुष अधिदैव है, **च अहम् एव अधियज्ञः -** और 'मैं' ही अधियज्ञ हूँ ।

भगवान ने अपनी सर्वव्यापी सत्ता के समष्टिगत तीन रूपों का श्लोक-३ में और व्यष्टिगत तीन रूपों का श्लोक-४ में वर्णन किया है। उस सत्ता का मूल अव्यक्त रूप है ब्रह्म। यह अनंत विस्तार वाला और अविनाशी रूप है। यह है तो ज्ञान स्वरूप किंतु बिना प्रकृति के अव्यक्त ही रहता है(श्लोक-८.२०) । इस तत्व ने ही प्रकृति की विभिन्न रचनाओं का निर्माण करते हुए उन्हें अधिकाधिक चेतन शक्ति के धारण योग्य बनाया है। इस प्रक्रिया से ही समस्त चराचर सृष्टि का विकास हुआ है। ब्रह्म के उस अंश को जो प्रकृति के चराचर जगत का निर्माण करता है और विकास करता है उसे ही 'कर्म' कहा गया है। अतः 'कर्म' भी ब्रह्म की प्रकृति में एक अभिव्यक्ति है। गीता में कर्म की यह परिभाषा हमें चौंका सकती है क्योंकि हम तो मनुष्य द्वारा किए जाने वाले सभी अच्छे-बुरे कार्यों को सत्कर्म / दूषितकर्म कहने के आदि हैं। किंतु क्योंकि परमात्मा शक्ति से होने वाले कार्य 'दूषित' होते ही नहीं, अतः इनको यहाँ केवल 'कर्म' नाम से संबोधित किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मरूप जिस ज्ञान-शक्ति द्वारा प्रकृति से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उसे 'कर्म' कहा गया है। भगवान की कर्म की इस परिभाषा को याद रखते हुए ही हमें गीता में जहाँ भी कर्म शब्द का उपयोग हुआ है उसे इसी रूप में लेते हुए अर्थ करना चाहिए। उसके 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' आदि वचनों में कर्म का अर्थ सबका विकास अथवा आध्यात्मिक हित में सहायक कार्य ऐसा भाव लेने पर ही वास्तविक अर्थ प्रकट होता है।

इस सत्ता के उपरोक्त दो रूपों निर्गुण ब्रह्म और कर्म के अतिरिक्त एक और तीसरा रूप है जिसे भगवान ने अध्यात्म कहा है और 'स्वभावो अध्यात्म उच्यते' कहकर उसे परिभाषित किया है। स्वभाव अर्थात् 'अपने होने का भाव' अर्थात् अपनी सत्ता की निरंतरता का बोध, यह बोध कि मैं जो बचपन में था वही अब युवा अथवा वृद्धावस्था में हूँ। अतः मनुष्य लोक में अहम् रूप में अभिव्यक्त चेतना को आध्यात्म नाम से परिभाषित किया गया है। यह बोध मनुष्येतर प्राणियों में नहीं होता, केवल मनुष्य को ही प्राप्त हुआ है और यही उसे पुनर्जन्म की यात्रा द्वारा उसके आध्यात्मिक विकास

का पथ प्रशस्त करता है। ब्रह्म से उद्‌भूत इन उच्च चैतन्य अंशों को हम 'जीवात्मा' कहते हैं। इस प्रकार, यह मनुष्य लोक भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है।

इन तीन अभिव्यक्तियों की विवेचना के बाद भगवान ने परमात्म तत्व के तीन और रूपों (प्रावस्थाओं) का वर्णन किया है। इन्हें अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ नाम से इंगित किया है। ये क्या है इसका उत्तर भगवान ने बहुत थोड़े से शब्दों में यद्यपि स्पष्ट दिया है किंतु टीकाकारों की दार्शनिक विवेचनायें उलझने बढ़ाने वाली हो गई हैं। इस स्थिति के निर्माण में मुख्य भूमिका 'क्षरो भावो' के शांकर भाष्य के अर्थ से बनती दिखती है। भगवान शंकर के नाम से प्रसिद्ध इस भाष्य में कहा गया है- 'जो कुछ भी उत्पत्ति शील पदार्थ है वे क्षर अर्थात् विनाशी हैं और अधिभूत कहे जाते हैं।' भगवान शंकर के नाम से लिखने वाले लेखक ने वस्तुतः इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि इन श्लोकों का संदर्भ परमात्म सत्ता का परिचय देने से था न कि प्रकृति और उससे बने 'उत्पत्ति शील और विनाशशील पदार्थों ' का वर्णन करने से था। इस कारण इन भाष्यों के अर्थ को दरकिनार करके हम इन शब्दों के संदर्भानुरूप भावार्थ समझने का प्रयास करेंगे।

अधिभूत : भूत जगत (प्राणी जगत) से संबंधित परमात्म चेतना, जीवो की प्राणिक चेतना जो कि क्षर है, स्थाई नहीं है, उनके देह त्याग के साथ ही यह चेतना अपने स्रोत अर्थात् ब्रह्म में मिल जाती है। मनुष्य की प्राणिक चेतना भी मृत्यु उपरांत ब्रह्म में विलीन हो जाती है और जीवात्म चेतना पुनर्जन्म ले लेता है। अध्याय-१५ में इस क्षर चेतना को तो क्षर पुरुष और जीवात्मा चेतना को अक्षर पुरुष कहा गया है।

अधिदैव : मनुष्य के सूक्ष्म शरीर रूप मन, बुद्धि, अहंकार को चेतना प्रदान करने वाली परमात्म शक्तियों को अधिदैव कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में मन में क्रियाशील चेतना के समष्टिगत रूप को इंद्रदेव, बुद्धिगत चेतना के समष्टि रूप को बृहस्पति एवं जीवात्मा की समष्टि को अग्निदेव कहा गया है।

अधियज्ञ : व्यक्ति जब जीवन को समष्टि हित में समर्पित कर देता है, उसका जीवन यज्ञमय हो जाता है, तो उस में चेतना का एक उच्च स्तर जाग्रत हो जाता है। उस चेतना स्तर को यहाँ अधियज्ञ नाम से संबोधित किया गया है। गीता में अन्यत्र इसे ही महेश्वर, जीवन का मार्गदर्शक (गतिर्भर्ता), सखा/सुहृद आदि क्रिया-परक नामों से वर्णित/इंगित किया गया है(श्लोक-१३.२२,९.१८,५.२९)। निष्कर्ष यह कि अधियज्ञ नाम से यहाँ वर्णित सत्ता और भिन्न नामों/रूपों में अन्यत्र वर्णित सत्ता वही एक उच्च

चेतना वाली सत्ता है जो व्यक्ति में सत्-संकल्पों/सत्-कर्मों से जाग्रत होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण इसी सत्ता को निरूपित कर रहे हैं। इस उच्च सत्ता की यज्ञ-परक भूमिका को यहाँ अधियज्ञ कहकर इंगित किया गया है।

इस प्रकार, सृष्टि में परमात्म सत्ता की सभी छः अभिव्यक्तियों का वर्णन करने के बाद अब भगवान अर्जुन के इस अंतिम प्रश्न का उत्तर (श्लोक- ५ से ७ में) दे रहे हैं कि श्रीकृष्ण वाली आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करने के लिए उसे 'अन्तकाल' में किस प्रकार के ध्यान में स्थिर होना होगा।

अन्तकाले च मामेव , स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं , याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्त-काले च माम् एव , स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति सः मत् भावम् , याति न अस्ति अत्र संशयः ॥

यः अन्त-काले च माम् एव स्मरन् कलेवरम् मुक्त्वा प्रयाति- जो अन्तसमय भी मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है **सः मत् भावम् याति-** वह मेरी सत्ता को ही प्राप्त होता है, **अत्र संशयः न अस्ति -** इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं , त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय , सदा तद्भावभावितः ॥६॥

यम् यम् वा अपि स्मरन् भावम् , त्यजति अन्ते कलेवरम् । तम् तम् एव एति कौन्तेय , सदा तद् भाव-भावितः ॥

कौन्तेय! अन्ते यम् यम् वा अपि भावम् स्मरन् कलेवरम् त्यजति- अंत में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, **तम् तम् एव एति -** उस-उस को ही प्राप्त होता है, **सदा तद् भाव-भावितः -** (क्योंकि वह) सदा उसी भाव से भावित रहा है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु , मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः ,मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु , माम् अनुस्मर युध्य च । मयि अर्पित-मनः-बुद्धिः , माम् एव एष्यसि असंशयम् ॥

तस्मात्- इसलिए (हे अर्जुन ! तू) **सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर -** सब समय में (निरंतर) मेरा स्मरण कर **च मयि अर्पित मनःबुद्धिः युध्य-**और मुझ में अर्पित मन-बुद्धि से युक्त होकर युद्ध कर, **असंशयम् माम् एव एष्यसि -** निसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।

उपरोक्त तीन श्लोकों में भगवान ने पुनर्जन्म संचालन के नियम का उल्लेख करते हुए कर्म-सह-ज्ञान रूप भक्ति द्वारा परमात्म प्राप्ति के मार्ग की विवेचना की है। वह

नियम यह है कि मनुष्य का चित्त (मन और बुद्धि) जिन-जिन भावों अर्थात् विचारों, भावनाओं और कामनाओं में जीवन पर्यंत आसक्त रहता है, प्राण त्याग के बाद भी वह उन्हीं आसक्त मन-बुद्धि वाले सूक्ष्म शरीर के साथ दूसरा शरीर ग्रहण करता है और उस शरीर में उन इच्छाओं की पूर्ति हेतु प्रयास करता है।

यदि व्यक्ति परमात्म प्राप्ति की अनन्य इच्छा से भावित रहता है तो मृत्यु उपरांत उस अनुरूप उसकी गति होती है। परमात्म प्राप्ति की इच्छा से जीवन काल में और मृत्यु उपरांत भी भावित रहने का अपेक्षाकृत सहज और सरल उपाय है भगवान का सतत स्मरण और भगवान के लिए कर्म अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा को प्राणियों में उपस्थित जानकर उनकी सेवा करना(माम् अनुस्मर युद्ध च)। जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीता के अनुसार इन दो बातों से व्यक्ति की भगवत् सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण रूप भक्ति सधती है और भगवत् प्राप्ति अर्थात् व्यक्ति चेतना का समष्टि चेतना में रूपांतरण संभव हो जाता है। भगवत् प्राप्ति का यह मार्ग, वह एक मार्ग है जिसे श्री कृष्ण ने सर्वोत्तम पाया था।

अब अगले कुछ श्लोकों में भगवान ने कर्म-संन्यास संवर्ग के उन कुछ साधन पथों का पुनः उल्लेख किया है जिनका वर्णन उन्होंने पहले अध्याय-५ और ६ में किया था। कर्मयोग और कर्म-संन्यास इन दोनों ही संवर्ग के मुख्य-मुख्य साधना पथों का यहाँ अध्याय-८ में पुनः वर्णन, प्रथम दृष्टया अकारण पुनरावृत्ति प्रतीत हो सकता है किंतु संदर्भों पर ध्यान देने पर उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। अध्याय-५,६ में जो वर्णन था वह साधना-पथों की उपयुक्तता को जानने के बारे में अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर में था और यहाँ अध्याय-८ में संदर्भ अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में हैं कि उस सर्वव्यापी भगवत् सत्ता का अनुभव किस प्रकार हो सकता है जिसका वर्णन भगवान ने अध्याय-७ में किया था।

उस ज्ञान रूपा भगवत् सत्ता के दो प्रमुख अभिव्यक्त स्वरूपों की उपासना की जाती है- १. वह जो सभी प्राणियों के जीवन का स्रोत, पालक और नियंता है, जिसे सगुण ब्रह्म कहा गया है, और २. प्रकृति की विभिन्न रचनाओं में अभिव्यक्त सगुण सत्ता जिसे परमात्मा कहा जाता है और जिसके असंख्य अंशों के रूप में सभी प्राणी हैं, मनुष्य है, महात्मा जन हैं और अवतारी महापुरुष भी उसी की अभिव्यक्ति होते हैं। उस सत्ता के इन दो स्वरूपों के अनुरूप उसकी प्राप्ति के मार्गों के भी मुख्य दो संवर्ग हैं। १. सगुण परमात्मा की उपासना की उस काल में तो संभवत: एक ही सर्वश्रेष्ठ विधि मान्य थी जिसे गीता ने कर्मयोग के साथ ज्ञान अर्थात् भक्ति कहा है और जिसका

वर्णन ऊपर श्लोक-५,६,७ में हो चुका है। २. सगुण ब्रह्म की उपासना की दो प्रणालियों को जो संभवत: उस काल में सर्वाधिक मान्य थी, हमारी समझ अनुसार, यहाँ श्लोक-८ से १३ में वर्णित किया गया है।

अभ्यासयोगयुक्तेन , चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं , याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अभ्यास-योग-युक्तेन , चेतसा न अन्य-गामिना । परमम् पुरुषम् दिव्यम् , याति पार्थ अनुचिन्तयन् ॥

पार्थ- हे अर्जुन! **अभ्यास-योग-युक्तेन न अन्य-गामिना चेतसा-** ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त दूसरी ओर न जाने वाले मन-बुद्धि से **अनुचिन्तयन्-** निरंतर चिंतन करता हुआ (साधक) **परमम् दिव्यम् पुरुषम् याति -** परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ।

कविं पुराणमनुशासितारं ,
अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्,
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

कविम् पुराणम् अनुशासितारम्, अणोः अणीयांसम् अनुस्मरेत् यः ।
सर्वस्य धातारम् अचिन्त्य-रूपं, आदित्य-वर्णम् तमसः परस्तात् ॥

यः- जो व्यक्ति **कविम्-** उस द्रष्टा/सर्वज्ञ का **अनुस्मरेत्-** निरंतर स्मरण(इस रूप में) करता है (कि वह) **पुराणम्-** अनादि है, **अनुशासितारम्-** सब का नियंता है, **सर्वस्य धातारम्-** सब प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला है, **अणोः अणीयांसम्-** सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है अर्थात् सर्वव्यापी है, **तमसः परस्तात्-** अंधकार अज्ञान से परे **आदित्य-वर्णम् -** सूर्य के समान प्रकाशवान अर्थात् ज्ञान स्वरूप है, और **अचिन्त्य-रूपं -** (जिसका अपना कोई रूप न होने से) जो अचिन्त्य रूप है।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन ,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् ,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

प्रयाण-काले मनसा अचलेन, भक्त्या युक्तः योग-बलेन च एव ।
भ्रुवोः मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्, सः तम् परम् पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥

सः भक्त्या युक्तः- वह भक्ति से युक्त पुरुष **प्रयाण-काले योगबलेन-** देह त्यागते समय योग बल से **भ्रुवोः मध्ये प्राणम् सम्यक् आवेश्य -** भोहों के मध्य प्राणशक्ति को भलीभांति स्थापित करके **च अचलेन मनसा (स्मरण)-**

फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ (शरीर त्यागता है), **यः तम् दिव्यम् परम् पुरुषम् एव उपैति-** (वह भक्त योगी) उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है ।

उपरोक्त तीन श्लोकों में सर्वव्यापी दिव्य चेतन सत्ता की प्राप्ति अर्थात् सतत अनुभूति प्राप्त करने की एक विधि का वर्णन किया गया है। इस विधि के दो भाग हैं- जीवन भर उस परम सत्ता का श्लोक-९ अनुरूप निरंतर चिंतन का, और प्राण शक्ति के नियंत्रण का ऐसा अभ्यास कर लेना कि मृत्यु के समय प्राणों को भौंहों के बीच (आज्ञा चक्र पर) स्थापित करके और परमेश्वर सत्ता का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग कर सके। ऐसा कर सकने पर परम पुरुष कही जाने वाली उस सत्ता की प्राप्ति निश्चित ही होती है (श्लोक-१०)।

अब इसी प्रकार की किंतु थोड़ी भिन्न दूसरी विधि का वर्णन श्लोक- ११,१२,१३ में इस प्रकार किया गया है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संङ्‌ ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

यत् अक्षरम् वेद-विदः वदन्ति, विशन्ति यत् यतयः वीत-रागाः ।
यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यम् चरन्ति, तत् ते पदम् संङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेद-विदः यत् अक्षरम् वदन्ति- वेद को जानने वाले अथवा ज्ञानी जिसको अविनाशी तत्व कहते हैं, **वीत-रागाः यतयः यत् विशन्ति-** आसक्तियों से मुक्त यती साधक जिसमें प्रवेश करते हैं, **यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यम् चरन्ति-** जिस (ब्रह्म को प्राप्त करने) की इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्य की (ब्रह्म में चर्यण करने की) साधना करते हैं, **तत् पदम् ते संङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये-** उस लक्ष्य प्राप्ति का (मैं) तेरे लिए सार रूप में वर्णन करूंगा ।

सर्वद्वाराणि संयम्य , मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम् , आस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

सर्व-द्वाराणि संयम्य , मनः हृदि निरुध्य च । मूर्ध्नि आधाय आत्मनः प्राणम् , आस्थितः योग-धारणाम् ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म , व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं , स याति परमां गतिम् ॥१३॥

ओम् इति एक-अक्षरम् ब्रह्म , व्याहरन् माम् अनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहम् , सः याति परमाम् गतिम् ॥

सर्व-द्वाराणि संयम्य- शरीर के समस्त द्वार रूपी इंद्रियों का संयम करके, **मनः हृदि निरुध्य च-** मन को हृदय में स्थिर करके, फिर **आत्मनः प्राणम् मूर्ध्नि आधाय-** अपने प्राणों को मस्तक में स्थापित करके **योग-धारणाम् आस्थितः-** योगधारणा में स्थित होकर **ओम् इति एक-अक्षरम् ब्रह्म व्याहरन् -** ओम् इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ **माम् अनुस्मरन्-** मेरा स्मरण करता हुआ **यः त्यजन् प्रयाति-** जो इस देह को त्यागकर जाता है **सः परमाम् गतिम् याति-** वह साधक परम् लक्ष्य को प्राप्त करता है ।

उपरोक्त तीन श्लोकों में ज्ञान योगियों का, तप साधना वाले यतियों का, योग मार्ग द्वारा ब्रह्म प्राप्ति करने वाले साधकों का वर्णन (श्लोक-११ में) करते हुए साधना के मूलतः उन्हीं दो चरणों का थोड़ी सी स्वाभाविक भिन्नता के साथ वर्णन किया गया है जिनका वर्णन प्रथम संवर्ग (श्लोक-८ से १०) में किया गया था। यहाँ चिंतन का विषय साधक की मानसिक / बौद्धिक धारणा के अनुरूप कुछ भिन्न होते हुए भी साधना के वे ही दो चरण हैं- अनुस्मरण और मृत्यु के समय प्राणों का नियमन करते हुए देह त्याग। यहाँ प्राणों को मस्तक में (सहस्रार चक्र पर) स्थापित करने की बात कही गई है, जबकि पूर्व वर्णित साधना में आज्ञा चक्र पर प्राणों को स्थिर करने का निर्देश था (श्लोक-१०)।

कर्म-संन्यास पद्धति की उपरोक्त दोनों साधनाओं में परम सत्ता का स्मरण, मरण काल में आवश्यक बताया गया है जिसके लिए योग साधना द्वारा प्राणों का नियमन करके देह त्याग कर सकने की सिद्धि प्राप्त करनी होगी। इसके विपरीत कर्मयोग साधना (श्लोक ५ से ७) में इस प्रकार की कोई शर्त नहीं बताई गई। इसके दो कारण होने चाहिए। एक तो यह कि कर्म-संन्यास साधनाओं में साधक का लक्ष्य अपने 'मैं' को भगवत् सत्ता / ब्रह्म में विलीन करना होता है, दूसरी यह कि ध्यान आधारित साधनाऐं सतत की ही नहीं जा सकतीं। विनोबा ने अन्यत्र कहा है 'ध्यान समाधि चढ़ने उतरने वाली ही रहेगी'। और 'अंत-मति: स: गति' वाले सिद्धांत के अनुरूप ही यहाँ ध्यान साधनाओं की सिद्धि के लिए 'अंतमति' को लक्ष्य में लगाना आवश्यक होगा तथा उसके लिए परम सत्ता का स्मरण करते हुए प्राण त्याग कर सकने की योग्यता प्राप्ति हेतु वैसी योग सिद्धि आवश्यक होगी। इनके विपरीत, भक्ति (अर्थात् प्राणियों की परमात्म भाव से सेवा) में 'मैं' को विलीन नहीं करना होता है वरन् उसे भगवत् सत्ता का सेवक बनाना होता है, और क्योंकि कर्म-सह-ज्ञान के माध्यम से भगवत् स्मरण भी निरंतर बना रह सकता है अतः 'अंत-मति' के लिए विशेष योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। इसी कारण भगवान ने अगले श्लोक-१४ में कहा है कि कर्मयोगी के लिए 'मैं' सुलभ हूँ।

अनन्यचेताः सततं , यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ , नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अनन्य-चेताः सततम् यः माम् स्मरति नित्यशः । तस्य अहं सुलभः पार्थ नित्य-युक्तस्य योगिनः ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **यः (मयि) अनन्य-चेताः-** जो चित्त को अन्य कही न लगाते हुए केवल मुझ में ही लगाते हुए **माम् नित्यशः सततं स्मरति-** मुझे हमेशा निरन्तर स्मरण करता है, **तस्य नित्य-युक्तस्य योगिनः -** उस नित्य युक्त योगी को **अहं सुलभः-** मैं आसानी से प्राप्त हो जाता हूँ ।

इस श्लोक की व्याख्या बहुत से टीकाकारों ने ऊपर वर्णित ध्यान योग की विधियों से सम्बद्ध करके की हैं किंतु वह उचित नहीं लगती। वस्तुतः यहाँ योगी शब्द कर्मयोगी के लिए आया है क्योंकि इससे पूर्व के छः श्लोकों में जो जो ध्यान विधियां बताई गई थी, वे तो अत्यंत ही कठिन थीं। सूर्य प्रकाश अथवा ओंकार नाद को ब्रह्म का रूप मानकर उस में चित्त को लीन करते हुए योग बल से प्राणों का त्याग करने की विधि को कोई भी सरल कैसे कहेगा और फिर गीता में कर्मयोग की ही प्रेरणा देने वाले श्रीकृष्ण उन विधियों को 'सुलभ' कहकर अर्जुन के मन में दुविधा क्यों उत्पन्न करेंगे? अर्जुन जो कर्मसंन्यास साधनाओं की ओर आकर्षित होकर युद्ध रूप कर्म से पलायन के लिए उत्सुक हो गया था उसे श्री कृष्ण कर्मयोग मार्ग को ही कल्याणकारी और सरल बताते हुए इसका उपदेश कर रहे हैं।

वस्तुतः यहाँ भगवान ने परमात्म प्राप्ति के लिए पहले कर्मयोग विधि का श्लोक-५,६,७ में वर्णन किया, फिर श्लोक-८ से १३ में ध्यान की दो उपासनाओं का वर्णन करके अब इस श्लोक में पुनः कर्मयोग विधि की बात की ताकि ध्यान विधियों की अत्यंत दुरूहता की तुलना में कर्मयोग विधि की सरलता एकदम स्पष्ट हो जाए।

अगले कुछ श्लोकों में भगवान बता रहे हैं कि 'ब्रह्मप्राप्ति' और 'मेरी प्राप्ति' के परिणामों में अंतर क्या है? ध्यान करते हुए प्राण त्याग करने जैसी दुष्कर उपलब्धि प्राप्त करके भी जिस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है वह भले ही काफी दीर्घावधि वाली स्थिति हो किंतु शाश्वत नहीं होती और दुखमय संसार में उसे लौटना पड़ता है, जबकि 'मुझे' प्राप्त कर लेने पर 'मेरा' भक्त दुखमय संसार में नहीं लौटता, (मेरे समान वह जन्म भी लेगा तो दुखो से परे ही रहेगा) यह बात श्लोक १५ से २२ में कही गई हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

माम् उपेत्य पुनः-जन्म , दुःख-आलयम् अशाश्वतम् । न आप्नुवन्ति महात्मानः , संसिद्धिम् परमाम् गताः ॥

परमाम् संसिद्धिम् गताः महात्मानः- परम् सिद्धि को प्राप्त महात्मजन **माम् उपेत्य-** मुझ को प्राप्त होकर **अशाश्वतम् दुःख-आलयम् पुनः जन्म न आप्नुवन्ति-** अनित्य तथा दुखो के घर वाले पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः , पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय , पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

आब्रह्म-भुवनात् लोकाः पुनः-आवर्तिनः अर्जुन । माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनः-जन्म न विद्यते ॥

अर्जुन - हे अर्जुन ! **आब्रह्म-भुवनात् लोकाः पुनः-आवर्तिनः -** ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती है **तु कौन्तेय-** परंतु है कुंती पुत्र! **माम् उपेत्य पुनः-जन्म न विद्यते-** मुझको प्राप्त होकर (उपरोक्त दुखालयम वाला) पुनर्जन्म नहीं प्राप्त होता।

श्लोक १५ में जो यह कहा गया है कि परमात्मा को प्राप्त कर लेने वाले भक्तों का 'दुखालयम्' वाला पुनर्जन्म नहीं होता, इस कथन के तात्पर्य को हमें भली-प्रकार समझ लेना चाहिए। श्रीकृष्ण स्वयं और अन्य अनेक अवतारी पुरुष भी मानव रूप में उसी प्रकार जन्म ग्रहण करते रहें हैं जिस प्रकार हम साधारण मानव जन्म लेते हैं, फिर उक्त वचन का वास्तविक अर्थ क्या हो सकता है इस पर हमें विचार करना चाहिए। ऐसे अवतारी महापुरुष न केवल मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं वरन् उनका तो पूरा जीवन ही महान कष्टों से भरा हुआ देखा जाता है किंतु उन्हें वह कभी कष्टप्रद प्रतीत नहीं होता क्योंकि उनमें वह देह-सीमित और क्षुद्र मानसिक 'मैं' नहीं होता जो हम में होता है। वे तो जगत हितार्थ जन्म लेते हैं जबकि हम हमारे क्षुद्र मैं के साथ सुखोभोग की इच्छाओं की पूर्ति हेतु जन्म लेते हैं। हमारा जीवन इसी 'क्षुद्र मैं' के कारण दुखों का घर बन जाता है।

श्लोक-१६ में उपरोक्त बात को और स्पष्ट किया गया है। जो लोग ब्रह्म की उपासना करते हैं उनका मूल उद्देश्य अपने मैं को दैहिक कष्टों से और उन मनो-बौद्धिक पीड़ाओं से बचाना होता है जो सांसारिक व्यवहारों में सामान्यतः झेलना पडती हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराम जैसे अवतारी महापुरुषों को भी अपने उसी समाज की दूषित और क्रूर दृष्टि का शिकार होना पड़ा था जिसके लिए उन्होंने अपना सर्वस्व नौछावर कर दिया था। याद करें कि कृष्ण को अपने सार्वजनिक जीवन में स्यमन्तक मणि की चोरी के आक्षेप का और राम को सीता के सतीत्व पर आक्षेप का सामना करना पड़ा था किंतु उन्होंने अपने कर्तव्य कर्मों का सर्वहित सेवा व्रत का, त्याग न करते हुए ही उन आक्षेपों को असत्य सिद्ध करने अथवा होने तक की धृति धारण करते हुए वे अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ रहे। वे ऐसा कर सके क्योंकि वे 'सीमित मैं' से मुक्त हो चुके थे। जो व्यक्ति 'सीमित मैं' की इस मूल समस्या को न समझते हुए 'मुक्ति' प्राप्त

करने हेतु कठोर तपस्या करके जो परिणाम प्राप्त करते हैं वह उपलब्धि वस्तुतः काल-सापेक्ष ही रहती है और अंततः उन्हें इस दुखमय संसार में लौटकर आना ही पड़ता है। दुखों से मुक्ति तो तभी प्राप्त हो पाती है जब व्यक्ति अपने क्षुद्र अहम् और स्वार्थ से मुक्त होता है। यही संदेश श्लोक-१६ और आगे के कुछ श्लोकों में पौराणिक प्रतीकों की भाषा में व्यक्त किया गया है।

सहस्रयुगपर्यन्तम् , अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां , तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

सहस्र-युग-पर्यन्तम् अहः यत् ब्रह्मणः विदुः । रात्रिम् युग-सहस्र-अन्ताम् ते अहोरात्र-विदः जनाः॥

यत् ते अहोरात्र-विदः जनाः - वे (जो) काल (के नियम) को जाने वाले हैं **ब्रह्मणःअहःसहस्र-युग-पर्यन्तम् रात्रिम् युग-सहस्र-अन्ताम् विदुः-** ब्रह्मा के दिन को मानवी हजार युग की अवधि वाला और रात्रि को भी हजार युग की अवधि वाला जानते हैं (अर्थात् बताते हैं)।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः , प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते , तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः , प्रभवन्ति अहः आगमे । रात्रि आगमे प्रलीयन्ते , तत्र एव अव्यक्त-संज्ञके ॥

अहः आगमे अव्यक्तात् सर्वाः व्यक्तयः प्रभवन्ति- (ब्रह्मा के) दिन के प्रारंभ में अव्यक्त अव्यवस्था से समस्त प्राणी प्रकट हो जाते हैं। **रात्रि आगमे तत्र एव अव्यक्त-संज्ञके प्रलीयन्ते -** (ब्रह्मा की) रात्रि आने पर (वे) उसी अव्यक्त अवस्था में ही लीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं , भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ , प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

भूत-ग्रामः सः एव अयम् भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्रि आगमे अवशः पार्थ प्रभवति अहः आगमे ॥

पार्थ- हे पार्थ ! **सः एव अयम् भूत-ग्रामः अहः आगमे अवशः प्रभवति-** वही यह जीव समुदाय (ब्रह्मा के) दिन के प्रारंभ में प्रकृति के परवश हुआ उत्पन्न होता है। **रात्रि आगमे भूत्वा भूत्वा प्रलीयते-** (और) रात्रि आने पर बार-बार होकर प्रलय को प्राप्त होता रहता है।

उपरोक्त श्लोकों (क्रमांक-१७,१८,१९) में पौराणिक शैली में भौतिक सृष्टि और जैविक सृष्टि के प्रादुर्भाव और प्रलय के चक्रीय परिवर्तनों का वर्णन करके प्रकृति और पुरुष (अर्थात् चेतन सत्ता) की गतिविधियों का दिग्दर्शन कराया गया है। ब्रह्मा अर्थात् प्रकृति के समष्टिगत रूप को चैतन्य बनाने वाली ज्ञान शक्ति। इन ब्रह्मा के दिन-रात, वर्ष और आयु के वर्णन द्वारा छोटी-बड़ी चक्रीय गतियों का निरूपण किया गया है। यह जानना रोचक होगा कि आधुनिक भौतिकी के वैज्ञानिकों ने सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी

जो क्वांटम गणितीय समीकरणों के समाधान (solutions) प्राप्त किए हैं उनमें से केवल तीन ही कल्पनाक्षम माने गए हैं और उनमें भी तर्कसंगत हल केवल एक था जो सृष्टि के उदय-विकास-अंत तथा पुनः पुनः पुनरावर्तन वाली चक्रीय गति का प्रतिपादन करता है (द्दष्टव्य- 'A Brief History of Time', Stefen Hawkins)। निष्कर्ष यह कि सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी जिन चक्रीय गतियों का गीता और अन्य प्राचीन ग्रंथों में वर्णन है उसका प्रतीकार्थ विश्वसनीय माना जा सकता है।

श्लोक-१७,१८ में बताया गया है कि सृष्टि में व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त होने की चक्रीय गति होती रहती है। इसे ब्रह्मा का एक अहोरात्र (रात-दिन) कहा जाता है। श्लोक में ब्रह्मा के एक दिन (= एक रात्रि) की काल-अवधि १००० युग बताई गई है। क्योंकि पुराणों में एक युग की कालावधी (कली + द्वापर + त्रेता और सत युग = ४३,२०,००० मानव वर्ष बताई गई है), अतः ब्रह्मा का एक दिन = सृष्टिकाल= प्रलयकाल= 432 करोड़ वर्ष वर्णित है। यह अवधि समाप्त होने पर प्रलय का प्रारंभ होता है। इसे नैमित्तिक प्रलय (432 करोड़ वर्ष का) कहा गया है। ब्रह्मा के १०० वर्ष बीतने पर ब्रह्मा भी 100 वर्ष के लिए शांत हो जाते हैं। इसे महाप्रलय (अथवा प्राकृत प्रलय) नाम दिया गया है। ऊपर श्लोक-१६ में भी ब्रह्म लोक को पुनरावर्ती कहा जा चुका है।

श्लोक-१८,१९ में कहा गया है कि ब्रह्मा के दिवस काल में, जाग्रति काल में, अर्थात् सृष्टि काल में ही प्राणियों के जीवन-मरण की गतिविधियां चलती हैँ किन्तु इन गतिविधियों में प्राणी प्रकृति के परवश रहते हैं।

अब अगले तीन श्लोकों में ब्रह्मा से श्रेष्ठ चेतन सत्ता का परिचय दिया गया है। प्रकृति को अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त करने वाली ब्रह्मा कही जाने वाली चेतन सत्ता प्रकृति में अनुस्यूत होने से उसके साथ ही स्वयं भी व्यक्त-अव्यक्त होती रहती है, किंतु उससे श्रेष्ठ एक सनातन चेतन सत्ता भी है जो हमारी इंद्रियों के लिए तो अव्यक्त है किंतु विशेष ध्यान देने पर उसका बोध जिन रूपों में हो सकता है उसका वर्णन श्लोक-२०, २१, २२ में किया गया है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो , ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु , नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परः तस्मात् तु भावः अन्यः अव्यक्तः अव्यक्तात् सनातनः । यः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

तु तस्मात् अव्यक्तात् परः -परंतु उस अव्यक्त से (जो ऊपर के श्लोकों में ब्रह्मा के रात्रि काल से इंगित की गई थी) श्रेष्ठ **अन्यः यः सनातनः अव्यक्तः भावः -** अन्य जो सनातन अव्यक्त सत्ता है **सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति-** वह सब भूतों के नाश होने पर (भी) नष्ट नहीं होती।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस् , तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते , तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः , तम् आहुः परमाम् गतिम् । यम् प्राप्य न निवर्तन्ते , तत् धाम परमम् मम ॥

अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः - (उपरोक्त सनातन) अव्यक्त सत्ता अक्षर है ऐसा कहा गया है, **तम् परमाम् गतिम् आहुः-** उसे परम गति कहते हैं, **यम् प्राप्य न निवर्तन्ते-** जिसको प्राप्त होकर वापस नहीं आते **तत् मम परमम् धाम -** वह मेरा परम धाम है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

पुरुषः सः परः पार्थ भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया । यस्य अन्तः-स्थानि भूतानि येन सर्वम् इदम् ततम् ॥

पार्थ- हे पार्थ ! **यस्य अन्तः-स्थानि भूतानि -** जिसके अंतर्गत सब भूत हैं, **येन इदम् सर्वम् ततम्-** जिससे यह सब व्याप्त है, **सः परः पुरुषः तु अनन्यया भक्त्या लभ्यः -** वह परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से प्राप्त होने वाला है।

ऊपर हमने श्लोक के शब्दार्थ दिए हैं। टीकाओं में इनकी व्याख्या यह मानकर की गई दिखती है कि इनमें आए तीनों संबोधन- परमगति, परमधाम और परम पुरुष- उस एक ही अव्यक्त अक्षर सनातन सत्ता के लिए आए हैं जिसे परमात्मा कहा जाता है। किंतु यह दृष्टि हमें पूर्णतः संतोषप्रद नहीं लगती। हमारी धारणा है कि इन तीनों श्लोकों में उस सत्ता की सुषुप्ति / जाग्रति की उन भिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है जिनका अधिक ब्यौरा अध्याय-१४ के अंतिम श्लोक (क्रमांक-२७, जो कि अध्याय-१५ के संपूर्ण विषय की प्रस्तावना है) में इंगित करके अध्याय-१५ में विस्तार से वर्णित किया गया है। यहाँ इन श्लोकों में उस विषय को बीज रूप में प्रयुक्त किया गया है।

श्लोक-२० में सर्वव्याप्त चेतन तत्व की प्रकृति तत्व से अलग पहचान इस रूप में व्यक्त की गई है कि प्रकृति तो अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त होने के एक सतत चक्र में परिवर्तित होती रहती है, जबकि चेतन सत्ता सदा अव्यक्त ही रहती है (अव्यक्त का अर्थ है हमारी ज्ञानेंद्रियों द्वारा ग्रहण न होने योग्य अवस्था)। यहाँ तो इस सार्वभौम सत्ता का नाम अथवा उसकी प्राप्ति का उल्लेख नहीं किया गया है किंतु, हमारा अनुमान है कि, यह उस सत्ता का ही वर्णन है जिसे अन्यत्र कई स्थानों पर

निर्गुण ब्रह्म कहा गया है। (श्लोक-१४.२७ में भगवान ने इसे अपनें चार समष्टिगत रूपों में से एक, पूर्णतः अक्रिय,निर्गुण ब्रह्म के रूप में इंगित किया है)। इसे उस परम सत्ता की सुषुप्त अवस्था कहा जा सकता है। कुछ साधक जो पूर्ण शांति चाहते हैं परम सत्ता के इसी रूप की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करतें है।

श्लोक-२१ और २२ में उस निर्गुण ब्रह्म के दो जाग्रत रूपों का परिचय दिया गया है। एक रूप का वर्णन श्लोक-२१ में यह कह कर कर दिया गया है कि वह ऐसी उच्च स्थिति (परमां गति) है जिसे प्राप्त कर लेने पर वापस आना नहीं होता अर्थात् जीवात्मा वर्तमान दुखालयम वाले पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्त हो जाता है। श्लोक-२२ में उसी ब्रह्म के जाग्रत रूप का, सब प्राणियों में जीवन के रूप में अभिव्यक्त होने वाली सत्ता का, परिचय दिया गया है, तथा उसकी प्राप्ति का साधन अनन्य भक्ति बताई है। इस रूप को परम पुरुष कहा गया है, अर्थात् पुर रूप शरीर में रहने वाली श्रेष्ठ चेतन सत्ता। स्पष्ट ही यहाँ परम पुरुष के रूप में समष्टि चेतन को इंगित करते हुए उसकी प्राप्ति का साधन एक निष्ठ भक्ति बताई गई है।

वार्ता के प्रारंभ से ही भगवान मानवीय विकास की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने की जो विभिन्न साधना पद्धतियाँ हैं उनको व्यक्ति अच्छे से समझ ले इस हेतु से उन्हे मुख्य दो वर्ग में बांट कर उनका वर्णन कर रहे हैं। सर्वप्रथम उन्होंने दूसरे अध्याय में ही इन्हें सांख्य और योग के रूप में वर्गीकृत किया (श्लोक-२.३९), फिर आगे (श्लोक-३.३ में) इनकी व्याख्या ज्ञानयोग और कर्मयोग के रूप में करके कर्मयोग की विवेचना अध्याय-३ और ४ में तथा ज्ञानयोग की विवेचना अध्याय-५ और ६ में करते हुए ज्ञानयोग के अंतर्गत आने वाले साधनों का वर्णन भी वहाँ कर चुके हैं। इसी प्रकार, वहाँ अध्याय-३ और ४ में कर्मयोग की विवेचना सृष्टि विकास के आधारभूत नियम के रूप में की गई थी (श्लोक-३.१०) फिर भी वह इस रूप में अधूरी थी कि सृष्टि विकास की नियामक सत्ता का ज्ञान उस पड़ाव तक नहीं दिया जा सका था। ७वें और ८वें अध्याय के इस चरण तक वह ज्ञान दिए जाने के बाद अब श्लोक-२२ में भक्ति के द्वारा उस परम पुरुष की प्राप्ति का उपाय यहाँ सूचित भर किया गया है, उसकी पूरी विवेचना आगे अध्याय-१२ में की गई है।

अब साधन-पथ संबंधित कुछ और महत्वपूर्ण गूढ़ वचन-

यत्र काले त्वनावृत्तिम् , आवृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं , वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

यत्र काले तु अनावृत्तिम् , आवृत्तिम् च एव योगिनः । प्रयाताः यान्ति तम् कालम् , वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

भरतर्षभ- हे भारतवंशियों के श्रेष्ठ अर्जुन! **यत्र काले प्रयाताः योगिनः -** जिस काल में प्रयाण करने वाले (ध्यान) योगी जन **तु अनावृत्तिम् च आवृत्तिम् एव यान्ति-** तो वापस न लौटने वाली गति को अथवा लौट कर आने वाली गति को ही प्राप्त होते हैं **तम् कालम् वक्ष्यामि-** उस काल को कहूँगा ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः , षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति , ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः , षण्मासाः उत्तर-आयणम् । तत्र प्रयाताः गच्छन्ति , ब्रह्म ब्रह्मविदः जनाः ॥

ब्रह्मविदः - ब्रह्म की उपासना करने वाले अग्निः **अहःशुक्लः उत्तर-आयनम् षण्मासाः तत्र ज्योतिः(काले)-** अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः माह - उनके प्रकाश (काल) में **प्रयाताः जनाः -** प्रयाण करने वाले लोग **ब्रह्म गच्छन्ति -** ब्रह्म को प्राप्त होते है ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः , षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः , योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूमः रात्रिः तथा कृष्णः षण्मासाः दक्षिण-आयनम् । तत्र चान्द्रमसम् ज्योतिः योगी प्राप्य निवर्तते ॥

तथा धूमः रात्रिः कृष्णः दक्षिण-आयनम् षण्मासाः तत्र (प्रयाताः) योगी- तथा धुँआ, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः महीनों के उस काल में प्रयाण करने वाला (ध्यान) योगी **चान्द्रमसम् ज्योतिः प्राप्य निवर्तते -** चंद्रमा की ज्योति (मन के आकर्षणों) को प्राप्त होकर (संसार चक्र में) वर्तन करता रहता है ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते , जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिम् अन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

शुक्ल-कृष्णे गती हि एते जगतः शाश्वते मते । एकया याति अनावृत्तिम् अन्यया आवर्तते पुनः ॥

हि शाश्वते मते जगतः एते शुक्ल-कृष्णे गती- वास्तव में यह शाश्वत मत है कि जगत के प्रकाशमय और अंधकारमय यह दोनों ही मार्ग हैं (अर्थ अर्थ लोगों को यह दोनों ही मार्ग हमेशा से उपलब्ध हैं), **एकया अनावृत्तिम् याति अन्यया पुनः आवर्तते-** एक से (जाने वाला) वापस नहीं लौटता, दूसरे से (जाने वाला) फिर वापस आता है ।

उपरोक्त श्लोकों (क्रमांक-२३ से २६) को कई विद्वानों ने अबूझ माना है और अन्य कई ने दिन/रात आदि कालपरक शब्दों के 'दिन / रात के अभिमानी देवताओं' द्वारा मृतात्मा को ले जाए जाकर ब्रह्म की अथवा पुनः इस संसार की प्राप्ति कराने की बात शांकर भाष्य से शब्दशः रख दी है जो गीता में प्रतिपादित विषय से किंचित भी मेल नहीं खाती। इसी कारण प्रसिद्ध चिंतक डॉक्टर भगवान दास ने सुश्री ऐनी बेसेंट के

साथ लिखी टीका में इन श्लोकों के बारे में लिखा- 'मैं इन श्लोकों के भावार्थ को समझ नहीं पाया हूँ... मुझे तो ये श्लोक गीता के मंतव्य के अनुकूल ही नहीं लगते।' इसी प्रकार, विनोबा ने 'गीताई' में इनके बारे में लिखा है- 'ये श्लोक गीता के अत्यंत कठिन श्लोक हैं'। शब्दार्थ लेने पर जो विसंगति उत्पन्न हो जाती है उसको उन्होंने एक उदाहरण देकर व्यक्त किया है... 'उत्तरायण में मरने वाला साधक ब्रह्म को प्राप्त होगा और कृष्ण पक्ष में मरने पर संसार में लौटेगा, परंतु दोनों के योग में अर्थात् उत्तरायण के कृष्ण पक्ष में मरा तो क्या होगा? निष्कर्ष यह कि यहाँ अक्षरार्थ लागू ही नहीं हो सकता'। इन श्लोकों के बारे में डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है- 'गीता के लेखक ने उस युग में प्रचलित एक विश्वास का उपयोग इस आध्यात्मिक सत्य को प्रकट करने के लिए किया है कि जो लोग अज्ञान की रात्रि में भटकते रहते हैं, वे पितरों के मार्ग से जाते हैं और पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, और जो लोग ज्ञान के प्रकाश वाले मार्ग पर चलते हैं वे पुनर्जन्म से मुक्ति पा लेते हैं।' स्पष्ट है कि यहाँ आध्यात्मिक भावार्थ की ओर संकेत तो कर दिया गया है किंतु प्रकाश / अंधकार की बढ़ती काल अवधि सूचक जिन शब्दों का इस श्लोक में प्रयोग हुआ है उसमें निहित भाव की व्याख्या नहीं हुई है और न ही अध्याय के विषय से तालमेल बैठ पाया है।

स्पष्ट है कि आध्यात्मिक अर्थ का और अधिक अनुसंधान करने की अभी आवश्यकता बनी हुई है। हम ऊपर यह मत व्यक्त कर चुके हैं कि ये श्लोक ध्यान मार्ग द्वारा उस परम सत्ता की प्राप्ति के विषय में कहे गए दिखते हैं जिसे प्राप्त करने पर वह पुनर्जन्म नहीं होता जिसे गीता ने 'दुखालयम्' शब्द से परिभाषित किया है। श्लोक-२४ के शब्द- 'अग्नि ज्योति, अह (दिन), शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छःमास'- क्रमशः बढ़ती काल-अवधि के द्योतक हैं। 'अग्नि की ज्योति' कुछ मिनटों की कालावधि को, 'दिन' कुछ घंटों, 'शुक्ल पक्ष' कुछ दिनों और 'उत्तरायण' कुछ महीनों की अवधि को व्यक्त करते हुए इस तथ्य को प्रकाशित कर रहे हैं कि ध्यान कभी सर्वकालिक नहीं होता, हाँ अभ्यास से उसकी कालावधी अवश्य बढ़ जाती है। अब ध्यान योगी का देह त्याग यदि उस काल में होता है जब वह निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में स्थित है तब तो वह 'ब्रह्मविद' अपने परम लक्ष्य 'ब्रह्म' को प्राप्त हो जाएगा (श्लोक-१३), अन्यथा उसको मृत्यु काल के चिंतन के अनुरूप पुनर्जन्म की प्राप्ति होगी। ध्यान मार्ग की एक और समस्या के प्रति भी यहाँ आगाह किया गया है। यदि चित्त की वृत्तियों का शोधन नहीं किया गया है तो ध्यान के बाद उसकी कोई भी वृत्ति उसको अपनी ओर खींच लेगी और फिर उस वृत्ति की कालावधि भी क्रमशः उसी प्रकार बढ़ती जाएगी जैसी कि अभ्यास द्वारा ध्यानावधि बढ़ाई जाती है। वृत्ति में फंसकर गिरावट की बढ़ती

कलावधियों को श्लोक-२५ में क्रमशः धूम (धुआं), रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन से इंगित किया गया है। यहाँ वृत्तियों द्वारा मन को खींच लिए जाने को 'चांद्रमसम ज्योति' कहा गया है क्योंकि चंद्रमा मन का प्रतीक माना जाता है। जैसे चंद्रमा सूर्य के प्रकाश को परिमार्जित करके हम तक उसे पहुंचाता है उसी प्रकार मन भी आत्मा के प्रकाश को वृत्तियों से आवृत्त करके जीवात्मा को प्रवृत्त करता है। ध्यान साधक को इन बातों को अच्छी प्रकार समझ कर सावधानीपूर्वक ही ध्यान मार्ग को अपनाना चाहिए यह बात ऊपर श्लोक-२६ और अगले श्लोक-२७ की प्रथम पंक्ति में कही गई।

नैते सृती पार्थ जानन् , योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु , योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

न एते सृती पार्थ जानन् , योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात् सर्वेषु कालेषु , योग-युक्तः भव अर्जुन ॥

पार्थ! एते सृती जानन् कश्चन योगी मुह्यति न- हे पार्थ ! (इस प्रकार) इन दोनों साधन पथों को (भली प्रकार) जानकर कोई भी साधक मोहित नहीं होता (वह उपयुक्त साधन पथ ही अपनाता है)। **तस्मात् अर्जुन! सर्वेषु कालेषु योग-युक्तः भव-** इसलिए, हे अर्जुन! (तू) सब काल में योग युक्त हो (अर्थात् मुझ से सतत युक्त होकर कर सकने वाला निष्काम कर्म रूप कर्मयोग का साधन पथ ग्रहण कर) ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु च एव, दानेषु यत् पुण्य-फलम् प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वम् इदम् विदित्वा, योगी परम् स्थानम् उपैति च आद्यम् ॥

योगी इदम् विदित्वा- कर्मयोगी इसे (अर्थात् ध्यान मार्ग की उक्त कठिनाई को) जानकर **च यज्ञेषु दानेषु तपःसु वेदेषु-** और यज्ञ दान,तप करने में वेदों में **एव यत् पुण्य-फलम् प्रदिष्टम्-** जो पुण्यफल निर्दिष्ट हैं, **तत् सर्वम् अत्येति-** उन सबको छोड़ देता है **च आद्यम् परम् स्थानम् उपैति -** तथा आदि पुरुष रूप परमधाम को प्राप्त होता है।

निष्कर्ष रूप में कहे गए उपरोक्त दो श्लोकों में योग शब्द का संदर्भ भगवत् भाव के साथ कर्मयोग अर्थात् भक्ति योग से है जिसका आचरण करने पर व्यक्ति अध्यात्म की सर्वोच्च स्थिति (परम् स्थानम्) को प्राप्त होता है।

इन दो श्लोकों में भगवान ने भगवत् भाव सहित कर्मयोग के साधक की (अर्थात् भक्ति के साधक की) उपलब्धि को अन्य साधकों की अपेक्षा श्रेष्ठतम तो बताया ही है, उसके दो कारण भी गिनाए हैं। एक तो यह कि साधक इसे 'सर्वेषु कालेषु' अर्थात् निद्रा के अतिरिक्त हर समय ही इसमें रत रह सकता है, यहाँ तक कि भोजन, प्राणायाम आदि भी वह 'यज्ञ भाव' (श्लोक-४.२९,३०) से अर्थात् इस भाव से कर सकता है कि शरीर को स्वस्थ और ऊर्जावान रखने हेतु आवश्यक ये कार्य भी परमात्मा की इच्छा अनुरूप सर्व हिताय कार्य कर सकने के लिए आवश्यक होने से कर्मयोग साधना के ही अंग हैं। अन्य साधनाएं, कितना भी अभ्यास बढ़ा लिया जाए इस प्रकार का 'सर्वेषु कालेषु' न होकर समय सीमा में बद्ध ही होंगी, जैसा कि श्लोक-२४ में निरूपित किया गया है।

दूसरा लाभ कर्मयोग साधना पथ का यह है कि साधक की स्वार्थवृत्ति शनैः शनैः जड़-मूल से समाप्त होती जाती है, यहाँ तक कि वेदों में वर्णित कर्मज यज्ञों (कर्म फल उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के द्रवमय यज्ञों, श्लोक-४.३२,३३) तथा दान, तप आदि पुण्य कार्य करने की वासनाओं से भी वह मुक्त हो जाता है (श्लोक-२८)। इस प्रकार, उसकी आत्म-शुद्धि होते जाने से परमात्म प्राप्ति में 'मैं और मेरा' की जो मुख्य बाधा है उसका लोप हो कर सफलता सुनिश्चित हो जाती है।

अध्याय-८ की विषय-वस्तु का विहंगावलोकन और विवेचना

सर्वव्यापी चेतन सत्ता की व्यक्ति में तथा समष्टि में अभिव्यक्ति का वर्णन करते हुए उसके मूल स्वरुप की प्रत्येक अनुभूति किस रूप में और किस प्रकार हो सकती है यह वर्णन अध्याय-८ का मूल विषय है। इसके पूर्व अध्यात्म पथ पर आगे बढ़ने के मार्गों की विवेचना अध्यय-३ से ६ में उन्हें मुख्य दो संवर्ग में रखकर की गई थी। एक संवर्ग था- निष्काम कर्म मार्ग (अध्याय-३ और ४), और उसके साथ परमात्म भाव संयुक्त करने पर भक्ति मार्ग (श्लोक-४.३, ४.११, १२.६ से १२) तथा दूसरा संवर्ग था- कर्मसंन्यास मार्ग जिसके अंतर्गत मुख्य दो विधाओं- ज्ञान मार्ग (श्लोक-५.१३ से २४) और ध्यान मार्ग(श्लोक-६.१० से २३)- की विस्तृत विवेचना की गई थी। इस प्रकार, प्रमुखता से तीन मुख्य मार्गों का उनकी उपलब्धियों सहित परिचय कराया गया था। साधक अपनी मन:स्थिति के अनुरूप परम लक्ष्य और मार्ग का चयन कर सके इस हेतु से भगवान ने पहले अध्याय-७ में सर्वव्यापी परमात्म सत्ता का सामान्य परिचय देकर अध्याय-८ में उस सत्ता के उन कुछ प्रमुख रूपों का- ब्रह्म / ब्रह्मनिर्वाण / परम

पुरुष का- संक्षिप्त विवरण और उनकी प्राप्ति की विधियों की जानकारी दी। इस वर्णन में दो महत्वपूर्ण बिंदु ऐसे हैं जिन पर हमें अवश्य ध्यान देना चाहिए। यें बिंदु है-

1. भगवान ने दूसरे मार्गों की अपेक्षा निष्काम-कर्म /भक्ति मार्ग की विशेषता यह बताई है कि जहाँ अन्य मार्गो में परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्त यह रहती है कि साधक प्राण त्यागते समय उस भाव का ही स्मरण करें जो वह मृत्यु उपरांत प्राप्त करना चाहता है, कर्मयोग / भक्ति मार्ग में ऐसी किसी शर्त या प्रतिबन्ध का अनुपालन होना आवश्यक नहीं होता। भक्ति मार्ग का साधक तो सब समय ही कर्मों को ईश्वर की सेवा के रूप में ही करता है। वह तो किसी भी प्रकार की, यहाँ तक कि आध्यात्मिक कामना भी अर्थात् कोई उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं रखता। वह तो परम सत्ता की इच्छा पर अपने को समर्पित कर चुका होता है, अतः उसे 'अंतकाले स्मरण भावं' वाली शर्त पूरी करने हेतु प्राणों पर ऐसा नियंत्रण प्राप्त करा देने वाली योगिक सिद्धि प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती, जबकि अन्य साधक जो ब्रह्म / ब्रह्मनिर्वाण / मोक्ष आदि स्थितयां अपने लिए प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए वह 'अंतकाले' वाली शर्त पूरी होना आवश्यक होती है।

2. कर्मयोग मार्ग में क्योंकि भक्त की कोई व्यक्तिगत कामना रहती ही नहीं, उसका 'मैं' भगवत्-सत्ता से एकाकार होकर अथवा उस का दास होकर भगवत् इच्छानुरूप सबका हित साधने वाले कर्म संपन्न करने के लिए, सबके परम विकास में सहायक बनने के लिए, वह चिरकाल तक बना रहता है। आध्यात्मिक साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण वर्णित हैं।

नवमः अध्यायः

भगवत् सत्ता के 'विज्ञान-स्वरुप' का वर्णन

वस्तुतः अध्याय-९, अध्याय-७ का ही संपूरक है। भगवान ने अध्याय-७ के प्रारंभ (श्लोक-१,२) में कहा था कि मैं उस विज्ञान सहित ज्ञान को कहूँगा जिससे तू 'मेरे' परायण होकर कर्मयोग में संशय रहित होकर लग सकेगा। इस हेतु से वहाँ उन्होंने जगत में अर्थात् प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपनी अव्यक्त उपस्थिति का वर्णन करते हुए यह कहा था कि मनुष्य की मन-बुद्धि पर अज्ञान रूपा प्रकृति का जब तक घना आवरण (अर्थात् तमोगुण) रहता है उसका स्वभाव आसुरी और कर्म 'दुष्कृत' श्रेणी के होते हैं (श्लोक-७.१५)। उसके परिणाम स्वरुप होने वाले दुखों से जब कभी चेतना में जाग्रति आती है तो वह सुकर्मों की ओर मुड़ कर क्रमशः अर्थार्थी,आर्त (रजोगुण स्थितियाँ) तथा जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त (इन सत्व गुणी स्थितियों को प्राप्त करने वाला) हो जाता है(श्लोक-७.१६, १७)। मन-बुद्धि प्रकृति के अज्ञानांधकार से जब मुक्त हो जाते हैं तो परमात्म सत्ता को समष्टि में ब्रह्म, अध्यात्म और विकासकारक कर्मों में (श्लोक-७.२९, द्वितीय पंक्ति), तथा व्यक्ति में अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ के रूप में(श्लोक-७.३०) जानने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। अध्यात्म पथ के इन पारिभाषिक शब्दों को समझने और उस परमात्म सत्ता को कोई व्यक्ति कैसे प्राप्त कर सकेगा तत् संबंधी अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर अध्याय-८ के विषय थे। उसके बाद भगवान अब पुनः उस ज्ञान-विज्ञान के शेष रहे विषय की विवेचना अध्याय-९ में करने जा रहें है।

अध्याय-९ के विषय को संदर्भ सहित भली-भांति समझने हेतु ऊपर हमने अध्याय-७ का जो सिंहावलोकन प्रस्तुत किया है उससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि वहाँ भगवान ने मुख्य रूप से ज्ञान का ही वर्णन किया है अर्थात् सृष्टि में परमात्म सत्ता की उपस्थिति का ही वर्णन किया है, विज्ञान अर्थात् सृष्टि में चल रहे क्रियाकलापों में उस सत्ता के निर्देशक होने की भूमिका का जो वर्णन रह गया था उसे, तथा इस ज्ञान-

विज्ञान को जान लेने से व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास में क्या सहायता प्राप्त होगी यह वर्णन इस अध्याय में किया जा रहा है।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं , प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं , यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

इदम् तु ते गुह्यतमम् , प्रवक्ष्यामि अनसूयवे । ज्ञानम् विज्ञान-सहितम् , यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभात् ॥

भगवान ने कहा- **ते अनसूयवे-** तुमको, जो कि दोष दृष्टि युक्त बुद्धि के नहीं हो (अर्थात् निर्मल मन हो) **तु इदम् गुह्यतमम् विज्ञान-सहितम् ज्ञानम् प्रवक्ष्यामि-** अब मैं यह विज्ञान सहित गहन ज्ञान कहता हूँ, **यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे-** जिसे जानकर तुम अशुभ से अर्थात् संसार के बंधनों से मुक्त हो जाओगे।

तु : इस शब्द का प्रयोग 'परंतु' आदि अनेक अर्थों में होता है। यहाँ 'अब' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ दिखता है क्योंकि अध्याय-७ के शेष विषय को भी आगे बढ़ाया जा रहा है।

गुह्यतमम् : भगवान ने गीता में परम् गुह्य और गुह्यतम शब्दों का प्रयोग जहाँ-जहाँ किया है (श्लोक-९.१, १५.२०, १८.६३, ६४) वहाँ परमात्म ज्ञान के संबंध में ही किया है जिसका अर्थ है कि अन्य ज्ञान तो बुद्धि स्तर पर भी उपयोगी होतें है किंतु परमात्म ज्ञान अर्थात् सब में परमात्मा की उपस्थिति का ज्ञान तो उससे गहरे स्तर पर- अनुभव और क्रियात्मक स्तर पर- ले जाने पर ही यह महत्वपूर्ण बनता है। इसीलिए इस ज्ञान को गुह्यतम कह कर यह बताया गया है कि इस ज्ञान को केवल शाब्दिक स्तर पर ग्रहण करने से वांछित (दुख रूप संसार से मुक्ति प्राप्ति का) परिणाम नहीं प्राप्त हो सकेगा, उस हेतु हमें इस ज्ञान को व्यवहार में लाना होगा।

ज्ञान, विज्ञान : इस संबंध में सातवें अध्याय में जो वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है सब में परमात्म तत्व की उपस्थिति का बोध, अतः विज्ञान का अर्थ होगा उस ज्ञान का कोई विशिष्ट रूप। वह विशिष्टता अनुभव के स्तर वाली हो सकती है जैसा कि आज हम भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग द्वारा सिद्ध की जाने वाली जानकारी को 'विज्ञान' कहते हैं, और इसी रूप में इस शब्द की व्याख्या अधिकांश टीकाकारों ने की भी है। किंतु यहाँ हम दो कारण से एक भिन्न अर्थ पर भी विचार करना चाहेंगे। एक तो भगवान ने अध्याय-७ में किसी साधना की प्रायोगिक विधि का वर्णन नहीं करते हुए प्रकृति की विभिन्न रचनाओं में अपनी उपस्थिति से

होने वाले क्रियाकलापों का विशेषत: विकासात्मक गतिविधियों का, वर्णन किया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान के इस पक्ष को भी संभवतः उन्होंने विज्ञान कहा है। दूसरे, साधक द्वारा अनुभव किए जाने वाले ज्ञान को विज्ञान के रूप में जो व्याख्या की जाती है, वह भाव तो, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, 'गुह्यतम' शब्द से भी इंगित किया जा चुका है, अतः यहाँ 'विज्ञान' शब्द से उनकी सत्ता द्वारा संपन्न होने वाली समावेशी एकीकरणी (integrating) और विकासात्मक गतिविधियों को व्यक्त करने वाला अर्थ भी लिया जाना उपयुक्त होगा।

यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे : अशुभ से मोक्ष अर्थात् प्रकृति से मुक्ति। प्रकृति क्रियाशक्ति है किंतु उसमें ज्ञान नहीं होने से वह अशुभ है। जब तक व्यक्ति इस ज्ञान शून्य प्रकृति के परवश रहेगा वह दुखों से मुक्त नहीं होगा। जब वह इस बात को जान लेगा तो प्रकृति से मुक्त होने का, ज्ञान रूप परमात्मा को प्राप्त करने का, प्रयत्न अवश्य करेगा।

राजविद्या राजगुह्यं , पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं , सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

राज-विद्या राज-गुह्यम् , पवित्रम् इदम् उत्तमम् । प्रत्यक्ष-अवगमम् धर्म्यम् सुसुखम् , कर्तुम् अव्ययम् ॥

इदम् राज-विद्या राज-गुह्यम्- यह (विज्ञान सहित ज्ञान) विद्याओं में श्रेष्ठतम है, गहनतम है, **पवित्रम् उत्तमम्-** सबसे अधिक पवित्र है, **प्रत्यक्ष-अवगमम्-** यह प्रत्यक्ष अनुभव गम्य हैं, **धर्म्यम् अव्ययम्-** धारण करने योग्य है (और) अनश्वर है, **कर्तुम् सुसुखम्-** करने में अत्यंत सरल है।

यहाँ ज्ञान-विज्ञान की जो महत्ता बताई गई है उसके लिए प्रत्येक शब्द गहन अर्थ से परिपूर्ण है। गंभीर अर्थों से युक्त यें शब्द है-

राज विधा राज गुह्यं : विद्या का यहाँ अर्थ है- ज्ञान, विज्ञान। यह विद्या साधारण न होकर व्यक्ति के लिए और समाज के लिए अत्यंत महत्व की है यह बात अब जबकि इस विद्या की कुछ जानकारी अध्याय-७ में हम को दी जा चुकी है, कहीं जा रही है ताकि यहाँ इस श्लोक में वर्णित किए जा रहे इस विद्या के महत्व को हम समझ सकें और आगे वर्णित किये जाने वाले इसके जो दूसरे पहलू भगवान बताने जा रहे हैं उन्हें हम पूरा ध्यान देकर सुनें और उन्हें जीवन में उतारें।

इस ज्ञान-विज्ञान को सर्वाधिक गुह्य अर्थात् छिपा हुआ या अप्रकट क्यों कहा गया इसे आगे श्लोक-४ से ११ की विवेचना के बाद समझना सरल होगा अतः इस पर हम तब

विचार करेंगे।

पवित्रम् उत्तमम् : यह विद्या सर्वाधिक शुद्धि प्रदान करने वाली है। हमारी अशुद्धि क्या है? अपने को श्रेष्ठ समझना और दूसरों को हेय समझना यह सबसे बड़ी अशुद्धि है। सब में परम सत्ता की उपस्थिति जानते हुए तदनुरूप व्यवहार करना यही उत्तम पवित्रता है। परमात्मा की इसी सर्व व्यापकता को जानना ही विद्या है जिसका वर्णन भगवान अध्याय-७ में कर चुके हैं तथा अब आगे और करने वाले हैं।

धर्म्यं अव्ययम् : धर्म्यं का अर्थ है धर्म सम्मत या धर्म युक्त कार्य। धर्म क्या है इसकी व्याख्या कई प्रकार से की गई है। शब्दकोश में परिभाषा दी गई है- 'धर्मः धरति लोकं वा' अर्थात् वह जिससे लोक का प्ररक्षण होता है, समाज की व्यवस्था सुचारू चलती है, धर्म है। दूसरे शब्द 'अव्ययं' का अर्थ है शाश्वत और भावार्थ है आत्मा / परमात्मा। अतः ज्ञान-विज्ञान रूप विद्या को 'धर्म्यं अव्ययम्' कह कर यह बताया गया है कि परमात्मा की सर्व व्यापकता को जानकर तदनुरूप व्यवहार करने पर जहाँ एक ओर सामाजिक समरसता सुदृढ़ स्थापित होगी, वहीं वह परम सत्ता उस व्यक्ति को भी अपने में समाहित करके उसे अमृतत्व प्रदान करेगी। इसी बात को भगवान ने विभिन्न शब्दों में बार-बार दोहराया है- उदाहरणार्थ, धर्म्य-अमृतं (श्लोक-१२.२०), माम् अनुस्मर युद्ध च (श्लोक-८.७), स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्ये(श्लोक-१८.४६), आदि कथनों का भी यही भाव है।

प्रत्यक्ष अवगमम् : कोई भी इस सत्य का स्वयं अनुभव कर सकता है, वह प्रतिदिन के जीवन में, कार्य में इसका अभ्यास करके कथन की सत्यता को परख सकता है।

सुसुखं कर्तुम् : करने में सरल है अर्थात् अभ्यास करना और उक्त कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करना वैसा दूरुह नहीं है जैसा कि अनेक बार आध्यात्मिक मार्ग को बना दिया जाता है। स्वामी रंगनाथानंद कहते हैं- 'कुछ लोग तो ऐसा धर्म चाहते हैं जो रहस्यमय हो, अग्रहाय हो... अनेक लोगों के लिए ब्रह्मविद्या वह है जिसे समझा नहीं जा सकता..., यहाँ तक कि 'ब्रह्मविद्या' शब्द का अनुवाद हमारे देश की अनेक विवेचनाओं में कुछ न समझा जा सकने योग्य सत्य के रूप में किया जाता है। लेकिन गीता और श्रीकृष्ण इस विषय को 'प्रत्यक्षावगमम्' और 'सुसुखं कर्तुं' कहकर निर्देश दे रहे हैं कि अभ्यास करने पर परिणाम सरलता से और निश्चित रूप से प्राप्त होता है और वह व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में संबंधों को- पति / पत्नी तथा अन्य सभी के साथ- श्रेष्ठता प्रदान करता हुआ अधिक सुख और शांति का अनुभव करता है। इस

प्रकार जो सुख,शांति और आनंद वह अनुभव करता है, वस्तुतः वह परमात्म सत्ता की ही अनुभूति है जिसे मांडूक्योपनिषद(मंत्र-७) और गीता (श्लोक-१४.२९) में उस सत्ता का चतुर्थ पाद (अर्थात् उसकी अभिव्यक्ति के चार वर्ग में से एक) कहा गया है।

किंतु जो उक्त सत्य का परीक्षण करने को भी तैयार न होकर अपनी मन-मर्जी से जीवन यापन करते हैं उसका क्या परिणाम होता है यह बात अगले श्लोक (क्रमांक-३) में बताई जा रही है-

अश्रद्दधानाः पुरुषा , धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते , मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

अश्रद्दधानाः पुरुषाः , धर्मस्य अस्य परन्तप । अप्राप्य माम् निवर्तन्ते , मृत्यु-संसार-वर्त्मनि ॥

परन्तप- हे शत्रुमर्दन अर्जुन! **अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः -** इस धर्म की श्रद्धा से विहीन व्यक्ति **माम् अप्राप्य-** मुझको न प्राप्त होकर **मृत्यु-संसार-वर्त्मनि निवर्तन्ते-** मृत्यु रूप संसार-पथ में वर्तन करते रहते हैं (अर्थात् पुनर्जन्म चक्र में फंसे रहते हैं) ।

अश्रद्दधानाः पुरुषाः - श्रद्धा रहित पुरुष। श्रद्धा क्या और किस विषय में? किसी विषय में चिंतन मनन के पश्चात् बने पक्के विश्वास या भरोसे को ही श्रद्धा कहा जा सकता है। यहाँ श्रद्धा का विषय है भगवान इस विश्व को संचालित करने वाली जिस शक्ति का वर्णन (अध्याय-७) में कर चुके हैं तथा अब आगे और करने जा रहे हैं, उसके वास्तविक रूप में होने के बारे में दृढ़ विश्वास। इस सत्ता के बारे में जिन्हें श्रद्धा नहीं होती भगवान ने उनके स्वभाव का वर्णन यहाँ आगे (श्लोक-१२ में) तथा उनके सोच-विचार और व्यवहार के बारे में वर्णन आसुरी संपदा के रूप में आगे अध्याय-१६ (सारांश श्लोक-९.८ और सविस्तार श्लोक-९.७ से १८ में) किया है।

ज्ञान-विज्ञान की महत्ता का इस प्रकार वर्णन करने के बाद अब कुछ श्लोकों (क्रमांक-४ से १०) में वे उस कार्य रूप विज्ञान का वर्णन कर रहे हैं जो उनकी उपस्थिति के कारण प्रकृति में क्रियान्वित होते हैं-

मया ततमिदं सर्वं , जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि , न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मया ततम् इदम् सर्वम् , जगत् अव्यक्त-मूर्तिना । मत्-स्थानि सर्व-भूतानि , न च अहम् तेषु अवस्थितः ॥

मया अव्यक्त-मूर्तिना इदम् सर्वम् जगत् ततम् - मुझ अव्यक्त स्वरूप से यह सब जगत व्याप्त है **च सर्व-भूतानि मत्-स्थानि-** और सब प्राणी मेरे (असत स्वरूप) में स्थित हैं, **अहम् तेषु न अवस्थितः-** मैं उनमें (संपूर्णता से) स्थित नहीं हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि , पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो , ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

न च मत्-स्थानि भूतानि , पश्य मे योगम् ऐश्वरम् । भूत-भृत् न च भूत-स्थः , मम आत्मा भूत-भावनः ॥

च भूतानि मत्-स्थानि न- और (वे) भूत मुझमे पूर्णत: स्थित नहीं है, **मे ऐश्वरम् योगम् पश्य-** मेरी ईश्वरीय शक्ति और योग शक्ति को देख (कि) **भूत-भृत् च भूत-भावनः मम आत्मा न भूत-स्थः-** भूतों का पोषण करने वाली और भूतों को उत्पन्न करने वाली मेरी शक्ति भूतों में नहीं है।

यथाकाशस्थितो नित्यं , वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि , मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

यथा आकाश-स्थितः नित्यम् , वायुः सर्वत्रगः महान् । तथा सर्वाणि भूतानि , मत्-स्थानि इति उपधारय ॥

यथा सर्वत्रगः वायुः नित्यम् महान् आकाश-स्थितः- जैसे सर्वत्र विचरने वाला वायु सदा महान आकाश में ही स्थित है, **तथा सर्वाणि भूतानि मत्-स्थानि इति उपधारय-** उसी भांति सब भूत प्राणी मुझ में स्थित हैं, ऐसा जान ।

गीता के उपरोक्त श्लोक बहुत गहन और महत्वपूर्ण है। भगवत् सत्ता को बुद्धि से भी समझने के लिए इन श्लोकों में इंगित तथ्यों को हमें भली-भांति समझ लेना चाहिए। तथ्यों की विवेचना से पूर्व कुछ शब्दों पर हम विचार करना चाहेंगे।

अव्यक्त मूर्तिना : भगवान ने कहा है कि मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह सब जगत व्याप्त है। यहाँ अव्यक्त का अर्थ है भगवान को हम अपनी इंद्रियों द्वारा उस प्रकार ग्रहण नहीं कर सकते जैसा कि पंचभौतिक जगत को करते हैं। अतः उसकी उपस्थिति को हमें सूक्ष्म बुद्धि से समझना होगा और फिर अनुभूति शक्ति को अपने में विकसित करके उसे जानना होगा।

योगम् ऐशवरम् : इन दोनों शब्दों का संयुक्त प्रयोग यहाँ (श्लोक-९.५) के अतिरिक्त अध्याय-११ (श्लोक-८) में भी हुआ है। दोनों स्थलों पर भगवान ने अपना 'योगम् ऐशवरम्' को देखने का कह कर आगे जो कुछ वर्णन किया है उससे यह प्रकट हो जाता है कि गीताकार का इन शब्दों से क्या तात्पर्य है। प्राणियों में भगवान की दो प्रकार की शक्तियां ('मम आत्मा') काम कर रही हैं इस तथ्य को हम देख और समझ सकते हैं। ये दो कार्य हैं- 'योगम्' अर्थात् जोड़ने का कार्य, समन्वय का कार्य, अवयवों को मिलाकर एकीकरण (integration) करना और 'ऐश्वर्यम्' अर्थात् नियंत्रण करना / शासन करके अभिवृद्धि, उन्नति और विकास (evolution) का कार्य। अनेक कोशिकाओं को समन्वित करके एक-एक अंग का निर्माण, विभिन्न अंगों के कार्यों

को समन्वित करके पूरे शरीर को प्राणवान बनाना आदि, हमारे शरीर की असंख्य जैविक क्रियाओं को भगवान की 'योगम्' शक्ति तथा नियंत्रण / शासन व्यवस्था स्थापित करके विकास स्थापित करने वाली शक्ति को 'ऐश्वर्यम्' के रूप में वर्णित किया गया है। 'ऐश्वर्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'ईश' से हुई है जिसका अर्थ है शासन करना, नियंत्रण करना। प्रकृति को नियंत्रित करके ही भगवान प्रकृति की रचनाओं का विकास करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप उस में भगवत् चेतना की अधिकाधिक अभिव्यक्ति संभव होती है और इसी प्रक्रिया को हम विकास कहते हैं। गीता में भगवान ने इस प्रक्रिया का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है, उदाहरणार्थ श्लोक-१५.१२ से १५ में सूर्य की उत्पत्ति से लेकर मनुष्य में ज्ञान की पूर्णता तक की विकास प्रक्रियाओं का दिग्दर्शन कराया गया है, और इस अध्याय के आगे के कुछ (श्लोकों-९.७ से १०) में भी जीव जगत के विकास का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसी प्रकार, अध्याय-११ में भगवान ने अनेक प्रकार के जिन दिव्य रूपों का दर्शन कराया है वह वस्तुतः उनकी इसी विकास शक्ति का दिग्दर्शन है जिसे उन्होंने वहाँ उसे अपना रूपम्-ऐश्वर्यम् / योगम्-ऐश्वर्यम् कहा है (श्लोक-११.३, ५, ८, ९, १६)। 'रूपम्' शब्द से तो उन्होंने स्पष्ट ही प्रकृति को इंगित कर दिया है।

सर्व भूतानि मत्स्थानि, अहम तेषु अवस्थितः न (श्लोक-४) **:** यहाँ जो यह कहा गया है कि सब भूत (प्राणी) 'मुझ' में स्थित हैं (किंतु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ, इस कथन के संबंध में दो बिंदुओं पर चर्चा करना उपयुक्त होगा। १. यहाँ 'न अवस्थित' शब्दों का अर्थ उससे भिन्न प्रतीत होता है जैसा कि अधिकांश टीकाओं में 'स्थित नहीं हूँ' ऐसा कर दिया गया है। अगले श्लोक में भगवान ने कहा कि 'न च मत्स्थानि भूतानि' (और वे सब भूत मुझ में स्थित नहीं है), तो दोनों कथनों में जो विरोधाभास हो जाता है उसका समाधान परक निराकरण टीकाकारों के भरसक प्रयत्नों के बाद भी हो नहीं सका है (जैसा कि आगे प्रस्तुत की गई हमारी विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा)। अतः ' न अवस्थित' का अर्थ हमने किया है- 'मैं' उन में संपूर्णतः स्थित नहीं हूँ, अर्थात् 'मैं' अकेला तत्व ही उनमें नहीं हूँ, प्रकृति तत्व भी उनमें क्रियाशील है। (अवस्थित शब्द की पूर्ण विवेचना कृपया आगे देखें)। २. 'सब प्राणी मुझ में स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ' इस कथन को भगवान द्वारा आगे वर्णित अपने सत-असत (श्लोक-९.१९) और अक्षर-क्षर पुरुष (श्लोक-१५.१६) के वर्णनों के परिपेक्ष से भी समझा जा सकता है। भगवान अर्थात् सर्वव्यापी चेतन तत्त्व का सत स्वरूप वह है जो जन्म-जन्मांतर तक संस्थित (कायम) रहता है, इसे ही भगवान ने अक्षर-पुरुष भी कहा है और आजकल इस सत्ता को जीवात्मा नाम से संबोधित किया जाता है। मनुष्येतर प्राणियों

का जीवन भी भगवान की चेतन सत्ता का कनिष्ठ रूप है, इनमें (और मनुष्य में भी) जो प्राणिक चेतना है उसे भगवान का असत रूप (श्लोक-९.१९) अथवा क्षर-पुरुष (श्लोक-१५.१६) कहा गया है। इन वर्णनों के संदर्भ से उक्त वचन की विवेचना करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि 'सब प्राणी मुझ में स्थित हैं' का अर्थ है कि 'वे मेरे असत स्वरूप में स्थित हैं' और 'मैं उन में स्थित नहीं हूँ' का अर्थ होगा कि 'उनमे मेरा सत स्वरूप स्थित नहीं है'। इसी प्रकार इन वचनों की क्षर-पुरुष और अक्षर-पुरुष के रूप में भी व्याख्या की जा सकती है।

विरोधाभासी वचन : 'मत्स्थानि सर्व भूतानि, न च मत्स्थानि भूतानि' इन कथनों की व्याख्या टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से की है। शांकर भाष्य में इन विरोधाभासी वचनों की व्याख्या आसक्ति-अनासक्ति के आधार पर की गई है तो ज्ञानेश्वरी में इसे परमात्मा के संकल्प से सृष्टि का निर्माण होने का और उस संकल्प के लोप होने से प्रलय होने का वर्णन माना गया है। तिलक ने उनकी व्याख्या परमात्मा के सगुण और निर्गुण अवस्थाओं के आधार पर की है। डॉ. भगवान दास-एनीबेसेन्ट ने इसे परमात्मा की रहस्यमयता, स्वामी चिन्मयानंद ने वेदांतिक मायावाद और स्वामी रामसुखदास ने इसे द्वैत-अद्वैत दृष्टि का भेद माना है तो स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने इन्हे जिज्ञासु और तत्वज्ञ दृष्टि भेद बताया है। इसी प्रकार, विनोबा ने इन विपरीत कथनों को ज्ञान की भिन्न भूमिकाओं पर आधारित वचन कहे हैं। इस प्रकार, विरोधाभास के निराकरण के अनेक प्रयास हुए है, किंतु इन व्यख्याओं से आगे कहे गए श्लोकों से संबंध बैठता दिखाई नहीं देता। इस कारण हमें इस विषय पर नए सिरे से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

गीता ने यह स्थापित किया है कि सभी प्राणियों की रचना प्रकृति और पुरुष इन दो मूल तत्वों से हुई है। (श्लोक-७.४,५; १३.१९; १८.४०) अतः चर्चानुगत विषय को हम इसी परिपेक्ष में समझने का प्रयास करेंगे।

वस्तुतः न केवल उपरोक्त विरोधाभासी कथन वरन् श्लोक-६ से ११ भी तभी भली प्रकार समझ में आ पाते हैं जब हम इनको प्रकृति-पुरुष की केमिस्ट्री अर्थात् इनके कार्य करने की विधि को समझ लेते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि प्रकृति है क्रियाशक्ति और पुरुष है ज्ञान शक्ति। पुरुष विहीन प्रकृति से जो भी क्रियाएं होगी वे ज्ञान शून्य होने के कारण गड़बड़कारी होंगी, विकास के विपरीत होकर ध्वंसकारी होंगी। पुरुष तत्त्व प्रकृति को वश में करके प्रकृति से विकास युक्त कर्म करवाता है। जिस क्षेत्र में पुरुष प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित कर लेता है उस क्षेत्र में तो प्रकृति की

रचना में विकासात्मक परिवर्तन हो जाता है अर्थात् उस नई रचना में पुरुष तत्त्व की अभिव्यक्ति और अधिक संभव होकर वह रचना और अधिक चैतन्य हो जाती है। इस प्रकार का परिवर्तन ही विकास कहलाता है। क्योंकि प्रकृति मूलतः यदृच्छा या संयोग (chance) के आधार पर कार्य करती है अतः उन क्षेत्रों में जहाँ प्रकृति का वर्चस्व अभी दूर नहीं हुआ होता प्रकृति की अज्ञान मुलक क्रियाएं उक्त विकास को भी हानि पहुंचाती हैं। इस कारण पुरुष तत्त्व सर्वव्यापी होकर भी उसकी अभिव्यक्ति सभी प्राणियों में समान नहीं होती।

यहीं आगे (श्लोक-९.७ से १० में) भगवान ने कहा है कि यद्यपि संपूर्ण चर-अचर प्राणियों की रचना वे स्वयं ही (अपनी अपरा-परा प्रकृति से) करते हैं किंतु उन प्राणियों में पुरुष (अर्थात् चेतन) तत्व की शक्ति प्रकृति की अपेक्षा न्यून होने के कारण वे प्रकृति के बल से परतंत्र रहते हैं। मनुष्य भी उस परतंत्रता से तभी मुक्त हो पाता है जब वह विशेष प्रयास द्वारा अपने मन-बुद्धि-अहंकार (रूप सूक्ष्म शरीर) को परिमार्जित करके पुरुष तत्त्व को प्रबलता से धारण करने योग्य बना ले (श्लोक-९.१२ से १५)। इस प्रकार संपूर्ण विषय (श्लोक-४ से १५) के परिपेक्ष में उपरोक्त विरोधाभासी दिखने वाले वचनों की 'अविरोधात्मक' व्याख्या इस प्रकार करना उचित होगा- भूतों (अर्थात् प्राणियों) में 'मैं' स्थित हूँ, किंतु पूर्ण रूप से नहीं। उनमें 'मैं' पूर्णत: अभिव्यक्त नहीं हो रहा हूँ। उनका जीवन मेरी ज्ञान सत्ता से कम, प्रकृति की अज्ञान मूलक यदृच्छा या संयोग आधारित क्रियाशक्ति से अधिक संचालित है। वस्तुतः मनुष्य के सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन-बुद्धि-अहंकार के क्षेत्र पर प्रकृति का वर्चस्व ही उसके जीवन को दुखमय करने का एक बड़ा कारण है और इन दुखों से मुक्ति की इच्छा ही उसे परमात्म प्राप्ति की ओर अभिमुख करती है।

यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि डॉ. राधाकृष्णन ने श्लोक-४ के वचन 'न च अहम् तेषु अवस्थित: - मैं उनमें निवास नहीं करता' की व्याख्या में तो यह बात कही है कि 'संसार के रूप उस परमेश्वर को पूरी तरह न तो अपने अंदर रखते हैं और न ही उसे व्यक्त करते हैं' किंतु इस भावार्थ का उपयोग उन्होंने उपरोक्त विरोधाभास के निराकरण में नहीं किया।

भूत-भृत न च भूतस्थः मम आत्मा भूत-भाव नः, पश्य में योगम् ऐश्वरम् (श्लोक-५) : भूतों अर्थात् प्राणियों में 'मेरी' शक्ति (मम आत्मा) क्या है, क्या नहीं है? यह विवेचना यहाँ की गई है। प्राणियों में 'मेरी' ज्ञान शक्ति दो कार्य कर रही है इसे देखा जा सकता है। ये दो कार्य हैं- योगम् और ऐश्वरम्। हम ऊपर कह चुके हैं कि

यहाँ योगम् का अर्थ है जोड़ने का कार्य, समन्वय का कार्य। इस शक्ति का दूसरा कार्य है ऐश्वरम् अर्थात् प्रकृति पर नियंत्रण करके उसका विकास करना। अब यह भी बता रहे हैं कि प्राणियों और मनुष्यों को भी परमात्मा ने कौन सी शक्तियां नहीं दी हैं। भूत-भृत आदि शब्दों से बता रहे हैं कि प्राणियों की उत्पत्ति और पोषण परमात्म शक्ति से होता है, यह शक्तियां जीवो को प्राप्त नहीं है। वस्तुतः यह एक बड़ी विडंबना ही है कि मनुष्य का क्षुद्र-ज्ञान / अहम् जिस प्रकार निसर्ग द्वारा किए जाने वाले इन कार्यों को वह अपने द्वारा किया मानता हुआ केवल अपने को कर्ता समझता है (श्लोक-१३.२९, १८.१३ से १६) उसी प्रकार परमात्म शक्ति से संपन्न होने वाले (संतान की उत्पत्ति और पालन इन दोनों) कार्यों का भी वह अपने को कर्ता मान लेता है। इस अज्ञान का कारण है वर्तमान अवस्था में उसमें परमात्म ज्ञान की समुचित अभिव्यक्ति न होना।

यथा आकाश में वायु, तथा 'मुझ' में भूत (श्लोक-६): यहाँ इस तथ्य को प्रकाशित किया गया है कि यध्यपि परमात्म शक्ति सर्वव्यापी अर्थात् अनंत आयाम वाली है किंतु उसमें आश्रय पाने वाले सभी प्राणी उससे प्राप्त चेतन / ज्ञान शक्ति को समान रूप से धारण नहीं करते। इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिए आकाश में वायु का जो उदाहरण दिया गया है उसका तात्पर्य है कि जैसे वायु आकाश में सदा विचरण करता रहता है क्योंकि उसका घनत्व सर्वत्र एक समान नहीं होता, उसी प्रकार यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापी है किंतु उसमें स्थित प्राणी उसकी शक्ति को समान रूप से धारण नहीं करते।

अब अगले कुछ श्लोकों में भगवान अपनी ज्ञान शक्ति की इस असमान अभिव्यक्ति का कारण यह बता रहे हैं कि भूतों की रचना और उनमें चेतना की अभिव्यक्ति, यह दोनों बातें एक दूसरे पर आश्रित होने से शनैः शनैः ही आगे बढ़ती हैं और इस कारण अंत में केवल कुछ एक अवतारी महापुरुषों में ही यह अभिव्यक्ति उच्चतम बिंदु को छू पाती है।

सर्वभूतानि कौन्तेय , प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि , कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

सर्व-भूतानि कौन्तेय , प्रकृतिम् यान्ति मामिकाम् । कल्प-क्षये पुनः तानि , कल्प-आदौ विसृजामि अहम् ॥

कौन्तेय- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! **सर्व-भूतानि कल्प-क्षये मामिकाम् प्रकृतिम् यान्ति-** सब भूत (प्राणी) कल्प की समाप्ति पर मेरी अष्टधा प्रकृति में लीन हो जाते हैं,**तानि कल्प-आदौ पुनः अहम् विसृजामि-** फिर उनको कल्प के प्रारंभ होने पर मैं फिर रचता हूँ ।

यह रचना मैं कैसे करता हूँ उसे उस-

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य , विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नम् , अवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

प्रकृतिम् स्वाम् अवष्टभ्य , विसृजामि पुनः पुनः । भूत-ग्रामम् इमम् कृत्स्नम् , अवशम् प्रकृतेः वशात् ॥

स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य- अपनी (अष्टधा) प्रकृति को थामकर (संभाल कर अर्थात् दिशा बोध प्रदान करके) **प्रकृतेः वशात् अवशम्-** प्रकृति के बल से परवश हुए **इमम् कृत्स्नम् भूत-ग्रामम्-** इस संपूर्ण भूत समुदाय को **पुनः पुनः विसृजामि-** बार-बार रचता हूँ ।

न च मां तानि कर्माणि , निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनम् , असक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

न च माम् तानि कर्माणि , निबध्नन्ति धनञ्जय । उदासीनवत् आसीनम् , असक्तम् तेषु कर्मसु ॥

धनञ्जय- हे अर्जुन! **तेषु कर्मसु असक्तम् च उदासीनवत् आसीनम् माम् -** उन कर्मों में आसक्ति रहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझ को **तानि कर्माणि न निबध्नन्ति -** वे कर्म नहीं बांधते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः , सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय , जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मया अध्यक्षेण प्रकृतिः , सूयते सचर-अचरम् । हेतुना अनेन कौन्तेय , जगत् विपरिवर्तते ॥

कौन्तेय- हे कुंती पुत्र! **मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सचर-अचरम् सूयते-** मेरी अध्यक्षता में प्रकृति इस चराचर जगत को उत्पन्न करती है, **अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते-** इस कारण से जीव सृष्टि का चक्र घूमता रहता है ।

अवजानन्ति मां मूढा , मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो , मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अवजानन्ति माम् मूढाः , मानुषीम् तनुम् आश्रितम् । परम् भावम् अजानन्तः , मम भूत-महेश्वरम् ॥

मानुषीम् तनुम् आश्रितम् माम् परम् भावम् - मनुष्य शरीर स्थित मेरी परम सत्ता को **अजानन्तः मूढाः-** न जानने वाले मोहग्रस्त (मूढ़) लोग **मम भूत-महेश्वरम् अवजानन्ति-** मुझ भूतमहेश्वर को नहीं जानते ।

भगवान के उपरोक्त वचनों में सचराचर सृष्टि की रचना में उनका, उनकी अष्टधा प्रकृति का, और शेष प्रकृति का, अर्थात् इन सभी घटकों का जो योगदान है उसे इंगित किया गया है। इसको भली-भांति समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यहाँ प्रयुक्त हुए कुछ विशिष्ट शब्दों पर ध्यान देना होगा।

अहम् विसृजामि, प्रकृति सूयते : यहाँ हम देखते हैं कि भगवान ने चर-अचर समस्त प्राणियों (वनस्पति एवं पशु पक्षी आदि) की रचना में अपने योगदान के लिए 'विसृजामि' शब्द का प्रयोग किया है (श्लोक-७,८) जबकि प्रकृति (भगवान की अपरा प्रकृति, पराप्रकृति- श्लोक-७.४,५ में वर्णित, और श्लोक-३.२४ में इंगित शेष प्रकृति) के योगदान के लिए 'सूयते' शब्द का प्रयोग किया है (श्लोक-१०), यहाँ 'सू' धातु का अर्थ 'उत्पन्न करना' है।

विसृजन का अर्थ है विशेष रचना करना या विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु रचना करना। भगवत् सत्ता का वह विशेष उद्देश्य क्या है जिस हेतु से वे प्राणियों की पुनः पुनः रचना करते हैं? जैसा कि पहले कहा जा चुका है वह उद्देश्य है विकास, अधिक चैतन्य प्राणियों की रचना। यह ही विसृजन है। भगवान का स्पष्ट कथन है कि वे विसृजन करते हैं और उनकी (अपरा- परा) प्रकृति प्राणियों को उत्पन्न करती है (सूयते) अर्थात् प्राणियों की जो प्रजाति भगवान की ज्ञान शक्ति के द्वारा विसृजित हो जाती है प्रकृति उसकी प्रतिकृतियों का उत्पादन उसी प्रकार करती रहती है जिस प्रकार कि मनुष्य द्वारा बनाई गई मशीन किसी प्रारूपित वस्तु का उत्पादन योग्य मैनेजर की देखरेख में करती रहती है।

वस्तुतः भगवान ने इन श्लोकों में प्राणिक जगत में निरंतर चल रही गतिविधियों में तीन प्रकार की भूमिकाओं का वर्णन किया है जिनमें से प्रथम दो को हम एक आधुनिक उद्योग की कार्यप्रणाली के उदाहरण से समझने का प्रयास कर सकते है। ऐसे उद्योग में दो विभाग होते हैं- एक उत्पादन विभाग और दूसरा अनुसंधान तथा विकास। उत्पादन विभाग का दायित्व फैक्ट्री के मैनेजर का होता है। प्राणिक जगत में भगवान ने अपनी इस भूमिका का वर्णन श्लोक-९ और १० में किया है जिसे उन्होंने असक्त (अनासक्त) किंतु कर्मठ अध्यक्ष के रूप में वर्णित किया है।

अनुसंधान और विकास की योजना का कार्य कंपनी के सी.ई.ओ (CEO) का होता है और यहाँ भगवान ने प्राणी जगत में अपनी उस भूमिका को 'भूत महेश्वर' कहकर (श्लोक-९.११) आगे मनुष्य में महेश्वर की विशेष भूमिका का वर्णन श्लोक-९.१८ (प्रथम पंक्ति) और श्लोक-१३.२२ में किया है। तीसरी भूमिका अगले अनुच्छेद से स्पष्ट होगी।

जैविक सृष्टि-चक्र में प्रकृति-पुरुष की भूमिका : ऊपर श्लोक-७ में कहा गया है कि एक कल्प के समाप्त होने पर सब प्राणी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और नए कल्प

के प्रारंभ होने पर भगवान प्राणियों का निर्माण और विकास प्रारंभ कर देते हैं (विसृजामि)।

श्लोक-८.१७ में भगवान ने बताया था कि ब्रह्म-दिन की काल अवधि १००० युग अर्थात् ४३२ करोड़ मानव वर्ष है और इस कालावधि में ही जैव-सृष्टि फलती-फूलती है और फिर इतनी ही कालावधी के लिए वह प्रकृति में लीन हो जाती है। इस कालावधी को ही 'कल्प' नाम से भी जाना जाता है। अतःश्लोक-९.७ में जो कहा गया उसका तात्पर्य है कि ब्रह्म-दिन के प्रारंभ होने पर (कल्पादौ) परमात्मा सब भूतों की उत्पत्ति और विकास करता है(विसृजामि) किंतु रात्रि होने पर (कल्पक्षय) जैव-सृष्टि का नाश परमात्मा नहीं करता वरन् उनकी प्रकृति (स्पष्ट ही पराप्रकृति) करती है। हम कह सकते हैं कि यह कार्य परा प्रकृति मूल प्रकृति में परिवर्तित होकर करती है क्योंकि विनाश करना मूल प्रकृति का ही स्वभाव है(दृष्टव्य: श्लोक-३.२४ की और ७.५ की टिप्पणियां)। वस्तुतः यह परिवर्तन परा प्रकृति में से उस चेतन शक्ति के लोप हो जाने से होता है जो कि कल्पादि में परमात्मा ने मूल प्रकृति के एक अंश में आदान करके परा प्रकृति का निर्माण किया था। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उस समय भगवान निद्रा में चले जाते हैं और परा प्रकृति पर से उनका नियंत्रण हट जाने से वह पुनः विनाशशील मूल प्रकृति में परिवर्तित हो जाती है। वस्तुत: इस काल को ब्रह्मा की रात्रि का आगम कहा भी गया है (श्लोक-८.१८)।

अब अगले दो श्लोकों (क्रमांक-१२ और १३) में भगवान बता रहे हैं कि व्यक्ति मूढ़ता से किस प्रकार क्रम से मुक्त होता हुआ मेरे अव्यय स्वरूप (महेश्वर और परमेश्वर स्वरूप) को प्राप्त कर सकेगा।

मोघाशा मोघकर्माणो , मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव , प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मोघ-आशाः मोघ-कर्माणः , मोघ-ज्ञानाः विचेतसः । राक्षसीम् आसुरीम् च एव , प्रकृतिम् मोहिनीम् श्रिताः ॥

मोघ-आशाः मोघ-कर्माणः मोघ-ज्ञानाः विचेतसः- व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म (और) व्यर्थ ज्ञान वाले विवेकहीन जन **राक्षसीम् आसुरीम् च मोहिनीम् प्रकृतिम् एव श्रिताः -** राक्षसी, आसुरी, और मोहिनी प्रकृति के ही आश्रित होते हैं (धारण किये रहते है) ।

महात्मानस्तु मां पार्थ , दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो , ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

महात्मानः तु माम् पार्थ , दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः । भजन्ति अनन्य-मनसः , ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम् ॥

तु पार्थ- परन्तु हे पार्थ ! **दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः महात्मानः-** दैवी प्रकृति को प्राप्त महात्मा जन **माम् अव्ययम् भूतादिम् ज्ञात्वा-** मुझ अविनाशी को समस्त प्राणियों का आदि कारण जान कर **अनन्य-मनसः भजन्ति-** अनन्य मन से (एकाग्र चित्त से मुझे) भजते है ।

इन श्लोकों में मनुष्य के मानसिक स्वभाव (प्रकृति) के विकास का वर्णन किया गया है। पिछले प्रकरण (श्लोक-७ से ११) में हमने देखा कि प्राणी जगत की उत्पत्ति और विकास यद्यपि भगवान की ज्ञान शक्ति से हुआ है किंतु प्रकृति को चरणबद्ध वश में करना आवश्यक होने के कारण यह विकास शनै: शनै: क्रमबद्ध रूप में हुआ है। पुराणों में इस विकास को ८४ लाख योनियों (प्रजातियों / species) के रूप में वर्णित किया गया है तो उपनिषदों में इसे मुख्य पांच चरणों में बांटकर अति संक्षेप में पंच यज्ञों के रूप में चित्रित किया है और जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुकें हैं, गीता में भी भगवान ने उस वर्णन का सार केवल चार श्लोक (१५.१२ से १५) में समेट दिया है। विगत प्रकरण (श्लोक-७ से ११) में जैविक विकास की उस सम्पूर्ण श्रृंखला को यह कहकर इंगित किया गया था कि भगवान प्रत्येक कल्प के प्रारंभ में प्रकृति को थामकर (वश में करके) जिस प्राणी समुदाय को रचते हैं वह प्रकृति के बल से परवश होता है और भगवान उसे क्रमिक रूप में विकसित करते हैं(विसृजामि पुनः पुनः, श्लोक-८)।

अब उपरोक्त दो श्लोकों में भगवान ने मनुष्य के साइकिक (psychic) विकास का वर्णन किया है और इस विकास के चरणों को राक्षसी, आसुरी, मोहिनी और दैवी स्वाभाव (प्रकृति) कहा है। इनकी पहचान हम क्रमश: घोर तामसिक, तामसिक, राजसिक और सात्त्विक गुणों से युक्त मनुष्यों के रूप में कर सकते हैं।

मानसिक विकास के उपरोक्त चौथे चरण पर पहुंच चुके (अर्थात् सात्विक गुणों को प्राप्त) मनुष्यों का आगे जो विकास है वह आध्यात्मिक (अर्थात् आत्मा का अनुभव संबंधी) है और उसका द्वार सब प्राणियों में परमात्मा की उपस्थिति जान उनकी सेवा करने से खुलता है, जिसे श्लोक में 'भजन्ति' शब्द से व्यक्त किया गया है (धातु 'भज' = सेवते)। अनासक्त और निस्वार्थ सेवा का महत्व इस बात में है कि इससे स्वार्थ भाव का क्षय होकर एकत्व की अनुभूति का मार्ग प्रशस्त होता है, विशेषकर तब जब इसमें परमात्म भाव का समावेश कर दिया जाए। तब कर्मयोग भक्ति बन जाता है। श्लोक-१३ की दूसरी पंक्ति में इसे ही इंगित करके आगे श्लोक-१४ में इसका परिचय इस प्रकार दिया गया है-

सततं कीर्तयन्तो , मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या , नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

सततम् कीर्तयन्तः , माम् यतन्तः च दृढ-व्रताः । नमस्यन्तः च माम् भक्त्या , नित्य-युक्ताः उपासते ॥

(अनन्य मनसः भजन्त्य ते) दृढ-व्रताः यतन्तः माम् कीर्तयन्तः च नमस्यन्तः- (अनन्यता प्राप्त करने के लिए) पक्का निश्चय वाले सतत प्रयत्नशील मेरे कार्यों का सतत स्मरण करते हुए और नमन करते हुए **नित्य-युक्ताः माम् भक्त्या सततम् च उपासते-** नित्य युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं ।

उपरोक्त भक्ति की स्थिति तो अध्यात्म पथ की सर्वोच्च उपलब्धि है किंतु जिनका 'मैं' भाव (अहंकार) अभी समाप्त नहीं हुआ है उन्हें इस अनन्य भक्ति साधना (अर्थात् परमात्म भाव से जीव सेवा) करने में रुचि नहीं हो पाती, अतः वे साधु पुरुष ज्ञान साधना में अपने को समर्पित करने का मार्ग चुन लेते हैं। वस्तुतः ज्ञान के भी व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के अनुरूप तीन चरण है जिन का परिचय भगवान ने श्लोक-१५ में इस प्रकार दिया है -

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये , यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन , बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

ज्ञान-यज्ञेन च अपि अन्ये , यजन्तः माम् उपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन , बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

इस श्लोक पर भाष्यकारों में बहुत अधिक मतभेद रहा है। कुछ भाष्यकारों का मानना है कि श्लोक में एकत्व ज्ञान के ही तीन रूपों को लक्षित कराया गया है, कुछ का मत है कि पृथक्त्व ज्ञान (भगवान और भक्त) तथा एकत्व ज्ञान को मान्यता दी गई है। इनके अतिरिक्त कुछ ने विश्वरूप को ज्ञान का तीसरा आयाम मानकर व्याख्या की है। किंतु इन व्याख्याओं के द्वारा न तो आगे के श्लोकों से तालमेल बैठता है और न ही पीछे के श्लोकों के विषय से एकरूपता बनती है इसलिए यें व्याख्यायें हमें बेमेल ही लगती रहीं। अंत में भगवत् प्रार्थना स्वरूप जो हमारे मनस में उद्भूत हुआ उसे ही हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

वस्तुतः भगवान ने श्लोक-१४ और १५ में दैवी स्वभाव को प्राप्त कर चुके व्यक्तियों के आध्यात्मिक विकास के चार चरणों का वर्णन किया है। सबसे उच्च आध्यात्मिक स्थिति 'अनन्य भक्ति' की है जिस का परिचायात्मक वर्णन यहाँ श्लोक-१४ में दिया गया है और पूरा विस्तृत वर्णन आगे अध्याय-१२ में किया गया है। दूसरे से चौथे पायदानों का परिचय, उतरते क्रम में, श्लोक-१५ में दिया गया है और इसका विस्तृत वर्णन श्लोक-१६ से २१ में दिया गया है। इन तीन स्तरों को 'ज्ञान यज्ञ' कहा गया है

जिसका अर्थ है ज्ञान प्रेरित त्याग। जिस स्तर का ज्ञान होगा उसी स्तर का त्याग होगा, यह बात आगे की विवेचना से स्पष्ट हो जाएगी। आध्यात्मिक स्थितियों का यह वर्णन गीताकार ने उसी प्रकार उतरते क्रम में दिया है जैसा कि अध्याय-४ में वर्णित १२ यज्ञ रूप साधनाओं का और अध्याय-१२ में वर्णित भक्ति के स्तरों का वर्णन उतरते क्रम में दिया गया है।

श्लोक के अर्थ की दिशा तय करने हेतु दी गई उपरोक्त भूमिका के बाद अब हम शब्दार्थ के साथ भावार्थ का अनुशीलन करेंगे-

अन्ये - अन्य लोग (वह साधु पुरुष जो अनन्य भक्ति को अपने लिए उपयुक्त नहीं पाते) **माम् विश्वतोमुखम् -** मुझे विराट रूप परमात्मा को **ज्ञान-यज्ञेन उपासते -** ज्ञान यज्ञ द्वारा उपासते हैं- **एकत्वेन-** एकत्व भाव से अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है (अहम् ब्रह्मास्मि भाव से, श्लोक-१६), **पृथक्त्वेन-** (अन्य कुछ लोग) पृथकता के भाव से अर्थात् परमात्मा पूर्ण हैं, अंशी है, और मैं उनका अंश होने से उनसे मेरा संबंध है किंतु उनसे मैं प्रथक हूँ (श्लोक-१७ से १९) **च अपि बहुधा यजन्तः-** और भी बहुत प्रकार से यत्न करते हुए (श्लोक-२०,२१) ।

ऊपर हमने ज्ञान यज्ञ का अर्थ 'ज्ञान प्रेरित त्याग' किया है। इस पर विस्तार से विचार कर लेना वांछनीय होगा-

ज्ञान यज्ञ : अध्याय-३ में यज्ञ की जो विवेचना की गई है उसके निष्कर्ष रूप अब सर्वत्र स्वीकार कर लिया गया है कि गीता में यज्ञ का अर्थ है- त्यागमय कर्म। वस्तुतः प्रकृति-पुरुष इन दो तत्वों से निर्मित मानव व्यक्तित्व को जो शक्तियां प्राप्त हैं वें हैं ज्ञान और कर्म। अतः जब व्यक्ति में इन दोनों शक्तियों का सामंजस्य और संतुलन होता है तभी उसका विकास आगे बढ़ता है। इसी सत्य को आधुनिक कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने 'कामायनी' में इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'ज्ञान भिन्न और क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की'। आधुनिक विज्ञान ने भी प्रतिपादित किया है कि प्राणियों की प्रजातियों का क्रम-विकास उनकी इच्छा शक्ति से ही धीरे-धीरे संपन्न हुआ है। इसी प्रकार व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में प्रार्थना और भक्ति का जो महत्व पहचाना गया है वह भी इसी सत्य पर आधारित है।

अगले छः श्लोकों (क्रमांक-१६ से २१) में ज्ञान के उपरोक्त तीन स्तरों की विवेचना उदाहरणों के माध्यम से की गई है। प्रथम, एकत्व ज्ञान की विवेचना इन शब्दों में-

अहं क्रतुरहं यज्ञः , स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम् , अहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

अहम् क्रतुः अहम् यज्ञः , स्वधा अहम् अहम् औषधम् । मन्त्रः अहम् अहम् एव आज्यम् , अहम् अग्निः अहम् हुतम् ॥

क्रतुः अहम्, यज्ञः अहम्, स्वधा अहम्- क्रतु मैं हूँ , यज्ञ मैं हूँ , स्वधा मैं हूँ । **औषधम् अहम् -** औषधि (वनस्पति, काष्ठ , जौ ,तिल आदि) मैं हूँ । **मन्त्रःअहम् एव आज्यम् अहम् , अग्निः अहम् ,हुतम् अहम् -** मंत्र मैं हूँ , घृत मैं हूँ , अग्नि मैं हूँ , हुतम अर्थात् हवन रूप क्रिया (अर्पण क्रिया) मैं हूँ ।

यह वर्णन कर्मकांडीय यज्ञ का प्रतीत होता है किंतु गीता जब ज्ञान की और वह भी एकत्व ज्ञान की बात कर रही है तो कर्मकांडीय शब्दावली के पीछे छिपे अर्थ का अनुसंधान करना आवश्यक है। इस दृष्टि से हम यहाँ श्लोक के भावार्थ को समझने का प्रयास करेंगे।

कृतु, यज्ञ और स्वधा- यह भिन्न उद्देश्यों से किए जाने वाले अग्नि में हवन क्रियाओं के रूप है। सकाम उद्देश्य से किए जाने वाले हवन 'कृतु' कहलाते हैं। कर्तव्य धारणा से, सृष्टि ऋण चुकाने की भावना से, सर्वहितकारी कर्मों का नाम यज्ञ है(अध्याय-३,४)। और उन सभी पूर्व में हुए पितरों को स्मरण कर, जिनसे हमें जीवन, जीवन साधन और वर्तमान ज्ञान मिला है इसे पितृ ऋण मानकर आगामी पीढ़ियों के उत्थान हेतु किए जाने वाले कर्मों को स्वधा या पितृ-यज्ञ कहा गया है। इन सभी कर्तव्य कर्मों को भगवान ने अपना स्वरूप बताया है। इन कर्मों के अंग-प्रत्यंग- साधन, मानसिक संकल्प और क्रियाएं- इन सब में जो चेतन शक्ति है वह 'मैं' हूँ। भगवान ने यही बात पहले (श्लोक-४.२४ में) यज्ञों के सर्वोच्च स्वरूप का वर्णन करते हुए भी 'ब्रह्मर्पणं ब्रह्म हवि…' शब्दों में व्यक्त की थी। अर्पण ब्रह्म है, अर्पित वस्तु ब्रह्म है, अर्पण कर्ता ब्रह्म है, जिस अग्नि रूप सृष्टि को अर्पण किया जा रहा है वह ब्रह्म है,... सब कुछ ब्रह्म है अर्थात् जगत में और व्यष्टि में एक ही चेतन सत्ता का जो यह अभ्युदयकारी कर्म चक्र चल रहा है और जिसका परिणाम सर्वत्र चेतना का उद्विकास अर्थात् अधिक चेतनाभिव्यक्ति के रूप में दिखाई दे रहा है उसे आत्मसात करना ही ब्रह्म ज्ञान है जिसे प्राप्त करके साधक अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को उत्कर्षकारी (ब्रह्म के प्रति), श्रीकृष्ण के समान, समर्पित करके ब्रह्म से एक रूप हो सकता है।

भगवान के वचनों पर अच्छी तरह ध्यान दें तो एक और महत्वपूर्ण बात भी प्रकट होती है। यहाँ यज्ञमय क्रियाओं में ही भगवत् शक्ति की बात कही गई है। जगत में इनसे विपरीत क्रियाएं होने के तथ्य को नकारा नहीं गया है। वस्तुतः वें हो रही हैं और वे अज्ञान रूपा प्रकृति की शक्ति की प्रबलता के कारण घटित होती हैं, भगवान के वचनों यह निहितार्थ हमें स्मरण रखना चाहिए जो कि अन्यत्र भगवान ने स्पष्ट शब्दों में

इंगित किया है (द्रष्टव्य: श्लोक-३.२४; ७.१२,१३; ९.१२,१३)। वस्तुतः भगवान के वचनों का तात्पर्य तो यही है कि जहाँ कहीं हमें प्रकृति की उत्कर्ष विरोधी (negative) शक्ति क्रियाशील दिखे तो उस समय हम परमात्मा की अभ्युदयकारी (positive) शक्ति का संचयकर के उसके द्वारा उक्त विरोधी शक्ति को परास्त करें, जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण के जीवन में हम देखते हैं।

अब अगले तीन श्लोकों (क्रमांक-१७ से १९) में ज्ञान रूप परमात्मा के व्यक्ति स्तर पर तीन और समष्टि स्तर पर दो क्रियाशील पृथक रूपों का वर्णन किया जा रहा है-

पिताहमस्य जगतो , माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार , ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

पिता अहम् अस्य जगतः , माता धाता पितामहः । वेद्यम् पवित्रम् ओंकारः , ऋक्-साम यजुः एव च ॥

अस्य जगतः माता, धाता, पिता, पितामहः च ऋक्, साम, यजुः वेद्यम् पवित्रम् ओङ्कारः अहम् एव- इस जगत् की माता, (पालन करने वाली) धाय माता, पिता, पितामह (अर्थात् दादा-दादी, नाना-नानी आदि बुजुर्ग) और ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद द्वारा वर्णित जानने योग्य पवित्र ('ओम' से निरूपित) ओङ्कारः मैं ही हूँ ।

यहाँ ज्ञान रूप परमात्मा के अंश जीवात्माओं का वर्णन हुआ है। परमात्मा मनुष्य में जीवात्मा के रूप में 'अक्षर' अर्थात् 'अमृत' रूप में होता है और भले ही प्रारंभ में उसे अपने अमृतत्व का बोध नहीं होता किंतु वह अमृत होने के कारण ही पुनर्जन्म यात्रा पर तब तक चलता रहता है जब तक कि उसे अपने अमृत स्वरूप का बोध नहीं हो जाता।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को दो विशेष क्षमतायें अधिक विकसित रूप में प्राप्त हुई हैं जो उसकी पहचान हैं। यह हैं- भावना और ज्ञान। अतः श्लोक में इनका वर्णन करके हमें परमात्मा का अंश होने और अपने वास्तविक स्वरुप अमृत होने का ज्ञान कराया गया है।

श्लोक की पहली पंक्ति माता-पिता आदि के रूप में सामान्य जीवात्मा के भावनात्मक संबंधों को और दूसरी पंक्ति उसकी उत्कृष्ट ज्ञान क्षमता को प्रकट कर रही है।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में उपरोक्त परमात्म ज्ञान के उस उत्कृष्ट स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है जो हम वेद शास्त्र आदि से प्राप्त करते हैं। यहाँ तीन वेदों- ऋक्,साम,यजु- का उल्लेख किया गया है। रामानुज भाष्य में कहा गया है कि यहाँ क्रमशः बुद्धि, मन और प्राण (अर्थात् कर्म) आधारित उपासनाओं को इंगित किया

गया है और ये ओम् नाम से परमात्मा का ज्ञान कराती है। मांडूक्योपनिषद में ओम की जो व्याख्या की गई है उसका सार है कि व्यक्ति के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में और इनके अनुरूप समष्टि के स्थूल जगत, सूक्ष्म जगत और कारण जगत में जो परमात्म (चेतन तत्व) उपस्थित हैं उसे क्रमशः अ, ऊ, म् से तथा उस समस्त सत्ता को अ + ऊ + म् अर्थात् ओम से निरूपित किया गया है। गीता के उक्त श्लोक की इस पंक्ति में इस सब ज्ञान को इंगित कर दिया गया है।

श्लोक-१७ में मनुष्य में जीवात्मा के रूप में क्रियाशील परमात्म सत्ता के वर्णन के बाद अब अगले श्लोक-१८ में इससे उच्च दो और चेतन स्तरों का वर्णन किया जा रहा है जो उसके विकास पथ पर यथा समय जाग्रत हो जाते हैं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी , निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं , निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी , निवासः शरणम् सुहृत् । प्रभवः प्रलयः स्थानम् , निधानम् बीजम् अव्ययम् ॥

हमारा मत है कि इस श्लोक में भी दोनों पंक्तियां परम सत्ता के दो भिन्न आयामों का ज्ञान करा रही हैं। अतः हम इन दोनों का भावार्थ और विवेचना प्रथक करेंगे। प्रथम पंक्ति में जीवात्मा से उच्च सत्ता (महेश्वर) का और दूसरी पंक्ति में सर्वोच्च सत्ता परमेश्वर का वर्णन है।

(अहं) गतिः- (मैं जीवात्मा के लिए) गंतव्य/ अंतिम लक्ष्य हूँ , **भर्ता-**भरण पोषण कर्ता हूँ (शरीर और मन-बुद्धि का भी), **प्रभुः-** स्वामी/ मालिक हूँ , **साक्षी-** निरपेक्ष/ अनासक्त दृष्टा हूँ, **निवासः-** अपना घर हूँ, **शरणम्-** आश्रय हूँ ,**सुहृत्-** सच्चा हितकारी मित्र हूँ , **प्रभवः स्थानम् प्रलयः-** उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय का कारण हूँ , अर्थात् ब्रह्मा विष्णु और रूद्र हूँ, **निधानम्-** भंडार हूँ (जहाँ से सुकृत कार्यों के लिए वांछित शक्ति जीवात्मा को प्राप्त हो जाती है), **अव्ययम् बीजम् -** अनश्वर बीज हूँ (सूक्ष्म से विशाल बनने वाली, पनपने वाली शक्ति हूँ , (वृक्ष का बीज तो नष्ट होकर उगता और पनपकर वृक्ष बनता है किंतु मेरी शक्ति बिना नष्ट हुए विशाल बन जाती है ।

पहले कहा जा चुका है कि श्लोक-१७ से १९ में पृथकत्व ज्ञान की विवेचना है। पृथकत्व ज्ञान अर्थात् परमात्मा के कुछ उच्च स्वरूपों का जीवात्मा को परिचय दिया जाना।

श्लोक की प्रथम पंक्ति जीवात्मा को उससे उच्च सत्ता का बोध कराकर चेतना के उस उच्च आयाम को अपने व्यक्तित्व में जाग्रत करने का संदेश दे रही है। वेदों और उपनिषदों में जिसे 'द्वा सुपर्णा सयुज सखाया...' कह कर इंगित किया गया है और गीता (श्लोक-१३.२२) में जिसे माहेश्वर कहा गया है, उसी सत्ता का परिचय जीवात्मा

को कराया गया है। यह सत्ता व्यक्तित्व में परमात्मा के कनिष्ठ रूप में जाग्रत होकर उसे परमात्म प्राप्ति में सहायक बनती है। आध्यात्मिक साहित्य में इसे विभिन्न नामों से और वर्णनों से इंगित किया गया है। जीवात्मा प्रकृति का भोक्ता होता है किंतु यह सत्ता द्दष्टा होकर जीवात्मा को भी प्रकृति के बंधन से मुक्त होने में उसकी सहायता हेतु तत्पर रहती है इसलिए इसे सखा/सुहृद कहा गया है।

श्लोक की दूसरी पंक्ति जीवात्मा को महेश्वर सत्ता से ऊपर परमेश्वर सत्ता का ज्ञान करा रही है। श्लोक-१३.२२ में भी जहाँ मनुष्य देह में चेतना के छः स्तरों का क्रमवार वर्णन किया गया है, वहाँ जीवात्मा से उच्च महेश्वर और महेश्वर से उच्च सत्ता को परमात्मा कहा गया है। वस्तुतः वहाँ इन सत्ताओं के केवल नाम देकर उनके गुणों का आभास कराया गया है, यहाँ उनके कार्य बताकर पूरा परिचय दिया गया है।

श्लोक-१८ में व्यक्ति में क्रियाशील होने वाली दो उच्च सत्ताओं का ज्ञान कराने के उपरांत अब श्लोक-१९ की दो पंक्तियों में समष्टि स्तर पर क्रियाशील परम सत्ता के दो भिन्न आयामों का वर्णन किया जा रहा है-

तपाम्यहमहं वर्षं , निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च , सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

तपामि अहम् अहम् वर्षम् , निगृह्णामि उत्सृजामि च । अमृतम् च एव मृत्युः च , सत् असत् च अहम् अर्जुन ॥

हे अर्जुन! अहम् तपामि- मैं (सूर्य रूप से) तपता हूँ अर्थात् गर्मी देता हूँ, **अहम् वर्षम्, निगृह्णामि च उत्सृजामि-** मैं ही जल खींचता (वाष्पित करता) हूँ और वर्षाता हूँ **अहम् एव अमृतम् च मृत्युः-** मैं ही जीवन और मृत्यु (हूँ) , **च सत् असत् च अहम्-** तथा सत-अस्त भी मैं ही हूँ ।

श्लोक की प्रथम पंक्ति में परमात्मा सत्ता के उस स्वरूप का ज्ञान कराया गया है जो भौतिक प्रकृति में क्रियाशील होकर जैविक सृष्टि का उद्भव और उत्थान करता है। वह सूर्य को जलने के लिए निर्देशित कर (श्लोक-४.१) उत्सर्जित ताप से वर्षा करा कर पृथ्वी पर जीवन को प्रस्फुटित होने तथा पनपने में सहायक बनता है।

श्लोक की दूसरी पंक्ति के शब्द- 'मैं मृत्यु भी हूँ, अमृत भी हूँ, तथा सत और असत भी मैं ही हूँ' अति गहन हैं। परमात्म शक्ति के विकासकारी स्वाभाव को द्दष्टिगत रखकर ही इन शब्दों का भावार्थ ठीक बैठ पाता है। परमात्म शक्ति अमृत है इसे समझने में तो कोई कठिनाई नहीं है किंतु वही शक्ति मृत्यु भी है इसे इस प्रकार समझना होगा कि मृत्यु और जन्म के चक्र के माध्यम से ही विकास चक्र को गति मिलती है। श्री अरविंद ने मृत्यु के रहस्य पर एक लेख में कहा था कि हमारा वर्तमान

व्यक्तित्व एक सीमा तक ही अध्यात्म के उच्च सत्य को धारण कर सकता है किंतु मृत्यु के उपरांत जीवात्मा जब नया शरीर ग्रहण करता है तो वह अधिक क्षमता युक्त हो सकता है। इस प्रकार, मृत्यु आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने की क्षमता उपलब्ध करा सकती है। निश्चित ही यह कार्य परम चैतन्य, मृत्यु को उपकरण बनाकर, संपन्न कराता है।

उपरोक्त व्याख्यानुरुप प्रक्रिया निश्चित ही उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचे व्यक्तियों / महात्माओं के पुनर्जन्म निर्धारण में तो अवश्य ही क्रियाकारी होती है, किंतु क्या यह हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों के पुनर्जन्म निर्धारण पर भी लागू होती होगी? हमारा अनुमान है कि यह हर उस स्थिति में क्रियाशील होगी जब व्यक्ति की मुख्य कामना भौतिक सुख-भोग की न रहकर आध्यात्मिक प्रगति की बन जाए। अस्तु, उस मृत्यु को ही भगवान ने अपना स्वरूप बताया है।

भगवान का सत्-असत् स्वरूप : सत् के अनेक अर्थ है किंतु जो यहाँ सर्वथा उपयुक्त है वह है 'स्वतः प्रकाशयन्ते'- स्वतः प्रकाशित सर्व निरपेक्ष सत्ता अर्थात् सगुण ब्रह्म। तदनुरूप असत् का अर्थ हुआ जो स्वतः प्रकाशित नहीं, निर्गुण ब्रह्म। भावार्थ यह कि दोनों सत्ता भगवान की है- अव्यक्त भी वे ही हैं और व्यक्त भी वे ही हैं।

पृथक्त्व ज्ञान के अंतर्गत परमात्म शक्ति के उपरोक्त तीन श्लोकों में छः रूपों की विवेचना के पश्चात् अब अगले दो श्लोकों (क्रमांक-२०,२१) में भगवान उन लोगों के ज्ञान की विवेचना कर रहे हैं जो सात्त्विक स्थिति में होते हुए भी अभी सुख भोगो की कामनाओं से मुक्त न होने के कारण वेदों के प्रारंभिक भागों में वर्णित सकाम द्रव्यमय यज्ञों के अनुष्ठान करके इष्ट फल तो प्राप्त कर लेते हैं किंतु पुण्य फल भोग लेने के बाद उन्हें पुनः पुनः संसार चक्र में आना पड़ता है।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

त्रै-विद्याः माम् सोमपाः पूत-पापाः , यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्र-लोकं , अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देव-भोगान् ॥

पूत-पापाः- जो पापों से मुक्त हो चुके हैं, **सोमपाः -** सोमपान करने वाले* **त्रै-विद्याः -** तीनों वेदों के जानकार हो कर (भी) **यज्ञैः माम् इष्ट्वा स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते -** यज्ञों द्वारा मुझको पूजकर भौतिक सुखों (स्व) को लक्ष्य मानकर (गतिम्, उनकी) कामना करते हैं **। ते पुण्यम् सुरेन्द्र-लोकं आसाद्य-** वे अपने पुण्य कर्मों के फल स्वरुप (पुण्यम्) इंद्रलोक को प्राप्तहोकर **दिवि दिव्यान् देव-भोगान् अश्नन्ति -** स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।

सोमपा : इस का शाब्दिक अर्थ है- सोमरस को पीने वाले। किंतु सोमरस क्या है इसके बारे में विभिन्न मान्यतायें है। सोम वैदिक काल की कोई वनस्पति भी मानी गई है किंतु यहाँ वह अर्थ किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं बैठता है। सोम का एक अर्थ चंद्रमा है जो मन का देवता माना गया है। अतः सोमरस का अर्थ 'मन का सुख' लिया जा सकता है, और यह अर्थ यहाँ उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि श्लोक में उन सकाम यज्ञों की बात कही गई है जो अनेक प्रकार के भौतिक सुखों की कामना पूर्ति हेतु किए जाते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते तम् भुक्त्वा स्वर्ग-लोकम् विशालम् , क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकम् विशन्ति ।
एवम् त्रयी-धर्मम् अनुप्रपन्नाः , गत-आगतम् काम-कामाः लभन्ते ॥

ते तम् विशालम् स्वर्ग-लोकम् भुक्त्वा- वे उस दीर्घावधि वाले स्वर्ग लोक को भोग कर, **पुण्ये क्षीणे-** पुण्य क्षीण होने पर **मर्त्य-लोकम् विशन्ति-** मृत्युलोक के अधिकार में पड़ जाते हैं **एवम् त्रयी-धर्मम् अनुप्रपन्नाः-** इस प्रकार तीनों वेदों के (तथाकथित) धर्म (सकाम उपासनाओं) का अंधानुकरण करने वाले **काम-कामाः:-** इंद्रिय सुखों की कामना वाले **गत-आगतम् लभन्ते-** बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं ।

इसी प्रकार का वर्णन पहले (श्लोक-२.४२ से ४४ में) भी आ चुका है। अंतर यह है कि वहाँ बुद्धि के संदर्भ से वर्णन हुआ था और यहाँ ज्ञान के संदर्भ से है। वहाँ वेदों के पूर्व मीमांसा भाग से ग्रहण की गई, भोग और ऐश्वर्य के आकर्षणों में फंसी, सकामी मनुष्यों की अस्थिर बुद्धियों का विभेद परमात्मा की सेवा रूप कर्मयोग में लगी भक्त की निश्चयात्मक बुद्धि से दर्शाया गया था तो यहाँ ज्ञान के संदर्भ से उसी प्रकार का वर्णन है। दोनों वर्णनों में जो सूक्ष्म विभेद है उसे समझने के लिए हमें बुद्धि और ज्ञान के सूक्ष्म अंतर को समझना होगा। वहाँ बुद्धि का अर्थ स्वीकार की गई मान्यता है जो उसके स्थूल स्तर पर क्रियाशील होने से बनती है। किंतु ज्ञान गहरे स्तर पर ग्रहण होता है। बुद्धि बाहर से ग्रहण की गई जानकारी पर काम करती है तो ज्ञान अंदर की

वृत्तियों पर आधारित होता है। उपरोक्त दो श्लोकों में जिस ज्ञान को लक्षित कराया गया है वह स्पष्ट ही विवेक से विपरीत हैं तथा व्यक्ति की सुख लालसा वाली वृत्ति पर आधारित, विविध दिशाओं में भटकाने वाला ज्ञान है जिसे श्लोक-१५ में 'बहुधा' शब्द से संबोधित किया गया था।

बहुधा हम अपने काम्य कर्मों को उचित और आवश्यक ठहराने के लिए यह बहाना बना लेते हैं कि अपने और परिवार के पोषण के लिए ये भी तो अनिवार्य हैं, उसके उत्तर में भगवान के वचन हैं-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां , ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां , योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्याः चिन्तयन्तः माम् , ये जनाः पर्युपासते । तेषाम् नित्य-अभियुक्तानाम् , योग-क्षेमम् वहामि अहम् ॥

ये अनन्याः चिन्तयन्तः जनाः - जो अनन्य भाव से (जिनका कोई अन्य लक्ष्य न हो) चिंतन करने वाले लोग **माम् पर्युपासते-** मेरी भली-भांति उपासना करते हैं, **नित्य-अभियुक्तानाम् तेषाम् -** नित्य (मुझ में) दत्तचित्त हैं उनका **अहम् योग-क्षेमम् वहामि-** मैं योगक्षेम वहन करता हूँ ।

योगक्षेम : अधिकांश महात्माओं ने इन शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ लेकर ही श्लोक की व्याख्या की है। भगवत् प्राप्ति का नाम 'योग' और भगवान द्वारा कृपामय संरक्षण का नाम 'क्षेम' है इस रूप में भावार्थ किया है। विनोबा ने भी इसी अर्थ को उपयुक्त माना है किंतु उनकी गवेषणा हमें यहाँ संदर्भानुरूप एक भिन्न अर्थ भी सुझाती है। विनोबा ने कहा है- 'योग और क्षेम वैदिक शब्द हैं और वैदिक शब्दों के दो अर्थ होते हैं एक सांसारिकों के लिए और दूसरा साधकों के लिए'। (श्री अरविंद ने भी वैदिक शब्दों के बारे में यही मत निश्चित किया है। दृष्टव्य- 'वेदरहस्य' पुस्तक, प्राक्कथन,पृष्ठ-९)। विनोबा आगे लिखते हैं- 'योग का सांसारिक अर्थ है- अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और क्षेम यानी प्राप्त वस्तु का संरक्षण। अध्यात्म साधक के लिए अर्थ होगा- भगवान बुद्धि / ज्ञान देकर ईश्वर की प्राप्ति करा देते हैं वह योग, तथा अज्ञान रूपी तम का नाश करके उक्त ईश्वर प्राप्ति की रक्षा करते हैं वह क्षेम'। यहाँ आगे-पीछे के श्लोकों के संदर्भ को देखते हुए, हमारा मत है कि भगवान के इन शब्दों का सांसारिक अर्थ ही उपयुक्त बैठता है। इस श्लोक-२०,२१ में सुखो के प्रति आसक्त लोगों की विवेचना थी और श्लोक-२२ में उन्हें कहा जा रहा है कि बहाने मत बनाओ, सांसारिक योगक्षेम की चिंता करने की भगवान के भक्त को जरूरत नहीं है, उसकी व्यवस्था तो भक्तों के लिए अवश्य करते हैं।

वस्तुतः गीताकार ने योगक्षेम शब्द का प्रयोग इसी (सांसारिक) अर्थ में अन्यत्र भी किया है। श्लोक-२.४५ में भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हे अर्जुन ! तू निर्योगक्षेम (योगक्षेम न चाहने वाला) हो। इस कथन में आध्यात्मिक अर्थ तो लिया ही नहीं जा सकता। स्पष्ट है कि गीताकार को योगक्षेम का केवल यही (सांसारिक) अर्थ अभीष्ट है। आध्यात्मिक अर्थ यहाँ श्लोक-२३ में भी विषय को समझने में व्यवधान डाल रहा है अतः उसे त्याग देना ही श्रेष्ठ होगा।

अभी तक भगवान ने दो प्रकार के भक्तों की विवेचना की। एक, भगवान के अतिरिक्त और कुछ भी न चाहने वाले पूर्ण समर्पित भक्त, और दूसरे सुखों की प्राप्ति के लिए भगवान को पूजने वाले भक्त। अब श्लोक-२३ में तीसरे प्रकार के भक्तों का वर्णन कर रहे हैं-

येऽप्यन्यदेवताभक्ता , यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय , यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

ये अपि अन्य-देवता-भक्ताः , यजन्ते श्रद्धया अन्विताः । ते अपि माम् एव कौन्तेय , यजन्ति अविधि-पूर्वकम् ॥

ये अन्य-देवता-भक्ताः अपि - जो (मेरे अतिरिक्त) अन्य देवताओं को पूजते हैं वे भी **श्रद्धया अन्विताःयजन्ते-** श्रद्धा से युक्त होकर पूजते हैं **ते अपि कौन्तेय! माम् एव अविधि-पूर्वकम् यजन्ति-** वे भी, हे कुंती पुत्र, 'मेरा' ही विधि रहित अज्ञान से युक्त पूजन करते है ।

देवता : देवता क्या है इस संबंध में हम पूर्व में श्लोक-४.१२ और ७.२१,२२ की टिप्पणियों में विवेचना कर चुके हैं। वहाँ कहा गया था कि देवता वस्तुतः सामूहिक इच्छाशक्ति का ही एक रूप होता है जिससे जुड़ कर व्यक्ति अपनी कामना विशेष की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यहाँ देवताओं के संबंध में तीन मुख्य बातें कही गई है- १. जो देवताओं को पूजते हैं वह भी मेरा ही पूजन करते हैं अर्थात् देवता भी परमात्म शक्ति के ही अंश है; २. श्रद्धा से युक्त होकर उनका पूजन करना विशेष फलदाई होता है; ३. किंतु उनका पूजन करना अविधि पूर्ण है।

इन कथनों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं- १. देवता इच्छाशक्ति के संघनित रूप हैं और इच्छाशक्ति भी चेतना रूप परमात्म शक्ति का ही अंश है, अतः देवता भी परमात्म शक्ति के अंश हुए; २. क्योंकि इच्छा शक्ति को केंद्रित करने में श्रद्धा प्रभावकारी होती है अतः देवता की श्रद्धा सहित उपासना शीघ्र फलदाई होगी; ३. देवता पूजन से कामना पूर्ति को परमात्मा की पूजन द्वारा कामना पूर्ति की अपेक्षा अविधि पूर्ण इसलिए कहा गया है कि इन दोनों विधियों में से पहली में परमात्मा से

थोड़ा सा भी संबंध नहीं बनता जबकि दूसरी विधि में थोड़ा संबंध तो बनता है भले ही वह आज स्वार्थ को लेकर हो, और यह स्वार्थमय संबंध धीरे-धीरे निस्वार्थ प्रेम में भी स्वभावतः बदलता ही है। इस बिंदु पर कुछ और विवेचना हम अगले श्लोक (क्रमांक-२४) की व्याख्या के अंतर्गत देने जा रहे हैं।

अगले श्लोक में तीनों प्रकार के भक्तों की उपलब्धियों की तुलना की गई है-

अहं हि सर्वयज्ञानां , भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति , तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अहम् हि सर्व-यज्ञानाम् , भोक्ता च प्रभुः एव च । न तु माम् अभिजानन्ति , तत्त्वेन अतः च्यवन्ति ते ॥

हि सर्व-यज्ञानाम् भोक्ता - निश्चय ही सभी (सकाम) यज्ञों का भोक्ता **च प्रभुः अहम् एव-** और मैं ही (अनन्य भक्तों का) स्वामी हूँ, **च (अस्मि) तु ते माम् तत्त्वेन न अभिजानन्ति-** परंतु वे (जो देवताओं को पूजने वाले सकाम भक्त है, देवताओं में स्थित), मुझे तत्व रूप में नहीं जानते **अतः च्यवन्ति-** इसीसे (गंतव्य से) च्युत हो जाते हैं ।

अहम् एव प्रभु : यहाँ 'प्रभु' शब्द से भगवान ने श्लोक-२२ में वर्णित अनन्य भक्ति के फल को व्यक्त किया है। निष्काम होकर अनन्य भाव से ‘मेरी’ भक्ति करने वाले के प्रति मेरी भूमिका 'प्रभु' की हो जाती है अर्थात् उनसे मेरा सम्बन्ध स्वामी / सेवक वाला होने से उनके योगक्षेम का उत्तरदायित्व भी मेरा बन जाता है।

अहम् सर्वयज्ञानाम् भोक्ता : इन शब्दों से भगवान ने श्लोक-२० में वर्णित सकाम यज्ञों द्वारा 'मेरा' पूजन करने वालों के साथ सम्बन्ध को 'भोक्ता' शब्द से इंगित किया है। शब्दों का भावार्थ है कि उन सकाम भक्तों की यज्ञ पूजा का 'मैं' भोक्ता बन जाता हूँ और उन्हें उनके वांछित भोगों को भोगने के लिए उपलब्ध करवा देता हूँ। इस प्रकार यहाँ भगवान और सकाम भक्तों के बीच लेन-देन वाला, ग्राहक और दुकानदार के बीच साधारण परिचय जैसा, संबंध स्थापित होता है। इस संबंध को भगवान ने 'अविधि' पूर्ण नहीं कहा (जैसा कि आगे तीसरे प्रकार के भक्तों के बारे में कहा है), क्योंकि इस परिचय में भी आगे धीरे-धीरे प्रेम युक्त संबंध के रूप में प्रगाढ़ता होने की संभावना होती है।

भक्ताः यज्यन्ते अन्य देवताः च्यवन्ति ते : तीसरे प्रकार के भक्तों, देवभक्तों के बारे में भगवान ने श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा है कि क्योंकि वे भक्त मुझे जरा भी नहीं जान पाते इसलिए गंतव्य से गिर जाते हैं, फिसल जाते हैं(च्यवन्ति ते)। हम सभी के जीवन का गंतव्य है सर्वव्यापी ज्ञान रूप चेतन सत्ता की हममें अधिकाधिक जाग्रति हो

किंतु यदि हमारा उस सत्ता से संबंध ही नहीं बने तो वह गंतव्य से च्युत होने जैसा होगा।

यहाँ प्रथम दृष्टया असंगत देखने वाली एक बात की भी चर्चा कर लेना उपयुक्त होगा। देवता भी भगवत् शक्ति के अंश है किंतु उनकी सकाम भक्ति को भगवान ने अविधि पूर्ण और गिराने वाली बताई है। इस रहस्य को आधुनिक ई-युग के एक उदाहरण से समझना आसान होगा। 'ऑनलाइन शॉपिंग' से वस्तुएं खरीदना सुविधाजनक तो होता है किंतु इस प्रकार दुकानदार से ग्राहक का व्यक्तिगत परिचय नहीं बन पाता। इसी प्रकार, देव पूजा से कामनाओं की पूर्ति तो बहुधा अधिक शीघ्रता से हो जाती है किंतु भगवत् शक्ति से भक्त का संबंध इस प्रकार किंचित भी नहीं बनता, उसकी आध्यात्मिक उन्नति की संभावनाओं का मार्ग नहीं खुलता वह अपनी कामनाओं की कोठरी में कैद रह जाता है। इसके विपरीत क्योंकि भगवान सब जीवों की जीवन रूप सर्वसामान्य सत्ता है अतः उनकी भक्ति से व्यक्ति को पृथकत्व प्रदान करने वाला उसका अहंकार सार्वजनीन प्रेम में रूपांतरित होने की दिशा में आगे बढ़ेगा ही वह रूपांतरण ही आध्यात्मिक प्रगति है।

परमात्मा की भक्ति अथवा देवों की काम्य भक्ति इन दो विपरीत दिशाओं की बात को विस्तार देते हुए भगवान अब अगले श्लोक (क्रमांक-२५) में उस सामान्य नियम का उद्घाटन कर रहे हैं जिसके अनुसार व्यक्ति वही वस्तु / स्थिति प्राप्त करता है जिस की अभीप्सा करते हुए वह तदनुरूप भक्ति करता है। आधुनिक काल में इस तथ्य को ही कुछ लोग आकर्षण के नियम (The Law of Attraction) के रूप में व्यक्त करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् , पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या , यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

यान्ति देव-व्रताः देवान् , पितृन् यान्ति पितृ-व्रताः । भूतानि यान्ति भूत-इज्याः , यान्ति मत् याजिनः अपि माम् ॥

देव-व्रताः देवान् यान्ति- देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त करते हैं, **पितृ-व्रताः पितृन् यान्ति-** पितरों के उपासक पितरों को प्राप्त होते हैं, **भूत-इज्याः भूतानि यान्ति-** भूतों के पुजारी भूतों को प्राप्त करते हैं (और) **मत् याजिनः माम् अपियान्ति-** मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

व्यक्तित्व विकास के अनुरूप यहाँ पूजा / उपासना के चार स्तरों की तथा तदनुरूप वांछित फल के प्राप्त होने की बात कही गई है। हम ऊपर (श्लोक-२३ की टिप्पणी में) कह चुके हैं कि देवता मानसिक चेतना के रूप हैं। प्रतिकार्थ को आगे बढ़ाएं तो

यहाँ पितर प्राणिक चेतना, तथा भूत दैहिक चेतना को निरूपित करते हैं। भगवान तो समष्टि की परमात्म चेतना तथा व्यष्टि की आत्म चेतना हैं ही। इस प्रकार, श्लोक का भावार्थ यह बनता है कि विकास स्थिति के अनुसार व्यक्ति में शरीर, प्राण, मनस अथवा आत्मा इनमें से जो भी उसकी चेतना का केंद्र होगा उसके अनुरूप ही उसका प्राप्तव्य होगा अर्थात् उसकी पाने की इच्छा होगी, तदनुरूप ही उसकी उपासना होगी और अंततः व्यक्ति उस वस्तु / स्थिति को ही प्राप्त करेगा। वस्तुतः इस तथ्य को प्रकाशित कर के श्लोक में हमें जाग्रत होने की प्रेरणा दी गई है कि हम कहीं निम्न प्राप्तव्यों के चक्कर में अपने जीवन को वृथा तो नहीं खो रहे हैं।

यदि हम परम लक्ष्य- परमात्मा - को प्राप्त करना चाहें तो उसकी अनन्य भक्ति का क्रियात्मक स्वरूप क्या होगा, इसका वर्णन अगले दो श्लोक (क्रमांक-२६,२७) में किया जा रहा है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं , यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतम् , अश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्रम् पुष्पम् फलम् तोयम् , यः मे भक्त्या प्रयच्छति । तत् अहम् भक्ति-उपहृतम् , अश्नामि प्रयत आत्मनः ॥

यः मे भक्त्या पत्रम् पुष्पम् फलम् तोयम् प्रयच्छति- जो मुझे भक्ति से वृक्ष का पत्ता, पुष्प, फल और जल अर्पण करता है **(तस्य) प्रयत-आत्मनः-** उस पवित्र आत्मा द्वारा **भक्ति-उपहृतम् तत् अहम् अश्नामि -** भक्ति पूर्वक समर्पित उनको मैं ग्रहण करता हूँ ।

यहाँ जो पत्र, पुष्प, फल और जल भगवान को अर्पण करने का कहा गया है उसे मूर्ति पूजा के रूप में व्याख्यित किया जाना निश्चित ही स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि महाभारत काल में मूर्ति पूजा थी ही नहीं। अत: इन शब्दों के प्रतिकार्थ ही हमें लेना चाहिए। जल का प्रतिकार्थ तो भगवान स्वयं ही जल में मैं रस हूँ यह कहकर (श्लोक-७.८ में) इंगित कर चुके हैं। रस अर्थात् आनंद या सुख। पत्र (पत्ता) कर्म का प्रतीक है। जैसे पत्तों से वृक्ष का जीवन संचालित होता है, उसी प्रकार, कर्म से मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक जीवन संचालित होता है। पुष्प अर्थात् गंध। सुकर्मों से जो यश फैलता है उसे गंध/पुष्प से निरूपित किया गया है। 'फल' स्पष्ट ही कर्मफल है। इस प्रकार, श्लोक का भावार्थ यह है कि अनन्य भक्ति हेतु हम सुकर्म (निष्काम कर्म) करें और उन्हें भगवत् कार्य मानते हुए उन्हें परमात्मा को अर्पण करें, उन कर्मों से समाज में कर्ता को जो यश प्राप्त होता है उसे गंध/पुष्प से निरूपित किया गया है। फल स्पष्ट ही कर्मफल हैं। इस प्रकार श्लोक का भावार्थ यह है कि अनन्य भक्ति हेतु हम सुकर्म (निष्काम कर्म) करें और उन्हें भगवत् कार्य मानते हुए उन्हें परमात्मा को

अर्पण करें, उन कर्मों से समाज में जो यश प्राप्त होता है उसे गंध पुष्प से यहाँ निरूपित किया गया है, उसे परमात्मा का ही यश मानना अति आवश्यक है अन्यथा वह कर्ता में अहंकार को सुदृढ़ कर उसे पथ से च्युत ही करेगा। यदि कर्म का अच्छा परिणाम दिखे तो उसका श्रेय स्वयं न लेकर परमात्मा को ही देवे, यही फल का अर्पण करना होगा। और उस कर्म के सुपरिणाम देख कर यदि कर्त्तापन के आनंद की अनुभूति हो रही है तो उसे भी परमात्मा को ही अर्पण किया जाना आवश्यक है। इस रूप में निष्काम कर्मों के चारों पक्षों का समर्पण होने पर भी भगवान की अनन्य भक्ति का वह अधिकारी बन सकेगा।

उपरोक्त श्लोक में जो बात प्रतीक रूप में कही गई उसे अब सीधे शब्दों में सार रूप में श्लोक-२७ में व्यक्त करते हुए उसका फल श्लोक-२८ में कर्म बंधन से मुक्ति और भगवत् प्राप्ति बताई जा रही है।

यत्करोषि यदश्नासि , यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय , तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

यत् करोषि यत् अश्नासि , यत् जुहोषि ददासि यत् । यत् तपस्यसि कौन्तेय , तत् कुरुष्व मत् अर्पणम् ॥

कौन्तेय- हे कुन्तीपुत्र ! **यत् करोषि यत् अश्नासि-** (तू) जो (कर्म) करता है, जो खाता है, **यत् जुहोषि यत् ददासि-** जो हवन करता है, जो दान देता है, **यत् तपस्यसि तत् मत् अर्पणम् कुरुष्व -** जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर ।

व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कर्मों को मुख्य दो वर्गों में बांटा जा सकता है- एक, वे जिन्हें वह स्वयं के लिए करता है, दूसरे वे जिन्हें वह अन्यों के लिए करता है। जिन कर्मों को वह अपने लिए करता है उन्हें यहाँ 'यत् अश्नासी' इन शब्दों से इंगित किया गया है, और उन कर्मों को जो दूसरों के हितार्थ किये जावें उन्हें गीता ने यज्ञ, दान और तप इन तीनों उपवर्गों में बांटा है। समष्टि हितार्थ किए जाने वाले कर्म यज्ञ हैं, यह बात गीता ने अध्याय-३ में विस्तारपूर्वक बताई है। उसी विवेचना के अनुरूप हमें इस त्रिक (यज्ञ,दान,तप) के शेष दो पदों को भी समझना होगा। अतः हम कह सकते हैं कि दान वह कर्म है जो कुछ लोगों अथवा किसी संस्था के हितार्थ किये जावें; और किसी व्यक्ति की सेवा-सुश्रुषा आदि कर्मों को यहाँ तप कहा गया है। श्लोक में इन सभी को परमात्म भाव से किये जाने का निर्देश दिया गया है। इतना ही नहीं, प्रथम वर्ग के (स्वयं के लिए किए जाने वाले) कर्मों को भी भगवत् अर्पण करने की जो बात यहाँ कही गई है उसका भाव यही होना चाहिए कि व्यक्ति को अपने शरीर और मन-

बुद्धि को भी स्वस्थ रखने के लिए जो कर्म करना होंगे उन्हें भी इसी रूप में हम भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म मानें कि इन्हे स्वस्थ रखने पर ही यज्ञ,दान, तप द्वारा भगवत् सेवा संभव होगी।

इस प्रकार अपने समस्त कर्मों के समर्पण रूप अनन्य भक्ति से, हे अर्जुन! तेरा (अथवा किसी भी व्यक्ति का) जीवन किस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर लेगा उसका वर्णन श्लोक- २८ में किया गया है-

शुभाशुभफलैरेवं , मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा , विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

शुभ-अशुभ-फलैः एवम् , मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः । संन्यास-योग-युक्त-आत्मा , विमुक्तः माम् उपैष्यसि ॥

एवम् कर्म-बन्धनैःशुभ-अशुभ-फलैः मोक्ष्यसे - इस प्रकार कर्मों के बंधन रूप शुभ-अशुभ फलों से (तू) मुक्त हो जाएगा । **विमुक्तः संन्यास-योग-युक्त-आत्मा माम् उप-एष्यसि -** विमुक्त होकर संन्यास योग से युक्त हुआ (तू) मुझे प्राप्त कर लेगा ।

संन्यासयोग : विनोबा ने इस सामासिक शब्द की व्याख्या बहुत ही सुंदर की है। उन्होंने इसे द्वन्द समास मान कर अर्थ किया है- संन्यास और योग। व्याख्या करते हुए कहा- 'संन्यास में न्यास शब्द का अर्थ है तोड़ना और योग में यूज् धातु है यानी जोड़ना। समर्पण में कर्म और फल अपने से तोड़ा जाता है और ईश्वर से जोड़ा जाता है अतः इस में संन्यास और योग दोनों का समावेश है।

अब अगले श्लोक में भक्त को प्राप्त होने वाली उपरोक्त स्थिति में भगवान की क्या कोई भूमिका रहती है यह विवेचना वे स्वयं कर रहे हैं-

समोऽहं सर्वभूतेषु , न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या , मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

समः अहम् सर्व-भूतेषु , न मे द्वेष्यः अस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु माम् भक्त्या , मयि ते तेषु च अपि अहम् ॥

अहम् सर्व-भूतेषु समः- मैं सब भूतों (लोगों) के लिए सम हूँ, **न मे द्वेष्यः न प्रियः अस्ति-** न कोई मेरा अप्रिय है, न प्रिय है, **तु ये माम् भक्त्या भजन्ति-** परंतु जो मुझको भक्ति से भेजते हैं (सेवते), **ते मयि च अहम् अपि तेषु-** वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें (हूँ) ।

परमेश्वर में राग-द्वेष नहीं है फिर भी भक्तों के प्रति उनके शब्द हैं- 'वे मुझ में है और मैं भी उनमें हूँ'। किंतु पहले उन्होंने कहा था 'सब भूत मुझ में स्थित हैं किंतु मैं उनमें नहीं हूँ' (श्लोक-९.४)। दोनों वचनों से निष्कर्ष निकलता है कि भगवान सब भूतों के

प्रति सम होते हुए भी भक्तों में उनका जो विशेष प्रकाश है वह भक्ति के कारण है। वस्तुतः यह उसी नियम का पुनर्कथन है कि भगवान सर्वव्यापी हैं किंतु उनकी अभिव्यक्ति प्राणी / व्यक्ति की शारीरिक / मानसिक / अध्यात्मिक संरचना पर निर्भर करती है। भक्त के मनस की संरचना ही उनकी अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त हो जाने के कारण भक्त में उनका प्राकट्य विशेष हो जाता है। इसी तथ्य को भगवान ने पूर्व में यह कहकर प्रकट किया था कि 'जो जिस प्रकार मुझे भजते हैं उनको मैं उसी प्रकार भजता हूँ' (श्लोक-४.११)। शांकर भाष्य में इसे एक सुंदर उदाहरण से समझाया गया है- 'अग्नि अपने से दूर रहने वाले प्राणियों के शीत का निवारण नहीं करती,पास आने वालों का ही करती है'। विनोबा के अनुसार निष्कर्ष यह कि 'परमेश्वर की रागद्वेष रहितता से उसके भक्त-वात्सल्य का विरोध नहीं है'। ईश्वर दोनों गुणों से युक्त है।

अब अगले चार श्लोकों (क्रमांक-३० से ३३) में भगवान अनन्य भक्ति मार्ग की दो ऐसी विलक्षणतायें बता रहे हैं जो कि अन्य किसी साधन मार्ग में उपलब्ध नहीं होतीं। प्रथम, (श्लोक-३०,३१ में) बता रहे हैं की अनन्य भक्ति का निश्चय करके उस पथ पर अतिशय दुराचारी रहा व्यक्ति भी दृढ़ता पूर्वक चलना प्रारंभ कर देता है तो उसे पूर्व कृत दुषकर्मों के फल नहीं भुगतना पड़ते, वह परम कल्याण को ही प्राप्त होता है।

अपि चेत्सुदुराचारो , भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः , सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अपि चेत् सु-दुः-आचारः , भजते माम् अनन्य-भाक् । साधुः एव , सः मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितः हि सः ॥

चेत् सु-दुः-आचारः अपि - यदि अत्यंत दुराचारी भी **माम् अनन्य-भाक् भजते-** मुझे अनन्य भक्ति से भजने लगता है, **सः साधुः एव मन्तव्यः-** उसे (अब) साधु ही समझना चाहिए **हि सः सम्यक् व्यवसितः -** क्योंकि अब वह परिपक्व निश्चय वाला हो गया है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा , शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि , न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

क्षिप्रम् भवति धर्म-आत्मा , शश्वत् शान्तिम् निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि , न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

कौन्तेय! (सः) क्षिप्रम् धर्म-आत्मा भवति- (वह) शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है, **शश्वत् शान्तिम् निगच्छति-** (और) चिर शांति को प्राप्त करता है । **मे भक्तः न प्रणश्यति-** मेरा भक्त कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता, **(इति) प्रतिजानीहि-** (ऐसा) निश्चय जान ले ।

उपरोक्त दो श्लोकों में अनन्य भक्ति (परमात्म ज्ञान सहित निष्काम सेवा वाले) मार्ग की यह विलक्षणता बताने के बाद कि इस मार्ग पर दृढ़ता पूर्वक चल पड़ने वाले के पूर्व कृत दुष्कर्म भी बाधक नहीं बनते, अब दूसरी बड़ी महत्वपूर्ण विलक्षणता बता रहे हैं जो संभवतः किसी भी अन्य साधन पद्धति में उपलब्ध नहीं होती। श्लोक-३२,३३ में भगवान भक्ति मार्ग की इस अनुपम विशेषता का वर्णन कर रहे हैं-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य , येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः , तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

माम् हि पार्थ वि अप आश्रित्य , ये अपि स्युः पाप-योनयः । स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः , ते अपि यान्ति पराम् गतिम् ॥

पार्थ! ये अपि हि माम् व्यपाश्रित्य- हे पार्थ! क्योंकि मुझ में शरण लेकर (तो) **पाप-योनयः शूद्राः वैश्याः स्त्रियः तथा ते अपि स्युः-** पतितों के घर उत्पन्न लोग, शूद्र, वैश्य, स्त्रीयें- जो भी हों **पराम् गतिम् यान्ति -** परम गति को प्राप्त होते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या , भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकम् , इमम् प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

किम् पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः , भक्ताः राजर्षयः तथा । अनित्यम् असुखम् लोकम् , इमम् प्राप्य भजस्व माम् ॥

पुनः ब्राह्मणाः तथा पुण्याः भक्ताः राजर्षयः किम्- फिर ब्राह्मणों तथा पुण्यवान भक्त राजर्षि लोगों के बारे में तो कहना ही क्या ? **इमम् अनित्यम् असुखम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व -** इस विनाशवान सुख रहित संसार को प्राप्त होकर मेरा ही भजन करते (भजते=सेवते) हैं ।

यहाँ विरल विलक्षणता यह बताई गई है कि व्यक्ति उसके मानसिक विकास के किसी भी पड़ाव पर हो, यदि वह परमात्मा की अनन्य भक्ति का मार्ग पकड़ ले तो उसे मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति उस पड़ाव पर ही प्राप्त हो जाएगी, उसे क्रम-विकास के विभिन्न चरणों को पार करने की आवश्यकता नहीं होगी। जबकि अन्य साधन पद्धतियों में गुरु द्वारा शिष्य को उसकी पूर्व योग्यता (वर्ण) देखकर उसे उसकी स्थिति के अनुरूप दीक्षा देकर आगे बढ़ाना होता है। आज भी यह पद्धति अधिकांश भक्ति-इतर संप्रदायों में प्रचलित है।

श्लोकों में चातुर्वर्ण सहित दो और नाम- पापयोनयः और स्त्रियः - भी आए हैं। यह उल्लेख चातुर्वर्ण को समझने में हमारे लिए अतिरिक्त महत्व का हो गया है। प्राचीन कालीन ग्रंथों में चातुर्वर्ण के बारे में जो उल्लेख और कुछ वर्णन मिलते हैं वे इस रूप में आधे-अधूरे हैं कि इस वर्गीकरण का मूल आधार क्या था यह पूर्णतः प्रकट नहीं होता। उक्त वर्गीकरण व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों पर आधारित था या बाह्य,

पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों पर? यह जानकारी हमें ग्रंथों से सीधे उपलब्ध नहीं हैं, और शायद अब होगी भी नहीं क्योंकि विद्वानों का अनुमान है कि ऐसा बहुत सा अमूल्य साहित्य, असभ्य और मूर्ख विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पुस्तकालयों को आग में झोंक दिए जाने के कारण नष्ट हो चुका है। फिर भी जो बिखरे सूत्र अब भी उपलब्ध है उन्हें ठीक से समझने का प्रयत्न होगा तो कुछ उलझे प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण एक ऐसा ही उदाहरण है जिसे समझने का हमें प्रयत्न करना चाहिए।

यहाँ चतुर्वर्ण के साथ 'स्त्री' को जो सम्मिलित किया गया है वह विचारणीय है। स्त्रीयें तो चारों वर्णों की होंगी, फिर उनका वर्ण अलग कैसे हो सकता है। दूसरे जो क्रम है वह वह भी विचारणीय है। 'स्त्री' से निम्न स्तर पर वैश्य और शूद्र तथा उससे ऊपर क्षत्रिय (राजर्षि) और ब्राह्मण। हमारा विचार है यहाँ यें नाम मानवीय चेतना के स्तर को निरूपित कर रहे हैं। इस निरूपण को हम इस प्रकार समझ सकते हैं-

मनुष्य में चेतना-विकास मानसिक स्तर पर हो रहा है (अन्य प्राणियों में क्रम-विकास का क्षेत्र शारीरिक स्तर पर था)। मानसिक चेतना का विकास भी उसी क्रम में आगे बढ़ता है जिस क्रम में प्राणियों में भौतिक संरचना विकसित हुई थी अर्थात् इंद्रियां, मन, बुद्धि और अहं तत्त्व, इस क्रम में। चेतना के इन केंद्रों के अनुसार ही व्यक्ति को शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण कहा गया, ऐसा समझना युक्ति युक्त होगा। इस आधार पर इन चारों वर्णों की आधारभूत परिभाषा इस प्रकार होगी-

शूद्र : वह व्यक्ति जिसमें मानसिक चेतना का केंद्र ऐंद्रिय बना हुआ है अर्थात् जो प्राणिक सुखों के लिए ही जी रहा है।

वैश्य : जिसका केंद्र मन है और इस कारण वह वस्तुओं, धन, वैभव आदि का आवश्यकता से अधिक संग्रह करके मानसिक संतुष्टि और सुख को जीवन का लक्ष्य बना लेता है।

क्षत्रिय : वह जिसका केंद्र ऐसी बुद्धि है जो उसे प्रेरित करती है कि वह सुव्यवस्था स्थापित करके अधिक से अधिक लोगों को सुख और शांति उपलब्ध करवा सकें।

ब्राह्मण : वह जिसका केंद्र आत्मा है, जो मैं हूँ वही सब में भी है, ऐसे एकत्व की अनुभूति की ओर अग्रसर व्यक्ति ।

चातुर्वर्ण के उपरोक्त विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि गुण और कर्म के आधार पर व्यक्तियों का 'वर्ण' के रूप में जो वर्गीकरण किया गया है उसका आंतरिक आधार मानसिक चेतना का क्रम विकास है। स्पष्ट है कि भगवान ने 'स्त्री' को भी यदि यहाँ एक अतिरिक्त वर्ण के रूप में रखकर उसका क्रम निर्धारित किया- शूद्र, वैश्य, स्त्री, क्षत्रिय और ब्राह्मण- तो यहाँ 'स्त्री' शब्द का आशय मादा शरीर धारी मनुष्य नहीं वरन् मनुष्य की मानसिक चेतना के उस स्तर को इंगित कर रहा है जो 'वैश्य चेतना' से ऊपर और 'क्षत्रिय चेतना' से निम्न स्तर पर है। लेकिन चेतना हमें दिखती नहीं है, दिखते तो गुण और कर्म है अतः 'स्त्री' रूप मानसिक चेतना के किन गुण-कर्म के आधार पर इस चेतना स्तर की पहचान निर्धारित की जा सकती है?

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में हमें 'दुर्गा सप्तशती' (मार्कंडेय पुराण) की वह भूमिका कथा स्मरण आती है जिसमें घर से निष्कासित एक वैश्य और राज्य से वंचित (क्षत्रिय) राजा को एक तपस्वी मुनि ने बहुत सरल ढंग से उनके मानसिक संताप से उबारा था। मुनि ने सामने के वृक्ष पर घोसले में बैठी एक चिड़िया की ओर इशारा किया जो अपने नवजात बच्चों को खाना चुगा रही थी। मुनि ने बताया कि चिड़िया द्वारा दाना स्वयं न खाते हुए उसे चबाकर बच्चों को खिलाना भी एक माया है किंतु यह बंधनकारी नहीं है। बच्चे बड़े होते ही उड़ जाएंगे और फिर यह मां-बच्चों का संबंध हमेशा के लिए टूट जाएगा। वें इस रूप में एक दूसरे को पहचानेंगे भी नहीं। किंतु मनुष्य एक अन्य प्रकार की माया से बंध जाता है और वह माया ही उसे संताप देती है। दूसरी माया से मुनि का तात्पर्य था मनुष्य के मन-मस्तिष्क में 'मैं और मेरे' की स्वार्थ वृत्ति जो उसके मानसिक दुखों की जड़ में निरपवाद रूप से रहती हैं और समझ आने पर मनुष्य उससे छूटने का उपाय भी ढूंढता है। इन दोनों प्रकार की माया के अंतर को हम भली प्रकार पहचान लें तो उसके सहारे, गीता के इस श्लोक का भावार्थ भी स्पष्ट हो जाता है। दुर्गा-सप्तशती में जिस प्रथम असंतप्तकारी माया को चिड़िया के रूप में चित्रित किया गया है उसे ही यहाँ गीता के इस श्लोक में 'स्त्री' के रूप में इंगित किया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो दुर्गा-सप्तशती में चेतना के जिस स्तर को चिड़िया के द्वारा रेखांकित किया गया है उसे ही यहाँ 'स्त्री' नाम से निरूपित किया गया है। जिस प्रकार, चिड़िया नैसर्गिक रूप से, बिना किसी विचार से प्रेरित हुए, निर्बोधता से, अनभिज्ञता से, निस्वार्थ कर्म में प्रवृत्त थी, मनुष्य में उसी नैसर्गिक प्रवृत्ति को यहाँ 'स्त्री' शब्द से इंगित किया गया है। 'स्त्री' अर्थात् बिना सजगता, के केवल नैसर्गिक प्रेम से प्रेरित उचित कर्म में संलग्न चेतना। इस चेतना को 'वैश्य चेतना' से ऊपर और 'क्षत्रिय चेतना' से निम्न स्तर पर रखने का कारण भी अब

इस रूप में स्पष्ट हो जाता है की 'वैश्य चेतना' वह स्थिति है जहाँ व्यक्ति के मनस में स्वार्थ वृत्ति उसकी नैसर्गिक वृत्ति को भी ढक देती है। किंतु नवजात शिशु के प्रति माँ में वह नैसर्गिक वृत्ति प्रबल होती है और स्वार्थ वृत्ति तात्कालिक रूप से क्षीर्ण। माँ में क्रियाशील उस प्रबलतर नैसर्गिक प्रेम युक्त कर्म में प्रेरित करने वाली चेतना को 'स्त्री' नाम से संबोधित करते हुए उसे स्वार्थ प्रेरित 'वैश्य चेतना' से उच्च किंतु सजग रूप से परहित में संलग्न 'क्षेत्रीय चेतना' से निम्न स्थान दिया गया है।

पापयोनयः - इस शब्द की व्याख्या को लेकर भी टीकाकरण में बहुत मतभेद हैं। शाब्दिक अर्थ है- पाप से या पाप में पैदा हुए। कुछ ने मनुष्येतर योनोयों को पाप योनि माना किन्तु इसमें कठिनाई यह खड़ी होती है कि पशु-पक्षियों की मुक्ति भक्ति से होने की बात उन पर कैसे लागू होगी। शांकर भाष्य में स्त्री, वैश्य, शूद्र को पाप योनि कहा गया किंतु यह तो मनुष्य को 'अमृतस्य पुत्रा' कहने वाले वेद और संस्कृति के सर्वथा विपरीत बात होगी। (वस्तुतः तो शांकर भाष्य का यह कथन भगवान शंकराचार्य की कलम से निकला हो यह असंभव दिखता है और यह हमारी इस धारणा की ही पुनः पुनः पुष्टि करता है कि गीता का शंकर भाष्य उन महात्मा की कृति है ही नहीं)। तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि जिनका जन्म पतितो के घर हो गया और वें परंपरा से लूट आदि पाप कर्मों में संलग्न हो गए उनके लिए 'पाप योनयः' शब्द का प्रयोग हुआ हो। वाल्मीकि के जीवन परिवर्तन की प्रसिद्ध कथा इस श्लोक में कही गई बात का ही उदाहरण प्रस्तुत कर रही है।

निष्कर्ष : भक्ति मार्ग की उपरोक्त विलक्षणतायें, जैसा कि हम श्लोक-३० की भूमिका में व्यक्त कर चुके हैं, साधना के अन्य मार्गो में संभव नहीं है। किंतु भक्ति क्या है? इस संबंध में भगवान के वचनों को भूल कर हम बहुधा जो अपने अर्थ का आग्रह करते हैं उसे छोड़ना होगा। भगवान ने उस भक्ति की अनुशंसा नहीं की है जो आज सर्वत्र देखने को मिलती है, जिसका उद्देश्य या तो मनोरंजन होता है अथवा कुछ समय के लिए भगवत् स्मरण करते हुए मानसिक आनंद के भाव में डूबना होता है। भगवान ने यहाँ भी बार-बार और आगे भी अनेक बार स्पष्ट रूप से भक्ति का जो स्वरूप बताया है उसमे भक्त को अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक पक्ष- प्राण (कर्म), मन, बुद्धि, अहंकार- का भगवान को समर्पण करना होता है (द्दष्टव्य श्लोक-१२.६ भी)। गीता में भगवान ने जिस भक्ति की बात बार-बार कही है उसका तो प्रारंभ ही निष्काम कर्म से होता है। वस्तुतः जिस भजन शब्द का प्रयोग बार-बार किया गया है

उसका अर्थ सेवा है (धातु भज= सेवते) जिसे भगवत् भाव से करना भक्ति का प्रथम चरण है तथा अंतिम चरण हैं अपने अहंकार का, कर्तापन का विसर्जन।

इसी बात को पुनः रेखांकित करने के लिए अध्याय के अंतिम श्लोक में, सार रूप में, भगवान के शब्द हैं-

मन्मना भव मद्भक्तो , मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् , आत्मानम् मत्परायणः ॥३४॥

मत्-मनाः भव मत्-भक्तः , मत्-याजी माम् नमस्कुरु । माम् एव एष्यसि युक्त्वा एवम् , आत्मानम् मत्-परायणः ॥

मत्-मनाः भव- मुझ को मन समर्पित करने वाला हो, **मत्-भक्तः (भव)-** मेरा भक्त हो (मेरा सेवक हो) **मत्-याजी-** यज्ञ द्वारा मेरा पूजन करने वाला हो (यज्ञ = त्यागमय सेवा कर्म), **माम् नमस्कुरु -** मुझ को नमन कर (अपने अहंकार का समर्पण मुझे कर) **। एवम् आत्मानम् युक्त्वा -** इस प्रकार अपनी संपूर्ण सत्ता (व्यक्तित्व) को मुझ में युक्त करके **मत्परायणः माम् एव एष्यसि-** मेरे शरण होने पर मुझको ही प्राप्त होगा ।

अध्याय-१० में प्रवेश के पूर्व विषय का विहंगावलोकन

विगत अध्यायों के विषय का पुनरावलोकन करें तो हम देखेंगे कि भगवत् प्राप्ति के साधन पथ को लेकर भगवान ने पांचवें और छठे अध्याय में जिस विषय पर वार्ता प्रारंभ की थी उसके आधार को सातवें और नवें में ज्ञान-विज्ञान के रूप में वर्णित करते हुए अब दसवें अध्याय का प्रारंभ भी उसी विषय को लेकर है क्योंकि अर्जुन ने यहाँ कोई नया प्रश्न पूछा ही नहीं है। वार्ता का विषय तो है वही है किंतु जब इसे भिन्न अध्यायों में बांटा गया है तो इस बंटवारे के आधार को समझ लेने से हमें विषय के विभिन्न पक्षों को समझने में मदद मिलेगी।

सातवें अध्याय के प्रारंभ में भगवान ने अर्जुन को कहा था कि वे उसे संपूर्णता से विज्ञान सहित ज्ञान कहेंगे और फिर अध्याय में उन्होंने सृष्टि तथा व्यष्टि में भगवत् सत्ता के विभिन्न रूपों में व्याप्ति का जो वर्णन किया है उसे हमे वह 'ज्ञान' ही समझना चाहिए जिसे कहने की उन्होंने घोषणा की थी। आठवें अध्याय का प्रारंभ यद्यपि अर्जुन के प्रश्नों से होता है किंतु वें प्रश्न प्रसंग वश उठे थे और वहाँ उनका समाधान करने के बाद नवें अध्याय में भगवान ने जो कुछ कहा है उसे हम 'विज्ञान' अर्थात् ज्ञान का क्रिया पक्ष कह सकते हैं। उक्त ज्ञान और विज्ञान के साथ उन्होंने इस जानकारी का उपयोग परमात्म प्राप्ति के लिए किस प्रकार किया जाता है इसका वर्णन भी उक्त अध्यायों के अंत वाले कुछ श्लोकों में किया है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अध्यय-९ के अंत में अथवा अध्याय-१० के प्रारंभ में अर्जुन ने कोई प्रश्न नहीं किया परंतु भगवान ने अपनी वार्ता चालू रखी जिसे गीताकार ने अलग अध्याय (क्रमांक-१०) के रूप में प्रस्तुत किया है तो इससे प्रकट है कि 10वां अध्याय अध्याय-९ का ही परिशिष्ट अथवा विस्तार है, किंतु अध्याय भिन्न है इससे प्रकट होता है कि विषय वही होते हुए भी विषय का पहलू कुछ भिन्न होना चाहिए।

अध्याय-१० और ११ में भगवान अब 'वर्णन' से आगे 'दर्शन' की ओर बढ़ रहे हैं। भगवान ने अध्यय-९ में परमात्मा के विज्ञान पक्ष अर्थात् ज्ञान शक्ति के क्रियात्मक पक्ष का वर्णन किया था, अब वें उस जानकारी को प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा अनुप्रमाणित और पुष्ट करवा रहे हैं। इस हेतु से वे १०वें अध्याय में परमात्म सत्ता की विभिन्न रूपों में सर्वोच्च अभिव्यक्तियों का और ११वें अध्याय में उसी एक सत्ता से संपूर्ण देवशक्तियों के तथा जगत के समस्त चर-अचर प्राणियों के अक्षय स्रोत होने का दर्शन करा रहे हैं।

इस प्रकार इन आगामी दो अध्यायों में हम परमात्मा की सर्वव्यापकता का 'सब में एक और एक में सब' इन रूपों में दर्शन करेंगे।

दशमः अध्यायः

परमात्मा सत्ता की विभूतियों का दर्शन

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो , शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय , वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

भूयः एव महाबाहो , शृणु मे परमम् वचः । यत् ते अहम् प्रीयम् आणाय , वक्ष्यामि हित-काम्यया ॥

महाबाहो- हे वीर ! **मे परमम् वचः भूयः एव शृणु-** मेरे कल्याणकारी वचनों को फिर (और) भी सुन, **यत् अहम् ते प्रीयमाणाय-** जिन्हें मैं तुझ अतिशय प्रेमी (प्रीत की जाल में बांध लेने वाले) के लिए **हित-काम्यया वक्ष्यामि -** हित की कामना से कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः , प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां , महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

न मे विदुः सुर-गणाः , प्रभवम् न महर्षयः । अहम् आदिः हि देवानाम् , महर्षीणाम् च सर्वशः ॥

मे प्रभवम्- मेरी उत्पत्ति को **न सुर-गणाः न महर्षयः सर्वशः विदुः-** न देवगण (और) न महर्षिगण सर्वथा जानते हैं, **हि अहम् देवानाम् च महर्षीणाम् आदिः -** क्योंकि मैं देवताओं का और महर्षियों का (भी) आदि स्रोत हूँ ।

यो मामजमनादिं च , वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु , सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

यः माम् अजम् अनादिम् च , वेद्-ति लोक-महेश्वरम् । असम्मूढः सः मर्त्येषु , सर्व-पापैः प्रमुच्यते ॥

यः माम् अजम् अनादिम् च लोक-महेश्वरम् वेत्ति- जो मुझे अजन्मा (जन्म रहित) अनादि और लोकों का नियंता जानता है, **सः मर्त्येषु असम्मूढः सर्व-पापैः प्रमुच्यते -** वह मनुष्यों में ज्ञानवान (व्यक्ति) संपूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ।

उपरोक्त तीन श्लोकों में कहा गया है कि महर्षि और देवता मुझ परमात्मा को नहीं जानते किंतु ज्ञानवान मनुष्य यह जान सकते है कि 'मैं' अजन्मा और अनादि हूँ। इस कथन से स्पष्ट है कि यहाँ उल्लेखित 'महर्षि' वेद मंत्रों के रचयिता ऋषि नहीं हैं, वे

महत्त प्रकृति से भगवत् सत्ता द्वारा उत्पन्न की गई प्रारंभिक रचनाएं हैं, और इसी प्रकार यहाँ उल्लेखित देवता भी प्रकृति में समाविष्ट परमेश्वर की शक्तियां हैं जो सृष्टि निर्माण में सहायक हुई हैं। किंतु ज्ञान के पैमाने पर ज्ञानी मनुष्य उन सबसे अधिक उन्नत है। वस्तुतः मनुष्य को क्रम विकास में मन-बुद्धि-अहंकार रूप में जो प्रबल क्षमताऐं प्राप्त हुई है उन के सदुपयोग से वह आध्यात्मिक उन्नति अथवा दुरुपयोग से अवनति, किसी भी मार्ग पर जा सकता है। उन क्षमताओं का दुरुपयोग करके वह पापी भी बन सकता है अर्थात् घोर अवनति प्राप्त कर सकता है, और सदुपयोग करके ज्ञान युक्त कर्म द्वारा वह सर्व कल्याणकारी अवतारी महापुरुष भी बन सकता है।

मनुष्य को उपलब्ध दोनों मार्गो- आध्यात्मिक उत्थान अथवा इससे विपरीत अवनति वाले मार्ग का बोध कराने के बाद अब भगवान यह बता रहे हैं कि परमात्मा की उपासना करने वाले के मनस में वे क्रमशः अधिकाधिक अभिव्यक्त होते हुए उसे आध्यात्मिक पथ पर आगे ले जाते हैं। सतत स्मरण सबसे प्रभावी उपाय है जो वह दो प्रकार से कर सकता है- १. साधक उन भावों का चिंतन करते हुए उन्हें जीवन में धारण करने की प्रबल इच्छा करें जो परमात्मा के कारण होते हैं (इनका वर्णन श्लोक-४,५ में किया जा रहा है), और २. सृष्टि में उनके कार्य का अनुसरण करता रहे जो इस सृष्टि की उत्पत्ति और विकास में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है (इनका वर्णन पौराणिक भाषा में श्लोक-६ में इंगित किया गया है)।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः , क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो , भयं चाभयमेव च ॥४॥

बुद्धिः ज्ञानम् असम्मोहः , क्षमा सत्यम् दमः शमः । सुखम् दुःखम् भवः अभावः , भयम् च अभयम् एव च ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा समता तुष्टिः तपः दानम् यशः अयशः । भवन्ति भावाः भूतानाम् मत्तः एव पृथक्-विधाः ॥

बुद्धिः, ज्ञानम्, असम्मोहः, क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः, सुखम्, दुःखम्, भवः, अभावः, भयम् च एव अभयम् च अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम्, यशः, अयशः, (इमे) भूतानाम् पृथक्-विधाः भावाः मत्तः एव भवन्ति ।

बुद्धि, ज्ञान (बोध) असंमोह (स्पष्ट सोच), क्षमा, सत्य, यम (इंद्रियों पर नियंत्रण), शम (मन-बुद्धि पर नियंत्रण, शांति) सुख और दुख, भव और अभाव, भय-अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि (संतुष्टि), तप, दान, यश और अयश (अर्थात् कीर्ति तथा अपकीर्ति)- ये मनुष्य को प्राप्त होने वाले विभिन्न भाव परमात्मा से होते हैं। इनमें से कुछ की व्याख्याओं के बारे में टीकाकारों में यदि मत भिन्नता है भी तो वह सामान्यत: महत्वपूर्ण नहीं है किंतु यहाँ हम टीकाओं में की गई ऐसी कुछ व्यख्याओं पर सुधी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे जो भगवान के कथन के मूल भाव पर ही पर्दा डाल देती है। ऐसी दो बातें उल्लेखनीय है-

1. कुछ शब्दों के भौतिक / शारीरिक क्रियाओं संबंधी अर्थ कर दिए गए हैं जबकि भगवान ने मानसिक भावों की उत्पत्ति अपने से होने की बात कही थी- उदाहरणार्थ भव- अभाव, तप, दान।   भव-अभाव के अर्थ जन्म और मृत्यु किए गए है जो कि दैहिक क्रियाएं हैं। वस्तुतः इन्हे विचारों की उत्पत्ति और निर्विचार वाली मानसिक स्थितियां कहना उपयुक्त होगा। इसी प्रकार यहाँ तप और दान वे क्रियाएं नहीं हैं जिनका उल्लेख गीता में यज्ञ के साथ कई बार हुआ है। इस बात पर विचार करना महत्त्वपूर्ण होगा कि यहाँ दान और तप के साथ यज्ञ की बात क्यों नहीं की गई है जबकि दान और तप के साथ गीता ने हमेशा यज्ञ का उल्लेख किया है, इस हेतु हमने दान और तप शब्दों के वैकल्पिक अर्थ शब्दकोश में देखें और तब स्पष्ट हुआ कि यहाँ दान शब्द का सामान्य क्रियात्मक अर्थ अभिप्रेत नहीं है वरन् 'उदारता' अथवा 'समर्पण', जो कि मानसिक भाव हैं लेना उपयुक्त होगा। इसी प्रकार 'तप' भी शारीरिक के स्थान पर मानसिक पीड़ा सहन करने का भाव लेना उचित होगा क्योंकि यहाँ उन मानसिक भावों का वर्णन है जो भगवत् चिंतन से साधक के   मनस में उत्पन्न होते हैं।

2. अब कुछ व्याख्याओं में रिसन रूप दूसरी असंगतता को देखकर उससे बचने का प्रयास करें। श्लोकों में भगवान ने अपनी सत्ता से होने वाले भावों का वर्णन करते हुए कुल २० भावों का उल्लेख किया है और उसमें ४x२ भाव परस्पर विपरीत लक्षण/प्रकृति वाले हैं (यें है- सुख-दुख, भव-अभाव, भय-अभय तथा यश-अपयश); और शेष १२ के विपरीत भावों (उदाहरणार्थ-   सत्य का विपरीत असत्य, अथवा अहिंसा का विपरीत

हिंसा, आदि) को भगवान ने अपनी सत्ता से होना नहीं बताया है। किंतु कुछ उच्च श्रेणी के चिंतक टीकाकारों का भी ध्यान भटक गया दिखता है। संभवत: वे प्रचलित 'तथाकथित वेदांत' दर्शन के मोह जाल में भटक कर असंगत व्याख्या कर बैठे। उदाहरणार्थ विनोबा की 'गीताई' में हम लिखा हुआ पाते हैं- ‘यह पूर्ण फेहरिस्ट नहीं है। (भगवत्) प्रेरणायें असंख्य है… बुद्धि-अबुद्धि, तप-अतप,... अहिंसा-हिंसा..., सत्य-असत्य आदि... ऐसी फेहरिस्त (सूची) बना सकते हैं...।' इसी प्रकार, स्वामी रंगनाथन की टीका में कथन हैं- 'इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण संक्षिप्त रूप से बताते हैं कि अच्छा, बुरा, उदासीन- सभी बातें एक ही स्रोत (परमात्मा) से आती हैं...उस स्रोत से केवल शुभ ही नहीं, जिसे हम अशुभ कहते हैं वह भी आता है… वेदांत शुभ व् अशुभ में भेद नहीं करता।... इन दो श्लोकों में मुझ जगत के स्वामी से आती हुई सभी वस्तुओं का उल्लेख है।' वस्तुतः यह हमारा दुर्भाग्य है कि इन जैसे प्रसिद्ध विद्वान लेखकों ने अपनी उत्कृष्ट टीकाओं में जहाँ गीता के अनेक सूक्ष्म भावों को प्रकट कर हमें उपकृत किया है, वहीं इस प्रकार की धर्म-अधर्म के प्रति भेद मिटाने वाली 'वेदांतिक' व्याख्याऐं साधारण पाठकों को धर्म की समझ देने के स्थान पर उसे भ्रमित अधिक कर देती है। मन में प्रश्न उठता है कि भगवान अर्जुन को धर्म युक्त कर्तव्य की शिक्षा दे रहे थे या अद्वैत वेदांत पढ़ा रहे थे? वास्तव में ऐसी असंगत व्याख्याऐं सामान्य पाठक के लिए गीता को अधिक दुर्बोध बना देती हैं।

उपरोक्त अर्थ कतिपय मनीषियों को भी स्वीकार नहीं हुआ है। स्वामी चिन्मयानंद ने और इसी प्रकार श्रीअठावले जी ने भी स्पष्टत: व्यक्त किया है कि जीवन को उन्नत करने वाले गुण (भाव) ही ईश्वर की विभूतियां हैं और यहाँ वर्णित २० भाव जो भगवत् सत्ता से उद्‌भूत होते हैं वे व्यक्ति को आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ाते हैं।

यद्यपि जिन विपरीत भावों (सुख-दुख, भव-अभाव, भय-अभय और यश-अपयश) का श्लोकों में उल्लेख हुआ है वें किस प्रकार व्यक्ति को आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ा सकते हैं यह विवेचना उक्त महात्माओं ने नहीं की है किंतु उसका अनुमान करना कठिन भी नहीं है। सत कर्मो से सुख और असत से दुख मिलता है यह अनुभव व्यक्ति को सत की ओर प्रेरित करता है। इसी प्रकार, असत कर्मों के परिणाम का

भय जब व्यक्ति को सताता है, या अपयश की प्राप्ति होती है, अथवा विचारों के झंझावात ('भव' की व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है) से व्यक्ति मुक्त होना चाहता है तो वह असत कदमों को छोड़कर सत कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार, श्लोकों में कहे गए विपरीत भावों के द्वारा भी ईश्वर हमें अध्यात्म पथ पर प्रेरित करता है, किंतु यह बात हिंसा आदि विपरीत भावों पर लागू नहीं हो सकती, अतः उन्हें हमें प्रभु प्रेरित नहीं, अज्ञान रूपा प्रकृति प्रेरित मानना होगा।

अब भौतिक सृष्टि के निर्माण में परमात्मा के योगदान का दिग्दर्शन करने हेतु श्लोक ६ को समझने का प्रयास करें-

महर्षयः सप्त पूर्वे , चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता , येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

महर्षयः सप्त पूर्वे , चत्वारः मनवः तथा । मत् भावाः मानसाः जाताः , येषाम् लोक इमाः प्रजाः ॥

सप्त महर्षयः पूर्वे चत्वारः तथा मनवः - सात महर्षि, (उनसे भी) पूर्व होने वाले चार (सनकादि) तथा (स्वायम्भूव आदि) मनु **येषाम् लोके इमाः प्रजाः -** जिनकी संसार में ये सारी प्रजातिये हैं **मत् मानसाः भावाः जाताः -** मेरी मानसिक सत्ता से उत्पन्न हुई है।

टीकाकारों द्वारा किए गए इस श्लोक के शब्दानुवाद में भी काफी अंतर मिलता है। कुछ में कहा गया है- 'इस संसार के समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले प्राचीन सात महर्षि और चार मनु 'मेरे' मन से उत्पन्न हुए हैं'। हमने ऊपर जो अनुवाद चुना है वह पुराणों के वर्णन के अनुरूप है (दृष्टव्य भागवत पुराण-३.१२) हमारी धारणा है कि पुराणों के सृष्टि उत्पत्ति संबंधी वर्णन वैदिक सूक्ततों के कठिन प्रतीकों को समय की आवश्यकता अनुसार सरल प्रतीकों में अनुद्-घाटित करके लिखे गए हैं। क्योंकि ऋषियों ने अंतर्दृष्टि से प्रेरित होकर उक्त सूत्र लिखे थे अतः वें तथ्यात्मक हैं अतः उन्हें और पौराणिक वर्णनों को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। इन वर्णनों का मोटा-मोटा आशय यह है कि परमात्म सत्ता में जब सृष्टि रचना की इच्छा जाग्रत हुई तो उनसे निर्मात्री शक्ति ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा अर्थात् सूक्ष्म प्रकृति और चेतन सत्ता का संयुक्त रूप (भागवत-३.२०.१२ अनुसार), भगवत् इच्छा होने पर निष्क्रिय प्रकृति में क्षोभ हुआ और उससे महत्त तत्त्व की उत्पत्ति हुई। आधुनिक विज्ञान अनुसार कृष्णिका विवर (Black Hole) का महा विस्फोट होकर विस्तारगत विश्व (Expanding Universe) की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने सर्वप्रथम अज्ञान रूपा प्रकृति

का निर्माण किया। तब उन्होंने अपनी चेतना को चार रूपों में प्रकट किया- इन्हें सनक, सनंदन, सनातन और सनत कुमार के नाम से जाना जाता है। इन चार का उल्लेख श्लोक में हुआ है। यह क्या हैं इसका वर्णन यहाँ तो नहीं है किंतु हमारा विश्वास है कि आगे श्लोक-१३.२२ में इन्हें ही उपद्रष्टा, अनुमंता, भरता और भोक्ता (अर्थात् इंद्रियां, मन, बुद्धि और जीवात्मा रूप में क्रियाशील चेतना) कहा गया है। प्रकृति की जिन रचनाओं में ये चेतन शक्तियां क्रियाशील रहती है उन रचनाओं के नाम भी इन्द्रियां, मन, बुद्धि, जीवात्मा हैं अतः इन नामों से प्रकृति और पुरुष (चेतन शक्ति) दोनों को इंगित किया जाता है इसलिए संदर्भ अनुसार सही आशय समझना आवश्यक होता है। यहाँ आशय चेतन शक्तियों से है। क्योंकि प्रकृति विहीन चेतन शक्तियों से सृष्टि निर्माण का कार्य आगे नहीं बढ़ा तब उस निर्मात्री शक्ति ब्रह्मा ने ७ मनीषियों (भृगु, पुलस्त्य, पुलह, कृतु, अंगिरा, मरीचि, और दक्ष) को उत्पन्न किया। संभवत: यें मनीषी / ऋषि प्रकृति और पुरुष से बनी सूक्ष्म रचनाएं (प्राणी जगत की निर्माण सामग्री- पांच इंद्रियां, मन, बुद्धि, इस प्रकार कुल सात) हैं जिन से प्राणी जगत का निर्माण हुआ है। कुछ पुराणों में महर्षियो की संख्या ८ अथवा ९ भी बताई गई है। संभवत: प्राणियों की सर्वोच्च प्रजाति मनुष्य को दृष्टिगत रख कर यह परिवर्तन किया गया है। मनुष्य में अहम रूप चेतना ('मैं हूँ' भाव, जन्म से मृत्यु तक एक ही सत्ता होने का भाव, कर्ता और भोक्ता होने का भाव जिसे होता है, उस जीवात्मा रूप चेतना) को ८वें ऋषि अत्रि से निरूपित किया गया है, और आध्यात्मिक रूप से अधिक विकसित मनुष्य में एक उच्च चेतन सत्ता, जिसे उपनिषदों में साक्षी और सखा तथा गीता में इन नामों के साथ उसे 'महेश्वर' कहा गया है की भी जाग्रति हो जाती है उसे ९वें ऋषि वशिष्ठ नाम से वर्णित किया गया है। ये सब सूक्ष्म सृष्टि की रचनाऐं थी। इस रूप में उक्त वर्णन को समझा जा सकता है।

उपरोक्त सूक्ष्म रचनाओं के बाद स्थूल प्राणी जगत की उत्पत्ति और विकास ब्रह्मा रूप परमात्म शक्ति द्वारा हुआ है किन्तु प्राणी विकास के विभिन्न चरणों को संपन्न करने वाली इस शक्ति को विभिन्न मनुओ के नाम से निरूपित किया गया है। निर्माण के प्रथम चरण में एक कोशीय जीवों की उत्पत्ति हुई है और यहाँ निर्मात्री शक्ति को स्वायम्भुव मनु कहा गया है जिसका अर्थ है ब्रह्मा से उत्पन्न (स्वयंभू नाम ब्रह्मा का है)। इन एक कोशीय जीवों को केवल एक इंद्रिय कोशिका-भित्ति (cellwall) के रूप में प्राप्त हुई है। पश्चात् बहुकोशीय जीवों में क्रमशः पंच-ज्ञानेंद्रियों में से शेष का, तथा विचार करने वाले मनस (मन-बुद्धि) का, एवं अहंकार रूप चेतना का विकास हुआ।

इस रूप में प्राणियों की इन सात प्रजातियों को क्रमशः विकसित करने वाली परमात्मा की शक्तियों को ७ मनु के रूप में निरूपित किया गया है। मनुष्यों को यें सातों क्षमताएं प्राप्त है और इसलिए मनुष्य प्रजाति में क्रियाशील चेतना को वैवस्वत् (विवस्वत्) मनु कहा गया है। (विवस्वत्= विशेषेण वस्ते, अर्थात् जिसमें चेतन शक्ति विशेष रूप में वास करती है)। इतना ही नहीं, पुराणों के रचयिताओं ने मनुष्यों के आध्यात्मिक विकास के चरणों को सावर्णी (८वें से १४वें) मनुओ के रूप में भी वर्णित किया है। सारांश यह कि प्राणियों की उपरोक्त ७ प्रजातियों को विकसित करने वाली एक ही परमात्म शक्ति के सात कार्यकारी रूपों को ७ मनु कहा गया है।

इस प्रकार भगवान ने श्लोक-५ में व्यक्ति के मनस में क्रियाशील सूक्ष्म भावों का और श्लोक-६ में चेतन जगत के निर्माण और विकास में क्रियाशील शक्तियों का दर्शन कराते हुए उनका स्रोत अपनी सार्वभौम शक्ति को बताया है। अब आगे बता रहे हैं कि परमात्म शक्तियों के इस दर्शन का मनुष्य को उसकी आध्यात्मिक उन्नति में क्या लाभ होगा।

एतां विभूतिं योगं च , मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन , युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

एताम् विभूतिम् योगम् च , मम यः वेत्ति तत्त्वतः । सः अविकम्पेन योगेन , युज्यते न अत्र संशयः ॥

यः मम एताम् विभूतिम् च योगम् तत्त्वतः वेत्ति- जो कोई मेरी इस विभूति को और योग को वास्तविकता के रूप में जानता है **सः अविकम्पेन योगेन युज्यते-** वह अविचलित योग द्वारा (मेरे साथ) संयुक्त हो जाता है, **अत्र संशयः न -** इसमें (कुछ भी) संशय नहीं है ।

ध्यान साधना प्रेमी कुछ टीकाकारों ने व्याख्या की है कि जब साधक जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाली वस्तुओं में परमात्मा का दर्शन करे तो वह विभूति और जब समाधि में भगवान का दर्शन करें तो वह योग है। किंतु यह व्याख्या 'एताम्' शब्द की अनदेखी करती है अतः कुछ अन्य टीकाकारों ने विभूति को परमात्मा का प्रकट रूप और योग को अप्रकट रूप बताते हुए श्लोक-६ के वर्णन को विभूति और श्लोक-४,५ में वर्णित भावों को योग का वर्णन माना है। वस्तुतः एताम् शब्द केवल विभूति के लिए आया है, योग के लिए नहीं, अतः स्पष्ट है कि श्लोक-४,५ और ६ में जो वर्णन हैं वह सब भगवत् सत्ता की विभूतियां ही हैं, योग का वर्णन न तो उपरोक्त श्लोकों में हुआ है और न ही, जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस अध्याय के शेष भाग में। संपूर्ण अध्याय में

केवल विभूतियों का ही वर्णन है। यहाँ विभूतियों के साथ 'योग' का उल्लेख केवल इस रूप में हुआ है कि भगवत् सत्ता के इन दोनों पक्षों- विभूति और योग- जो कि भली-भांति जान लेता है वह सत्ता से पूर्णतः संयुक्त हो जाता है।

यें दोनों पक्ष अर्थात् विभूति और योग क्या है इस प्रश्न का उत्तर अध्याय-१० की पूर्व भूमिका रूप हमारी टिप्पणी का पुनरावलोकन करने पर मिल सकेगा। हमने वहाँ कहा था कि अध्याय-१० में परमात्म सत्ता की विभिन्न रूपों में सर्वोच्च अभिव्यक्तियों (विभूतिययों) का और अध्याय-११ में विश्व की सभी दिव्य शक्तियों, दिव्य घटनाओं, समस्त प्राणियों में जो चेतन शक्ति है उसके स्रोत को योग कहा गया है। इन दोनों पक्षों को ही यहाँ क्रमशः विभूति और योग कहा गया है। शब्दार्थ भी इसकी पुष्टि करते हैं। विभूति का अर्थ है विशेष रूप में होना अर्थात् एक सत्ता की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति, तथा योग का सामान्य अर्थ जोड़ना या एकत्र करना होता है और इसी के अनुरूप यहाँ अर्थ है अलग-अलग वस्तुओं और घटनाओं में कार्य करने वाली चेतन शक्ति के समष्टि रूप को देखना, समझना और उसकी उपासना करना। अध्याय-११ में इसी समष्टि रूप शक्ति का दर्शन कराया गया है।

अहं सर्वस्य प्रभवो , मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां , बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

अहम् सर्वस्य प्रभवः , मत्तः सर्वम् प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते माम् , बुधाः भाव-समन्विताः ॥

अहम् सर्वस्य प्रभवः - 'मैं' संपूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ , **मत्तः सर्वम् प्रवर्तते-** मुझ से ही (सब जगत) विशेष वर्त्तन कर रहा है (अर्थात् विकासशील है), **भाव-समन्विताः -** (मैं ही उल्लेखित) भावों का स्त्रोत हूँ, **इति मत्वा बुधाः माम् भजन्ते -** ऐसा जानकर बोधवान मुझे भजते हैं (सेवा करते है)।

श्लोक में भगवान ने व्यक्ति में उत्पन्न होने वाले सकारात्मक भावों की, और विश्व में होने वाली विकास मूलक घटनाओं की प्रेरक शक्ति के स्रोत के रूप में भगवत् सत्ता की उपासना करने का निर्देश दिया है। वस्तुतः श्लोक-४,५ तथा ६ में भगवन ने अपनी जिन दो भूमिकाओं पर प्रकाश डाला था उनको ही दृष्टिगत रखते हुए इस श्लोक में उपासना करने का निर्देश दिया है। यह कुछ ऐसा ही है कि देश का सर्वोच्च नेता अपने कार्यकर्ताओं को अपनी नीतियों और लक्ष्यों की जानकारी देकर उनसे सहयोग की अपेक्षा करें। इस निर्देश में एक और तत्व सम्मिलित है जिसे अंग्रेजी की एक कहावत में इस प्रकार व्यक्त किया गया है- A Man is what he thinks अर्थात्

मनुष्य जैसा सोचता है वही वह हो जाता है, संस्कृत साहित्य में इसे भ्रमर न्याय कहा गया है। तात्पर्य यह कि हम भगवान के कार्य को सदा स्मरण करते रहेंगे तो वही हमारा आदर्श बन जाएगा और हम भगवान के सच्चे भक्त बन सकेंगे।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा , बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं , तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मत् चित्ताः मत् गत-प्राणाः , बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तः च माम् नित्यम् , तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

मत् चित्ताः - उनका चित्त (मन,बुद्धि) मुझ में स्थिर हो जाता है, **मत् गत-प्राणाः -** उनके प्राण (कर्म शक्ति) मेरे लिए होते है अर्थात् सब प्राणियों के हितार्थ ही होते है **च परस्परम् कथयन्तःच बोधयन्तः-** और वे एक दूसरे से मेरे विषय में ही चर्चा करके बोध कराने में सहायक होते हुए नित्यम् तुष्यन्ति च माम् **रमन्ति-** सदा संतुष्टि का तथा मुझ में आनंद का अनुभव करते हैं।

सातवें श्लोक में जिस निष्कम्प (स्थिर) योग प्राप्ति की बात कही गई थी उसके स्वरूप का वर्णन भगवान ने उपरोक्त दो श्लोकों में किया।

अब अगले दो श्लोकों में भगवान बता रहे हैं कि ऐसे नित्य भक्तों को वें क्या प्रदान करते हैं अर्थात् किस रूप में पुरस्कृत करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां , भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं , येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषाम् सतत-युक्तानाम् , भजताम् प्रीति-पूर्वकम् । ददामि बुद्धि-योगम् तम् , येन माम् उपयान्ति ते ॥

तेषाम् प्रीति-पूर्वकम् भजताम् सतत-युक्तानाम् - उन प्रेम पूर्वक भजने वाले निरंतर मुझ से युक्त हुओं को **तम् बुद्धि-योगम् ददामि -** वह बुद्धियोग देता हूँ **येन ते माम् उपयान्ति -** जिससे वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थम् , अहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो , ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

तेषाम् एव अनुकम्पार्थम् , अहम् अज्ञानजम् तमः । नाशयामि आत्म-भावस्थः , ज्ञान-दीपेन भास्वता ॥

तेषाम् अनुकम्पार्थम् आत्म-भावस्थः अहम् एव- उनके ऊपर अनुकंपा करने के लिए उनके ह्रदय में स्थित हुआ मैं ही **अज्ञानजम् तमः भास्वता ज्ञान-दीपेन नाशयामि-** (उनके) अज्ञान जनित अंधकार को प्रकाश में ज्ञान रूप दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

इन दो श्लोकों में भगवान ने अपने उन भक्तों को जो व्यष्टि में और सृष्टि में होने वाले क्रियाकलापों में उनकी छवि को नित्य-निरंतर देखने का अभ्यास करते हैं (श्लोक-४,५,६) उनको भगवत् सत्ता की प्राप्ति किस प्रकार होती है इसकी विवेचना की है। भगवान ने कहा कि इसके लिए वें इन साधकों को प्रथम बुद्धियोग देते हैं (श्लोक-१०) और फिर उनके अंतरण में ज्ञान का प्रकाश करके अज्ञान का नाश कर देते हैं (श्लोक-११)। इस कथन को भली-भांति समझने के लिए हमें 'बुद्धियोग' तथा 'अज्ञान बनाम ज्ञान' इन पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

बुद्धियोग : इस सामासिक शब्द की अधिकांश टीकाकारों ने जो विवेचनायें की है वह शांकर भाष्य का अनुगमन करती है। शांकर भाष्य में ज्ञान के साथ युक्त होने को 'बुद्धियोग" कहा गया है, जबकि यहाँ स्पष्ट है कि भगवान ने पहले बुद्धियोग और पश्चात् 'ज्ञान' का प्रकाश देने की बात कही है। महात्मा गांधी/ महादेव देसाई की टीका को छोड़कर अन्य सभी प्रमुख भाष्यों में इसी प्रकार की व्याख्याऐ हैं जो तर्कसंगत नहीं लगतीं। गांधी ने निष्काम कर्म को बुद्धियोग बताया है और यह कथन गीता के ही श्लोक-२.४९ से पूर्णतः पुष्ट होता है। वहाँ कहा गया था कि बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यंत निम्न श्रेणी के होते हैं और संदर्भ था कर्मफल का त्याग करते हुए कर्म करने का। अतः गीता के अनुसार ही बुद्धियोग का अर्थ है निष्काम बुद्धि से युक्त होकर कर्म करना।

बुद्धियोग क्या है इसका निर्णय तो हो गया। अब प्रश्न उठता है कि भगवान ने बुद्धियोग की बात को यहाँ १०वें अध्याय में आकर पुनः क्यों कहा? वस्तुतः यह बात दूसरे अध्याय में सांख्य (कर्म सन्यास) बनाम बुद्धियोग की प्रारंभिक जानकारी के रूप में कही जा चुकी थी। और बाद के अध्यायों में इन दोनों का तुलनात्मक वर्णन करते हुए भगवत् अर्पण भाव से निष्काम कर्म करने वाले मार्ग को श्रेष्ट बताया । इसके अंतर्गत ही तीसरे और चौथे अध्यायों में कर्मयोग, ५वें और ६ठे अध्यायों में दोनों का तुलनात्मक वर्णन, ७वें-८वें-९वें अध्यायों में परमात्म तत्व से क्रमशः अधिकाधिक परिचित कराते हुए कर्मयोग को भक्ति में परिणित कराने की ओर ले जा रहे हैं। १०वें अध्याय में भगवान अपनी विभूतियों का और ११वें अध्याय में अपनी योग-शक्ति (एकत्व) का दर्शन कराते हुए अर्जुन को (एवं हमें) उस सर्वव्यापी सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण की ओर ले जा रहे हैं, किंतु उस मार्ग से फिसल कर, मुख्य लक्ष्य को भूल कर हम अपने क्षुद्र 'मैं' में डूब कर अपने लाभ रूप अपनी व्यक्तिगत मुक्ति /

परमात्म प्राप्ति के लोभ में फिर न भटक जावें इस हेतु से वे हमें पुनः पुनः हमारे मूल लक्ष्य और मार्ग का स्मरण करा देते हैं। यहाँ बुद्धि और ज्ञान देने की बात इसी रूप में पुनः कही है, आश्वासन के रूप में कही है, कि निश्चय करके इस मार्ग पर चल पड़ने वाले भक्त को 'मैं' फिसलने नहीं देता।

अज्ञान बनाम ज्ञान (प्रकृति बनाम परमात्म तत्व) : अज्ञान नष्ट हो जाने पर ज्ञान प्राप्त हो जाएगा इस बात को भगवान ने प्रकाश होने पर अंधकार नष्ट होने के उदाहरण से समझाया है किंतु हमें यह बात पुनः स्मरण कर लेना चाहिए कि वह अज्ञान क्या है और ज्ञान क्या है जिसकी चर्चा यहाँ की गई है। क्योंकि श्लोक-१० में अंतिम लक्ष्य जिसे प्राप्त किए जाने की चर्चा की जा रही है, स्पष्टतः 'मेरी' अर्थात् परमात्म तत्व की प्राप्ति बताई गई है और ११वें श्लोक में ज्ञान की बात कही गई है अतः ज्ञान की प्राप्ति और परमात्मा की प्राप्ति एक ही बात हुई। वस्तुतः परमात्मा ज्ञान स्वरूप है यह बात अनेक स्थलों पर पहले भी कहीं जा चुकी है। वह परमात्म तत्व सर्वव्यापी है फिर भी वह हमारे अनुभव में क्यों नहीं आता और जीव अज्ञान में क्यों जीता है इसका कारण है वह दूसरा तत्व प्रकृति जैसा उल्लेख गीता अभी तक कई बार (श्लोक-३.२७,२९;९.७,८,१० में) कर चुकी है और आगे भी अध्याय-१३,१४ आदि में विस्तार से करेगी। सृष्टि के ताने-बाने का यह दूसरा तत्व प्रकृति, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, केवल क्रिया शक्ति है अथवा इसका संघनित रूप द्रव्य (matter) है और यह ज्ञान शून्य हैं अर्थात् शुद्ध प्रकृति अज्ञान रूपा है। जब तक हमारे विभिन्न स्तरों (इंद्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार) पर प्रकृति का वर्चस्व रहता है, हम अर्थात् जीवात्मा ज्ञान रूप परमात्मा की अनुभूति से वंचित रहते हैं। साधना कोई भी हो उसका उद्देश्य एक ही होता है- प्रकृति की पकड़ से मुक्ति और परमात्म तत्व की अभिव्यक्ति। वस्तुतः ये दो बातें भी भिन्न नहीं हैं क्योंकि परमात्म तत्व सर्वव्यापी है, केवल अज्ञान रूपा प्रकृति की प्रबलता के कारण परमात्मा की अनुभूति बाधित होती है। निष्काम कर्म / ज्ञान / ध्यान / पातंजल योग आदि किसी भी साधना द्वारा केवल इस बाधा को ही हटाना होता है, परमात्मा-ज्ञान तो स्वमेव प्रकट होगा ही, यही बात यहाँ कहीं गई है।

श्री कृष्ण भगवान ने जब उपरोक्त अनुसार अपनी विभूतियों का थोड़ा सा परिचय देते हुए यह कहा कि मैं वह अनादि सत्ता हूँ जिसे ब्रह्मा से उत्पन्न महर्षिगण और देवता भी नहीं जानते किंतु मनुष्यों में ज्ञानी भक्त मुझे जानकर सब पापों से मुक्त हो

जाते हैं और तब वह मनुष्य भी भगवत् प्राप्ति करके वही स्थिति प्राप्त कर सकता है जो मैंने प्राप्त की है, तब अर्जुन उनसे अपनी विभूतियों को विस्तार से सुनाने और योग (अर्थात् एकत्व) का दर्शन कराने की प्रार्थना करता हैं।

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम , पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् , आदिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

परम् ब्रह्म परम् धाम , पवित्रम् परमम् भवान् । पुरुषम् शाश्वतम् दिव्यम् , आदिदेवम् अजम् विभुम् ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे , देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः , स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

आहुः त्वाम् ऋषयः सर्वे , देवर्षिः नारदः तथा । असितः देवलः व्यासः , स्वयम् च एव ब्रवीषि मे ॥

परम् ब्रह्म, परम् धाम, परमम् पवित्रम् भवान् - (आप)परब्रह्म है, परधाम हैं, परम पवित्र करने वाले हैं, **दिव्यम् शाश्वतम् पुरुषम् आदिदेवम् अजम् विभुम् -** (आप) दिव्य शाश्वत पुरुष हैं, आदिदेव हैं, अजन्मा है, और सर्वव्यापी है। सर्वे ऋषयः त्वाम् **आहुः -** सब ऋषियों ने आपके बारे में यही कहा है, **देवर्षिः असितः देवलः नारदः व्यासःच स्वयम् एव मे ब्रवीषि-** तथा (चारों) देवर्षि असित, देवल , नारद , व्यास और स्वयं आप भी मुझे (यही) कहते हैं ।

चार देवर्षि और स्वयं आप- पांचों आपको ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति कहते हैं। चार उल्लेखित देवर्षि महान पौराणिक व्यक्तित्व के रूप में वर्णित है और पुराणों का आशय प्रतिकार्थ के रूप में ही खुल पाता है। विनोबा ने असित, देवल, व्यास और नारद को क्रमशः कर्म, भक्ति, ज्ञान और मोक्ष के प्रतीक माना है। श्रीकृष्ण सहित इन चारों को हम आध्यात्मिक रूप से जाग्रत व्यक्ति के पांच कोशों में क्रियाशील चेतना की गवाही भी कह सकते हैं- असित (शब्दार्थ : जो उज्जवल नहीं) को इंद्रियों वाला अन्नमय कोष, देवल (जीवन देने वाले) को प्राणमय कोष, नारद को मनोमय कोष, व्यास को ज्ञान युक्त विज्ञानमय कोष और श्रीकृष्ण को आनंदमय कोष स्थित आत्मा।

सर्वमेतदृतं मन्ये , यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं , विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

सर्वम् एतत् ऋतम् मन्ये , यत् माम् वदसि केशव । न हि ते भगवन् व्यक्तिम् , विदुः देवाः न दानवाः ॥

केशव- हे केशव ! **यत् माम् वदसि-** जो (कुछ) आप मेरे से कहते हैं, **एतत् सर्वम् ऋतम् मन्ये -** इन सब को (मैं) सत्य मानता हूँ । **भगवन्-** हे भगवन ! **ते व्यक्तिम् न दानवाःविदुःन देवाः हि -** आपके व्यक्त स्वरूप को न तो दानव जानते हैं और न देवता ही ।

आपके अव्यक्त रूप को जानना तो कितना कठिन होगा जबकि व्यक्त रूप को भी न तो दानव जान पाते हैं और न ही देवता। 'देवों पर तुम अनुग्रह करते हो फिर भी वे जानते नहीं, दानवों का निग्रह करते हो फिर भी वें जानते नहीं'- विनोबा

स्वयमेवात्मनात्मानं , वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश , देवदेव जगत्पते ॥१५॥

स्वयम् एव आत्मना आत्मानम् , वेत्थ त्वम् पुरुषोत्तम । भूत-भावन भूत-ईश , देव-देव जगत्-पते ॥

भूत-भावन भूत-ईश देव-देव जगत्पते पुरुषोत्तम- हे भूतों को उत्पन्न करने वाले! हे भूतों के ईश्वर (नियंता)! हे देवों के देव ! हे जगत के स्वामी! हे पुरुषोत्तम ! **त्वम् स्वयम् एव आत्मना आत्मानम् वेत्थ -** आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं।

'आप स्वयं ही अपने से अपने आप को जानते हैं' इस कथन के तात्पर्य पर हमें विचार करना चाहिए। यदि कहा होता कि 'आप ही अपने को जानते हैं' तो अर्थ होता कि आपके मन में क्या है यह आप ही जानते होंगे, मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। किंतु 'अपने से, अपने द्वारा' शब्द किसी गहरे भाव की ओर संकेत कर रहे हैं। इन शब्दों की व्याख्या हमें स्वामी रामसुखदास जी की 'साधक संजीवनी- परिशिष्ट' के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिली (उनकी मुख्य बड़े विस्तार वाली टीका- साधक संजीवनी- में भिन्न भाव व्यक्त किए गए हैं) बाद में लिखी गई 'परिशिष्ट' में उनकी व्याख्या इस प्रकार है- 'आप स्वयं ही अपने-आप से, अपने-आप को जानते हैं इसका तात्पर्य है कि जानने वाले भी आप ही है जानने में आने वाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं' यहाँ जानना शब्द को 'जिस चेतन शक्ति से जाना जाता है' इन शब्दों से यदि हम प्रतिस्थापित कर दें तो समझना और सरल हो जाएगा।

वस्तुतः श्लोक-१५ के इन शब्दों को श्लोक-१३ के कथन के साथ संयुक्त करके देखे तो तात्पर्य यह बनता है कि किसी के भी द्वारा आपको जानना तब तक संभव नहीं है जब तक कि वह अपनी संपूर्ण सत्ता को आप में पूर्णतः विलीन न कर दे।

वक्तुमर्हस्यशेषेण , दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

याभिर्विभूतिभिर्लोकान् , इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

वक्तुम् अर्हसि अशेषेण , दिव्याः हि आत्म-विभूतयः । याभिः विभूतिभिः लोकान् , इमान् त्वम् व्याप्य तिष्ठसि ॥

त्वम् हि दिव्याः आत्म-विभूतयः अशेषेण वक्तुम् अर्हसि - आप ही (उन) अपनी दिव्य विभूतियों को संपूर्णता से कहने में समर्थ हैं **याभिः विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि -** जिन विभूतियों के द्वारा (आप) इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित है ।

विभूतियाँ : भूति माने होना / अस्तित्व / सत्ता, और विभूति का अर्थ है अस्तित्व द्वारा विशेष गुण ग्रहण कर लेना। अतः विभूतियाँ हुईं सत्ता के विषय रूप, विविध रूप, एक का अनेक हो जाना। तो सृष्टि निर्माण से पूर्व जो एक सर्वव्यापी सत्ता थी उसने ही जो विशेष विभिन्न रूप ग्रहण कर लिए हैं वह सब विभूतियाँ हैं। लेकिन विभूतियों का अर्थ उस सत्ता के छोटे-बड़े खंड (टुकड़े) हो जाना नहीं है। वह एक चेतन सत्ता तो सर्वव्यापी है, उसके खंड हो ही नहीं सकते, अतः विभूतियाँ हैं प्रकृति की विभिन्न रचनाओं में उस चेतन सत्ता का विभिन्न रूपों में विभिन्न गुणों के साथ अभिव्यक्त होना। (यह दृष्टि वेद की है जिसे गीता ने स्वीकार किया है किंतु वेदांतियों ने इसे अस्वीकार किया है, वे प्रकृति को स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते इस कारण उनकी व्याख्या भिन्न तो है ही अनेक स्थलों पर दुर्बोध भी हो गई है।)

कथं विद्यामहं योगिंन् , त्वाम् सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु , चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

कथम् विद्याम् अहम् योगिन् , त्वाम् सदा परिचिन्तयन् । केषु केषु च भावेषु , चिन्त्यः , असि भगवन् मया ॥

योगिन्- हे समग्र सत्ता रूप प्रभो ! **अहम् कथम् सदा परिचिन्तयन् त्वाम् विद्याम् -** मैं किस प्रकार सदा चिंतन करता हुआ आपको जानूँ **भगवन्-** और हे भगवन् ! **केषु केषु भावेषु मया चिन्त्यः असि -** किन-किन भावों (सत्ता रूपों) में मेरे द्वारा (आपका) चिंतन किया जाना योग्य है ?

विस्तरेणात्मनो योगं , विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि , शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

विस्तरेण आत्मनः योगम् , विभूतिम् च जनार्दन । भूयः कथय तृप्तिः हि , शृण्वतः न अस्ति मे अमृतम् ॥

जनार्दन- हे जनार्दन ! **आत्मनः विभूतिम् भूयः विस्तरेण कथय च योगम् -** अपनी विभूतियों को और आगे विस्तारपूर्वक कहिए तथा योगम् (एकत्व रूप) को भी, **हि अमृतम् शृण्वतः मे तृप्तिः न अस्ति -** क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ।

जनार्दन = जन + अर्दन। अर्दन शब्द के दो भाव हैं- १. चोट पहुँचाना, २. प्रार्थना। अतः भगवान के लिए जनार्दन संबोधन में दो भाव हो सकते हैं। और यहाँ दोनों ही उपयुक्त हैं- १. दुर्जनों को दंडित करने वाले भगवान; अथवा २. भक्तजनों की उनकी अभ्युदय की प्रार्थना पूरी करने वाले भगवान (दृष्टव्य : श्री विष्णुसहस्र नाम, शांकर भाष्य- श्लोक-२७ की विवेचना)।

श्रीभगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि , दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ , नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हन्त ते कथयिष्यामि , दिव्याः हि आत्म-विभूतयः । प्राधान्यतः कुरु-श्रेष्ठ , न अस्ति अन्तः विस्तरस्य मे ॥

हन्त कुरु-श्रेष्ठ हि मे विस्तरस्य अन्तः न अस्ति - बहुत अच्छा! हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन ! क्योंकि मेरी (विभूतियों के) विस्तार का तो अंत ही नहीं है (अतः) **दिव्याः आत्म-विभूतयः ते प्राधान्यतः कथयिष्यामि -** मैं (केवल कुछ) अपनी दिव्य विभूतियों को ही प्रधानता से तेरे लिए कहूँगा ।

अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान बोले-

अहमात्मा गुडाकेश , सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च , भूतानामन्त एव च ॥ २०॥

अहम् आत्मा गुडाका-ईश , सर्व-भूत-आशय-स्थितः । अहम् आदिः च मध्यम् च , भूतानाम् अन्तः एव च ॥

गुडाका-ईश- हे निद्रा विजयी अर्जुन ! **अहम् सर्व-भूत-आशय-स्थितः आत्मा-** मैं भूतों (प्राणियों) में सर्वोच्च अर्थात् मनुष्यों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ , **च भूतानाम् आदिः मध्यम् च अन्तः च अहम् एव -** तथा संपूर्ण प्राणियों का आदि मध्य और अंत भी मैं ही (हूँ) ।

श्लोक की प्रथम पंक्ति में, सर्वप्रथम, भगवान ने अपनी सर्वोच्च महत्ता वाली विभूति मनुष्यों के हृदय में (अर्थात् गहनतम स्तर पर स्थित आत्मा को बताया; आगे अध्याय-१५ श्लोक-१६ में इसकी व्याख्या अक्षर पुरुष के रूप में की गई है)। फिर दूसरी पंक्ति में दूसरी महत्वपूर्ण विभूति के रूप में समस्त प्राणीयों में स्थित उस चेतन सत्ता को बताया जो उनका आदि, मध्य और अंत है अर्थात् उनका अस्थायी जीवन है (श्लोक-१५.१६ में इसे क्षर पुरुष कहा गया है)।

यहाँ हमने सर्वभूत का अनुवाद प्राणियों की मनुष्य प्रजाति के रूप में किया है। जब 'सर्व' समास में प्रथम शब्द होता है तो उसका अर्थ सर्वथा / पूर्ण रूप से / पूरी तरह, इस अर्थ में होता है (उदाहरण- सर्वात्मन्= पूर्णात्मा; सर्वाकार= पूर्ण आकार को प्राप्त हुआ, आदि)। अतः 'सर्वभूत' का यहाँ उचित अर्थ 'प्राणियों में शारीरिक पूर्णता को प्राप्त हुआ प्राणी अर्थात् मनुष्य' लिया जाना योग्य है। श्लोक-१८.६१ तथा अन्य कई स्थानों पर इसी रूप में अर्थ करने पर समुचित अर्थ बनेगा, अन्यथा मनुष्यों में और अन्य प्राणियों में आध्यात्मिक स्तर का कोई भेद ही नहीं रहेगा जबकि श्लोक-९.८ और ९.११ में भगवान ने भेद स्पष्टतः वर्णित किया है।

अब अगले १९ श्लोकों (क्रमांक-२१ से ३९) में ७६ विभूतियों का वर्णन हुआ है जिनमें से बहुतों में प्राचीन कथाओं के ऐसे पात्रों / प्रतीकों का उल्लेख हुआ है जिनके वास्तविक अर्थ अथवा निश्चित तात्पर्य पर पहुंचना फिलहाल संभव नहीं दिखता। इन को छोड़ते हुए जहाँ सहज संभव और आवश्यक प्रतीत होगा वहाँ विवेचना करते हुए हम आगे बढ़ेंगे।

आदित्यानामहं विष्णुः , ज्योतिषाम् तिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि , नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यानाम् अहम् विष्णुः , ज्योतिषाम् रविः अंशुमान् । मरीचिः मरुताम् अस्मि , नक्षत्राणाम् अहम् शशी ॥

अहम् आदित्यानाम् विष्णुः - मैं अदिति के १२ पुत्रों में विष्णु (और), **ज्योतिषाम् अंशुमान् रविः -** ज्योतियों में किरणों से युक्त सूर्य हूँ , **मरुताम् मरीचिः अस्मि -** (उनचास) मरुतों में मरीचि हूँ , **नक्षत्राणाम् अहम् शशी -** नक्षत्रों (तारा समूहों) में मैं चन्द्रमा हूँ ।

(मरुत वायु देव कहे गए हैं। इनकी संख्या ४९ बताई गई है। इनकी उत्पत्ति की कहानी में गर्भस्थ शिशु के इंद्र द्वारा पहले ७ और फिर प्रत्येक टुकड़े के साथ इस प्रकार, ७x७=४९ टुकड़े किए जाने से ४९ मरुतों की उत्पत्ति का उल्लेख है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य मन के भावों का वर्णन भी ७ x ७ के रूपों में किया है। इस संभावना पर अन्वेषण किया जाना वांछनीय होगा कि मनुष्य मन के भावों (moods) को ही क्या मरुत कहा गया है? मन के भाव भी वायु की तरह स्थाई नहीं होते। आदित्यों की विवेचना श्लोक-११.२२ की टिप्पणी में दृष्टव्य।)

वेदानां सामवेदोऽस्मि , देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि , भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानाम् सामवेदः अस्मि , देवानाम् अस्मि वासवः । इन्द्रियाणाम् मनः च अस्मि , भूतानाम् अस्मि चेतना ॥

वेदानाम् सामवेदः अस्मि - वेदों में सामवेद हूँ , **देवानाम् वासवः अस्मि-** देवों में इंद्र हूँ , **इन्द्रियाणाम् मनः अस्मि-** इंद्रियों में मन हूँ , **च भूतानाम् चेतना अस्मि -** और प्राणियों में चेतना रूप प्राण हूँ ।

इंद्रियों में मन मेरी विभूति : यें पांच इन्द्रियाँ और मन, जगत का ज्ञान कराते हुए व्यक्ति को जगत की ओर खींचती है किंतु मन ऐसी इंद्रीय है जो परमेश्वर से जोड़ने में भी सहायक बन सकती है।

वेदों में सामवेद : अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेद को भगवान ने अपनी विभूति क्यों बताई इसकी विवेचना विनोबा ने कुछ इस रूप में की है- सामवेद के मंत्र उस समय के रागों में गेय होने से आम आदमी को परमात्मा से जोड़ने में अधिक उपयोगी थे। तीन वेद- ऋक् और यजुस् तथा साम तीनों ने व्यक्ति को परम् सत्ता से जोड़ने के लिए क्रमशः ज्ञान, कर्म और भाव को प्रमुख साधन बनाया है। हमारी धारना है कि साम का अर्थ है सर्वव्यापी परमात्मा और साम वेद में सर्वव्यापी परमात्मा के संबंध में ही गायन है।छान्दोग्य उपनिषद के द्वितीय अध्याय में इक्कीस रूपों में साम की उपासनाओं का जो विशद वर्णन है वह निश्चित ही सर्वव्यापी परमात्मा को लक्षित कराते हुए है। वस्तुतः साम शब्द की व्युत्पत्ति 'सम' से है जिसका यहाँ उपयुक्त अर्थ है सम्पूर्ण। सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त परमात्म सत्ता को ही 'साम' कहा गया है।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि , वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि , मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणाम् शङ्करः च अस्मि , वित्त-ईशः यक्ष-रक्षसाम् । वसूनाम् पावकः च अस्मि , मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥

रुद्राणाम् शङ्करःअस्मि- एकादश रूद्रों में शंकर हूँ **, च यक्ष-रक्षसाम् वित्त-ईशः अहम् -** और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ मैं। **वसूनाम् पावकः अस्मि -** आठ वसुओं में अग्नि हूँ , **च शिखरिणाम् मेरुः (अस्मि) -**और ऊंचे शिखरों में मेरु (सुमेरु) हूँ ।

रूद्रों में शंकर : रूद्र ११ कहे गए हैं। पुराणों में इनके नाम भी दिए गए हैं किंतु नामों के अर्थ का अनुसंधान अभी अपेक्षित है। रूद्र का अर्थ रुलाने वाला होने से यह अनुमान व्यक्त किया गया है कि एकादश इंद्रियों (पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन) को ही रुद्र कहा गया हो।

यक्षों-राक्षसों में वित्त का प्रभु कुबेर भी एक विभूति : वित्त अर्थात् धन एकत्र करके सुख के साधनों और ऐश्वर्यो का अम्बार लगाने वालों को दो वर्गों में बांटा गया था। इन्हें यक्ष और राक्षस कहा गया था यह निष्कर्ष कथाओं के वर्णन से निकलता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा इंडस्ट्रीयां खड़ी करके अपने समाज को संपन्न बनाने वालों को यक्ष और शस्त्रबल तथा सैनिक बल संगठित करके लूटपाट द्वारा संपन्न साम्राज्य स्थापित करने वालों को राक्षस कहा गया अथवा ऐसी तत्कालीन सभ्यताओं को इन नामों से संबोधित किया गया होगा। किसी काल में प्रथम वर्ग का सर्वाधिक सफल व्यक्ति कुबेर और दूसरे वर्ग का रावण वर्णित है। यहाँ भगवान ने वित्त को उचित साधन बनाकर समाज को संपन्न बनाने वाले कुबेर जैसे व्यक्तित्व को अपनी विभूति बताया है।

वसुओं में अग्नि- मेरी विभूति : वसु ८ कहे गए हैं। अनुमानतः यें प्रकृति के प्रारंभिक सूक्ष्म तत्व है जिनसे बाद में स्थूल अष्टधा प्रकृति और पश्चात् संपूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ। ८ सथूल तत्व है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार(श्लोक-७.४)। इनके सूक्ष्म स्वरूपों को तन्मात्राएँ कहा गया है और पौराणिक भाषा में इन्हे ही वसु नाम देकर कथा-कहानियों द्वारा जनसाधारण को इस दर्शन से अवगत कराया है। इन ८ सूक्ष्म तत्वों (वसुओं) में अग्नि अर्थात् ऊर्जा को भगवान ने अपनी विभूति कहा है क्योंकि सृष्टि रचना की आधारभूत सभी भौतिक-रासायनिक प्रक्रियाओं में इसी ऊर्जा के संचरण/पारगमन (transmigration) द्वारा सृष्टि निर्माण संभव हुआ है।

शिखरों में मेरु : शिखर का अर्थ चोटी या शीर्ष स्थान होता है चाहे वह पहाड़ का हो अथवा किसी भी अन्य वस्तु का। मेरु पौराणिक उपाख्यानों में एक बहुत ही ऊंचे पर्वत के रूप में वर्णित है किंतु महाभारत (सभा पर्व अध्याय-२७,२८) में अर्जुन की दिग्विजय यात्रा के वर्णनों में अन्य वास्तविक देशों के साथ मेरु प्रदेश का नाम भी आया है उससे अनुमान लगाया गया है कि यह प्रदेश उत्तर ध्रुव पर स्थित होना चाहिए। उक्त वर्णन में यह भी कहा गया है कि इसके दक्षिण पार्श्व में अनुमानतः चुंबकीय उत्तर ध्रुव वाले प्रदेश में एक विचित्र जम्बू वृक्ष है जिसके शिखर की ऊंचाई ११०० योजन अर्थात् लगभग ८८०० किलोमीटर है। उसे विचित्र गुणों से युक्त एक अद्भुत स्थान बताया गया है। अन्य वर्णित विचित्रताओं के आधार पर हम उसे शून्य चुंबकीय वाला बिंदु और नीचे जमीन पर तीव्र चुंबकीय गुणों वाले मेरु प्रदेश को

संयुक्त करके एक अति विशाल वृक्ष के आकार के चुंबकीय क्षेत्र का अनुमान कर सकते हैं। संभवत: इस अदृश्य किंतु वास्तविक त्रिआयामी पर्वतनुमा चुंबकीय गुणों से युक्त स्थान को ही 'मेरु / सुमेरु' पर्वत कहा गया है। इस चुंबकीय क्षेत्र के उन अद्भुत स्वास्थ्य पोषक तथा अन्य गुणों के कारण, जिनका वर्णन महाभारत के उक्त प्रसंग में विस्तार से हुआ है, इस पर्वतसम क्षेत्र को भगवान ने अपनी विभूति बताया है।

पुरोधसां च मुख्यं मां , विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः , सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोधसाम् च मुख्यम् माम् , विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् । सेनानीनाम् अहम् , स्कन्दः सरसाम् अस्मि सागरः ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **पुरोधसाम् मुख्यम् बृहस्पतिम् माम् विद्धि -** पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझको जान। **अहम् सेनानीनाम् स्कन्दः -** मैं सेनापतियों में स्कन्द (अर्थात् कार्तिकेय) **च सरसाम् सागरः अस्मि -** और जलाशयों में समुद्र हूँ ।

पुरोधसाम= पुरस्+धा=आगे पीछे की जानकारी के आधार पर हितकारी सलाह देने वाला= पुरोहित। बृहस्पति- देवताओं के गुरु/ पुरोहित। स्कंद= कार्तिकेय, देवताओं के सेनापति।

महर्षीणां भृगुरहं , गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि , स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षीणाम् भृगुः अहम् , गिराम् अस्मि एकम् अक्षरम् । यज्ञानाम् जप-यज्ञः अस्मि , स्थावराणाम् हिमालयः ॥

महर्षीणाम् अहम् भृगुः- (पूर्व में उल्लेखित सात) महर्षियों में मैं भृगु हूँ , **गिराम् एकम् अक्षरम् अस्मि-** भाषा के (अर्थात् बोले जाने वाले) शब्दों में मैं एक अक्षर अर्थात् ॐ हूँ । **यज्ञानाम् जप-यज्ञःअस्मि-** यज्ञों में जप यज्ञ हूँ (और) **स्थावराणाम् हिमालयः (अस्मि) -** स्थिर रहने वाली वस्तुओं में हिमालय पर्वत हूँ ।

यज्ञों में जप यज्ञ : भगवान यज्ञ का अर्थ अध्याय-३ में ही स्पष्ट कर चुके हैं- त्यागमय, सर्व हितार्थ कर्म। ऐसे यज्ञ कर्मों 'मैं' जप यज्ञ हूँ। इसके अर्थ पर विचार करें। जप नहीं कहा है, जैसा कि अधिकांश टीकाकारों ने 'जप' कहकर अपनी व्यक्तिगत धारणा व्यक्त कर दी है। जपयज्ञ अर्थात् भगवान के अनुस्मरण के साथ सर्वहित कर्मों को उनका कार्य समझते हुए कर्म करते रहना। द्रष्टव्य होगा- श्लोक-७.८- तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च, तथा श्लोक-१८.४६ भी ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां , देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः , सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

अश्वत्थः सर्व-वृक्षाणाम् , देवर्षीणाम् च नारदः । गन्धर्वाणाम् चित्ररथः , सिद्धानाम् कपिलः मुनिः ॥

सर्व-वृक्षाणाम् अश्वत्थः- सब वृक्षों में बड़ वृक्ष, **देवर्षीणाम् नारदः -** देवर्षियों में नारद मुनि, **गन्धर्वाणाम् चित्ररथः-** गंधर्वों में चित्ररथ , **च सिद्धानाम् कपिलः मुनिः (अस्मि) -** सिद्धों में कपिल मुनि हूँ ।

वृक्षों में अश्वत्थ : आमतौर पर अश्वत्थ वृक्ष को पीपल वृक्ष माना गया है किंतु हमने यहाँ इस नाम से कहे गए वृक्ष को वट-वृक्ष माना है क्योकि आगे श्लोक-१५.१ से १५.३ में जब अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन संसार के निरूपण के रूप में किया गया है तो वहाँ इसकी शाखाओं से नीचे लटकने वाले जड़ों का वर्णन भी है (शब्द है- अध: मूलानी तथा सुविरुढ़ मूलम)। विरुढ़ मूलम का सही अर्थ है विपरीत रूप से उगी हुई जड़ें। यह द्वितीयक जड़े वटवृक्ष में ही होती हैं पीपल में नहीं और वटवृक्ष को सुद्दढ़ता प्रदान करती हैं। श्लोक-१५.३ में इन्हे काट फेंककर मूल जड़ परमात्मा तक पहुंचने की बात कही गई है।

वस्तुतः पीपल, बड़ (वट) और अंजीर इन तीन वृक्षों / फलों के हिंदी और संस्कृत नामों में कहीं कुछ भ्रम हो गया है जिसके फलस्वरूप अश्वत्थ को पीपल कहा गया है किंतु उसके कारण व्याख्या में उपरोक्त कठिनाई उपस्थित हो रही है और इसे दूर करने हेतु ही हमने अश्वत्थ को वट वृक्ष माना है। वैसे इन तीनों वृक्षों में एक अद्‌भुत साम्य भी है जिसके कारण 'विष्णु सहस्रनाम' में भगवान ने इन तीनों को अपना स्वरूप ही बताया है। इनमें से प्रत्येक वृक्ष में बहुत फल लगते हैं और प्रत्येक फल में असंख्य बीज होते हैं, अतः यें सभी वृक्ष एक से अनेक होने की परमात्मशक्ति को सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

उच्चैःश्रवसमश्वानां , विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां , नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

उच्चैःश्रवसम् अश्वानाम् , विद्धि माम् अमृत-उद्भवम् । ऐरावतम् गजेन्द्राणाम् , नराणाम् च नराधिपम् ॥

अश्वानाम् अमृत-उद्भवम् उच्चैःश्रवसम्- घोड़ों में अमृत उत्पत्ति वाले समुद्र मंथन से उत्पन्न उच्चै:श्रवस नामक घोड़े को, **गजेन्द्राणाम् ऐरावतम्-** हाथियों में ऐरावत नामक हाथी को, **नराणाम् च नराधिपम् माम् विद्धि -** और मनुष्यों में राजा मुझ को जान ।

समुद्र मंथन की प्रसिद्ध कथा स्पष्ट ही प्रतीकात्मक होकर हमारे अंदर आध्यात्मिक खोज को निरूपित करती है। अमृत की खोज अर्थात् प्रकृति मुक्त शुद्ध आत्म सत्ता की खोज। उस खोज के सफल होने के पूर्व मन और बुद्धि का शुद्ध होना आवश्यक है। इन्हे ही उच्चैःश्रवस् अश्व और ऐरावत हाथी से क्रमशः निरूपित किया गया है।

उच्चैःश्रवस् अश्व : संपूर्ण वैदिक साहित्य और पौराणिक कथा कहानियों में अश्व को मनुष्य मन की वृत्तियों के प्रतीक के रूप में निरूपित किया गया है। उच्चैःशवस् शब्द का शब्दार्थ है- उच्च कीर्तिवाला। उच्चैःश्रवस् अश्व प्राप्ति का अर्थ है बहिर्मुखी वृत्तियों का अंतर्मुखी हो जाना, परमात्म निष्ठ हो जाना।

ऐरावत हाथी : सर्वविदित है कि हाथी बुद्धि का प्रतीक माना गया है। ऐरावत का शाब्दिक अर्थ है इरावान (समुद्र से उत्पन्न) चेतना के सागर से उद्‌भुत। इसे पूर्व दिशा का दिग्गज भी कहा गया है अर्थात् ज्ञान युक्त बुद्धि, विवेक बुद्धि।

नर से नाराधिपति : नर का साधारण अर्थ मनुष्य तो है ही, आध्यात्मिक अर्थ है नित्य पुरुष अर्थात् जीवात्मा। साधारणतः मनुष्य सांसारिक मन-बुद्धि का दास बना रहता है किंतु इसे इनका राजा या अधिपति बनाना होता है, तभी वह अध्यात्म पथ पर अग्रसर हो सकता है, नित्य पुरुष / अमृत पुरुष बन सकता है।

शतरंज के घोड़े, हाथी, प्यादे, राजे: इस श्लोक में जिन प्रतीकों के माध्यम से जीवन को उन्नत करने की बात कही गई है, उन्हीं प्रतीकों को शतरंज के खेल में मोहरे बनाकर शह-मात रूप इर्षा-द्वेष के संघर्ष में डूबे हमारे वर्तमान अज्ञानमय जीवन को चित्रित करके इस श्लोक में निहित संदेश के प्रति हमें चेताया गया है।

आयुधानामहं वज्रम् , धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः , सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

आयुधानाम् अहम् वज्रम् , धेनूनाम् अस्मि कामधुक् । प्रजनः च अस्मि कन्दर्पः , सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः ॥

अहम् आयुधानाम् वज्रम् - मैं शस्त्रों में वज्र, **धेनूनाम् कामधुक् अस्मि-** गौओं में काम-धेनु हूँ। **प्रजनः कन्दर्पः अस्मि-** सन्तानोत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ, **च सर्पाणाम् वासुकिः अस्मि-** और सर्पों में वासुकि सर्प हूँ।

आयुधो में वज्रः इंद्र के वज्र का वार कभी भी निष्फल नहीं होता किंतु यह आयुध है क्या, इसे दधिचि की कहानी से चित्रित किया गया है। दधिचि ऋषि ने देवों की विजय हेतु अपने जीवन का उत्सर्ग किया था। कहा जाता है कि उनकी अस्थियों से वज्र का निर्माण हुआ था। यह कथन कवित्तमय प्रतीत होता है किन्तु इस सत्य को प्रकट करता है कि सत्य और धर्म की विजय में त्याग और बलिदान किसी भी शस्त्र से अधिक प्रभावी होता है।

धेनु नाम कामधुक : पूर्व में श्लोक-३.१० में यज्ञ को कामधुक कहा था, अब गाय को। कामधुक कामधेनु कैसे हो गया यह स्पष्ट नहीं है। कामधुक का अर्थ तो कामनाओं को उतार फेकने वाला, यह श्लोक-३.१० में तो उपयुक्त है, किन्तु यहाँ कैसे ठीक बैठेगा यह विचारणीय है। इसी अस्पष्टता के कारण संभवतःविनोबा ने इस पर टिप्पणी नहीं की।

प्रजनः अस्मि कंदर्प : कंदर्प कामदेव का वह रुप है जिसे भगवन शिव ने भस्म करके रूपांतरित कर दिया था अर्थात् सुख की कामना से शून्य प्रजनन का प्रेरक (उदाहरण- शिव पुत्र कार्तिकेय की उत्पत्ति की कथा)। अधिक व्याख्या श्लोक-२३ की रूद्र संबंधि टिप्पणी में की जा चुकी है।

सर्पों में वासुकि : सर्पों और नागों की आध्यात्मिक पहचान अगले श्लोक की टिप्पणी में की जा रही है ।

अनन्तश्चास्मि नागानां , वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि , यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अनन्तः च अस्मि नागानाम् , वरुणः यादसाम् अहम् । पितृणाम् अर्यमा च अस्मि , यमः संयमताम् अहम् ॥

अहम् नागानाम् अनन्तः- मैं नागों में अनंतनाग अर्थात् शेषनाग हूँ , **च यादसाम् वरुणः अस्मि-** और जल के देवताओं में वरुण हूँ, **पितृणाम् अर्यमा अस्मि -** पितरों में अर्यमा (नामक पितर) हूँ, **च संयमताम् यमः अहम् (अस्मि)-** और नियमन कर्ताओं में यम मैं हूँ ।

नाग और सर्प : महाभारत के आदि पर्व में वर्णित कथाओं में इनका काफी वर्णन है किंतु प्रथम दृष्टया वहाँ भी इनमें विभेद बहुत स्पष्ट नहीं दिखता। ऐसा इस कारण कि संभवत: वहाँ नाग शब्द दोनों प्रजातियों के लिए और सर्प केवल विषैली प्रजाति के

लिए प्रयुक्त हुआ दिखता है किंतु यहाँ लक्ष्य दोनों में अंतर बताकर प्रतिकार्थ को स्पष्ट करना वांछनीय है। उक्त कहानियों में कश्यप के पुत्र नाग, सर्प और गरुड़, बुद्धि की वृत्तियों अर्थात् भिन्न प्रकार के विचारों को निरूपित करते हैं। सर्प द्वेष आदि ऋणात्मक विचारों के और नाग सेवा-प्रेम आदि धनात्मक विचारों के प्रतीक हैं तथा गरुड़ भगवत् उपलब्धि कराने वाले आस्तिक भाव के मूर्त रूप हैं जो ऋणात्मक विचार रूप सर्पों को नष्ट कर देते हैं।

आदि पर्व की उक्त कहानियों में विषाक्त सर्पों के पांच नाम आए हैं जिनमें वासुकी को सर्वाधिक विषैला बताया गया है। सम्भवतः यह द्वेष को निरूपित करता है और विचार मंथन के प्रतीक समुद्र मंथन की क्रिया में उसे रज्जु बनाकर विषमुक्त करने का उपाय भी बताया गया है। श्लोक-२८ में भगवान ने जब वासुकी को अपनी विभूति बताई तो वहाँ यह समुद्र मंथन में काम आने वाला वासुकी है जो अमृत सहित १४ रत्नों की उपलब्धि में कारगर साधन बन जाता है। द्वेष जिसे अकारण ही हम अपने दुखों का आमंत्रण बना लेते हैं उसे भी यदि हम विचार मंथन प्रारंभ करें तो द्वेष जनित दुखों से तो हम बहुत शीघ्र मुक्त होंगे ही, विचार मंथन की वह प्रक्रिया अंततः हमें अमृतत्व की उपलब्धि भी करा देगी।

अनंतनाग : सहस्र अर्थात् अनेक फन वाले अनंतनाग को परमात्मा के परम सेवक के रूप में वर्णित करने के लिए इन्हें भगवान विष्णु की शय्या के रूप में चित्रित किया गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, महाभारत में नाग को बुद्धि का प्रतीक बनाया गया है, अब बुद्धि की वे सब सद् वृत्तियाँ- ध्यान, भजन, कीर्तन, सेवा, तप, आदि जो परमात्म उपलब्धि कराने में सहयक हो सकती हैं उन्हें इस नाग से निरूपित किया गया है। भगवान ने ऐसी बुद्धि को अपनी विभूति कहा है क्योंकि वह बुद्धि भगवान की शक्ति से संचालित है।

उक्त व्याख्या महाभारत के वर्णन अनुसार बनती है। किंतु अन्य दृष्टियों से भी यह व्याख्या की गई है। स्वामी चिद्भवानन्द ने सहस्र नाग के चित्र में बहुदा पांच फन बताए जाने की व्याख्या प्रकृति के पांच तत्वों के रूप में की है। संभवत: उनका आशय है कि भगवान ने पांच तत्वों में अपनी शक्ति का आधान करके इस भौतिक सृष्टि की जो रचना की है उसका यह निरूपण है। विनोबा ने शेषनाग को आकर्षण शक्ति का निरूपण माना है जिसके कारण पृथ्वी तथा ब्रह्मांड के सभी पिण्ड अपने-अपने अपने पथ पर स्थित हैं।

जल देवताओं में वरुण हूँ : इसकी व्याख्या हेतु विनोबा ने वेद की एक ऋचा (ऋ.सा. ७-४.१२) उद्‌धृत करते हुए उसका अर्थ किया है- 'भगवान बनकर राजा वरुण पानी के समुद्र में रहते हैं और वे मनुष्यों के सत्य और असत्य को देख रहे हैं'। श्रीअरविन्द ने 'वेद रहस्य' में सिद्ध किया है कि 'वेद में पानी का समुद्र सर्वव्यापी चेतन सत्ता का प्रतीक है' अतः उक्त वैदिक सूत्र से इंगित हो रहा है कि हमारी चेतना की गहराई में जो सत्ता हमारे सत्य/असत्य व्यवहार का अवलोकन कर रही है (जिसे गीता ने श्लोक-१३.२२ में महेश्वर कहा है) उसे ही वेद में वरुण देव कहा गया है और उस रूप में उक्त परमात्म सत्ता को विभूति कहा गया है।

पितरों में अर्यमा पितर : विनोबा ने 'अर्यमा' शब्द को 'आर्यमन' की निरूकती माना है और वेद की एक ऋचा(ऋ.सा.-१०.१६.६) से आर्यमन की परिभाषा उद्‌घृत की है- 'जो दूसरों का पोषण नहीं करता उस पाप खाने वाले को आर्यमन नहीं कहा जा सकता। उनका यह प्रयास स्तुत्य है। आगे उन्होंने वेद की किसी अन्य ऋचा (जो उद्‌धृत नहीं की गई) के आधार पर अर्यमा को सूर्य (भौतिक सूर्य अथवा ज्ञान सूर्य ?) का प्रतीक तो बताया किंतु उन्होंने इसे भौतिक सूर्य-ऊर्जा (solar energy) से जोड़ दिया जो उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सोलर एनर्जी प्रकृति का रूप है जिसे भगवान अपनी विभूति क्यों कर कहेंगे? वस्तुतः हरिवंश पुराण में पितर क्या हैं इसे आठ अध्यायों (क्रमश: ९ से १६) में कथा कहानियों के माध्यम से इंगित किया गया है कि पितर हमारे संस्कार हैं जो कर्मों से निर्मित होते हैं (इसे हम एक लेख- 'कर्मकांडों से परे श्राद्धों का सत्य, दैनिक भास्कर, सितंबर २००० में सारांशित कर चुके हैं'। अर्यमा की उक्त वैदिक परिभाषा(ऋ.सा.-१०.१६.६) और पितरों की उक्त पौराणिक व्याख्या को संयुक्त करें तो निष्कर्ष निकलता है कि ऐसा मन जो स्वार्थमय जीवन से ऊपर उठकर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जिठा' वाले ईशावाष्य के निर्देश अनुसार जीवन जीने के संस्कारों से अनुप्राणित है, उसे अर्यमा पितर कहा गया है और भगवान ने ऐसे संस्कारित मन को अपनी विभूति बताया है।

शासन करने वालों में यम : यहाँ शासन करने वालों से तात्पर्य है- मनुष्य के जीवन का शासन करने वाला। इसे यहाँ यम कहा गया है। पौराणिक कथाओं की प्रतीकात्मक भाषा को ठीक से न समझने के कारण हमने यम को मृत्यु का देवता मान लिया है। मृत्यु को विभूति बताने की बात तो आगे श्लोक-३४ में कही गई है। यहाँ यम का अर्थ है- मनुष्य के हृदय (चेतना की गहराई) में स्थित वह चैतन्य सत्ता जो

जीवात्मा की क्रमगत पुनर्जन्म यात्रा का नियमन करते हुए उसे एकत्व अनुभूति रूप आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ाता है, गीता की माहेश्वर सत्ता (जिसका उल्लेख और व्याख्या हम पहले श्लोक- ९.१८ की टिप्पणी में कर चुके हैं)। यहाँ स्पष्ट कर दें कि एक ही सत्ता के विभिन्न नामों से हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए क्योंकि किसी भी सूक्ष्म सत्ता का बोध केवल विभिन्न क्रिया-बोधक (functional) नामों से ही कराया जा सकता है। निष्कर्ष यह कि हमारे अंदर जीवात्मा से उच्चतर जो महेश्वर सत्ता जाग्रत होकर उसे पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा आगे बढ़ाती है उसे ही यहाँ यम कहकर उसका वर्णन भगवान अपनी विभूति के रूप में कर रहे हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां , कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं , वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

प्रह्लादः च अस्मि दैत्यानाम् , कालः कलयताम् अहम् । मृगाणाम् च मृगेन्द्रः अहम् , वैनतेयः च पक्षिणाम् ॥

अहम् दैत्यानाम् प्रह्लादः- मैं दैत्यों में (अर्थात् दिति के पुत्रों) में प्रह्लाद , **च कलयताम् कालः अस्मि-** और काल की गणना करने वालों का (मैं) काल तत्व हूँ। **च मृगाणाम् मृगेन्द्रः-** तथा पशुओं में पशुराज सिंह **च पक्षिणाम् अहम् वैनतेयः -** और पक्षियों में मैं गरुड़ (हूँ)।

दैत्यों में प्रह्लाद : प्रथम दृष्टया यह कथन हमें विस्मित कर सकता है कि हिरण्यकशिपु जैसे निर्दय और अहंकारी दैत्य के घर प्रहलाद जैसा निर्भय भक्त जन्म ले। वस्तुतः दैत्य कोई मनुष्येर प्राणीयों की प्रजाति नहीं है वरन् उस मानव मन को दैत्य कहा गया है जो अति क्षुद्र अहंकार में जी रहा है, दिति अर्थात् विभक्त करने वाली प्रकृति। दिति पुत्र हिरण्यकशिपु इतने छोटे अहंकार में बंधा हुआ है कि उसके मन में अपने पुत्र के प्रति भी कोई अपनत्व का भाव नहीं है। वस्तुतः तो कथा के यह पात्र कोई वास्तविक पिता-पुत्र नहीं है वरन् एक ही व्यक्तित्व के दो आयाम हैं- एक अति क्षुद्र अहंकार है जो दैत्य जीवन का संचालन कर रहा है दूसरा गहराई में सुषुप्त पडी आनंद रूप (प्रह्लाद) परमात्म चेतना है जो धीरे-धीरे जाग्रत होती ही है। कथा के द्वारा यह इंगित किया है कि 'दैत्य' मानस वाले व्यक्तियों की गहराई में भी एक उच्च चेतना का बीज पड़ा हुआ है जिसे नारद जैसे जाग्रत भक्त अपनी ज्ञान युक्त अमृतवाणी से सींचकर पल्लवित कर देते हैं। यह विकासशील उच्च चेतना का बीज हम सब में विद्यमान हैं जिसे ज्ञान-सह-कर्म अर्थात् भक्ति द्वारा पल्लवित और विकसित किया जाना है। उस चेतना के विकसित और स्थिर हुए रूप को भगवान ने अपनी विभूति कहा है।

काल की गणना करने वालों का मैं 'काल' हूँ : विनोबा ने काल की गणना करने वाले का अर्थ किया है- समय बीतने के प्रति सावधान रहने वाले और 'काल' अर्थात् अनंत काल। तात्पर्य यह कि जो समय के प्रति सतत् सावधान रहते हैं वें परिणामतः अनंत में स्थित हो जाएंगे। अनंत सत्ता दो नहीं है, एक ही है। उसे चाहे अनंत काल कहें या अनंत आकाश अथवा अनंत चेतन सत्तारूप परमात्मा। इसी तथ्य को भगवान ने यह कहकर इंगित किया है कि हर पल सावधान रहने वाले ऐसे साधकों को प्राप्त होने वाली उपलब्धि भी मेरी विभूति ही है।

मृगाणाम् मृगेंद्रः अहम् : 'चौपायों में मैं सिंह हूँ' ऐसा भगवान ने इसलिए नहीं कहा कि सिंह सर्वाधिक बलवान हैं बल्कि इसलिए कि वह निडर है। बल में तो हाथी भी उससे कम नहीं है किंतु हाथी निडर नहीं है वह जंगल में सूंड उठाकर गंध द्वारा शेर की उपस्थिति के प्रति सावधान होकर चलता है। और निडरता को भगवान ने दैवी संपद गुणों में प्रथम स्थान दिया है(श्लोक-१६.१)। इसी कारण भगवान ने पशुओं में सिंह को अपनी विभूति बताया है ऐसा हमारा अनुमान है।

पक्षियों में गरुड़ : गरुड़ के लिए वैनतेय शब्द का प्रयोग किया गया है जो इसके आध्यात्मिक प्रतिकार्थ होने का संकेत करता है। जैसा कि हम श्लोक-२९ की टिप्पणी में कह चुके हैं कि तामसी स्वभाव वाली कद्रू को कश्यप से संतान रूप में सर्प प्राप्त हुए थे और सात्विक स्वभाव की वनिता को गरुड़ और अरुण हुए थे। गरुड़ भगवान के वाहन बने और अरुण सूर्यदेव के रथ के संचालक। वैसे गरुड़ पक्षी की भी अन्य पक्षियों की अपेक्षा विशेषता यह है कि वह बहुत ऊंचाई पर उड़ता है किंतु लक्ष्य पर हमेशा उसकी दृष्टि बनी रहती है और कथा के वनिता पुत्र गरुड़ भगवत् निष्ठ विचारों को निरूपित करते हैं। अन्य कथाओं में भी कहा गया है कि भगवान गरुड पर सवार होकर आते हैं जिसका अर्थ है भगवत् निष्ठ विचारों से भगवत् प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। गरुड़ सर्पों का भक्षण करते हैं इसका अर्थ है कि व्यक्ति यदि भगवत् संबंधी विचारों को ग्रहण करेगा तो ऋणात्मक विचारों से वह स्वमेव मुक्त हो जाएगा। इन्हीं विशेषताओं के कारण धनात्मक विचारों के मूर्त रूप गरुड़ को भगवान ने अपनी विभूति कहा है।

पवनः पवतामस्मि , रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि , स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवनः पवताम् अस्मि , रामः शस्त्र-भृताम् अहम् । झषाणाम् मकरः च अस्मि , स्रोतसाम् अस्मि जाह्नवी ॥

अहम् पवताम् पवनः - मैं पवित्र करने वालों में वायु, **शस्त्र-भृताम् च रामः अस्मि-** (और) शस्त्रधारियों में राम हूँ। **झषाणाम् मकरः अस्मि-** (बड़ी) मछलियों में मकर हूँ , **च स्रोतसाम् जाह्नवी अस्मि-** और नदियों में भागीरथी गंगा हूँ।

पवताम् पवनः पवित्र अर्थात् शुद्ध करने वालों में वायु मेरा स्वरूप है। प्रकृति में चार स्थूल तत्व हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारों में स्वयं को शुद्ध करने की कुछ न कुछ क्षमता है किंतु इन् में भी वायु को सर्वाधिक शुद्धिकारक माना गया है क्योंकि यह स्वयं के अतिरिक्त दूसरे तत्वों को भी शुद्ध करने में सहायक है। वायु की ऑक्सीजन मुख्य शुद्धि कारक है। यह व्याख्या तो भौतिक स्तर पर हुई किंतु भगवान ने जब पवन को अपनी विभूति कहा है तो हमें इस कथन के आध्यात्मिक अर्थ को समझने का प्रयास करना चाहिए। डॉ. राधा गुप्ता ने पवन पुत्र हनुमान की उत्पत्ति सम्बन्धी एक अप्रकाशित लेख में पवन को प्राण शक्ति का प्रतीक माना है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस प्राण शक्ति का जीवन दृष्टि (अंजना) के साथ संयोग करने पर जो कर्म (निष्काम कर्म) मनुष्य करेगा वें उसके मन-बुद्धि में पड़े स्वार्थ केंद्रित संस्कारों को नष्ट कर उसे पवित्र कर देगा(श्लोक-५.११)। इसी बात को भगवान ने श्लोक-४.३८ में इस रूप में कहा था कि मनुष्य को पवित्र करने वाला ज्ञान के सामान और कुछ भी नहीं है और वह ज्ञान कर्मयोग द्वारा उसे अपने आप कुछ काल में प्राप्त हो जाता है।

शस्त्र धारियों में राम : राम अर्थात् राजा दशरथ के पुत्र राम। वह महान धनुर्धारी थे किंतु उन्होंने साम्राज्य विस्तार के लिए कभी शस्त्र नहीं उठाया। अन्याय और अत्याचारीयों के विरुद्ध ही उन्होंने शस्त्र उठाए तथा विभिन्न समाजों के बीच प्रेम और मित्रता स्थापित करके दक्षिण एशिया के संपूर्ण भूभाग को एक सूत्र में बांधा। इसलिए उन्हें शस्त्र धारियों में परमात्मा की विभूति कहा गया है।

झषाणां मकरः अस्मि : हमारे देखने में आई सभी टिकाओं में इन शब्दों का अनुवाद यह किया गया है कि मछलियों में मैं मगरमच्छ हूँ। किंतु मगरमच्छ में किस दिव्य गुण के कारण भगवान ने यह वचन कहा इसका समाधान कारक उत्तर हमें कहीं नहीं मिला। इसे समझने के लिए हमें 'झष' और 'मकर' इन दोनों शब्दों पर विचार करना चाहिए। 'झष' का अर्थ मछली भी है किन्तु विशेषतः बड़ी मछलियों को झष कहा जाता है। दूसरा शब्द 'मकर' है जिसे घड़ियाल या मगरमच्छ कह दिया

गया है। वस्तुतः मगरमच्छ मछली प्रजाति का जीव है ही नहीं। अतः यहाँ 'मकर' को केवल शब्द समानता के कारण 'मगर' समझ लेना गलत होगा। इसी गलत अनुवाद के कारण भगवान के वचनों के वास्तविक भाव को ग्रहण करने में कठिनाई उपस्थित हो रही है। वस्तुतः मकर से तात्पर्य व्हेल मछली अथवा डॉल्फिन मछली होना चाहिए। मछलियों की यें दोनों प्रजातियां विशालकाय तो है ही, इनमें एक बड़ी विशेषता भी है जिसे हम 'दिव्य' गुण कह सकते हैं। यह प्रेमी जीव हैं। जीव विज्ञानियों ने डाल्फिन को तो अति प्रेमी जीव माना ही है, व्हेल मछली को भी भद्र महाकाय (gentle giant) कहा है क्योंकि व्हेल भी बड़ी सौम्य और मित्रवत व्यवहार करने वाली होती है। अतः बड़ी मछलियों में (झषों में) मकर अर्थात् डॉल्फिन / व्हेल को उनकी सौम्यता / प्रेम वाले गुणों के कारण भगवान ने इन्हे अपनी विभूति कहा होना चाहिए।

स्रोतसाम् जाह्नवी अस्मि : भारत की प्राचीन संस्कृति में बहुत सी वस्तुओं के दो अथवा तीन रूप वर्णित है- एक है भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक, तीसरा सृष्टि उत्पत्ति संबंधी 'आदि' रूप। गंगा के भी तीन रूप वर्णित है- एक है भगीरथ द्वारा हिमालय से लाई गई गंगा नदी। भौतिक गंगा का भगीरथी नाम इसी घटना से जुड़ा है। दूसरी है ज्ञान-गंगा जो भगवान शंकर के मस्तक से निकली, जहनु ऋषि द्वारा पी गई और आत्मसात के पश्चात् उन्होंने उसे आगे प्रवाहित किया, इसे जह्नवी नाम से संबोधित किया गया है। गंगा का तीसरा रूप है- सृष्टि की उत्पत्ति में उपादान कारण प्रकृति जिससे उत्पन्न ८ वसुओं से भौतिक सृष्टि के मूल तत्वों (अष्टधा प्रकृति श्लोक-७.४) का प्रादुर्भाव हुआ। स्पष्ट है कि यहाँ जाह्नवी शब्द से ज्ञानगंगा को इंगित किया गया है। इसी प्रकार, 'स्रोतस्' शब्द किसी भी प्रकार के प्रवाह को इंगित करता है। 'स्रोतसाम् जाह्नवी अस्मि' का अर्थ है- 'जितने भी प्रकार के प्रवाह सृष्टि में है उनमें ज्ञान-प्रवाह मैं हूँ। इसका अर्थ है- 'मैं ज्ञान स्वरूप हूँ और सतत प्रवाहशील रहना मेरा सहज स्वभाव है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहे कि 'जिसे भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह उस ज्ञान को लेकर निष्क्रिय हो नहीं बैठ जाता। ज्ञान प्राप्त होने पर वह अन्य लोगों को उस ज्ञान को प्राप्त कराने हेतु सक्रिय हो जाता है। इस तथ्य की पुष्टि प्राचीन कालीन ऋषि-मुनियों एवं अर्वाचीन कालीन श्रीकृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषों के जीवन वृत्तांतो से होती है। ज्ञान के सतत प्रवाहशील रहने की इस नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण ही ज्ञान को ज्ञान-गंगा के रूप में वर्णित करते हुए इसे भगवान ने अपनी विभूति कहा है।

सर्गाणामादिरन्तश्च , मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां , वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्गाणाम् आदिः अन्तः च , मध्यम् च एव अहम् अर्जुन । अध्यात्म-विद्या विद्यानाम् , वादः प्रवदताम् अहम् ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **सर्गाणाम् आदिः अन्तः च मध्यम् अहम् एव -** सृष्टि का आदि , अंत और मध्य में ही (हूँ),**च अहम् विद्यानाम् अध्यात्म-विद्या प्रवदताम् वादः -** और मैं (ही) विद्याओं में अध्यात्म विद्या (तथा) प्रवक्ताओं (अर्थात् तत्व व्याख्याताओं) का तत्व-वाद हूँ।

सर्ग : स्थूल सृष्टि के निर्माण से पूर्व वाली सूक्ष्म सृष्टि। भागवत (स्कंध-२, अध्याय-१०) में सर्ग और विसर्ग का वर्णन क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि के रूप में ही हुआ है।

सर्गाणाम्... अहम् एव : पूर्व में श्लोक-२० में भगवान ने प्राणियों का आदि, मध्य और अंत स्वयं को बताया था, और अब वें अपनी उसी सत्ता को सूक्ष्म सृष्टियो का आदि, मध्य और अंत बता रहे हैं। श्लोक-२० का यह कथन कि प्राणियों का जीवन भगवत् चेतना से संचालित हो रहा है, समझने में थोड़ा आसान था, अब सर्ग अर्थात् सूक्ष्म सृष्टियों का संचालन भी भगवत् सत्ता से हो रहा है यह बात जो यहाँ इंगित की गई है इसे सूक्ष्मता से समझना होगा। सर्ग अर्थात् सूक्ष्म सृष्टि के उद्भव में सर्वप्रथम तन्मात्राओं का फिर तत्वों (अष्टधा प्रकृति का) और पश्चात् विसर्ग अर्थात् स्थूल जगत का जो निर्माण हुआ है उसमें भी ज्ञान सत्ता रूप परमात्मा की अदृश्य भूमिका रही है यह बात आज से १५०-२०० वर्ष पूर्व ही भौतिकी के थर्मोडायनेमिक्स विषय के वैज्ञानिकों द्वारा प्रकृति के नियमों का अध्ययन करने पर इंगित तो हो गई थी किंतु परमात्म सत्ता उनके विषय की स्वतः सिद्धि मान्यताओं (axioms) में न होने के कारण वें उसकी व्याख्या नहीं कर पाए थे। उक्त अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि प्राकृतिक घटनाओं में प्रकृति धीरे-धीरे निष्क्रिय अवस्था की ओर बढ़ती है। (Spontaneous changes take place from a state of more available energy to that of less available energy.) स्पष्ट है कि कृष्ण-विवर (Black Hole) अवस्था से प्रारम्भ होकर सृष्टि निर्माण की वर्तमान अवस्था तक प्रकृति को परिवर्तित करने में किसी अन्य बल की भूमिका रही है। इसी अदृश्य बल को श्रीकृष्ण अपना स्वरूप यह कह कर बता रहे हैं कि सृष्टियों का आदि, मध्य और अंत मैं हूँ। इन शब्दों से वें सृष्टि रचना में क्रियाशील ज्ञान तत्व का ही दर्शन करा रहे हैं।

विद्याओं में आध्यात्म विद्या और प्रवक्ताओं का तत्वज्ञान मैं हूँ : विद्या शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना, अनुभव करना। अतः आध्यात्म विद्या का अर्थ हुआ सर्वव्यापी आत्मा की अनुभूति होना, साधक को सबके साथ एकत्व की अनुभूति होना, उनके दुख-सुख की वैसे ही अनुभूति होना जैसी अपने दुख-सुख की होती है। उस स्थिति को भगवान ने अपना स्वरूप बताया है।

इतना ही नहीं, इससे नीचे की स्थिति- इस प्रकार के बौद्धिक ज्ञान की स्थिति- को भी भगवान ने अपनी विभूति बताई है। इसे उन्होंने 'प्रवदताओ का वाद' कहकर व्यक्त किया है। 'प्रवदता' अर्थात् प्रवक्ता और 'वाद' से यहाँ अर्थ है तत्व वर्णन, परमात्म तत्व का वर्णन और उसकी प्राप्ति का उपाय। बौद्धिक स्तर की यह जानकारी भी भगवान की विभूति ही है क्योंकि इस बौद्धिक ज्ञान के पश्चात् ही अनुभूति स्तर की ज्ञान प्राप्ति का मार्ग खुलता है।

अक्षराणामकारोऽस्मि , द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो , धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणाम् अकारः अस्मि , द्वन्द्वः सामासिकस्य च । अहम् एव अक्षयः कालः , धाता अहं विश्वतोमुखः ॥

अहम् अक्षराणाम् अकारः- मैं अक्षरों में अकार हूँ, **च सामासिकस्य द्वन्द्वः अस्मि -** और सामासिक शब्दों का द्वन्द नामक समास हूँ, **अक्षयः कालः (अस्मि)-** अक्षय काल (अर्थात् समय) हूँ, **अहं एव धाता विश्वतोमुखम् -** मैं ही विराट-स्वरूप सबका पालन- पोषण करने वाला हूँ ।

अक्षरों में अकार : इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया गया है कि सभी व्यंजन अक्षरों की ध्वनि में 'अ' का उच्चारण समाविष्ट है जैसे क=क्+अ, ख=ख्+अ इत्यादि। इस कथन से दोनों प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं के लिए विशेष अर्थ अभिप्रेत हैं- १. सगुन उपासक चिंतन करें कि जितने भी नाम-रुप वाली वस्तुओं को हम जानते हैं उन सब में परमात्म तत्व समाविष्ट है। उस सत्ता पर यदि हमारा ध्यान सदा बना रहे तो हमारा जीवन उस परम से ही संचालित होने लगेगा और हम अज्ञान रूपा प्रकृति की पकड़ से मुक्त हो जाएंगे। २. विनोबा ने बताया है कि ध्यान योगी (अर्थात् निर्गुण उपासक) भी प्रकृति से सर्वथा पृथक परम सत्ता के सतत चिंतन 'अ' अर्थात् 'नेति-नेति , यह नहीं-यह नहीं द्वारा अपने लक्ष्य के अनुभव तक पहुंच सकते हैं।

समासों में द्वन्द्व समास : व्याकरण से ही दूसरा भाव। दो शब्दों से बने संयुक्त शब्द को सामासिक शब्द कहा जाता है। समास के चार भेद प्रमुख हैं- तत्पुरुष (दूसरा पद प्रधान होता है), अवयय (प्रथम पद प्रधान), बहुब्रीहि (दोनों पद प्रधान नहीं), कोई तीसरा भाव ही संकेतत, और द्वंद्व (दोनों पद प्रधान)। समासों में 'मैं' द्वंद, यह कहकर भगवान ने संकेत किया है कि 'मैं' जहाँ भी दो सह-भावों में अनुस्यूत होता हूँ तो वे दोनों भाव महत्वपूर्ण होते हैं- उदा. सुख-दुख, भय-अभय आदि (श्लोक-४,५) क्योंकि उन दोनों का अनुभव व्यक्ति को 'मेरी' और आने में सहायक होता है। यह उदाहरण तो विपरीत भावों का हुआ। दो परस्पर पूरक पदों के साथ प्रयोग का उदाहरण होगा- जपयज्ञ (श्लोक-२५), जप और यज्ञ इन दोनों के सह-प्रयोग से ही परमात्म उपलब्धि निश्चित हो पाती है। ऐसे द्वन्द्व भावों / साधनों को भगवान ने अपना स्वरूप बताया।

अक्षय काल : काल की अनुभूति हमें वस्तुओं में अथवा परिस्थितियों में परिवर्तन के रूप में ही होती हैं। इसके दो रूप हो सकते हैं- प्रकृति से होने वाले परिवर्तन अथवा परमात्म प्रेरित परिवर्तन। परमात्म प्रेरित परिवर्तनों में अनुष्यूत काल (समय) को अक्षय काल कहा गया है और इसके लिए ही भगवान ने कहा है- 'मैं अक्षय काल हूँ'। सामान्यतः हम परमात्म प्रेरित परिवर्तनों में अनुष्यूत अनादि अनंत काल-तत्व को नहीं पहचान पाते, केवल प्रकृति के साथ एक रुप होकर खंड-खंड में बटे क्षण,घड़ी, मुहर्त, दिन, माह, वर्ष, अथवा सेकंड, मिनट, घंटे, आदि को ही देख-समझ पाते हैं (श्लोक-३०)।

अहम् विश्वतोमुखम् धाता : मैं विराट स्वरूप, चारों ओर मुख वाला विश्वरूप, सबका विधाता हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम् , उद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां , स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मृत्युः सर्व-हरः च अहम् , उद्भवः च भविष्यताम् । कीर्तिः श्रीः वाक् च नारीणाम् , स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा ॥

अहम् सर्व-हरः मृत्युः च भविष्यताम् उद्भवः - मैं सब का नाश करने वाली मृत्यु और फिर पुनः उनकी उत्पत्ति तथा उत्थान (का हेतु) हूँ। **च नारीणाम् कीर्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः च क्षमा (अस्मि)-** नारियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा (ये उत्कृष्ट गुण मैं ही हूँ अर्थात् मुझ से ही हैं) ।

नारीणाम् कीर्तिः ... क्षमा : हम पहले श्लोक-९.३२ की व्याख्या में कह चुके हैं कि हमारे आध्यात्मिक साहित्य में स्त्री / नारी का अर्थ मादा शरीर धारी मनुष्य नहीं है। विनोबा ने भी इस श्लोक (क्रमांक-१०.३४) की व्याख्या में यही कहा है। हम यहाँ पुनः दोहराना चाहेंगे कि इन ग्रंथों में नारी / स्त्री को प्रतीक बनाया गया है प्रकृति का- मनुष्य के मन-बुद्धि में, सायकी में, क्रियाशील प्रकृति का। जब यह सायकी में स्थित प्रकृति परमात्म शक्ति से नियंत्रित होकर संचालित होती है तो व्यक्ति में अनेक सद्‌गुणों का प्रादुर्भाव होता है उनमें से यहाँ वर्णित सात प्रमुख गुणों का उल्लेख किया गया है। पुराणों में ब्रह्मा (अर्थात् ब्रह्म चेतना) से ७ महर्षियों की उत्पत्ति बताई गई है और यहाँ प्रकृति-पुरुष से उत्पन्न इन ७ गुणों की उत्पत्ति का उल्लेख है। महाभारत में इन सात के साथ और अन्य सद्-वृत्तियों को राजा दक्ष (श्रेष्ठ मनुष्य) की पुत्रियों और धर्म की पत्नियों के रूप में एक रूपक कथा के अंतर्गत वर्णित किया गया है। आशय है यह बताना कि व्यक्ति को दक्षता पूर्वक जीवन जीते हुए सद्-वृत्तियों का विकास करना चाहिए और इन्हें धर्म को सौंप देना चाहिए अर्थात् उसे अपने इन गुणों के द्वारा समाज में धर्म स्थापना में सहयोगी बनाना चाहिए।

मृत्यु और उद्भव मेरे रूप : हम मृत्यु से भयभीत रहते हैं किंतु यह अज्ञान के कारण है। भगवान ने यहाँ मृत्यु और उद्भव के चक्र को अर्थात् पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा आध्यात्मिक उत्थान को अपनी विभूति बताया है।

बृहत्साम तथा साम्नां , गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहम् , ऋतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

बृहत्-साम तथा साम्नाम् , गायत्री छन्दसाम् अहम् । मासानाम् मार्गशीर्षः अहम् , ऋतूनाम् कुसुमाकरः ॥

साम्नाम् बृहत्-साम- सामवेद के छंद (जो साम कहलाते हैं) में बृहत नामक साम-छंद, **तथा अहम् छन्दसाम् गायत्री -** तथा छंदों में गायत्री छंद हूँ ।**मासानाम् मार्गशीर्षः-** (तथा) महीनों में मार्गशीर्ष, **ऋतूनाम् कुसुमाकरः अहम् (अस्मि) -** (और) ऋतुओं में वसंत ऋतु हूँ मैं ।

साम्नाम् बृहत्साम : विनोबा बड़े वैदज्ञ थे। उनकी व्याख्या बड़ी अधिकार पूर्ण और समाधान कारक है। उसके अनुरूप ही हम यह विवेचना दे रहे हैं- सामवेद में जो साम (सूक्त) हैं उनमें बृहत्साम को श्रेष्ठ कहा गया है। ऋग्वेद के सूक्त को ऋचा, यजुर्वेद के सूक्तों को युज्, तथा सामवेद के सूक्तों को साम कहा जाता है।

ऋग्वेद के दो सूक्तों को बृहती नाम के छंद में अनूदित करके उन्हें गायन योग्य बनाकर सामवेद में लिया गया है। इनको बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है। एक तो, तीनों वेदों में सामवेद को श्रेष्ठ माना ही गया है (श्लोक-२२); दूसरे, इसमें इन दो साम (सूक्तों) का मुख्य भाव सबको ब्रह्म स्वरूप देखना होने से इन्हें बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है। भगवान ने इसी बात को यहाँ प्रकाशित किया है।(द्दष्टव्य: श्लोक-१०.२२ के अंतर्गत टिप्पणी ' वेदों में साम वेद')

छंदों में गायत्री छंद : वेद मंत्र कई प्रकार के छंदों (पद्यों) में कहे गए हैं। आठ-आठ अक्षर के तीन चरण वाले एक छंद का नाम गायत्री है जिसका सुप्रसिद्ध उदाहरण सविता अर्थात् सूर्य (ज्ञान सूर्य) की प्रार्थना वाला सावित्री नामक मंत्र- ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गोदेवस्य धीमहि, धियो यो न: प्रचोदयात्- है, जो अब गायत्री नाम से प्रचलित है। अब तो यह प्रार्थना मंत्र जप से भी ऊपर उठकर मंदिरों में मूर्ति के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गया है। भगवान ने 'छंदों में मैं गायत्री हूँ' यह कहकर इस प्रार्थना विशेष को अपना स्वरूप बताया अथवा उक्त नियमानुकूल रची गई काव्य रचना को, यह तो सर्वथा स्पष्ट नहीं है, किंतु इस मंत्र विशेष में जब ज्ञान की इतनी महिमा प्रतिपादित है तो विश्वास होता है कि यहाँ गायत्री से आशय कविता का न होकर इस प्रार्थना रूप मंत्र विशेष से ही होना चाहिए क्योंकि गीता मे ज्ञान की महत्ता सर्वत्र स्थापित है।

महीनों में मार्गशीर्ष : इस संबंध में मुख्यतः दो परिकल्पनायें की गई है- १. गीतोंपदेश जिस दिन कहा जा रहा था वह मार्गशीर्ष (अग्रहायण) माह था। २. महाभारत काल में वर्ष का आरंभ मार्गशीर्ष से माना जाता था (आज वर्ष का आरंभ चैत्र माह से माना जाता है)।

इस परिपेक्ष में विनोबा ने टालस्टाय की एक कहानी से बहुत महत्वपूर्ण बात उद्‌धृत है- प्रश्न: सर्वोत्तम क्षण कौन सा है? सर्वोत्तम सेवा कौनसी है? सर्वोत्तम स्थान कौनसा है? उत्तर: वर्तमान क्षण ही सर्वोत्तम है, सामने खड़े व्यक्ति की सेवा ही सर्वोत्तम सेवा है, और जिस स्थान पर आप हैं वहीं सर्वोत्तम स्थान हैं। सारांश यह कि जो उपलब्ध है उसका सर्वोत्तम उपयोग ही सर्वोत्तम जीवन जीने की कला है।

द्यूतं छलयतामस्मि , तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि , सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

द्यूतम् छलयताम् अस्मि , तेजः तेजस्विनाम् अहम् । जयः अस्मि व्यवसायः अस्मि , सत्त्वम् सत्त्ववताम् अहम् ॥

अहम् छलयताम् द्यूतम्- मैं धोखा देने वाली वस्तुओं में जुआ, **अहम् तेजस्विनाम् तेजः -** (और) मैं तेजस्वियों का आत्म बल हूँ, **जयः अस्मि, व्यवसायः अस्मि-** विजय हूँ, उद्यमशीलता हूँ, **सत्त्ववताम् सत्त्वम् अस्मि -** (तथा) सात्विक लोगों की सात्विकता हूँ ।

द्यूतम् छलयताम् अस्मि : भगवान के इस कथन को समझना एक चुनौती रही है। वेदांत वादियो ने तो यह कहकर अपने को संतुष्ट करने का प्रयास किया है कि शुभ-अशुभ जो कुछ भी होता है वह दिव्य की अभिव्यक्ति है। कुछ महात्माओं ने तो सूर्य की ऊर्जा से भले-बुरे सभी के जीवन चलने का उदाहरण देकर अपनी मान्यता को पुष्ट करने का प्रयास किया है किंतु वे यह भूल जाते हैं कि उक्त भौतिक सूर्य भौतिक ऊर्जा देता है जो हम सब के भौतिक जीवन का आधार है। परमेश्वर ज्ञान सत्ता है और ज्ञान अच्छे-बुरे में भेद न करे ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि परमेश्वर अच्छे-बुरे का भेद नहीं करेगा तो फिर 'परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्' हेतु अवतार लेने की बात बेमानी नहीं हो जाएगी क्या?

इस संबंध में ग.व. कवीश्वर महोदय की विवेचना (गीता: तत्व मीमांसा) पठनीय होगी। उन्होंने शांकर भाष्य, रामानुज भाष्य, जयदयाल जी गोयंका की 'गीता तत्व विवेचनी', स्वामी वल्लभाचार्य, भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद, सातवलेकर महाराज, श्री अरविंद, डॉ. राधाकृष्णन की टीकाओं में उपरोक्त भाव को व्यक्त करने वाले शब्दों को, और उस अर्थ को उचित ठहराने के प्रयासों को उद्धृत करते हुए उनकी असफलता को भली प्रकार प्रकट किया है। उन्होंने महाभारत से श्रीकृष्ण के उन वचनों को उद्घृत किया है जब द्यूत क्रीड़ा के पश्चात् पांडवों के वन चले जाने पर वे उनसे मिलने गए थे (वन पर्व, अध्याय-१३)। उस समय श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा था कि यदि वें द्वारका पर शाल्व द्वारा किए गए आक्रमण का प्रतिकार करने में व्यस्त न होते तो वें हस्तिनापुर आकर उस निंदा और विनाशकारी खेल को होने ही नहीं देते। कविश्वर महोदय ने श्रीकृष्ण के इन दो प्रकार के वचनों में जो विरोध दिख रहा है उसे दूर करने हेतु महाभारतकार के द्यूत शब्द के प्रयोग में एक 'कूट' खोजा है। उन्होंने कई प्रसिद्ध संस्कृत शब्दकोशों का संदर्भ देते हुए कहा है कि द्यूत शब्द के दो अर्थ हैं- 'पासों से जुआ खेलना' और 'पीड़ा या दुख देना'। उनका निष्कर्ष है कि 'द्यूतम् छलयताम्

अस्मि' में द्यूत का अर्थ पीड़ा देना है। अतः भगवान के वचनों का अर्थ- छल-कपट करने वालों की पीड़ा में हूँ, उन्हें पीड़ा देने वाला मैं हूँ।

कविश्वर महोदय ने भगवान के वचनों में जिस विरोधाभास को बहुत प्रमाणिकता से प्रस्तुत किया है उसका समुचित समाधान, हमारा पक्का विश्वास है, आध्यात्मिक अर्थ खोजने पर ही मिल सकेगा। यह विश्वास अभी तक के हमारे गीता अध्यन के अनुभव से ही उपजा और दृढ़ हुआ है। अतः यहाँ भी हम आध्यात्मिक अर्थ की तलाश करना चाहेंगे।

भगवान के वचनों के आध्यात्मिक अर्थ की तलाश : 'छल करने वालों का मै द्यूत हूँ' इन शब्दों में दो भाव सन्निहित हैं- जूआ सबसे बड़ा छल है और उस छल में मैं अर्थात् परमात्मा सत्ता है। इन दोनों बातों को विशेषतः दूसरी बात को हमें उस परिपेक्ष में समझना है जबकि भगवान स्वयं जूए की भर्त्सना कर चुके हैं।

जूआ सबसे बड़ा छल इस रुप में है कि अन्य सब छल दूसरों के प्रति किए जाते हैं किंतु जूए में व्यक्ति स्वयं को ही धोखा दे रहा होता है। यह छल अपने प्रति होने से हम इसे 'आध्यात्मिक' कह सकते हैं। यदि वह जूए का दाव जीतता है तो यह जानते हुए भी कि जूए के खेल में हार-जीत पूर्णत: संयोग (chance) पर आधारित होती है फिर भी उसकी लोभ वृत्ति उस पर हावी होकर उसे समझाती है कि जीतेगा तू ही और वह उस लोभी मन के बहकावे में आकर खेल जारी रखता है और यदि वह हार रहा है तो भी उसका मन उसे समझाता है कि खेल छोड़ मत, बड़ा दाव लगा जिससे हारा हुआ धन तो वापस आए ही अतिरिक्त लाभ भी हो जाए। यह स्वयं को धोखा देना है। इस तरह जूए के खेल में व्यक्ति स्वयं को ही धोखा देता है, स्वयं से ही छल करता है। अतः जूआ सबसे बड़ा छल है।

अब हमें भगवान के वचन के उस दूसरे अंश को समझना है कि उन्होंने यह क्यों कहा कि 'इसमें भी मैं हूँ' जबकि वे जूए की पहले भर्त्सना कर चुके थे। इस विरोधाभास का निराकरण बिना आध्यात्मिक स्तर पर गए संभव ही नहीं है। वस्तुत इस श्लोक(क्रमांक-१०.३६) में और आगे भगवान ने मनुष्य को अपनी आंतरिक विभूतियों के प्रति जाग्रत होने का ही संकेत किया है। यहाँ द्यूत को लेकर जिस आंतरिक विभूति की ओर इशारा है उसे पहचानने से पूर्व हमें अपनी उन असत वृत्तियों का दृष्टा बनना पड़ेगा जो हर कभी सुषुप्ति से बाहर आकर जाग्रत हो जाती

हैं। हमारे अवचेतन मन में अनेक असत वृत्तियाँ छिपी पड़ी रहती जो उनके प्रकटीकरण के लिए उपयुक्त परिस्थितियों के बनते ही चेतन मन को आवृत्त करके हम पर हावी हो जाती हैं। अवचेतन मन में पड़ी इन अशुभ वृत्तियों को ही यहाँ छल करने वाली कहा गया है। इसमें द्यूत (जूआ) लोभ वृत्ति का सबसे प्रबल रूप है जैसा कि ऊपर वर्णित किया जा चुका है।

उपरोक्त विरोधाभास श्रीकृष्ण को व्यक्ति मानने पर नहीं मिट सकता वरन् श्रीकृष्ण और अर्जुन को भी आध्यात्मिक सत्ताऐं मानने पर श्रीकृष्ण के दोनों वचनों का विरोधाभास मिट जाता है। श्रीकृष्ण हमारे अंदर हृदय में स्थित ज्ञान हैं (श्लोक-१८.६१), महेश्वर हैं (श्लोक-९.१८,१३.२२) तथा अर्जुन है सात्विक मन। जूअे के समय श्रीकृष्ण वहाँ नहीं थे इसका तात्पर्य है कि महेश्वर रूप ज्ञान जाग्रत नहीं था। इसलिए लोभ ने पांडवों को जूअे में फंसा दिया था। जब कुरुक्षेत्र में अर्जुन रूप मन ने आत्मज्ञान रूप श्रीकृष्ण (महेश्वर) को अपने जीवन रथ का संचालक चुनकर उनके शरणागत हुआ (शिष्य ते अहम् शाधि माम् त्वाम् प्रपन्नम्, श्लोक-२.७) तो वह सत्ता जाग्रत होकर समझाईश दे रही है कि इस क्षण जो परिस्थिति तेरे सामने आखड़ी हुई है उसके प्रति ईश्वर भाव से समष्टिहित को दृष्टिगत रखते हुए अपने कर्तव्य का निर्धारण कर। ऐसा समझ कि उस जूअे वाली निकृष्ट घटना को, जिससे यह वर्तमान परिस्थिति निर्मित हुई है, उसे अब 'मैं' तेरी जाग्रति का और सबके कल्याण का कारक बनाने वाला हूँ, बस तूने जो मेरे शरणागत होने की बात कही थी उसका पालन करते हुए तू मेरे निर्देशानुसार युद्ध कर। 'जूअे में भी मैं हूँ' इन वचनों में भगवान का यही भाव निहित है।

तेज, विजय, उद्यम तथा सत्त्व : तेज शब्द के अर्थ विभिन्न संदर्भों में बहुत भिन्न हैं। आध्यात्मिक संदर्भ में अर्थ है- आत्म बल, आत्मिक शक्ति। इसी प्रकार, सत्व का अर्थ है- शुद्ध, प्रकृति मुक्त आत्मा। अतः भगवान के उक्त वचनों का तात्पर्य है कि, हे अर्जुन! तुमने मेरी शरण ली है तो मेरे कहे अनुसार चलोगे तो बाह्य जीवन में उद्यमशीलता और विजय प्राप्त करोगे तथा आंतरिक जीवन में आत्म बल को तथा अंतोगत्वा आत्म स्थिति को प्राप्त करोगे।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि , पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः , कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णीनाम् वासुदेवः अस्मि , पाण्डवानाम् धनञ्जयः । मुनीनाम् अपि अहं व्यासः , कवीनाम् उशना कविः ॥

वृष्णीनाम् वासुदेवः- वृष्णियों में वासुदेव (अर्थात् मैं कृष्ण), **पाण्डवानाम् धनञ्जयः -** पांडवों में धनञ्जय (अर्थात् अर्जुन), **मुनीनाम् अपि व्यासः -** मुनियों में व्यास मुनि (तथा), **कवीनाम् उशना कविः अहं अस्मि -** कविओं में उशना कवि भी मैं (ही) हूँ ।

यहाँ कहीं गई विभूतियों के स्थूल रूप तो स्पष्ट ही हैं इनके सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थों का अन्वेषण करने का यहाँ हम प्रयास करेंगे।

वृष्णियों में वायुदेव : 'वृषन्' शब्द का अर्थ है अग्नि / चेतना तथा वासुदेव का अर्थ है, वसुदेव से उत्पन्न। वसुदेव है आठवां वसु- सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व अहम् अर्थात् सतत अपने होने की भाव जाग्रति वाला तत्व। अतः वृष्णियों में वासुदेव का अर्थ है- प्राण, इंद्रियें, मन, बुद्धि आदि स्तरों पर क्रियाशील चेतना में सर्वोच्च, 'अपने होने के भाव वाली चेतना' जो मनुष्य को प्राप्त है और जो विकसित होती हुई कृष्ण रूप सर्वात्म चेतना बन सकती है।

पांडवों में धनञ्जय : पांडु का अर्थ है उज्जवल, प्रीत अथवा धवल रंग वाली वस्तु, अतः पांडु से एक उर्ध्वगामी व्यक्तित्व को और पंच पांडव ऐसे उच्च चरित्रवान व्यक्ति की चेतना के पंचकोशों को निरूपित करते हैं (द्दष्टव्य: श्लोक-१.१५,१६ पर टिप्पणी)। इन पंचकोशों में मनोमय कोष की (उर्ध्वगामी) चेतना को अर्जुन निरूपित कर रहा है। इस कोश की महत्ता यह है कि मनुष्य में यह चेतना इतनी प्रबल होती है कि इसका झुकाव ऊपर या नीचे जिस और होता है, पूरा व्यक्तित्व उसी पथ का अनुगामी बन जाता है। अर्जुन इसी प्रबल मनोमय चेतना के उर्ध्वगामी स्वरूप का निरूपण है जिसने श्रीकृष्ण रूप आत्म तत्व की शरण ग्रहण की है इसी कारण भगवान ने उसे अपनी विभूति बताते हुए कर्तव्य के प्रति जाग्रत और प्रेरित किया है।

मुनियों में व्यास : मुनि अर्थात् मनन करने वाला और व्यास गीता के लेखक अर्थात् भगवान की वाणी को शब्द देने वाले तो हैं ही, आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में विस्तार को प्राप्त हुई चेतना हैं। अतः मुनियों में व्यास को विभूति बताने का अर्थ है सतत मनन द्वारा जिसने अपनी चेतना को देह भाव से मुक्त करके सर्वतोमुखी / सार्वजनीन बना लिया है, उसका निरूपण।

कवियों में उशना कवि : प्राचीन संस्कृत साहित्य में कवि का अर्थ विद्वान व्यक्ति है और इसके अंतर्गत ब्रह्मा से लेकर दैत्यों के गुरु वे शुक्राचार्य भी आते हैं जिन्होंने वामन रूप धारी ईश्वर को पहचान कर भी उन्हें दान देने से दैत्य राजा बलि को रोकने के प्रयास में अपनी एक आंख भी फुड़वाली थी। कुछ व्याख्याकारों ने इन शुक्राचार्य को ही उशना कवि माना है। विनोबा ने ऋग्वेद संहिता के संदर्भ से उशना को एक अति प्राचीन कवि भक्त माना है। किंतु उशना के इन दोनों में से किसी भी संदर्भ से न तो यह स्पष्ट हो पा रहा है कि भगवान ने इन्हे अपनी विभूतियां गिनाने में क्यों सम्मिलित किया और न ही इस वर्णन से किसी आध्यात्मिक अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः अभी तो भगवान का यह कथन हमारे लिए रहस्य ही बना हुआ है।

दण्डो दमयतामस्मि , नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां , ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दण्डः दमयताम् अस्मि , नीतिः अस्मि जिगीषताम् । मौनम् च एव अस्मि गुह्यानाम् , ज्ञानम् ज्ञानवताम् अहम् ॥

दमयताम् दण्डः अस्मि- दमन करने वालों की दण्ड शक्ति हूँ , **जिगीषताम् नीतिः अस्मि -** विजय की चाह रखने वालों की मैं धर्म-नीति हूँ , **गुह्यानाम् मौनम् अस्मि -** गहन भावों में मौन हूँ, **च ज्ञानवताम् ज्ञानम् अहम् एव (अस्मि)-** और ज्ञानवानों का ज्ञान मैं ही हूँ ।

दमयताम् दण्डः अस्मि : इन शब्दों का अर्थ तो ऊपर दिया ही गया है किंतु यहाँ संदर्भ भगवान की विभूति का है अतः हमें आध्यात्मिक अर्थ करना होगा- 'मन का निग्रह करने वालों की मैं आत्मशक्ति हूँ'।

विजय चाहने वालों की मैं नीति हूँ = सत्यमेव जयते।

ज्ञानवानों का ज्ञान हूँ : यहाँ ज्ञान का अर्थ है- परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान। उक्त ज्ञान मेरी विभूति है इसका अर्थ है कि ज्ञानवानों को मेरी सर्वव्यापकता का जो ज्ञान होता है वह उन्हें मेरी शक्ति को धारण करने से होता है इसलिए उनके उस ज्ञान को तू मेरी विभूति जान।

यच्चापि सर्वभूतानां , बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यात् , मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

यत् च अपि सर्व-भूतानाम् , बीजम् तत् अहम् अर्जुन । न तत् अस्ति विना यत् स्यात् , मया भूतम् चर-अचरम् ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **च यत् सर्व-भूतानाम् बीजम् -** और जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है **तत् अपि अहम् -** वह भी मैं (ही हूँ) **तत् चर-अचरम् भूतम् न अस्ति -** वह चर और अचर (ऐसा कोई भी) भूत नहीं हैं **यत् मया विना स्यात् -**जो मुझ से रहित हो।

श्लोक-२० से भगवान ने जब अपनी विभूतियों का वर्णन प्रारंभ किया था तो वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम मनुष्य के हृदय में स्थित आत्मा (अक्षर पुरुष) और इसके तुरंत बाद सभी प्राणियों में क्रियाशील क्षर पुरुष (मरण शील प्राणिक चेतना), इन दो सर्वोच्च महत्त्व की विभूतियों से वर्णन प्रारंभ किया था। अब श्लोक-३९ में वर्णन का समापन संपूर्ण चराचर जगत के जीवन क्रम को निरंतरता प्रदान करने वाली शक्ति का परिचय बीज के रूप में देते हुए कर रहे हैं। श्लोक-२० में उन्होंने प्रत्येक जीव में अपनी सत्ता का दर्शन कराया था और अब यहाँ समापन करते हुए उसके समष्टि रूप का वर्णन कर रहे हैं। यद्यपि इस समष्टि जीवन रूप बीज का वर्णन भगवान पहले श्लोक-७.१० में कर चुके हैं इसलिए श्लोक-१०.३९ पुनर्कथन प्रतीत होता है किंतु विनोबा ने एक सूक्ष्म और सुंदर अंतर बताया है जिसका भावार्थ यह है की सर्व भूतों की उत्पत्ति में भगवान का एक व्यापक संकल्प अनुस्यूत है (श्लोक-१०.३९), जबकि प्रत्येक जीव की उत्पत्ति में उनके उस व्यापक संकल्प के अंश ही कारक हैं। हमारी दृष्टि से इसे समुद्र और उसकी लहरों के उदाहरण से समझना और सरल होगा। लहरें बनती है और नष्ट होती हैं, समुद्र सदा बना रहता है। इसी प्रकार समष्टि जीवन के रूप में भगवत् संकल्प समुद्र के समान सनातन हैं जबकि जीवों की उत्पत्ति और विनाश उस संकल्प-समुद्र की विनाशशील तरंगे है।

विभूति वर्णन समाप्त हुआ, अब अगले तीन श्लोकों में भगवान सारांश देते हुए बता रहे हैं यद्यपि मेरी विभूतियां अनंत और अनवरत हैं किंतु वे सब मेरी वास्तविक सत्ता का एक अंश मात्र ही हैं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां , विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो , विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

न अन्तः अस्ति मम दिव्यानाम् , विभूतीनाम् परन्तप । एषः तु उद्देशतः प्रोक्तः , विभूतेः विस्तरः मया ॥

परन्तप- हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! **मम दिव्यानाम् विभूतीनाम् अन्तः न अस्ति-** मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है, **मया विभूतेः एषःविस्तरः तु उद्देशतः प्रोक्तः-** मैंने (अपनी) विभूतियों का यह विस्तार तो केवल एक छोटे अंश के रूप में कहा है ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं , श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं , मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

यत् यत् विभूतिमत् सत्त्वम् श्रीमत् ऊर्जितम् एव वा । तत् तत् अवगच्छ त्वम् मम तेजः अंश-सम्भवम् ॥

यत् यत् एव विभूतिमत् श्रीमत् वा ऊर्जितम् सत्त्वम् - जो जो भी विशेषताओं से युक्त, सौन्दर्य युक्त अथवा शक्ति युक्त अस्तित्व है **तत् तत् त्वम् मम तेजः अंश-सम्भवम् एव अवगच्छ -** उस उस को तुम मेरे तेज के अंश मात्र से अभिव्यक्त हुआ जानो ।

अथवा बहुनैतेन , किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् , एकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा बहुना एतेन किम् , ज्ञातेन तव अर्जुन । विष्टभ्य अहम् इदम् कृत्स्नम् , एक-अंशेन स्थितः जगत् ॥

अथवा अर्जुन- किन्तु हे अर्जुन ! **एतेन बहुना ज्ञातेन तव किम्-** इन सब को जानने से तेरा क्या (प्रयोजन)? **अहम् इदम् कृत्स्नम् जगत् एक-अंशेन विष्टभ्य स्थितः -** मैं इस संपूर्ण विश्व को अपने एक अंश द्वारा व्याप्त करके इसे संभाले रहता हूँ ।

मेरी विभूतियां अनंत है यहाँ मैंने कुछ थोड़े से उदाहरण मात्र दिए है (श्लोक-४०)और वे अनंत विभूतियां भी मेरी सत्ता के केवल एक पक्ष (aspect) को ही प्रकाशित करती है। यह विभूति वाला एक पक्ष श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है, अन्य तीन पक्ष हैं- श्री अर्थात् उक्त गुणों की समृद्धि, उच्चतम ऊर्जा तथा चेतनता की अभिव्यक्ति। इन्हें श्लोक-४१ में क्रमशः विभूति मत्, श्रीमत् ऊर्जितम् और सत्त्वम् कहा गया है।

भगवत् सत्ता के इन पक्षों की जो व्याख्यायें टीकाकारों ने की है वे बहुत भिन्न हैं, यहाँ तक कि इन पक्षों की संख्या के बारे में भी मत-भिन्नता है। एनी बेसेंट, भगवान दास तथा रंगनाथन ने चार पक्ष मानकर व्याख्या की हैं, महादेव देसाई, चिन्मयानंद, तिलक, राम सुख दास आदि अधिकांश टीकाकारों ने (सत्त्वम् को छोड़कर) तीन पक्षों के रूप में व्याख्यायें की हैं और विनोबा ने तो विभूति के ही दो वर्ग- श्री और ऊर्जा - मानकर व्याख्या की है। हमारा विचार है कि गीता का अंतिम श्लोक (क्रमांक-१८.७८) इस विषय में हमें मार्गदर्शन दे सकता है। वहाँ संजय ने गीता के तत्वार्थ को प्रकट करते हुए कि जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन है वहाँ ध्रुवानीति है तथा विजय,श्री और भूति हैं। इन शब्दों को जब हम ठीक-ठीक समझ लेंगे तो यहाँ श्लोक-४१ के तात्पर्य को भी समझने में कठिनाई नहीं होगी क्योंकि तब हम गीता के अंतिम मंतव्य को समझकर ही व्याख्या कर रहे होंगे। श्लोक-१८.७८ में उल्लेखित ध्रुवा नीति अर्थात् शाश्वत धर्म श्रीकृष्ण को लक्षित कराता है (द्दष्टव्य: श्लोक-१४.२७

पर टिप्पणी); तथा विजय, श्री और भूति, यह तीनों शब्द उस अर्जुन के प्राण, मन-बुद्धि, अहम् में क्रियाशील चेतना को इंगित कर रहे हैं जो श्रीकृष्ण के शरणागत हो चुका है। इन्हीं चार चेतना स्तरों को यहाँ श्लोक-१०.४१ में सत्त्वम्, ऊर्जितम्, श्रीमत तथा विभूतिमत नामों से इंगित किया गया है, ऐसा हमारा मत है। सत्त्वम् को हम कृष्ण-चैतन्य तथा शेष तीन (ऊर्जितम्,श्रीमत् और विभूतिमत) को श्लोक-१८.७८ के अनुरूप भगवत् भक्तों के प्राण, मन तथा बुद्धि में अभिव्यक्त चेतना का निरूपण भूति मान सकते हैं।

अध्याय के विषय का परीक्षण

विभूति दर्शन क्यों ? मनुष्य अपने एक (सीमित मैं) के साथ पैदा होता है किंतु उसका फैलाव हो यह विकास ही उसके जीवन का नैसर्गिक लक्ष्य है। 'सीमित मैं' भोगवाद को जन्म देता है और उससे ही आज मनुष्य अनेकानेक समस्याओं-कौटुम्बिक, सामाजिक, अंतरराष्ट्रीय समस्याओं में जकड़ा हुआ दुखी और त्रस्त है। उनसे मुक्ति का उपाय है उक्त 'सीमित मैं' का फैलाव हो, उसका विलय 'समष्टि मैं' में हो जाए। इसके लिए पहली आवश्यकता है उस 'समष्टि सत्ता' रूप परमेश्वर को सर्वत्र देखने का, महसूस करने का अभ्यास, प्रथम वहाँ जहाँ उसकी विशेष अभिव्यक्ति हमें आसानी से दिखाई दे। इस हेतु से ही यहाँ सृष्टि के विभिन्न क्षेत्रों में उस एक परमात्म सत्ता की प्रकाशमान छबियों का वर्णन विभूतियों के रूप में किया गया है ताकि हम उस सत्ता से अपने प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार- इन सभी स्तरों पर एक रूप होने का उद्योग करें।

परम सत्ता की विभूतियाँ तो अनंत है, यहाँ भगवान ने विभिन्न क्षेत्रों की उन कुछ विभूतियों का वर्णन किया है, जिन्हें हम आसानी से ध्यान में ला सकते हैं। हमारा विचार है कि वर्णित विभूतियों को उनके सह-संबंधी (corresponding) क्षेत्रों के नैसर्गिक विकास क्रम में स्मरण करना सहज होगा, इस दृष्टि से हम यहाँ उक्त विभूतियों का वर्गीकरण इस प्रकार कर रहे हैं-

नोट- ( ) में सम्बंधित श्लोक क्रमांक दिया गया है।

1. सृष्टिचक्र : ७ महर्षि; ४ सनकादि; १४ मनु (६); आदित्य,सूर्य,चंद्र,मरुत (२१); इंद्र (२२); वसु (२३); भृगु (२५); सृष्टियों का आदि अंत (३२)।

2. जड़ जगत : मेरु (२३), सागर (२४), हिमालय (२५), पवन (३१), गंगा नदी (३१)।
3. वनस्पति जगत : अश्वत्थ वृक्ष (२६)।
4. प्राणी जगत : आदि-मध्य-अंत (२०), चेतना (२२), मृगेंद्र (३०), गरुड़ (३०), मकर (३१)।
5. मनुष्य :

स्थूल शरीर- एकादश रूद्र (२३)।

सूक्ष्म शरीर- मन (२२)।

अध्यात्म :

आंतरिक गुण : हृदयस्थ आत्मा (२०), वेद (२२), एकाक्षर (25), जपयज्ञ (२५), अश्वत्थ वृक्ष (२६), अमृत (२७), काल (३०), पवन (३१),अध्यात्म विद्या (३२), वाद (३२), अकार-द्वंद्व समास-अक्षय काल-विश्व रूप (३३), पुनर्जन्म हेतु-सात गुण (३४), द्यूत (३६)।

पौराणिक प्रतीक : बृहस्पति- स्कन्द (२४), नारद-चित्ररथ-कपिल (२६), उच्चै:श्रव-ऐरावत-नराधिप (२७), वज्र-कामधेनु-कन्दर्प-वासुकि (२८), अनंतनाग-वरुण-अर्यमा-यम (२९), प्रहलाद (३०), राम-जाह्नवी (३१), बृहत्साम-गायत्री-मार्गशीर्ष-वसंत ऋतु (३६), वासुदेव-धनञ्जय-व्यास-उशना कवि (३७)।

एकादशः अध्यायः

परमेश्वर का योग रूप अर्थात् विश्वरूप दर्शन

परमेश्वर हमारे जीवन में उतरकर उसका संचालन करें इसके लिए हमें जो दो शक्तियां मिली है उनका उपयोग हमें उन्हें कदम चाल बनाते हुए करना होगा। यह दो शक्तियां हैं ज्ञान और कर्म। ज्ञान का अर्थ है परमेश्वर की सर्वव्यापकता का ज्ञान होना और इस हेतु से ही परमेश्वर की विभूतियों का वर्णन विगत अध्याय में किया गया था और अब इस अध्याय में योग का अर्थात् उस परमात्म सत्ता के समग्र रूप का दर्शन कराया जाएगा जिससे यह सारा जगत उद्‌भूत हुआ है और जिससे यह संचालित हो रहा है। इस प्रकार ज्ञान रूप परमात्मा के विभूति और योग, इन दोनों पक्षों का दर्शन कराने के बाद अगले अध्याय (क्रमांक-१२) में इस ज्ञान के अनुरूप जीवन जीने की (अर्थात् भक्ति की) विवेचना की जाएगी। इस अध्याय के प्रारंभ में अर्जुन भगवान से उस योग रूप का अर्थात् भगवत् सत्ता के समग्र रूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराने की प्रार्थना करता है जिसका उल्लेख उन्होंने पहले (श्लोक-१०.८ में) किया था और भगवान उसकी विनती पर अपने उस विश्वरूप का दर्शन उसे दिव्य दृष्टि देकर करा रहे हैं जो अन्य किसी को भी उस में पृथक अहम् भाव रहते प्राप्त होना संभव नहीं है। इस समग्र रूप का वर्णन पढ़-सुनकर उसका मानसिक दर्शन करना भी हमारे लिए परमात्मा सत्ता को जानने में बहुत लाभकारी होगा इस हेतु से भगवान व्यास इसका यथारूप वर्णन हमारे लिए कर रहे हैं।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं , गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन , मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

मत् अनुग्रहाय परमम् , गुह्यम् अध्यात्म-संज्ञितम् । यत् त्वया उक्तम् वचः तेन , मोहः अयम् विगतः मम ॥

मत् अनुग्रहाय - मुझ पर अनुग्रह करने के लिए **त्वया यत् परमम् गुह्यम् अध्यात्म-संज्ञितम् वचः उक्तम् -** आपने जो परम गूढ़ आध्यात्म विषयक उपदेश कहा, **तेन मम अयम् मोहः विगतः -** उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है (कि आप एक व्यक्ति है) ।

भवाप्ययौ हि भूतानां , श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष , माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

भव अपि अयौ हि भूतानाम् , श्रुतौ विस्तरशः मया । त्वत्तः कमल-पत्र-अक्ष , माहात्म्यम् अपि च अव्ययम् ॥

कमल-पत्र-अक्ष- हे कमल नयन श्रीकृष्ण ! **मया त्वत्तःभूतानाम् भव अपि अयौ विस्तरशः श्रुतौ -** मेरे द्वारा आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुना गया च **हि अव्ययम् माहात्म्यम् अपि -** तथा निश्चय ही अविनाशी महिमा भी (समझी है)।

एवमेतद्यथात्थ त्वम् , आत्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम् ,ऐश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

एवम् एतत् यथा आत्थ त्वम् , आत्मानं परमेश्वर । द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् , ऐश्वरम् पुरुषोत्तम ॥

परमेश्वर- हे परमेश्वर ! **त्वम् आत्मानं यथा आत्थ -** आपने अपने आप को जैसा बतलाया है **एतत् एवम् (एव) -** यह ठीक ऐसा ही है। **पुरुषोत्तम-** हे पुरुषोत्तम ! **ते ऐश्वरम् रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि -** आपके ऐश्वर-रूप (ईश्वरीय रूप) को (मैं प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं , मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं , दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

मन्यसे यदि तत् शक्यम् , मया द्रष्टुम् इति प्रभो । योगेश्वर ततः मे त्वम् , दर्शय आत्मानम् अव्ययम् ॥

प्रभो- हे प्रभु ! **यदि मया तत् द्रष्टुम् शक्यम् इति मन्यसे -** यदि मेरे द्वारा आपका वह (ईश्वरीय रूप) देखा जाना शक्य है , ऐसा आप मानते है, **ततः योगेश्वर -** तो हे योगेश्वर ! **त्वम् आत्मानम् अव्ययम् मे दर्शय-** आप अपने अव्यय (अविनाशी)स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये ।

ऐश्वर रूप : एक ही सर्वव्यापी ईश्वरीय शक्ति, शासन करने वाली ज्ञान शक्ति, जो सब प्राणियों में भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने से पृथक दिखाई देती है। इस समग्र को परमेश्वर का 'योगरूप' और उसकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों को विभूतियां कहा गया है, जैसा कि हम पूर्व में श्लोक-१०.८ की टिप्पणी में और इस अध्याय की भूमिका में व्यक्त कर चुके हैं।

अर्जुन की उत्कट इच्छा और पात्रता देख भगवान उसे अपने ऐश्वर रूप का परिचय देकर उस रूप को देख सकने हेतु दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं-

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि , शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि , नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि , शतशः अथ सहस्रशः । नाना-विधानि दिव्यानि , नाना-वर्ण-आकृतीनि च ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **अथ मे शतशः सहस्रशः नाना-विधानि, नाना-वर्ण-आकृतीनि-** अब (तू) मेरे सैकड़ों हजारों नाना प्रकार की नाना वर्णों की नाना आकृतियों को **च दिव्यानि रूपाणि पश्य -** और अलौकिक रूपों को देख ।

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रान् , अश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि , पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

पश्य आदित्यान् वसून् रुद्रान् , अश्विनौ मरुताः तथा । बहूनि अदृष्ट-पूर्वाणि , पश्य आश्चर्याणि भारत ॥

भारत- हे भरतवंशी अर्जुन !(मुझ में) **आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ, मरुताः पश्य-** १२ आदित्य को, ८ वसुओं को, ११ रुद्रों को, दोनों (जुड़वाँ) अश्विनी कुमारों को, ४९ मरुत गणों को देख **तथा बहूनि अदृष्ट-पूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य-** तथा और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं , पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश , यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

इह एकस्थम् जगत् कृत्स्नम् , पश्य अद्य सचर-अचरम् । मम देहे गुडाकेश , यत् च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि ॥

गुडाकेश- हे अज्ञान रूप निद्रा को जीतने वाले अर्जुन ! **अद्य इह मम देहे एकस्थम् सचर-अचरम् कृत्स्नम् जगत् पश्य-** अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचर सहित सम्पूर्ण जगत को देख, **यत् अन्यत् च द्रष्टुम् इच्छसि -** तथा और भी जो (कुछ) देखना चाहता हो (सो देख)।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् , अनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः , पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

न तु माम् शक्यसे द्रष्टुम् , अनेन एव स्व-चक्षुषा । दिव्यम् ददामि ते चक्षुः , पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ॥

तु माम् अनेन स्व-चक्षुषा द्रष्टुम् एव शक्यसे न- परंतु मुझको (तू) इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं है (अतः), **दिव्यम् चक्षुः ते ददामि-** (मैं) तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ (उससे तू), **मे ऐश्वरम् योगम् पश्य -** मेरे ईश्वरीय एकत्व को देख।

भगवान ने अर्जुन से अपने शरीर में स्थित जिन अनगिनत स्थूल और सूक्ष्म रूपों को देखने का कहा, उनमें कुछ सूक्ष्म रूपों का विशेष उल्लेख किया है जो दिव्य दृष्टि के अभाव में अर्जुन के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए देखना संभव नहीं था, यहाँ तक कि संजय को भी उन सूक्ष्म रूपों का दर्शन नहीं हुआ था जैसा कि अगले श्लोकों

(क्रमांक-९ से १४) में उसके द्वारा किए गए मात्र स्थूल रूपों के वर्णन से स्पष्ट है। भगवान ने उन सूक्ष्म रूपों को भी अपने विराट स्वरूप के दर्शन में अर्जुन को दृष्ट कराते हुए उन्हें देखने का कहकर उसका ध्यान विशेषत: आकर्षित किया। उन सूक्ष्म रूपों का पृथक-पृथक वर्णन तो भगवान ने उसे अपनी विभूतियों के रूप में पहले (श्लोक-१०.२१,२३ में) किया ही था, अब उन्हें अपने विराट स्वरूप में स्थित एकत्व सत्ता के रूप में उनका दर्शन कराया है। कृपालु मुनि व्यास ने उन्हें हमारे चिंतन में लाने हेतु भगवान के इन वचनों को उद्‌धृत किया है अतः हमें उन पर यथासंभव विचार अवश्य करना चाहिए। भगवत् सत्ता के ये सूक्ष्म रूप हैं- १२ आदित्य, ११ रूद्र, ८ वसु, ४९ मरुत और युग्म रूप २ अश्विनी कुमार। इनमें से हम रुद्रों की और वसुओं की विवेचना श्लोक-१०.२३ में तथा मरुतों की श्लोक-१०.२१ की टिप्पणियों में कर चुके हैं यहाँ आदित्यों और अश्विनी कुमारों की विवेचना नीचे दे रहे हैं-

आदित्य : पुराणों में अदिति के १२ पुत्रों को आदित्य कहा गया है किंतु यह सृष्टि के अथवा व्यक्ति के किन पक्षों को निरूपित करते हैं यह ब्योरा अब उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वत जन अब इस दिशा में पुनर्खोज का कार्य कर रहे हैं। विपिन कुमार व राधा गुप्ता ने 'पुराण विषय अनुक्रमणिका' में आदिति को अखंड चेतना का निरूपण बताते हुए डॉ. फतेह सिंह द्वारा पुराणों से संग्रहित इस महत्वपूर्ण कथन को उद्‌धृत किया है कि चाक्षुस मन्वंतर के 'तूशित देव' वैवस्वत मन्वन्तर में आदित्य बन गए (हरिवंश पुराण-१.३.६२, विष्णुपुराण-१.१५.१३२)। पुराणों में मनु क्या हैं इसकी विवेचना हम श्लोक-४.१ और १०.६ की टिप्पणीयों में कर चुके हैं। उन विवेचनाओं के परिप्रेक्ष्य में हम चाक्षुस और वैवस्वत मन्वन्तरों को समझने का प्रयास करते हैं तो प्रकट होता है कि वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर वह काल है जिसमें मनुष्य का मानसिक, आध्यात्मिक, विकास हो रहा है और इससे पूर्व वाले काल को जिसमें पशु-पक्षियों का शारीरिक विकास पूर्ण हुआ था उसे चाक्षुस मन्वन्तर कहा गया है। इस काल में पांच प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान), पांच ज्ञानेंद्रियां (स्पर्श, चक्षु, श्रोत्र, रस और घ्राण) तथा मन और बुद्धि इन १२ क्षमताओं का प्राणियों की विभिन्न प्रजातियों में विकास होता हुआ शारीरिक विकास को पूर्णता प्राप्त हुई। इन १२ शक्तियों को भी चाक्षुस मन्वंतर के 'तूषित देव' कहा गया (ब्रह्मांड पुराण- २.३.३.२०) होगा, ऐसा मानना हमें तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'तूषित देव' का शाब्दिक अर्थ भी बनता है- प्राणियों को तुष्ट करने वाली दिव्य चेतन शक्ति। मनुष्य के मानसिक (सायकिक) विकास वाले वर्तमान वैवस्वत मन्वंतर काल में उपरोक्त १२ 'तुषित देव' क्षमताएं, १२ आदित्य बन जाते हैं।

आदित्य शब्द की वेद आधारित निरुक्ति 'आदान करने वाले' के रूप में की गई है। इसका अर्थ हुआ कि व्यक्ति के विकास के साथ उक्त बाह्य जगत का ज्ञान कराने वाली क्षमतायें आंतरिक सत्ता का ज्ञान कराने वाले साधन बनते जाएंगे। साधक इन के माध्यम से धीरे-धीरे बहुत्व से एकत्व ज्ञान की ओर बढ़ता जाता है। एकत्व ज्ञान की सिद्ध अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का पृथक्त्व समाप्त होकर सब कुछ विष्णु अर्थात् एक सर्वव्यापी सत्ता का अस्तित्व मात्र रह जाता है, ऐसा कहा गया है, और भगवान ने उस स्थिति को ही 'आदित्या नाम अहम् विष्णु:' कहकर श्लोक-10.२१ में इंगित किया था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उल्लेखित १२ आदित्य ज्ञान कि वे १२ स्थितियां हैं जो प्रकृति के अदिति रूप से उद्‌भूत होकर ज्ञान सत्ता की उत्तरोत्तर चैतन्य हुई अभिव्यक्तियां हो जाती हैं।

अश्विनी कुमार : वैदिक और पौराणिक साहित्य में 'अश्विनौ' देवों को यमल (जुड़वा) माना गया है। यह हमारे विज्ञानमय कोश के दो प्रभाग- बुद्धि और प्रज्ञा- में अभिव्यक्त होने वाली चेतना के समष्टिगत रूप हैं। महाभारत कथा में नकुल और सहदेव को इन्हीं युगल देवों से माद्री रूप पराप्रकृति की संतान के रूप में चित्रित किया गया है (द्दष्टव्य: श्लोक-१.६- नकुलः सहदेव: च सुघोष मणिपुष्पकौ- पर हमारी टिप्पणी)

महाभारत में ही भूमिका कथाओं के अंतर्गत उपमन्यु की कथा वर्णित है (१.३८)। उसे अंधत्व (अर्थात् अज्ञान) से उबारने हेतु गुरु ने जब उससे अश्विनी कुमार देवों की ऋग्वेद के मंत्रों वाली स्तुति करने का निर्देश दिया तब उपमन्यु ने जो स्तुति की है उसमें उन्हें 'पारलौकिक उन्नति के साधन' (श्लोक-१.३८.५८), 'पञ्च भूतों का बौद्धिक ज्ञान' (श्लोक-१.३८.६४), और 'सनातन सत्य का ज्ञान' (श्लोक-१.३८.६७) कराने वाले कहा है। इस स्तुति में और वेद ऋचा (ऋग्वेद-१.३४) में भी इन्हें क्रमशः 'दस्र' और 'नासत्य' कहा गया है। दस्र का अर्थ है 'दक्षता प्रदान करने वाला' और नासत्य का अर्थ 'सत्य' (नासत्य=न+असत्य=सत्य)। गीता में उस बुद्धि को दक्ष कहा गया है जो कर्ता को कर्म बंधन से मुक्त कर देती है(श्लोक-२.५०)। अतः इस दक्षता से युक्त बुद्धि को अर्थात् जीवन जीने की कला सिखाने वाली बुद्धि को महाभारत कथा में नकुल के रूप में और उसके समष्टि रूप को 'दस्र' नामक अश्विनी देव के रूप में निरूपित किया गया है। इसी प्रकार, सहदेव 'प्रज्ञा' अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान कराने वाली उच्च

बुद्धि को और उसके समष्टिरूप नासत्य (अर्थात् सत्य) नामक दूसरे अश्विनी देव को निरूपित किया गया है।

तात्पर्य यह कि इन देवों के अंश रूप बुद्धि और प्रज्ञा ये दोनों क्षमताये हमें विज्ञानमय कोश के अंतर्गत उपलब्ध हैं जिनका समुचित उपयोग करते हुए हमें संसार यात्रा और अध्यात्म यात्रा दोनों को भली-भांति संपन्न करना है।

ईशावास्योपनिषद (मन्त्र-११) में इन देवों को क्रमशः अविद्या (अर्थात् भौतिक प्रकृति का ज्ञान) और विद्या (अर्थात् अध्यात्म ज्ञान) कहकर दोनों के सहारे आत्म तत्व / परमात्म तत्व को जानने की बात कही गई है-

विद्यां च अविद्यां च यस् तद् वेद उभयं सह
अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्यया अमृतं अश्नुते

यहाँ अविद्या (भौतिक प्रकृति के ज्ञान) द्वारा मृत्यु अर्थात् विनाशशील भौतिक संसार को पार करने, और विद्या (अर्थात् अध्यात्म ज्ञान /प्रज्ञा) के द्वारा अमृत (अर्थात् जीवात्मा के मूल स्वरूप) को जानकर उसे (अर्थात् शुद्धात्मा / परमात्मा को) प्राप्त करने की बात कही गई है। इस प्रकार, दोनों चेतनाओं के समष्टि रूपों को अश्विन देवों के रूप में इंगित किया गया है।

श्लोक-५ से ८ में वर्णित उपरोक्त वचन कहने के बाद भगवान ने अपना जो एकत्व रूप दिखाया उसका वर्णन महामुनि व्यास ने संजय और अर्जुन दोनों के मुंह से कराया है। दोनों वर्णनों में क्या अंतर है, वह अंतर क्यों हैं, और उसे प्रकट करके लेखक ने हमें क्या संदेश प्रेषित किया है इस पर चर्चा हम बाद में करेंगे। पहले दोनों के वर्णन सुनलें। संजय ने जो देखा उसका वर्णन श्लोक-९ से १४ में इस प्रकार है।

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन् , महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय , परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

एवम् उक्त्वा ततः राजन् , महा-योग-ईश्वरः हरिः । दर्शयामास पार्थाय , परमम् रूपम् ऐश्वरम् ॥

राजन्- हे राजा धृतराष्ट्र ! **महा-योग-ईश्वरः हरिः एवम् उक्त्वा -** महा योगेश्वर भगवान ने इस प्रकार कह कर पार्थाय ततः **परमम् ऐश्वरम् रूपम् दर्शयामास -** अर्जुन को फिर अपना परम ईश्वरीय स्वरूप दिखलाया ।

अनेकवक्त्रनयनम् , अनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं , दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अनेक-वक्त्र-नयनम् , अनेक-अद्भुत-दर्शनम् । अनेक-दिव्य-आभरणम् , दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधम् ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं , दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवम् , अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्य-माल्य-अम्बर-धरम् , दिव्य-गन्ध-अनुलेपनम् । सर्व-आश्चर्यमयम् देवम् , अनन्तम् विश्वतोमुखम् ॥

अनेक-वक्त्र-नयनम्-(वह रूप) अनेक मुखों और आंखों वाला था, **अनेक-अद्भुत-दर्शनम्-** अनेक आश्चर्यजनक दृश्यों वाला था, **अनेक-दिव्य-आभरणम्-** अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त, **दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधम्-** अनेक दिव्य शस्त्र (हाथों में) उठाए हुए, **दिव्य-माल्य-अम्बर-धरम्-** दिव्य मालाएं और वस्त्र धारण किए हुए, **दिव्य-गन्ध-अनुलेपनम्-** दिव्य गंध का लेप लगाए हुए, **सर्व-आश्चर्यमयम्, अनन्तम्, विश्वतोमुखम् देवम्-** सब कुछ आश्चर्यों से युक्त, अनंत और सब दिशाओं में मुख वाला था।

(वह रूप) अनेक मुखों और आंखों वाला था, अनेक आश्चर्यजनक दृश्यों वाला था, अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त, अनेक दिव्य शस्त्र (हाथों में) उठाए हुए, दिव्य मालाएं और वस्त्र धारण किए हुए, दिव्य गंध का लेप लगाए हुए, सब कुछ आश्चर्यों से युक्त, अनंत (और) सब दिशाओं में मुख वाला था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य , भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्यात् , भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

दिवि सूर्य-सहस्रस्य , भवेत् युगपत् उत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्यात् , भासः तस्य महात्मनः ॥

दिवि सूर्य-सहस्रस्य युगपत् उत्थिता भाः यदि भवेत्- आकाश में हजारों सूर्य के एक साथ उदित होने से (जो) प्रकाश हो **सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी (कदाचित) स्यात् -** वह उस विराट पुरुष के प्रकाश के समान शायद ही होवे ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं , प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य , शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

तत्र एकस्थम् जगत् कृत्स्नम् , प्रविभक्तम् अनेकधा । अपश्यत् देव-देवस्य , शरीरे पाण्डवः तदा ॥

पाण्डवः तदा अनेकधा प्रविभक्तम् कृत्स्नम् जगत्- पांडव पुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त संपूर्ण जगत को, **देव-देवस्य तत्र शरीरे एकस्थम् अपश्यत् -** देवों के देव (विराट स्वरूप) के शरीर में एकत्र स्थिति देखा ।

ततः स विस्मयाविष्टो , हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं , कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

ततः सः विस्मय-आविष्टः , हृष्ट-रोमा धनञ्जयः । प्रणम्य शिरसा देवम् , कृत-अञ्जलिः अभाषत ॥

ततः सः विस्मय-आविष्टः हृष्ट-रोमा धनञ्जयः- तत्पश्चात् वह आश्चर्यचकित हो हर्ष से रोमांचित अर्जुन, **देवम् शिरसा प्रणम्य कृत-अञ्जलिः अभाषत -** उन देवों को सिर से प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर बोला।

श्लोक-१० में 'अनेक वक्त्र नयनम्' कहकर जिस विश्वरूप का वर्णन संजय ने किया है (तथा आगे श्लोक-१६ में अर्जुन ने भी किया है) उसकी तुलना डॉ. राधाकृष्णन ने ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त (सहस्रशीर्षा पुरषः सहस्राक्षः सहस्रपात, १०.९०.१) से की है। यह ठीक ऐसा ही है किंतु भगवान ने जो विश्वरूप यहाँ दिखाया है वह पुरुष सूक्त के वर्णन से कई पहलुओं में बढ़कर है। संजय विश्वरूप में एक अलौकिक सौंदर्य का भी दर्शन करता है जिसे वह दिव्य आभूषणों, दिव्य वस्त्रों, दिव्य माला और दिव्य गन्धानुलेपन के रूप में वर्णित करता है। साथ ही वह यह भी देखता है कि वह दिव्य स्वरूप हाथों में दिव्य शस्त्र उठाए हुए हैं जिससे प्रकट होता है कि वह दिव्य शक्ति उस समय क्या करना / करवाना चाहती है(श्लोक-१०,११)। वह स्वरूप ऐसे दिव्य प्रकाश से दमक रहा है जो हजारों सूर्यों के कुल प्रकाश से भी बढ़कर है (श्लोक-१२), और यह संपूर्ण जगत जो हमें यहाँ पृथ्वी पर तथा आकाश में भी पृथक-पृथक बंटा हुआ दिखाई देता है, वह उस अनंत फैलाव वाले विश्वरूप के एक अंश मात्र में एक स्थान पर एकत्र स्थित दिखाई दे रहा था (श्लोक-१३)।

विश्वात्मा के उक्त जिस दिव्य सौंदर्य का वर्णन संजय ने (श्लोक-१०,११ में) किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उसका दर्शन अर्जुन को नहीं हुआ था क्योंकि उसके द्वारा किए गए विषद वर्णन में इसका उल्लेख कहीं नहीं हुआ है। दोनों वर्णनों से यह बात प्रकट होती दिखती है कि अर्जुन और संजय दोनों को भगवान ने उनकी अपनी-अपनी मानसिक स्थिति तथा तात्कालिक भूमिका के अनुरूप अपने अनंत सत्ता में से केवल उन पक्षों का दर्शन कराया जो उनके आध्यात्मिक विकास में सहायक होने वाले थे।

'महाभारत' में संजय में केवल एक महान गुण की प्रधानता को चित्रित किया गया है और वह गुण है उसके ह्रदय की सरलता। यह गुण उसकी उन छोटी भूमिकाओं में भी प्रकट होता है जो वह राजा धृतराष्ट्र के विश्वस्त सेवक के रूप में निभाता है। यहाँ हम विस्तार में तो नहीं जा सकेगें लेकिन एक घटना का उल्लेख भर करके संजय के इस गुण को प्रकाशित करना चाहेंगे। महाभारत (उद्योग पर्व, अध्याय-२५ से ३२) में वर्णित है कि कुरुक्षेत्र में सेनाओं के पहुंचने से पहले धृतराष्ट्र ने संजय को युधिष्ठिर को यह समझाने के लिए भेजा कि युद्ध से होने वाले कुटुंब नाश के अनर्थ को, और

दुर्योधन जो उनका ही छोटा भाई था उसके हठी स्वभाव को देखते हुए उसके लिए राज्य का त्याग करके वे कुरु वंश को बचा लें। भोले-भाले संजय ने यह संदेश पांडवों के समक्ष इतने सरल हृदय और मार्मिक भाव से रखा कि अर्जुन के, जो कि संजय का बचपन का मित्र था अवचेतन मन में बात गहरी उतर गई जिसे कृष्ण ने भांपकर ही युद्ध से ठीक पहले अर्जुन के चेतन मन में उसे उभार कर, फिर गीता ज्ञान द्वारा उस मोह का नाश किया (देखें श्लोक-१.२५ पर हमारी टिपण्णी)। धृतराष्ट्र के संदेश के पीछे छुपी उसकी कुटिलता को श्रीकृष्ण ने जब संजय के समक्ष तथ्यों सहित खोल कर रखा तो सरल दर्शन संजय ने हस्तिनापुर लौटकर राजा धृतराष्ट्र को निडरता से जिन शब्दों में खरी-खोटी सुनाई वह वर्णन पठनीय है। इस घटना से शुद्ध हृदय संजय में एक आध्यात्मिक रूपांतरण भी होता है और वह अधिक निस्पृह भाव से, द्दष्टा भाव से, उसे सौंपे गए सभी कार्य करता है। उसके हृदय की निस्पृहता के कारण ही भगवान व्यास ने उसे दूर-द्दष्टि (Television) और दूर-श्रवण का वरदान दिया था और जब कभी वह युद्ध की ऐसी बड़ी घटना जो कौरव पक्ष के लिए महत्वपूर्ण थी उसकी सूचना राजा धृतराष्ट्र को देने कुरुक्षेत्र से हस्तिनापुर आकर उन्हें सुनाता है और हर बार वे अपने पक्ष के सेनापति के हताहत होने की सूचना सुनकर शोक करने लगते हैं तो संजय स्पष्ट शब्दों में उन्हें (राजा धृतराष्ट्र को) ही उस विनाश के लिए उत्तरदाई ठहराते हुए उनकी भर्त्सना करता है। इन वर्णनों में उसकी निस्पृहता सहित कर्म करने की योग्यता स्पष्ट दिखती है और इसी योग्यता के कारण उसे भगवत् सत्ता की विराटता के साथ सौंदर्य युक्त दर्शन प्राप्त हुआ था। हमारा यह अनुमान इस बात से पुष्ट होता है कि वाल्मीकि ने रामायण में और तुलसी ने रामचरितमानस में निस्पृह हृदय से सेवा कर्म करने वाले हनुमान के कार्यों का वर्णन करने वाले अध्याय का नाम 'सुंदरकांड' रखा है (द्दष्टव्य: जमुना शंकर ठाकुर कृत निज मनु मुकुर सुधारि' पुस्तक में लेख 'सुंदरकांड की सुंदरता')।

अब हम देखें कि अर्जुन को भगवान ने अपने विराट रूप में स्थित किन पक्षों का दर्शन कराया। वर्णन स्वयं अर्जुन के शब्दों में-

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

पश्यामि देवान् तव देव देहे, सर्वान् तथा भूत-विशेष-सङ्घान् ।
ब्रह्माणम् ईशम् कमल-आसनस्थं, ऋषीन् च सर्वान् उरगान् च दिव्यान् ॥

देव तव देहे- हे विश्व देव ! मैं आपके शरीर में **सर्वान् देवान् तथा भूत-विशेष-सङ्घान् पश्यामि -** सारे देवताओं को तथा अन्य विविध प्राणियों को एकत्रित देखता हूँ च **कमल-आसनस्थं ब्रह्माणम् ईशम् सर्वान् ऋषीन् च दिव्यान् उरगान् -** और कमल पर आसीन ब्रह्मा को, शिव को, समस्त ऋषियों को तथा दिव्य नागों को (देखता हूँ)।

दिव्य उरगान : शेषनाग के समान प्रकृति की रचनात्मक शक्तियां- जड सृष्टि के निर्माण में सहकारी शक्तियां। यदि शेषनाग को गुरुत्वाकर्षण बल की शक्ति माना जाए (जैसा कि विनोबा ने कल्पना की है, श्लोक-१०.२९ पर टिप्पणी) तो अन्य दिव्य नागों को प्रकृति के अन्य बल- विद्युत चुंबकीय बल, रासायनिक बल, नाभिकीय बल (Nuclear Short Range- Long Range Forces)- माना जा सकता है जिनसे यह संपूर्ण जड़ सृष्टि निर्मित हुई है और संचालित हो रही है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम्, पश्यामि त्वाम् सर्वतः अनन्त-रूपम् ।
न अन्तम् न मध्यम् न पुनः तव आदिम्, पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

विश्वेश्वर- हे विश्व के संचालक ! **त्वाम् अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम् -** आपको अनेक भुजा, पेट, मुख, नेत्रों से युक्त **सर्वतः अनन्त-रूपम् पश्यामि -** सब ओर से अनंत रूपों वाला देखता हूँ । **विश्वरूप -** हे विश्वरूप ! (अर्थात् यह विश्व आपका ही स्वरूप है) **तव न आदिम् मध्यम् पुनः अन्तम् पश्यामि -** आपके न आदि को, न मध्य को,और न अंत को (ही) देखता हूँ ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

किरीटिनम् गदिनम् चक्रिणम् च, तेजो-राशिम् सर्वतः दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वाम् दुर्निरीक्ष्यम् समन्तात्, दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम् अप्रमेयम् ॥

दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम्- प्रज्वलित अग्नि (अथवा) सूर्य के सदृश्य ज्योति युक्त **त्वाम् अप्रमेयम् सर्वतः समन्तात् दीप्तिमन्तम् तेजो-राशिम् दुर्निरीक्ष्यम् -** आपकी अनंत सब ओर पूर्ण रूप से चकाचोंध करता तेज पुंज कठिनता से दिखाई देने वाला है (किन्तु आपके) **किरीटिनम्, गदिनम् च चक्रिणम् पश्यामि -** मुकुट को , गदा को, और चक्र को मैं देखता हूँ (अर्थात् देख पा रहा हूँ) ।

इस श्लोक का उपरोक्त अर्थ हमने टिकाओं से भिन्न किया है। टीकाओं में 'किरीटिनम' आदि पदों का अर्थ 'मुकुट' को इस प्रकार का न करते हुए 'मुकुट युक्त…' ऐसा करके कल्पना की गई है कि अर्जुन ने पुराणों में वर्णित शंख-चक्र-गदा-पद्म वाला चतुर्भुज रूप देखा था। हमारी मान्यता है कि यें कल्पना अंशत: ही सही है। यह बात तो ठीक है कि आगे श्लोक-२४ में अर्जुन ने उस रूप को जो उसे दृष्ट हुआ था, 'विष्णु' कहा है और श्लोक-४६ में उसे ही 'चतुर्भुज' भी कहा है किंतु फिर प्रश्न उठता है कि वर्णन में उसने शंख और पद्म का उल्लेख क्यों नहीं किया? यह प्रश्न और इनका समाधान हमारी इस जिज्ञासा से जुड़ा होने से महत्वपूर्ण हो जाता है कि यहाँ उल्लेखित गदा और चक्र का प्रतीकार्थ क्या है? मुकुट से तो उनके नियामक सत्ता होने का भाव स्पष्ट है किंतु प्रश्न गदा और चक्र को समझने बाबत।

पौराणिक ग्रंथों में भगवान विष्णु के चार हाथों को शंख, चक्र, गदा और पद्म इन चार चिन्हों से सुशोभित किया गया है। हमारी धारणा है कि इस चित्रण में शंख ज्ञान का, चक्र सतत विकास का, गदा तथा पद्म हमें विकास पथ पर आगे बढ़ाने के लिए क्रमशः दंड और सुख-शांति रूप पुरस्कार के प्रतीक हैं। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो गीता में केवल गदा और चक्र इन दो प्रतीकों को दर्शाने के दो संभावित कारण हो सकते हैं- १. युद्ध के उस मौके पर गदा और चक्र ही अर्जुन को शत्रु विनाश की प्रेरणा देने के लिए इन्हें भगवान ने स्वयं धारण किए हुए स्वरूप का दर्शन कराया। किंतु यह व्याख्या श्लोक-४६ के संदर्भ में बेमानी हो जाती है जब अर्जुन भगवान के उग्र काल रूप से घबराकर शांति के लिए चतुर्भुज रूप का पुन: दर्शन करना चाहता है। २. दुसरा कारण यह हो सकता है कि बहुत संभव है कि महाभारत काल में भगवान विष्णु के चार हाथों की परिकल्पना भिन्न हो। उनके जो चार हाथ माने गए उनमें दो हाथ तो मनुष्य वाले सामान्य हाथ और दो दिव्य शक्तियों से युक्त दिव्य हाथों की परिकल्पना की गई हो। इन दिव्य हाथों में जगत की व्यवस्था और प्रगति हेतु दो शक्तियों को चित्रित किया गया दिखता है- दंड की प्रतीक गदा और सतत परिवर्तन द्वारा विकास का प्रतीक चक्र। चतुर्भुज रूप की यह अवधारणा महाभारत में वर्णित शिशुपाल के जन्म से जुड़ी एक कहानी से इस प्रकार पुष्ट होती है-

जब शिशुपाल का जन्म हुआ तो उसके चार हाथ और तीन नेत्र थे और वह गधे के रेंकनें की आवाज में भयंकर घोष कर रहा था। माता श्रुतश्रवा और पिता चेदिराज दमघोष तथा अन्य सभी बंधुओं ने उसे राक्षस समझ भय-विह्वल हो त्याग देने का विचार किया। उस समय आकाशवाणी हुई- 'शिशु का पालन करो, त्यागो मत'। यह श्री संपन्न और बल संपन्न होगा। इसकी मृत्यु का निमित्त तो वह बनेगा जिसकी गोद में इसके अतिरिक्त दोनों हाथ और तीसरा नेत्र विलीन हो जाएंगे।' आकाशवाणी के शब्दों के अनुरूप बालक का नाम शिशुपाल रखा गया। कुछ काल उपरांत श्रीकृष्ण अपनी बुआ श्रुतश्रवा से मिलने आये और उन्होंने बालक को गोद में लिया तो उसके अतिरिक्त दोनों हाथ और आंख विलीन हो गए और बालक सामान्य मानव शिशु रूप हो गया। शिशु की माता द्वारा भतीजे श्रीकृष्ण से शिशु को अभय दान का अनुरोध करने पर श्रीकृष्ण ने उसके 'सौ अपराध' तक क्षमा कर देने का वचन दे दिया। बाद में शिशुपाल प्रतापी राजा बना और अति अहंकारी हो गया। पांडवों के राजसूय यज्ञ में जब श्रीकृष्ण का नाम मुख्य अतिथि के लिए भीष्म पितामह ने प्रस्तावित किया तो शिशुपाल ने भीष्म और पांडवों सहित श्रीकृष्ण पर गालियों की बौछार करते हुए उन्हें कायर तक कह बैठा। तब भीष्म के सुझाव पर उसने श्रीकृष्ण को उसी समय मल्लयुद्ध करने की चुनौती दे डाली जिसे स्वीकार कर श्रीकृष्ण ने उसे मल्ले युद्ध में मार डाला(महाभारत-२.४५.२)। वस्तुतः शिशुपाल को अहम् का प्रतीक बनाकर इतिहास को यहाँ आध्यात्मिक कथा के रूप में रूपांतरित किया गया है। परमात्मा का अंश ही मनुष्य में अहम् रूप में जन्म लेता है यह बताने के लिए ही शिशुपाल नामक शिशु को चार हाथ वाला चित्रित करके फिर उसे दो हाथ वाले सामान्य मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है, और साथ ही यह महत्वपूर्ण संदेश भी प्रेषित किया गया है कि हमें जो 'अहम् जन्म से मिला है उसे राजा शिशुपाल के सामान विकृत न होने दें वरन् उसे ज्ञान युक्त कर्मों अर्थात् भक्ति में लगाकर उसके द्वारा परमात्म प्राप्ति की ओर अग्रसर हो।

अब हम अपने मूल विषय 'चतुर्भुज' रूप पर लौटें। स्पष्ट है कि भगवान ने अर्जुन को चतुर्भुज रूप का दर्शन करा कर भगवत् सत्ता और सामान्य मनुष्य के बीच जो भेद सहित संबंध हैं (द्दष्टव्य: श्लोक-९.५ पर टिप्पणी) उस विशिष्टाद्वैती संबंध को व्यक्त करते हुए, उसे उसके कर्तव्य का बोध कराया था और भगवान व्यास उसका वर्णन करके हमें भी वही बोध करा रहे हैं कि हम अपने क्षुद्र अहं को परमेश्वर का सेवक बनाकर कैसे अपेक्षाकृत सरलता से अपने को अहम् की विकृति के डंक से बचाते हुए परमेश्वर सत्ता से अटूट और प्रिय संबंध बना सकते हैं।

श्रीकृष्ण संपूर्ण जगत के शासक और नियामक हैं यह जानकर अर्जुन उनकी स्तुति करता है। श्लोक-१५ से १७ में वर्णित स्वरूप को देखकर उसके मनस में जो भाव उत्पन्न हुए उनकी अभिव्यक्ति वह श्लोक-१८ में इस प्रकार करता है-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

त्वम् अक्षरम् परमम् वेदितव्यम्, त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम् ।
त्वम् अव्ययः शाश्वत-धर्म-गोप्ता, सनातनः त्वम् पुरुषः मतः मे ॥

त्वम् परमम् अक्षरम् वेदितव्यम् - आप परम अक्षर (अविनाशी) जानने योग्य है, **त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम् -** आप इस जगत के परम आश्रय (आधार) हैं, **त्वम् शाश्वत-धर्म-गोप्ता-** आप शाश्वत धर्म के पालक हैं, **त्वम् अव्ययः सनातनः पुरुषः-** आप अविनाशी सनातन पुरुष हैं **मे मतः -** (ऐसा) मेरा मत है ।

शाश्वत-धर्म-गोप्ता : भगवान ने इस शब्द समूह का प्रयोग आगे अध्याय-१४ के अंतिम श्लोक (क्रमांक-२७) में किया है। उक्त श्लोक वस्तुतः अध्याय-१५ की भूमिका है और इस श्लोक में भगवान ने जिन चार बातों- ब्रह्म, अमृत(जीवात्मा) , शाश्वत धर्म और एकान्तिक सुख- का आश्रय अपने को बताया है, उसकी पूर्ण विवेचना उन्होंने अध्याय-१५ (के क्रमशः श्लोक १ से ४, ७ से ९, १२ से १५ और १६ से १८) में की है। वहाँ शाश्वत धर्म की व्याख्या के रूप में उन्होंने श्लोक-१५.१२ से १५ में अपने को सृष्टि विकास की मूल प्रेरक शक्ति बताया है। इससे स्पष्ट है कि शाश्वत धर्म से भगवान का तात्पर्य सतत विकास करने वाली उनकी प्रवृत्ति है जिस वे सृष्टि के जीवन काल पर्यंत धारण करते हैं, पालन करते हैं।

अव्यय, सनातन : ये दोनों शब्द पर्यायवाची दिखते हैं किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। अव्यय का अर्थ है जो कभी व्यय न हो, नष्ट न हो; और सनातन का अर्थ है अति दीर्घकाल तक रहने वाला किंतु अंततः अव्यक्त हो जाने वाला। इसी दृष्टि से ब्रह्मा को सनातन और परमात्मा को अव्यय कहा गया है। यहाँ अव्यय और सनातन इन दोनों विशेषणों का एक साथ प्रयोग सृष्टि के जीवन काल में परमात्मा की व्यक्त सत्ता को इंगित करने के लिए किया गया है।

अर्जुन द्वारा देखा जा रहा उपरोक्त विश्वरूप भी अब धीरे-धीरे परिवर्तित होता है। इसमें भगवान धीरे-धीरे उग्रता का प्रवेश बढ़ाते जाते हैं और उससे अर्जुन की

मनोदशा जिस प्रकार बदलती है उसका वर्णन इस प्रकार किया जा रहा है-

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अनादि-मध्य-अन्तम् अनन्त-वीर्यम्, अनन्त-बाहुम् शशि-सूर्य-नेत्रम् ।
पश्यामि त्वाम् दीप्त-हुताश-वक्त्रम्, स्व-तेजसा विश्वम् इदम् तपन्तम् ॥

त्वाम् अनादि-मध्य-अन्तम्- आपको आदि-मध्य-अंत से रहित, **अनन्त-वीर्यम् अनन्त-बाहुम्-** अनंत सामर्थ्य और अनंत भुजाओं से युक्त **शशि-सूर्य-नेत्रम् -** चंद्र सूर्य रूप नेत्रों वाले, **दीप्त-हुताश-वक्त्रम्-** प्रज्वलित अग्नि रूप मुख वाले, **स्व-तेजसा इदम् विश्वम् तपन्तम्-** अपने तेज से इस जगत को संतप्त करते हुए, **पश्यामि -** देखता हूँ ।

इस श्लोक में लगभग आधा वर्णन तो वही है जो केवल तीन श्लोक पूर्व अर्थात् श्लोक-१६ में कहा गया था। यहाँ और आगे के कुछ श्लोकों में पुनरावृत्ति यह बताने के लिए की गई है जैसा कि हम श्लोक की भूमिका में कह चुके हैं कि अर्जुन जो दृश्य देख रहा है उसमें परिवर्तन एकदम नहीं, धीरे-धीरे हो रहा है। कुछ स्वरूप वही रहता है और उसमें उग्रता का समावेश धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है।

अगले श्लोक-२० में भी कुछ दृश्य तो पूर्ववत ही रहते है किंतु अब भगवान का वह विश्वरूप इतनी उग्रता धारण कर लेता है कि तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त होने लगते हैं-

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्‌भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्यो-आपृथिव्योः इदम् अन्तरम् हि व्याप्तम् त्वया एकेन दिशः च सर्वाः ।
दृष्ट्वा अद्‌भुतम् रूपम् उग्रम् तव इदम् लोक-त्रयम् प्रव्यथितम् महात्मन् ॥

महात्मन्- हे महात्मन् **! इदम् द्यो-आपृथिव्योः अन्तरम् -** यह आकाश और पृथ्वी के बीच का सारा स्थान **च सर्वाः दिशः -** तथा सब दिशाएँ **एकेन त्वया हि व्याप्तम्-** एक आप से ही व्याप्त है। **तव इदम् अद्‌भुतम् उग्रम् रूपम् दृष्ट्वा -** आपके इस अद्‌भुत तथा भयंकर रूप को देखकर **लोक-त्रयम् प्रव्यथितम् -** तीनो लोक बहुत भयभीत हो रहे हैं।

अब अगले तीन श्लोकों में भगवान के उग्रता धारण करने का तीन लोकों पर होने वाले प्रभाव का वर्णन-

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अमी हि त्वाम् सुर-सङ्घाः विशन्ति, केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति ।
स्वस्ति इति उक्त्वा महर्षि-सिद्ध-सङ्घाः, स्तुवन्ति त्वाम् स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

अमी हि सुर-सङ्घाः केचित् त्वाम् विशन्ति- उन सब देवों के समूहों में कुछ आप में प्रवेश कर रहे हैं, **(केचित्) भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति -** कुछ (सृष्टि के असमय विनाश होने के भय से) भयभीत हो हाथ जोड़े हुए स्तुति कर रहे है, **महर्षि-सिद्ध-सङ्घाः स्वस्ति इति उक्त्वा -** महर्षि तथा सिद्ध जन 'कल्याण हो' ऐसा कहते हुए **पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वाम् स्तुवन्ति -** उत्तम उत्तम स्त्रोत द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र-आदित्याः वसवः ये च साध्याः, विश्वे अश्विनौ मरुतः च उष्मपाः च ।
गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-सङ्घाः, वीक्षन्ते त्वाम् विस्मिताः च एव सर्वे ॥

ये रुद्र-आदित्याः वसवः च साध्याः- जो रूद्र गण, आदित्य गण, वसुगण, और साध्यगण **विश्वे अश्विनौ च मरुतः -** विश्व देव गण, दोनों अश्विनी कुमार और मरुत गण, **च उष्मपाः च गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-सङ्घाः-** और पितरगण तथा गंधर्व, यक्ष, सिद्ध-असुरों के समुदाय हैं **(ते) सर्वे एव विस्मिताः त्वाम् वीक्षन्ते -** (वे) सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

रूपम् महत् ते बहु-वक्त्र-नेत्रम्, महा-बाहो बहु-बाहु-ऊरु-पादम् ।
बहु-उदरम् बहु-दंष्ट्रा-करालम्, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम् ॥

महा-बाहो- हे महाबाहो ! **ते बहु-वक्त्र-नेत्रम्, बहु-बाहु-ऊरु-पादम्-** आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले, बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले, **बहु-उदरम्, बहु-दंष्ट्रा-करालम् महत् रूपम् दृष्ट्वा-** बहुत उदरों वाले, बहुत दाढों वाले विकराल विशाल रूप को देखकर- **लोकाः प्रव्यथिताः, तथा अहम् -** पृथ्वी लोक के सभी लोग बहुत व्याकुल हैं तथा मैं भी।

श्लोक-२० में अर्जुन ने तीनों लोकों के व्यथित होने का कहा था। श्लोक-२१ में देवलोक का वर्णन है। देवताओं में कुछ तो भगवान के उस भयंकर स्वरूप में प्रवेश कर रहे थे। अनुमानत: ये वे आध्यात्मिक उच्चता प्राप्त देवगण थे जो परमेश्वर की यह इच्छा समझकर कि वे अब सृष्टि का नाश करना चाहते हैं और अब हमारा कोई कार्य शेष नहीं रहा, उस स्वरूप में प्रवेश कर रहे थे। अन्य कुछ देवगण जो इतनी उच्चता प्राप्त नहीं किए थे वे, परमेश्वर के उस उग्र स्वरूप को हाथ जोड़कर जगत के कल्याण हेतु प्रार्थना कर रहे थे। इसी प्रकार महर्षि तथा सिद्धगण भी स्वस्तिवाचन द्वारा सबकी कल्याण कामना से भगवान की स्तुतियां कर रहे थे।
यह देव लोक क्या है इस बारे में दो प्रकार की मान्यताएं हैं। एक परंपरागत मान्यता यह है कि मनुष्य लोक की तरह देव लोक भी है जहाँ देवगण रहते हैं और वे जगत की सारी व्यवस्थाएं संभालते हैं। दूसरी एक मान्यता अध्यात्मिक है जिसके अनुसार व्यक्ति में ही चेतना के ऐसे विकसित स्तर है जहाँ चेतना सीमित 'मैं' को त्यागकर समष्टि हित को साधने का काम करने लगती है। इस दूसरी धारणा अनुसार देवों को व्यक्ति की सदवृत्तियों के रूप में देखा जाता है।

श्लोक-२२ में रूद्र आदि जिन ११ अशरीरी अस्तित्वों का उल्लेख हुआ है उनके संदर्भ पुराणों में काफी हैं किंतु वर्णन केवल नामों तक सीमित है और वे भी कुछ हेरफेर के साथ। इन ग्रंथों में उनकी कार्यात्मक पहचान नहीं दी गई है। संभवतः वर्णित नामों में ही उनके कार्यों का संकेत कूट रूप में दिया गया होना चाहिए किंतु इसमें कुछ ही नाम होते हैं जिनसे हम, हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर, उनकी कार्यात्मक पहचान का अनुमान लगा सकते हैं। वस्तुतः पौराणिक साहित्य के इन कूट रहस्यों की कुंजी संभवतः अब हमें प्राचीन पुस्तकालयों के जला दिए जाने से नहीं मिलेगी, उसके लिए शोध संस्थानों की आवश्यकता होगी। फिर भी हम कुछ अनुमान लगा सकें इस हेतु से हम इन नामों को जो संदर्भित ग्रंथों में दिए गए हैं यहाँ उद्धृत कर रहे हैं-

1. **रूद्रः** इनकी संख्या ११ बताई गई है। हरिवंश पुराण (१-३-५१,५२) में इनके नाम इस प्रकार वर्णित है- हर, बहुरूप, त्रयम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भू, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्ब और कपाली। यहाँ जो

शंभू नाम है वह शंकर का ही पर्याय है जिसे श्लोक-१०.२३ में भगवान ने रुद्रो में अपनी विभूति कहा था। वस्तुतः यह दोनों नाम इनकी व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से भी एक ही सत्ता रूप के सुचक है। 'शं करोति शंकरः' और 'शंभवति शम्भूः' जहाँ शं= सुख शांति।

उपरोक्त सभी नामों पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये मनुष्य की आध्यात्मिक विकास यात्रा में उसके अहम् के विभिन्न सोपान है। इनमें कपाली आदि वैराग्य साधना वाली प्रारंभिक स्थितियों को और 'शम्भु से लेकर हर' तक के उच्च सोपान सिद्ध अवस्थाओं को इंगित करते है।

2. **आदित्यः** इन्हें अदिति के १२ पुत्रों के रूप में वर्णित किया गया है। अदिति की विवेचना सर्वत्र उपस्थित अविभाजित चेतना के रूप में की गई है। आदित्य उस चेतना के कौन से रूप हैं इसे समझने का प्रयास हमें इनके नामों के आधार पर करना है। महाभारत (आदि पर्व-६५.१५,१६) में इनके नाम इस प्रकार हैं- धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान, पूषा, सविता, त्वष्टा, और विष्णु। श्लोक-१०.२१ में कहा गया था कि आदित्य में मैं विष्णु हूँ। विष्णु शब्द के मूल में 'विश्' धातु है जिसका अर्थ है 'प्रवेश करना'। अतः विष्णु नाम से वह सर्वव्यापी परमात्म सत्ता इंगित है जो सृष्टि-काल में प्रकृति के विभिन्न रूपों में क्रियाशील रहती है। आदित्यों में चेतना का यह रूप सर्वोच्च है। शेष नामों (धाता से त्वष्टा तक के नामों) पर ध्यान दें तो ऐसा अनुमान होता है कि यें ज्ञान के बढ़ते स्तर हैं। वैदिक वर्णनों को समझने का प्रयास करने वाले आधुनिक विद्वान डॉ. फतेहसिंह में ब्रह्मांड पुराण के इस कथन को उद्धृत किया है कि चाक्षुस मन्वंतर के १२ तुषित देव(५ प्राण + ५ ज्ञानेंद्रियें + मन + बुद्धि) वैवस्वत मन्वन्तर में १२ आदित्य बन गए हैं। यही बात हरिवंश पुराण (१.३.६२) में भी कही गई है। उन्होंने व्याख्या की है कि 'जब ये करण विषयों का आदान करके (लेकर, पकड़कर) उन्हें चित्त में डालते हैं तो इन्हें आदित्यास कहा गया और चित्त को अंदर की ओर ले जाने पर ये ही करण आदित्य हो जाते है। फिर ये आदित्य अपने को बदलते हुए अंत में केवल एक आदित्य (विष्णु) रह जाता है।'

यहाँ चाक्षुस मन्वंतर से वैवस्वत मन्वन्तर में होने वाले बदलाव की जो बात कही गई है उसे समझ लेना आदित्यों को समझने में सहायक होगा। हमने मनु और मन्वंतरों के बारे में श्लोक-४.१ और १०.६ की टिप्पणी में कहा था कि मानव जीवन के प्रादुर्भाव और उसके सहचारी अहम् रूप जीवात्मा के विकास वाले वर्तमान युग को वैवस्वत (सातवां) मन्वंतर नाम दिया गया है। इससे पूर्व वाले छठे मन्वंतर का नाम चाक्षुस है जो यह इंगित करता है कि इस काल में प्राणियों में चक्षु से लेकर मन-बुद्धि आदि करणों का विकास हुआ था।

सार यह कि जैसे-जैसे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है उसकी इंद्रियां और मन-बुद्धि आदि करणों के ज्ञान की दिशा बाह्य से आंतरिक होती जाती है, वह ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा अब आत्मज्ञान में स्थित होता जाता है। इस क्रमिक बदलाव को ही आदित्यों के रूप में वर्णित किया गया है।

3. **साध्यगण:** इनकी संख्या भी १२ बताई गई है। स्कंद पुराण (प्रभास खंड,२१-१७,१८) में इनके नाम हैं- मन, अनुमंता, प्राण, अपान, नर, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु। वायु पुराण (६६.१५,१६) में भी कुछ थोड़े से हेरफेर के साथ यें नाम दिए गए हैं। कुछ नाम, जिनके अर्थ समझ में आ पाये हैं उनसे हमारा अनुमान बना है कि साध्यगण परमात्म उपलब्धि में सहायक हमारे मन की क्रमिक अवस्थाओं को निरूपित करते हैं।

4. **विश्वेदेव :** ये १० हैं और वायु पुराण (६६.३१,३२) में इनके नाम वर्णित है- कृतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान, प्रभवान और रोचमान। प्रतीत होता है कि यें व्यक्ति में प्राणिक शक्ति की कर्म मूलक गतियों के सोपान हैं।

5. **वसु :** महाभारत की भीष्म की उत्पत्ति संबंधी कहानी से इंगित होता है कि वसु अष्टधा प्रकृति के पांच स्थूल तत्व और मन, बुद्धि, अहंकार, इन आठ तत्वों को चैतन्य करके मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का निर्माण करते हैं। महाभारत में उनके नाम है- धर, ध्रुव, सोम (किरण), अह:, अनिल (वायु), अनल (अग्नि), प्रत्यूष (प्रभात) और प्रभास (दीप्ति)। इनमें अधिकांश नामों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं और अन्वेषण

अपेक्षित है। फिर भी ज्ञात जानकारी के आधार पर अनुमान होता है कि उक्त आधारभूत तत्वों को चैतन्यता प्रदान करने वाली परमात्म शक्ति के अंशों को वसु कहा गया है जिनका दर्शन भगवान ने अर्जुन को कराया था।

6. **अश्विनौ :** इन युग्म देवों की व्याख्या श्लोक-११.६ के अंतर्गत की जा चुकी है।

7. **मरूद्गण :** इन्हें दिति पुत्र कहा गया है किन्तु ये दिति के असुर पुत्रों से भिन्न हैं। यद्यपि दिति ने अपने असुर पुत्रों- हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु को देवताओं द्वारा मरवा दिये जाने से देवताओं से बदला लेने हेतु अपने पति कश्यपजी से देवताओं का वधकर सकने वाले पुत्र की प्राप्ति का वरदान प्राप्त कर लिया था किंतु कश्यपजी ने सशर्त वरदान देकर दिति से एक ज्ञान युक्त उपासना भी करवाई। उस दैनिक प्रार्थना (भागवत,श्लोक-६.१९.११ से १३) के प्रभाव से ये पुत्र असुर न होकर राजसिक गुणों से युक्त होकर देवताओं के मित्र बने। ये मरुत कहलाए। ये ४९ कैसे बने और मनुष्य के व्यक्तित्व में उनकी क्या भूमिका है यह वर्णन हम श्लोक-१०.२१ की टिप्पणी में कर चुके हैं।

8. **उष्मपा (पितर) :** हम श्लोक-१०.२९ की टिप्पणी में कह चुके हैं कि हरिवंश पुराण में कहानियों के माध्यम से स्पष्टतः बताया गया है कि पितर व्यक्ति के अवचेतन तन मन में संग्रहित संस्कार हैं। यहाँ भी उष्मपा शब्द से यह इंगित किया गया है कि पितर रुप यें संस्कार बाह्य परिस्थितियों से उर्जा पाकर चैतन्य हो उठते हैं।

9. **गंधर्व :** इन्हें इंद्र के दरबार में गीत-संगीत द्वारा मनोरंजन करने वाले अनुचर माना गया है। वस्तुतः यह हमारी आमोद-प्रमोद वाली मन की रजो गुणी वृत्तियाँ हैं जिन्हें गंधर्वों और अप्सराओं के रूप में चित्रित किया गया है।

10. **यक्ष :** जैसा कि श्लोक-१०.२३ की टिप्पणी में कहा जा चुका है यें भी मानव मन की राजसिक वृत्तियों का एक निरूपण है। व्यक्ति के असावधान होते ही यक्ष वृत्ति पहले रक्ष वृत्ति में और फिर रक्ष से राक्षसी में

बदलकर स्वयं उसके लिए और समाज के लिए कैसे घातक हो जाती है इसे रावण आदि चरित्रों के द्वारा निरूपित किया गया है। इसके घोर तामसिक रूपों का वर्णन असुरों के रूप में आगे वर्णित है।

11. **सिद्ध-असुर :** असुरों और दैत्यों को घोर तामसिक माना गया है। दूसरों को पीड़ा देकर सुख का अनुभव करने वालों को असुर और दैत्य कहा गया है। किंतु मनुष्य ऐसी वृत्तियों में गिर कर भी सदा-सर्वदा के लिए अभिशप्त नहीं हैं, उसमें भी सदवृत्तियों का अंकुरण और वर्धन हो सकता है। इसे हिरण्यकशिपु के यहाँ प्रहलाद के जन्म की गाथा और वृत्रासुर-इंद्र युद्ध के बीच उनकी वार्ता द्वारा इंगित किया गया है। ऐसे चरित्रों को सिद्धि प्राप्त असुर कहकर यहाँ इस वर्णन द्वारा वृत्ति परिमार्जन को रेखांकित किया गया है।

श्लोक-२३ में भगवान के अति विशाल और बहु अंगों वाले स्वरूप का जो वर्णन अर्जुन ने किया है वह बहुत कुछ श्लोक-१६ का पुनर्कथन प्रतीत होता है किंतु यदि हम इस श्लोक को पिछले दो श्लोकों (क्रमांक-२१,२२) के ही एक विस्तार के रूप में देखें तो फिर यह पुनर्कथन न हो कर एक भिन्न आयाम प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार हमने श्लोक-२१,२२ के वर्णन को अर्जुन के व्यक्तित्व की भिन्न वृत्तियों के चैतन्य होकर उनके द्वारा परमेश्वर का दर्शन किया जाना माना था, उसी के अनुरूप यहाँ श्लोक-२३के संबंध में हमारी धारणा है कि अर्जुन के शारीरिक अंगों के प्रत्येक कोशाणु अपने उस अंग के, जिसके वे अंश हैं, क्रियात्मक भाव से तथा भगवान का ही अंश होने के भाव से अनुप्राणित होकर भगवान का मुख, नेत्र आदि एक अंग ही बन गया है, यह अनुभूति अर्जुन को भगवान के अनेक हाथ-पैर आदि अंग होने के रूप में हो रही थी जिसका वर्णन उसने यहाँ किया है। इसी प्रकार, भय से आक्रांत उसके मस्तिष्क के तंत्रिका-न्यूरॉन (कोशिकाएं) भी उसे यह अनुभूति दे रहे थे कि सब लोग भयाक्रांत है। इस अनुभूति को अर्जुन ने श्लोक की अंतिम पंक्ति 'दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः' कहकर व्यक्त किया है। साथ ही उसने अपने अहम् रूप जीवात्मा के व्यथित होने की अनुभूति को भी 'तथा अहम्' कहकर व्यक्त किया है।

निष्कर्ष हमारा यह है कि श्लोक-२० में भगवान के अलौकिक और उग्र रूप देखकर जिन तीन लोकों के अतिव्यथित होने की बात अर्जुन ने कही थी और फिर

श्लोक-२१,२२,२३ में उन लोकों की जिन दशाओं का उसने जो वर्णन किया है वे लोक वस्तुतः उसके अपने व्यक्तित्व के ही अंश थे।

उपरोक्त तीन श्लोकों की व्याख्या में हमने परंपरा से हटकर जो यह दृष्टि अपनाई है उसका आधार इस प्रकार है- परंपरागत अर्थ में देवों द्वारा, रूद्र आदि अशरीरी अस्तित्वों द्वारा, तथा भौतिक लोकों द्वारा भगवान के विशाल और उग्र विश्वरूप का दर्शन किए जाने की व्याख्या इस रूप में की गई है मानो मनुष्यों के समान ही वे सब उस अलौकिक रूप का दर्शन करके अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। हमने इस प्रकार के परंपरागत अर्थ को छोड़कर जो भिन्न अर्थ किया है उसका कारण भगवान का वह कथन है जिसमें उन्होंने अर्जुन से स्पष्ट कहा है कि मैंने अपनी योग शक्ति से तुझको जो यह रूप दिखाया है उसे तेरे अतिरिक्त अन्य किसी के लिए देखा जाना शक्य यहीं हैं(श्लोक-४७,४८)। स्पष्ट है कि भगवान ने उस अद्‌भुत और उग्र रूप को केवल अर्जुन को ही दिखाया था। अन्य किसी को न तो उन्होंने दिखाया और न ही वैसा करने का कोई औचित्य पूर्ण कारण था। बाह्य जगत के देवों को असमय ही प्रलय का आभास कराने का, रुद्र आदि बाह्य अस्तित्वों को विस्मय में डूबोने का, तथा बाह्य लोकों को भयभीत करने का कोई कारण था ही नहीं, इसलिए हमें वैसा अर्थ किया जाना उचित नहीं जान पड़ा। अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए ही भगवान ने उसे और केवल उसे ही अपने इस उग्र रूप का तथा आगे वर्णित काल स्वरूप का दर्शन कराया था, यहाँ तक कि संजय को भी, जैसा कि हम श्लोक-९ से १४ की टिप्पणी में विस्तार से व्यक्त कर चुके हैं, भगवान ने अपने इन भयंकर रुपों का दर्शन नहीं कराया था।

अब हम इस बात पर विचार करें कि अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए भगवान ने इस सर्वथा नवीन और अलौकिक विधि को क्यों अपनाया? हमारी धारणा है कि इसका कारण यह होना चाहिए कि उस परिस्थिति में जबकि युद्ध के शंख बज चुके थे कोई भी अन्य नियमित (systemetic) विधि से तत्काल उक्त उद्देश्य की प्राप्ति संभव नहीं थी। अध्यात्म ज्ञान से वंचित सामान्य व्यक्ति जो जीवन जीता है उसके संस्कार उसके मन, बुद्धि, अहंकार सहित उसके शरीर के रोम-रोम में भी समाए रहते हैं और केवल शाब्दिक ज्ञान से इनका तत्काल निराकरण संभव नहीं होता। उसके लिए वर्षों तक निष्काम कर्म/ कर्मयोग/ यज्ञ भाव से कर्म/ परमेश्वर भाव से सेवा कर्म (अर्थात् भक्ति) आदि किसी भी कर्म मार्ग द्वारा, अथवा जिनका स्वार्थ भाव समाप्त हो चुका हो ऐसे वैराग्य वान साधक के लिए कर्म छोड़कर ध्यान आदि

साधनाओं के अभ्यास द्वारा भी, इन संस्कारों से मुक्त होना संभव हो पाता है। किंतु युद्धक्षेत्र में अर्जुन के मोह रुपी संस्कारों को तत्काल नष्ट करने का कोई नियमित उपाय न होने के कारण भगवान ने उस समय अपनी योग शक्ति का उपयोग करते हुए कर्म च्युत हो रहे अर्जुन के लिए यह विशेष उपाय रचा।

इस उपाय द्वारा भगवान ने अर्जुन के विभिन्न चेतना स्तरों को पुराने मोह जनित संस्कारों से मुक्त करने हेतु विरेचन (जुलाब, purgative) जैसी तकनीक जिसमें अतिरिक्त क्रियाशीलता बढ़ाकर तंत्र को खाली कर दिया जाता है) और साइकिक कथारसिस (psychic catharsis) अर्थात् भाव विरेचन तकनीक अपनाई थी। श्लोक-२१,२२,२३ में जो वर्णन है वह तीनों स्तरों- कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों में जमा पुराने संस्कारों के विरेचन द्वारा संपूर्ण तंत्र का शुद्धीकरण है। इस शुद्धिकरण के पश्चात् भगवान ने अर्जुन के समूचे तंत्र को, उसके तीनों लोकों को वांछित भगवत् भावों से अभिसिक्त करके इस भाव को ग्रहण करने के लिए तैयार किया कि परमेश्वर दुष्टों को उनके सहयोगियों सहित नष्ट करेंगे ही(श्लोक-३४), अर्जुन को तो वह अपने उस कार्य के लिए साधन बनने का निमित्त बनने का मौका दे रहे हैं (श्लोक-३२,३३)।

अगले कुछ श्लोकों से प्रकट होता है कि अर्जुन देख रहे हैं कि भगवान का स्वरूप अधिकाधिक विकराल होता जा रहा है और भीष्म, द्रोण आदि कौरव पक्ष के महान योद्धा भगवान के भयंकर मुख में प्रवेश कर उनकी भयंकर दाढों के बीच पिस रहे हैं। प्रतीत होता है की इन दृश्यों को अर्जुन को दिखाकर भगवान श्लोक २१ से २३ वाली 'सायकिक कथार्सिस' वाली तकनीक का ही प्रयोग कर रहे हैं। इसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

नभः-स्पृशम् दीप्तम् अनेक-वर्णम्, व्यात्त-आननम् दीप्त-विशाल-नेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वाम् प्रव्यथित: अन्तर-आत्मा, धृतिम् न विन्दामि शमम् च विष्णो ॥

हि विष्णो! नभः-स्पृशम्- हे सर्वव्यापी विष्णु! आकाश को स्पर्श करते, **दीप्तम्, अनेक-वर्णम् व्यात्त-आननम् -** देदीप्यमान नाना वर्णों से युक्त मुख फैलाये **दीप्त-विशाल-नेत्रम् त्वाम् दृष्ट्वा -** बड़ी-बड़ी चमकती आंखें निकाले आपको देखकर **प्रव्यथित अन्तर-आत्मा धृतिम् च शमम् न विन्दामि -** (भय से) व्यथित (मेरा) अंतरात्मा धीरज और शांति नहीं पाता है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

दंष्ट्रा-करालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वा एव काल-अनल-सन्निभानि ।
दिशः न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगत्-निवास ॥

ते करालानि दंष्ट्रा च काल-अनल-सन्निभानि मुखानि दृष्ट्वा - आपकी विकराल दाढ़ों को और प्रलयाग्नि समान मुखों को देखकर **दिशः न जाने च शर्म न लभे-** (मुझे) दिशाएं नहीं सूझ रही हैं (अर्थात् मैं अपना संतुलन भी नहीं रख पा रहा हूँ) और (किसी प्रकार) चैन नहीं पाता हूँ। **देवेश जगत्-निवास प्रसीद -** हे देवों के स्वामी! हे जगत के आश्रय! (मुझ पर) करुणा कर ।

अर्जुन द्वारा देखे जा रहे चलचित्र में अब भगवान यह दृश्य और जोड़ देते हैं कि कौरव पक्ष के सभी प्रमुख योद्धा और पांडव पक्ष के भी कुछ योद्धा उनके उस विकराल रूप में प्रवेश कर दांतों में पिस रहे हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अमी च त्वाम् धृतराष्ट्रस्य पुत्राः, सर्वे सह एव अवनिपाल-सङ्घैः ।
भीष्मः द्रोणः सूत-पुत्रः तथा असौ, सह अस्मदीयैः अपि योध-मुख्यैः ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणाः विशन्ति, दंष्ट्रा-करालानि भयानकानि ।
केचित् विलग्नाः दशन-अन्तरेषु, सन्दृश्यन्ते चूर्णितैः उत्तम-अङ्गैः ॥

अमी सर्वे एव धृतराष्ट्रस्य पुत्राः च सह अवनिपाल-सङ्घैः- वे सभी धृतराष्ट्र पुत्र और (उनके) साथ राजाओं के समुदाय, **भीष्मः द्रोणः असौ सूत-पुत्रः -** भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, वह कर्ण **तथा सह अस्मदीयैः योध-मुख्यैः अपि-** तथा उनके साथ ही हमारे पक्ष के प्रधान योद्धा भी **ते करालानि दंष्ट्रा भयानकानि वक्त्राणि-** आपके विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुखों में **त्वरमाणाः विशन्ति-** वेग पूर्वक प्रवेश कर रहे हैं, **च केचित् उत्तम-अङ्गैः**

दशन-अन्तरेषु चूर्णितैः सन्दृश्यन्ते विलग्नाः - और कुछ के शिरों को (तो मैं आपके) दातों के बीच चूर्णित हुआ देख रहा हूँ ।

अगले दो श्लोकों में मुनि श्रेष्ठ व्यास ने अर्जुन के माध्यम से काल के मुंह में समा रहे युद्धवीरों की गति का चित्रांकन दो प्राकृत दृश्यों की उपमा के साथ करके वर्णन को जहाँ साहित्य की सुगंध से सुवासित कर दिया है वहीं पाठक को इस बात के प्रति भी चेताया है कि हम देखें कि मृत्यु की ओर जा रहे अपने जीवन को किस भांति जी रहे है - नदी की भांति या पतंगे की भांती। आइए देखें इस श्लोकों में छिपे भावों को -

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा नदीनाम् बहवः अम्बु-वेगाः, समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति ।
तथा तव अमी नर-लोक-वीराः, विशन्ति वक्त्राणि अभिविज्वलन्ति ॥

यथा नदीनाम् बहवः अम्बु-वेगाः समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति- जैसे नदियों के अनेक जल प्रवाह समुद्र की ही ओर दौड़ते हैं**, तथा अमी नर-लोक-वीराः तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि विशन्ति -** उसी भांति वे नर लोक के वीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्-
तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

यथा प्रदीप्तम् ज्वलनम् पतङ्गाः, विशन्ति नाशाय समृद्ध-वेगाः ।
तथा एव नाशाय विशन्ति लोकाः, तव अपि वक्त्राणि समृद्ध-वेगाः ॥

यथा पतङ्गाः नाशाय प्रदीप्तम् ज्वलनम् समृद्ध-वेगाः विशन्ति- जैसे पतंगे (कीड़े) नष्ट होने के लिए ही प्रज्वलित अग्नि में बड़े वेग से प्रवेश करते हैं, **तथा एव लोकाः अपि नाशाय तव वक्त्राणि समृद्ध-वेगाः विशन्ति -** वैसे ही (ये) सारे लोग भी नष्ट होने के लिए ही आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

नदियां समुद्र में गिर कर अपने अस्तित्व को मिटा देती हैं और पतंगे (कीड़े) भी अग्नि ज्वाला में गिरकर अपने को मिटा देते हैं किंतु इन दोनों उदाहरणों में एक महत्वपूर्ण अंतर है। नदियां समुद्र में विलय होने से पूर्व जिन स्थानों पर बहती हुई आती है वहाँ जीवन को समृद्ध करती हुई आगे बढ़ती है किंतु पतंगों का स्व बलिदान तो निरर्थक

ही होता है, यहाँ तक कि दूसरे अन्य जीवों के समान उनके तो मृत शरीर भी दूसरे जीवों के उदर पोषण के लिए उपलब्ध नहीं हो पाते। अर्जुन के मन में उत्पन्न इन भावों को हमें भगवान की योग शक्ति का कार्य ही मानना चाहिए। इन दोनों श्लोकों से पूर्व वाले श्लोक में वर्णन है कि अर्जुन ने देखा था कि जहाँ कौरव पक्ष के सभी प्रमुख योद्धा भगवान के भयानक मुखों में समा कर नष्ट हो रहे थे वही पांडव पक्ष के योद्धा भी उसी गति को प्राप्त कर रहे थे। दृश्य के इस दूसरे अंश से अर्जुन का मन पुनः विचलित न हो और सत्य का प्रकाश उसके मन को आलौकित करें, इस हेतु से भगवान ने उसके मन में उपरोक्त भावों को उत्पन्न किया है। उसके मन को भी इस सत्य से आलोकित किया है कि पांडव पक्ष में खड़े लोगों में से कुछ का मरण भी होगा तो वह कौरव पक्ष के समान निरर्थक नाश वाला नहीं होगा, वरन जीवन का सार्थक अंत होगा। सत्य के लिए बलिदान होने से स्वयं उनके लिए भी कल्याणकारी होगा।

दोनों उदाहरणों को प्रस्तुत करके भगवान व्यास ने हमें संदेश यह दिया है कि हमारे जीवन की सार्थकता भी इसी में होगी कि हम अपने जीवन को नदियों की भांति दूसरों के लिए उपयोगी बनाते हुए जीयें, न की पतंगों की भांति मूर्खतापूर्ण जीवन मरण का निरुद्देश्य जीवन जीते हुए उसे व्यर्थ नष्ट कर दें।

इस ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर कि आसन्न युद्ध की विनाश लीला में अब परमात्मा की इच्छा का समावेश हो चुका होने से युद्ध तो अब होकर ही रहेगा, तब अर्जुन के मन में परमात्मा के कार्यकारी स्वरूप के बारे में एक जिज्ञासा जगी है जिसे वह श्लोक-३०,३१ में व्यक्त कर रहा है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्
लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्, लोकान् समग्रान् वदनैः ज्वलद्भिः ।
तेजोभिः आपूर्य जगत् समग्रम्, भासः तव उग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

विष्णो- हे सर्वव्यापी भगवान! **समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिः वदनैः -** (आप) संपूर्ण लोकों को (अपने) प्रज्ज्वलित मुखों द्वारा **ग्रसमानः समन्तात् लेलिह्यसे -** ग्रास करते हुए सब और से निगले जा रहे हैं। **तव उग्राः भासः -** आपकी उग्र किरणे **समग्रम् जगत् तेजोभिः आपूर्य प्रतपन्ति -** समस्त जगत को (अपने) तेज से आपूरित करके झुलसा रही हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

आख्याहि मे क: भवान् उग्ररूप:, नमः अस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यम्, न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

मे आख्याहि भवान् उग्र-रूपः कः - मुझे बतलाइए की आप उग्र रूप वाले कौन हैं? **देववर-** हे देवों में श्रेष्ठ ! **ते नमः अस्तु, प्रसीद-** आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न हों (कृपा करें) **आद्यम् भवन्तम् विज्ञातुम् इच्छामि -** आदि पुरुष आपको (मैं) विशेष रूप से जानना चाहता हूँ, **हि तव प्रवृत्तिम् न प्रजानामि -** क्योंकि (मैं) आपकी (इस समय की) प्रवृत्ति को नहीं जानता।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान अपने उस काल स्वरुप का और तात्कालिक रूप से उसे धारण करने के उद्देश्य को प्रकट करते है-

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

कालः अस्मि लोक-क्षय-कृत् प्रवृद्धः, लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः ।
ऋते अपि त्वाम् न भविष्यन्ति सर्वे, ये अवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

इह लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि- इस समय लोगों का नाश करने हेतु बढ़ा हुआ काल (अर्थात् महाकाल) हूँ , **लोकान् समाहर्तुम् प्रवृत्तः -** इन लोगों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। **ये प्रत्यनीकेषु अवस्थिताः योधाः सर्वे त्वाम् ऋते अपि न भविष्यन्ति -** जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा हैं (वे) सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे (अर्थात् उनका नाश होना मैंने निश्चित किया है) ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ् क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशः लभस्व, जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यम् समृद्धम् ।
मया एव एते निहताः पूर्वम् एव निमित्त-मात्रम् भव सव्य-साचिन् ॥

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ शत्रून् जित्वा यशः लभस्व - अतएव तू उठ, शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त कर, **समृद्धम् राज्यम् भुङ्क्ष्व -** समृद्ध राज्य का भोग कर। **एते मया पूर्वम् एव निहताः -** ये सब (शत्रु वीर तो) मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए हैं**, सव्य-साचिन्-** हे सव्यसाची (धनुष-बाण के युद्ध में बेजोड़ योद्धा) ! **निमित्त-मात्रम् एव भव-** (तुम तो) केवल निमित्त बन जाओ ।

इन श्लोकों के साधारण अर्थों के पीछे छुपे मूल भावों को ग्रहण किए जाने की आवश्यकता कई विचारकों ने व्यक्त की है। इन भावों में से एक की विवेचना ग.वी. कवीश्वर महोदय ने काफी विस्तार से अपनी पुस्तक 'गीता: तत्व मीमांसा' में की है, जिसका सारांश इस प्रकार है- बहुत से प्रसिद्ध और सम्माननीय टीकाकारों ने इन श्लोकों के अर्थ में बहुत विपर्यास खड़ा कर दिया है। भगवान के इन वचनों से उन्होंने यह सर्वथा गलत निष्कर्ष निकाल लिया कि शत्रु पक्ष की प्रबल शक्ति को देखकर अर्जुन के मन पर भय और कायरता छा गई थी जिसे भगवान ने इन श्लोकों में उद्धृत वचनों द्वारा निराकृत किया। शांकर भाष्य सहित संत ज्ञानेश्वर, मधुसूदन सरस्वती, वेंकटनाथ महोदय, सर्व श्री नीलकण्ठ, मधवाचार्य, प्रभुपाद, तथा जय दयाल गोयन्दका आदि ने इस भाव को पुष्ट करने वाले अर्थ किए हैं कि अर्जुन शत्रुओं के भय से पीड़ित हो गया था और कुछ ने तो 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः' का यह अर्थ भी कर दिया है कि 'इस युद्ध में तुम पांडवों के सिवा दोनों पक्षों के सारे योद्धा मारे जाने वाले हैं' तथा भगवान का यह आश्वासन सुनकर ही अर्जुन का साहस लौटा था। किंतु रामानुज स्वामी और तिलक ने इस अर्थ को त्याग कर यह उचित किया है कि 'दुष्ट कौरव और उनके पक्ष में खड़े लोग मेरे द्वारा (परमात्मा द्वारा) मृत्यु के पात्र नियत किए जा चुके हैं। हे अर्जुन ! तू निमित्त बन इन्हें मार, इस कार्य के पाप का भागी तू नहीं बनेगा'।

उक्त विसंगत अर्थ के अतिरिक्त भी श्लोक-३३ में दो निर्देश ऐसे हैं जो गीता की मूल धारणा के विपरीत मालूम पड़ते हैं और इनका भावार्थ संदर्भ अनुरूप किया जाना वांछनीय होगा। अतः यहाँ हम इन निर्देशों के अर्थ पर अपना मत व्यक्त करना चाहेंगे-

1. **समृद्धम् राजयम् भुङ्क्ष्वः का अर्थ है समृद्ध राज्य को भोग :** इन शब्दों के भावार्थ को हमें इस संदर्भ में समझने का प्रयास करना चाहिए कि भगवान ने वार्ता के प्रारम्भ में (श्लोक-२.३७ में) ही अर्जुन से कहा था कि युद्ध में यदि तू मारा भी जाता है तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीतेगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस पर जब अर्जुन ने न इस लोक के और न परलोक के सुखों के प्रति कोई रुचि दिखाई तो अर्जुन की निष्ठा अध्यात्म

की ओर देखकर भगवान ने उसे सुख भोगों की और आकष्ट नहीं किया और परमात्म प्राप्ति की विधियों के रूप में कर्मयोग साधना तथा कर्म सन्यास वाली साधनाओं की विवेचना करते हुए अर्जुन को कर्मयोग मार्ग अपनाने का परामर्श दिया(अध्याय-५,६)। कर्मयोग से आध्यात्म कैसे सधेगा इस हेतु से ही परमात्म सत्ता का परिचय देते हुए भगवान ने पहले अपनी विभूतियों का वर्णन किया और अब सब में एक ही चेतन सत्ता का भान कराते हुए उक्त श्लोक कहे है। अतः यहाँ राज्य भोगने संबंधी जो शब्द है वे श्लोक-२.३७ की पुनरावृत्ति नहीं हो सकते। यहाँ भाव यही हो सकता है कि दुष्टों पर विजय प्राप्त कर जब तुम धर्म युक्त शासन स्थापित करोगे तो जो भौतिक और नैतिक सुख-समृद्धि वाले समाज की स्थापना होगी उस स्थिति में सुख-शांति का सब के साथ भोग ही सच्चा भोग होगा जिसे यहाँ इंगित किया गया है।

2. **यश प्राप्ति :** इसी प्रकार यहाँ जिस यश प्राप्ति की बात है वह यश की कामना पूर्ति न होकर दुष्टों के शासन का अंत करने का प्रशंसनीय कार्य बताना मात्र है।

वर्तमान समय में श्लोक-३३ की प्रासंगिकता को स्वामी रंगनाथानंद ने 'भगवत् गीता का सार्वजनीन संदेश' में बहुत सटीक शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं- 'अर्जुन के शत्रु कौरव थे, हमारे शत्रु हैं निर्धनता, पिछड़ापन, सामाजिक अन्याय, अस्वास्थ्यकर वातावरण और भ्रष्ट आचरण। यदि हम सम्मिलित प्रयास से इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लें तो जीवन कितना आनंदमय होगा। 'भुङ्क्ष्व् राज्यं समृद्धं' का वर्तमान समय में यही संदेश है।'

अब श्लोक-३४ में भगवान उन योद्धाओं के नाम भी गिनाते हैं जिन्हें बड़ा वीर माना जाता था किंतु जिन्हें अर्जुन ने अकेले ही राजा विराट की गायों के अपहरण करने पर सब को परास्त किया था और अब वे फिर अन्यायी दुर्योधन के पक्ष में खड़े थे। भगवान कह रहे हैं कि अब उनका मरण मैं निश्चित कर चुका हूँ, तू युद्ध कर और इन सब को मार, तेरी विजय निश्चित है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणम् च भीष्मम् च जयद्रथम् च, कर्णम् तथा अन्यान् अपि योध-वीरान् ।
मया हतान् त्वम् जहि मा व्यथिष्ठाः, युध्यस्व जेता असि रणे सपत्नान् ॥

द्रोणम् च भीष्मम् च जयद्रथम् च कर्णम् तथा अन्यान् योध-वीरान् अपि - द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी जो युद्धवीर हों **मया हतान् -** मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं (मारे जाने का निश्चय किया जा चुका है), **त्वम् जहि व्यथिष्ठाः मा-** (इन्हे) तू मार, (अनिर्णय की), व्यथा से परेशान मत हो, **युध्यस्व-** युद्ध कर , **रणे सपत्नान् जेता असि -** (निसंदेह तू) युद्ध में वैरियों को जीतेगा ।

भगवान के विश्वरूप और काल रूप को देखकर और उनके वचनों को सुनकर अर्जुन पर जिन भावों का आवेश हुआ उसका वर्णन संजय अपने शब्दों में और अर्जुन के शब्दों में इस प्रकार कर रहा है-

सञ्जय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

एतत् श्रुत्वा वचनम् केशवस्य, कृत-अञ्जलिः वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूयः एव आह कृष्णम्, सगद्गदम् भीत-भीतः प्रणम्य ॥

केशवस्य एतत् वचनम् श्रुत्वा- भगवान केशव के इस वचन को सुनकर, **किरीटी कृत-अञ्जलिः नमः कृत्वा -** मुकुट धारी अर्जुन हाथ जोड़ कर नमस्कार करके ,**(च) भूयः वेपमानः भीत-भीतः सगद्गदम् कृष्णम् प्रणम्य एव आह -** फिर कांपते हुए डरा-डरा सा अवरुद्ध स्वर से श्रीकृष्ण से ऐसा बोला।

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या , जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशः द्रवन्ति , सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध-सङ्घाः ॥

हृषीकेश- हे आनंदधन ! **स्थाने-** यह ठीक ही है (कि)**, तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति च अनुरज्यते-** आपकी कीर्ति से सब लोग हर्षित हो रहे हैं और अनुराग को प्राप्त हो रहे हैं, **रक्षांसि भीतानि दिशः द्रवन्ति-** राक्षसी लोग भयभीत हो चहूँ ओर भाग रहे हैं, **च सर्वे सिद्ध-सङ्घाः नमस्यन्ति -** और सब सिद्ध पुरुष नमस्कार कर रहे है ।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

कस्मात् च ते न नमेरन् महात्मन्, गरीयसे ब्रह्मणः अपि आदि-कर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगत् निवास, त्वम् अक्षरम् सत् असत् तत् परं यत् ॥

महात्मन्- हे महात्मन् ! **ब्रह्मणः अपि आदि-कर्त्रे च गरीयसे ते कस्मात् न नमेरन्-** ब्रह्मा के भी आदिस्रष्टा और सब से श्रेष्ठ आपके लिए (वे) कैसे नहीं नमस्कार करें। **अनन्त देवेश जगत्-निवास-** हे अनंत!हे देवों के ईश! हे जगत के आश्रय ! **यत् सत् असत् तत् परं अक्षरम् त्वम्-** जो सत् असत् (और) उनसे परे (सत्ता) है वह आप ही हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम् ।
वेत्ता असि वेद्यम् च परम् च धाम , त्वया ततम् विश्वम् अनन्त-रूप ॥

त्वम् आदिदेवः पुराणः पुरुषः- आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, **त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम्-** आप इस विश्व के परम आश्रय है, **वेत्ता च वेद्यम् असि -** ज्ञाता और ज्ञेय हैं **च परम् धाम -** और परम धाम हैं। **अनन्त-रूप त्वया विश्वम् ततम् -** हे अनन्तरूप ! आपसे (यह)जगत व्याप्त है ।

सत् असत् तत्परम् अक्षरम् : प्रकृति में उपस्थित और अभिव्यक्त चेतन सत्ता जो प्रकृति के साथ रूप बदलती, कभी उत्पन्न, कभी नष्ट होती प्रतीत होती है (उदाहरणार्थ, प्राणिक जीवन) उसे भगवत् सत्ता का असत् रूप कहा जाता है। तथा जो अभिव्यक्त होने के बाद अ-मृत हो जाती है (उदा. जीवात्मा) उसे परम सत्ता का सत् रूप कहा जाता है। जो प्रकृति से परे भी सर्वत्र विद्यमान है किंतु अभिव्यक्त न होने से जो निर्गुण है (उदा. ब्रह्म) उसे तत्परम कहा गया है। वस्तुत: इन तीनो रूपों

में जो तत्त्व है वह अक्षर हैं, वह तत्व अनादि है, अपरिवर्तनशील है, प्रकृति की भिन्न रचनाओं में भिन्न अभिव्यक्तियों के कारण भिन्न दिखता है।

वेत्ता च वेद्यम् : वेत्ता अर्थात् जानने वाला और वेद्यम् अर्थात् जो जानने योग्य निरपेक्ष तत्व है। अध्याय-१३ में इन्हे ज्ञाता और ज्ञेय कहा गया है और वहाँ इनकी विवेचना विस्तार पूर्वक की गई है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि ज्ञाता है जीवात्मा और ज्ञेय है परमात्मा।

अब अगले श्लोक के प्रथम अर्ध भाग में अर्जुन उक्त सत्ता के समष्टिगत दैवी रूपों की वंदना करने के बाद इस श्लोक के शेष भाग में और अगले श्लोक (क्रमांक-४०) में उक्त सर्वव्यापी एकल सत्ता को अर्जुन बारंबार नमन करता है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कः, प्रजापतिः त्वम् प्रपितामहः च ।
नमः नमः ते अस्तु सहस्र-कृत्वः, पुनः च भूयः अपि नमः नमः ते ॥

त्वम् वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिः - आप वायु देवता,(मृत्यु के देवता) यम, अग्नि देव,(जल के देवता) वरुण,(मन के देवता) चंद्रमा, प्रजाओं (अर्थात् सभी जैविक प्रजातियों) के स्वामी ब्रह्मा हैं **च त्वं प्रपितामहः -** और आप ब्रह्मा के पिता हैं। **ते सहस्र-कृत्वः नमः नमः अस्तु -** आपके लिए हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो ! **ते भूयः अपि पुनः च नमः नमः -** आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार नमस्कार।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

नमः पुरस्तात् अथ पृष्ठतः ते, नमः अस्तु ते सर्वतः एव सर्व ।
अनन्त-वीर्य-अमित-विक्रमः त्वम्,सर्वम् समाप्नोषि ततः असि सर्वः ॥

पुरस्तात् पृष्ठतः अथ नमः - आपको सामने से , पीछे से भी नमस्कार हैं। **सर्वः ते सर्वतः एव नमःअस्तु-** हे सर्वात्मन ! आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार है। **अनन्त-वीर्य अमित-विक्रमः-** हे अनंत सामर्थ्य वाले असीम बलशाली ! त्वं **सर्वम् समाप्नोषि ततः सर्व असि -** आप सब कुछ को व्याप्त किये हुए है अतएव (आप ही) सबकुछ है ।

अर्जुन आगे पीछे सब ओर नमस्कार कर रहा है इससे यह बात प्रकट होती है कि उसको भगवान का चहुँ ओर मुख वाले विश्वरूप का दर्शन हो रहा था।

श्लोक-३६ से ४० तक वर्णित अर्जुन की प्रार्थना से प्रकट होता है कि भगवान के जिस भयंकर काल रूप को देखकर अर्जुन अंदर तक विचलित हो गया था उसे भगवान ने अब समेट लिया है और अब वे केवल अपने विश्वरूप का दर्शन दे रहे हैं। अब अर्जुन जो प्रार्थना कर रहा है उसमें भगवान के भयंकर रूप का किंचित भी संदर्भ नहीं है। अब वह वर्णन कर रहा है कि जगत अति हर्षित हो रहा है और प्रेम से अनुरक्त है (श्लोक-३६), जबकि पहले भगवान के उग्र रूप को देखकर वह भगवान से कह रहा था- 'मैं देख रहा हूँ कि आप अग्नि की ज्वाला वाले मुखों को धारण करके अपने तेज से जगत को संतप्त कर रहे हैं (श्लोक-१९) और आपके इस उग्र रूप को देखकर तीनों लोक व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं (श्लोक-२०)। अब तो वह भगवान की सर्व व्यापकता का, वे देवों के भी आदिदेव ब्रह्मा के भी पिता होने का वर्णन कर रहा है, यहाँ तक कि उसे अब उनके अव्यक्त ब्रह्म होने का भी भान हो रहा है (श्लोक-३७ से ३९)।

वस्तुतः श्लोक-३५ में संजय ने जो यह वर्णन किया है कि अर्जुन डरा-डरा सा साथ ही गद् गद् वाणी से भगवान की प्रार्थना कर रहा है तो अर्जुन की यह दशा उसकी पूर्व वाली उस दशा से सर्वथा भिन्न है जो भगवान का उग्र रूप देखने पर भय से व्याकुल होने पर हुई थी। अब उसे जो स्नेहासिक्त भय है वह ऐसा ही है जब एक बालक अपनी मां की आज्ञा की अवहेलना करते हुए भी उससे उससे रुष्ट न होने की प्रार्थना करता है। भगवान ने अर्जुन को अपनी यह इच्छा बताई थी कि दुष्टों का साथ देने के लिए खड़े हुए भीष्म आदि के हनन का वे निश्चय कर चुके हैं और अर्जुन को भगवान के उस निश्चय को क्रियान्वित करने के लिए निमित्त बन जाना है। भगवान के इस आदेश का पालन करने में उसे झिझक है और इसी कारण वह उन्हें प्रसन्न करने हेतु लंबी-चौड़ी प्रार्थना तो कर रहा है किंतु उनके उस आदेश के बारे में मौन साधे हुए हैं।

अगले दो श्लोकों में अर्जुन अपने उन पूर्व व्यवहारों के लिए क्षमा मांग रहा है जो उसके द्वारा अनजाने में भगवान को परमेश्वर के रूप में न पहचान पाने के कारण उससे हुए थे। फिर अगले दो श्लोकों (क्रमांक-४३,४४) में वह अपनी वर्तमान धृष्टता के लिए, भगवान को परमेश्वर के रूप में पहचान लेने के बाद भी उनके आदेश का पालन करने में अपने को असमर्थ महसूस करते हुए और इसे स्पष्ट कहने में डरते हुए क्षमा ज्ञापन कर रहा है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

सखा इति मत्वा प्रसभम् यत् उक्तम्, हे कृष्ण हे यादव हे सखा इति ।
अजानता महिमानम् तव इदम्, मया प्रमादात् प्रणयेन वा अपि ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

यत् च अवहास अर्थम् असत् कृतः असि, विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु ।
एकः अथवा अपि अच्युत तत् समक्षम्, तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम् ॥

तव इदम् महिमानम् अजानता च सखा इति मत्वा प्रणयेन वा प्रमादात् अपि - आपकी इस महिमा को न जानते हुए (तथा आप मेरे) सखा हैं ऐसा मानकर प्रेम से अथवा लापरवाही से तुझे **' यत् हे कृष्ण! हे यादव, हे सखा! ' इति प्रसभम् मया उक्तम् -** जो अरे कृष्ण, अरे यादव, अरे मित्र इस प्रकार हठपूर्वक मेरे द्वारा कहा गया **च अच्युत यत् अवहासार्थम् विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु-** और हे अच्युत ! जो (मेरे द्वारा) विनोद के लिए विहार करते (घूमते) समय, लेटते समय, बैठे हुए अथवा भोजन करते समय **एकः अथवा तत् समक्षम् अपि असत् कृतःअसि -** अकेले में अथवा साथियों के बीच भी अपमानित किए गए हैं, **तत् अप्रमेयम् त्वाम् अहम् क्षामये -** वे (सब अपराध) हे अचिन्त्य ! आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

पिता असि लोकस्य चर-अचरस्य, त्वम् अस्य पूज्यः च गुरुः गरीयान् ।
न त्वत् समः अस्ति अभ्यधिकः कुतः अन्यः, लोक-त्रये अपि अप्रतिम-प्रभाव ॥

त्वम् अस्य चर-अचरस्य लोकस्य पिता च गरीयान् पूज्यः गुरुः असि- आप इस चर तथा अचर (संपूर्ण) जगत के जनक हैं और सबसे बड़े पूजनीय गुरु हैं। **अप्रतिम-प्रभाव-** हे अनुपम प्रभाव वाले! **लोक-त्रये त्वत् समः अपि अन्यः न अस्ति-** तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, **अभ्यधिकः कुतः -** (फिर) अधिक तो हो ही कैसे सकता है ?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्, प्रसादये त्वाम् अहम् ईशम् ईड्यम् ।
पिता इव पुत्रस्य सखा इव सख्युः, प्रियः प्रियायाः अर्हसि देव सोढुम् ॥

तस्मात् अहम् कायम् प्रणिधाय, प्रणम्य- अतः (हे प्रभो) मैं अपने शरीर को (आपके चरणों में) प्रणत करके प्रणाम करके, **ईड्यम् त्वाम् ईशम् प्रसादये -** पूज्य आप ईश को प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ, **देव-** हे देव! **पिता इव पुत्रस्य सखा इव सख्युः प्रियः (इव) प्रियायाः सोढुम् अर्हसि -** पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के, प्रेमी जैसे प्रियतमा के (अपराध सहन करते है वैसे ही आप भी मेरे अपराध को) सहन करने योग्य है ।

जैसा कि इन चार श्लोकों की भूमिका में हम पहले कह चुके हैं, श्लोक-४१,४२ के अनुसार भगवान के विश्वरूप और काल रूप को देखकर अर्जुन को इस सत्य का बोध होता है कि वह जिस कृष्ण को अपने सामान एक व्यक्ति समझ कर उससे सखावत हर प्रकार का व्यवहार करता रहा था वह व्यक्ति नहीं साक्षात परमेश्वर का अवतारी रूप है तो वह अपने उन अज्ञान युक्त व्यवहारों के लिए हृदय से क्षमा मांगता है। पश्चात् श्लोक-४३,४४ में उसने जो पुनः क्षमा मांगते हुए मार्मिक अनुनय-विनय (अपील) की है कि सांसारिक संबंधों में ही जब मनुष्य एक दूसरे को, विशेषकर वरिष्ठ जन कनिष्ठ को क्षमा कर देते हैं तो भगवन् आप तो त्रिलोकी के पालक हैं, आप मुझ अकिंचन को अवश्य क्षमा प्रदान करने की कृपा करें। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इन बाद के श्लोकों में जो मार्मिक अपील के साथ पुनः क्षमा मांगी गई है वह अर्जुन को क्या इसलिए आवश्यक प्रतीत हुई कि उसने पहले जो अज्ञानवश (अजानत:) किए गए अपने व्यवहारों के लिए क्षमा मांगी थी उसके प्रतिउत्तर में भगवान की भाव भंगिमा में उसे क्षमा का भाव नहीं दिखा था। हमारी दृष्टि में बात यह नहीं थी वरन अर्जुन अब एक अन्य गंभीर अपराध के लिए क्षमा याचना कर रहा था। भीष्म, द्रोण आदि के मरण में निमित्त बनने के भगवान के आदेश का पालन करने के लिए अभी उत्साहित महसूस नहीं कर रहा था। इस अपराध के लिए वह श्लोक-४४ में वर्णित मार्मिक अपील करते हुए क्षमा याचना कर रहा था। यह बात अगले दो श्लोकों में उद्धृत उस के प्रार्थना वचनों से भी प्रकट हो रही है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

अदृष्ट-पूर्वम् हृषितः अस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितम् मनः मे ।
तत् एव मे दर्शय देव रूपम्, प्रसीद देवेश जगत्-निवास ॥

अदृष्ट-पूर्वम् दृष्ट्वा हृषितः अस्मि- पहले कभी न देखे गए (आपके इस विराट रूप को) देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ , **मे मनः भयेन प्रव्यथितम् -** (किन्तु) मेरा मन भय से बहुत व्यथित है। **हे जगत्-निवास-** हे जगत के आश्रय !! **हे देवश -** हे देवों के ईश ! **प्रसीद च मे तत् एव देव रूपम् दर्शय -** (मुझ पर) प्रसन्न होइये और मुझे (आपका) वह ही देव रूप (अर्थात् जगत का पालन- कर्ता विष्णु रूप) दिखलाइये ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं
इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

किरीटिनम् गदिनम् चक्र-हस्तम्, इच्छामि त्वाम् द्रष्टुम् अहम् तथा एव ।
तेन एव रूपेण चतुः-भुजेन, सहस्र-बाहो भव विश्व-मूर्ते ॥

अहम् तथा एव त्वाम् किरीटिनम् गदिनम् चक्र-हस्तम् द्रष्टुम् इच्छामि- मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किए हुए, गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूँ। **सहस्र-बाहो विश्व-मूर्ते-** हे सहस्र भुजाधारी विश्वरूप! **तेन एव चतुः-भुजेन रूपेण भव -** (आप) उस ही चतुर्भुज रूप से प्रकट होइये।

अर्जुन विश्वरूप को देखकर हर्षित हो रहा है और साथ ही भय से व्यथित भी है। उसके इन विपरीत भावों से आविष्ट होने का क्या कारण हो सकता है? हर्षित होने का कारण तो स्पष्ट है। भगवान ने प्रारंभ में ही अपने विश्वरूप के बारे में 'अदृश्य पूर्वाणि' अर्थात् पहले किसी के द्वारा न देखा गया- यह कहा था (श्लोक-६) और अर्जुन ने भी यहाँ उसी शब्द का प्रयोग करते हुए अपना हर्ष प्रकट किया है। अर्थात् वह प्रसन्न इस बात से है कि भगवान ने उसे अपना वह रूप दिखाया है जो पहले किसी को नसीब नहीं हुआ था। अब विचार करें कि वह किस भय से व्यथित था। बहुधा कल्पना की गई है कि वह भगवान के भयंकर महाकाल रूप से भयभीत हो गया था। किंतु यह कल्पना तो आधारहीन है। भगवान ने तो उस भयंकर काल रुप को दृष्ट कराने के साथ ही अर्जुन से स्पष्ट कहा था कि भीष्म आदी योद्धाओं का हनन मेरे द्वारा निश्चित किया जा चुका है और तू देख ही रहा है कि वे मेरे काल-मुख में समा रहे हैं। तू उठ और युद्ध में इन को मारने का निमित्त बन। तुम्हारी विजय सुनिश्चित है।

इस आश्वासन के परिप्रेक्ष्य में भगवान के काल रूप से अर्जुन के भय ग्रस्त होने की कल्पना आधारहीन सिद्ध होती है। अतः अर्जुन के भय ग्रस्त होने का यह कारण नहीं हो सकता। उसके भय का कारण, जैसा कि हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं, केवल यही होना सिद्ध होता है कि वह परमेश्वर के उक्त आदेश का, कि उसे भीष्म-द्रोण आदि का हनन करना है, पालन करने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पा रहा था और विश्वरूप परमात्मा के आदेश की उपेक्षा के फल स्वरुप उनके अप्रसन्न हो जाने के भय से ही वह कम्पित था। इसी कारण वह उनसे प्रार्थना कर रहा है कि हे भगवान आप इस काल स्वरूप को त्याग कर सर्व पालनकर्ता विष्णु रूप धारण कर लें तो वह आश्वस्त हो जाएगा कि भगवान ने उसे क्षमा कर दिया और उनकी कृपा दृष्टि उसे पूर्ववत् प्राप्त है।

अर्जुन के भाव को समझकर भगवान उसे आश्वस्त करते हैं कि उसकी भक्ति के कारण ही उन्होंने उसे अपना वह अदृष्ट पूर्वम् वाला विराट रूप दिखाया था (श्लोक-४७, ४८)। फिर उसे पूर्ण आश्वस्त करने हेतु वे उसकी प्रार्थना अनुरूप उसे अपने विष्णु रूप का दर्शन कराते हैं। (श्लोक-४९, ५०)

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

मया प्रसन्नेन तव अर्जुन इदम्, रूपम् परम् दर्शितम् आत्म-योगात् ।
तेजोमयम् विश्वम् अनन्तम् आद्यम्, यत् मे त्वत् अन्येन न दृष्ट-पूर्वम् ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **प्रसन्नेन मया आत्म-योगात् इदम् मे परम् तेजोमयम् आद्यम् अनन्तम् विश्वम् रूपम् तव दर्शितम् -** प्रसन्न होकर (ही तो) मैंने अपनी योग शक्ति से यह मेरा परम तेजोमय मौलिक, असीम, विश्वरूप तुझको दिखलाया है। **यत् त्वत् अन्येन न दृष्ट-पूर्वम्-** जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसी ने नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्-
न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

न वेद-यज्ञ-अध्ययनैः न दानैः, न च क्रियाभिः न तपोभिः उग्रैः ।
एवम् रूपः शक्यः अहम् नृ-लोके, द्रष्टुम् त्वत् अन्येन कुरु-प्रवीर ॥

कुरु-प्रवीर- हे कुरुश्रेष्ठ ! **न वेद अध्ययनैः यज्ञ न दानैः न क्रियाभिः च न उग्रैः तपोभिः अहम् एवम् रूपः द्रष्टुम् शक्यः-** न वेदों के अध्ययन से, न यज्ञों से, न दान से, न कर्मकांड की क्रियाओं द्वारा मैं इस (विश्व)रूप में देखा जा सकता हूँ। **(तस्मात्) नृ-लोके त्वत् अन्येन (न दृष्ट पूर्वम)-** इसलिए इस मनुष्य लोक में तेरे सिवाय अन्य किसी ने भी (इस रूप को पहले नहीं देखा है) ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मा ते व्यथा मा च विमूढ-भावः, दृष्ट्वा रूपम् घोरम् ईदृक् मम इदम् ।
व्यपेत-भीः प्रीत-मनाः पुनः त्वम्, तत् एव मे रूपम् इदम् प्रपश्य ॥

मम इदम् ईदृक् घोरम् रूपम् दृष्ट्वा - मेरे इस प्रकार के इस विकराल रूप को देखकर **ते व्यथा मा च विमूढ-भावः मा -** तू व्याकुल मत हो (और) विमूढ़ भी मत हो **त्वम् पुनः मे तत् एव रूपम् प्रपश्य (च) व्यपेत-भीः प्रीत-मनाः-** तो फिर से मेरे उसी (विष्णु) रूप दो देख (और) भय मुक्त तथा प्रीति युक्त मनवाला हो जा ।

सञ्जय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

इति अर्जुनम् वासुदेवः तथा उक्त्वा, स्वकम् रूपम् दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतम् एनम् भूत्वा पुनः सौम्य-वपुः महात्मा ॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा- **वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा -** वासुदेव श्री कृष्ण ने अर्जुन को ऐसा कहकर **स्वकम् तथा रूपम् भूयः दर्शयामास -** अपना वही (विष्णु) रूप दिखलाया **च पुनः महात्मा सौम्य-वपुः भूत्वा-** और फिर महात्मा श्री कृष्ण ने सौम्य (मनुष्य) रूप को होकर **एनम् भीतम् आश्वासयामास -** इस भयभीत अर्जुन को धीरज दिया ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं , तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः , सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

दृष्ट्वा इदम् मानुषम् रूपम् , तव सौम्यम् जनार्दन । इदानीम् अस्मि संवृत्तः , सचेताः प्रकृतिम् गतः ॥

जनार्दन- हे शत्रुओं को दंडित करने वाले भगवान ! **तव इदम् सौम्यम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा-** आपके इस सौम्य मनुष्य रूप को देख कर **इदानीम् सचेताः संवृत्तः अस्मि -** अब मैं स्थिर-चित्त हो गया हूँ (और) **प्रकृतिम् गतः -** अपनी प्रकृत (स्वाभाविक) अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ ।

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं , दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य , नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

सुदुर्दर्शम् इदम् रूपम् , दृष्टवान् असि यत् मम । देवाः अपि अस्य रूपस्य , नित्यम् दर्शन-काङ्क्षिणः ॥

मम यत् रूपम् दृष्टवान् असि इदम् सुदुर्दर्शम्- मेरा जो (विष्णु) रूप (तुमने) देखा है यह बहुत दुर्दर्श है (अर्थात् बड़ा दुर्लभ है) **देवाः अपि नित्यम् अस्य रूपस्य दर्शन-काङ्क्षिणः -** देवगण भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांशा करते है।

नाहं वेदैर्न तपसा , न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं , दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

न अहम् वेदैः न तपसा , न दानेन न च इज्यया । शक्यः एवम्-विधः द्रष्टुम् , दृष्टवान् असि माम् यथा ॥

यथा माम् दृष्टवान् असि- जैसा (तुमने) मुझको देखा है, **एवम्-विधः अहम् -** इस प्रकार का (चतुर्भुज रूप) मैं **न वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया -** न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से (ही) **द्रष्टुम् शक्यः -** देखा जा सकता हूँ ।

यह श्लोक-११.४८ की पुनरुक्ति कहा गया है किंतु वह केवल भाषा में है, भाव में नहीं। श्लोक-११.४८ विश्वरूप के संबंध में था, यहाँ भगवान ने चतुर्भुज रूप की महिमा कही है।

अब अगले दो श्लोकों में जो कि इस अध्याय का समापन करते हैं, भगवान अनन्य भक्ति की व्याख्या और उससे प्राप्त होने वाली स्थिति का स्वरूप बता रहे हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य , अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन , प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

भक्त्या तु अनन्यया शक्यः , अहम् एवम्-विधः अर्जुन । ज्ञातुम् द्रष्टुम् च तत्त्वेन , प्रवेष्टुम् च परन्तप ॥

तु परन्तप अर्जुन- परन्तु हे क्षत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! **अनन्यया भक्त्या एवम्-विधः अहम् द्रष्टुम् -** अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार (चतुर्भुज विष्णु रूप में) मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकने के लिए , **तत्त्वेन ज्ञातुम् च प्रवेष्टुम् च शक्यः -** तत्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने (अर्थात् एकी भाव से प्राप्त होने) के लिए भी शक्य हूँ ।

तत्वेन ज्ञातुं : तत्व से जानने की विवेचना हम पूर्व में (श्लोक-२.१६ की टिप्पणी में और ३.३८ के शब्दार्थ के अंतर्गत कर चुके हैं) यहाँ भी 'तत्व से जानने' का भाव है प्रकृति की रचनाओं में स्थित परमात्म तत्व के प्रभाव को जानना, यह जानना कि प्रकृति तत्व जहाँ प्रबल होगा वहाँ बर्बादी होगी किंतु जहाँ परमात्म तत्व प्रभावी होगा वहाँ समन्वय और विकास होगा।

मत्कर्मकृन्मत्परमो , मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु , यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

मत्-कर्म-कृत् मत्-परमः , मत्-भक्तः सङ्ग-वर्जितः । निर्वैरः सर्व-भूतेषु , यः सः माम् एति पाण्डव ॥

पाण्डव- हे अर्जुन ! **यः मत्-कर्म-कृत्-** जो व्यक्ति मेरे लिए ही कर्मों को करने वाला है, **मत्-परमः-** मेरे परायण हैं, **मत्-भक्तः -** मेरा भक्त है , **सङ्ग-वर्जितः -** आसक्ति रहित है, **सर्व-भूतेषु निर्वैरः -** (और) सम्पूर्ण भूत प्राणियों में वैरभाव से रहित है (अर्थात् मैत्री भाव रखता है) **सः माम् एति -** वह मुझ को (ही) प्राप्त होता है ।

श्लोक-५४ का यह है कि भगवान के अनन्य भक्ति में स्थित हो जाने वाले के लिए भगवान का वह दुर्लभ विष्णु रूप देखा जाना संभव हो सकता है जो उन्होंने कृपा कर अर्जुन को दृष्ट कराया था, इसके अतिरिक्त भगवान को तत्व से जानने की (अर्थात् यह जानना की भगवत् तत्व प्रकृति पर नियंत्रण करके उसके विध्वंसात्मक कार्यों को विकासात्मक कार्य कैसे बना देता हैं) और उनमें प्रवेश करने की (अर्थात् अपने क्षुद्र अहंकार से मुक्त होकर भगवत् सत्ता में उनका पूर्ण विलय होने की), यें उपलब्धियां भी उसे प्राप्त हो सकती हैं। इन आध्यात्मिक ऊंचाइयों को प्राप्त कराने वाली अनन्य भक्ति का आचरणीय स्वरूप क्या है इसकी परिचयात्मक रूपरेखा श्लोक-५५ में प्रस्तुत की गई है। उक्त श्लोक में आचरण संबंधी चार सूत्र बताए गए हैं। १. भगवान के लिए कर्म अर्थात् स्वयं के लाभ की दृष्टि का परित्याग करते हुए समष्टि हित की दृष्टि से कर्मों का संपादन, २. भगवत् परायण होना अर्थात् भगवत् सत्ता के आश्रित होना, ३. आसक्ति रहित होना और ४. किसी के भी प्रति बैर भावना न रखते हुए सबका कल्याण हो, 'सर्वे भवंतु सुखिनः' वाली प्रार्थना के भाव को जीवन का मूल मंत्र बना लेना।

इस प्रकार इन दो श्लोकों में अनन्य भक्ति कि यहाँ भूमिका दी गई है जिसकी विस्तृत विवेचना अध्याय-१२ में तथा आगे के अध्यायों (क्रमांक-१३ से १८) में की गई है।

◆ ◆ ◆

द्वादशः अध्यायः

भक्ति के आठ सोपान

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये , भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं , तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

एवम् सतत-युक्ताः ये ,भक्ताः त्वाम् पर्युपासते । ये च अपि अक्षरम् अव्यक्तम् , तेषाम् के योग-वित्तमाः ॥

ये भक्ताः एवम् त्वाम् सतत-युक्ताः - जो भक्तजन इस प्रकार आप (आपके व्यक्त रूप) सततयुक्त रहकर, **च ये अव्यक्तम् अक्षरम् अपि पर्युपासते-** और जो (आपके) अव्यक्त अविनाशी रूप(निराकार ब्रह्म) की उपासना करते हैं **तेषाम् योग-वित्तमाः के (सन्ति) -** उन दोनों प्रकार के उपासकों में उत्तम योगवेत्ता कौन है ?

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां , नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते , मे युक्ततमा मताः ॥२॥

मयि आवेश्य मनः ये माम् , नित्य-युक्ताः उपासते । श्रद्धया परया उपेताः ते , मे युक्ततमाः मताः ॥

मयि मनः आवेश्य नित्य-युक्ताः ये परया श्रद्धया - मुझ में (अर्थात् मेरे व्यक्त स्वरूप में) मन को एकाग्र करके निरंतर मुझमे (श्लोक-११.५५ अनुसार) लगे हुए जो परम श्रद्धा से युक्त होकर **माम् उपासते-** मुझ को उपासते हैं **ते मे युक्ततमाः मताः -** वे मेरे द्वारा योग में परम सिद्ध मान्य हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यम् , अव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च , कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् , अव्यक्तम् पर्युपासते । सर्वत्रगम् अचिन्त्यम् च , कूटस्थम् अचलम् ध्रुवम् ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं , सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव , सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सन्नियम्य इन्द्रिय-ग्रामम् , सर्वत्र सम-बुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति माम् एव , सर्व-भूत-हिते रताः ॥

तु ये अव्यक्तम् पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यम् कूटस्थम् अचलम् ध्रुवम्- परंतु जो (उस) अव्यक्त की उपासना करते हैं जो सर्वव्यापी है, मन-बुद्धि से परे है, अपरिवर्तनीय है, अचल है, ध्रुव (स्थिर) है, **ते इन्द्रिय-ग्रामम् संनियम्य सर्वत्र सम-बुद्धयः सर्व-भूत-हिते रताः -** वे लोग अपनी इंद्रियों को वश में कर, लोगों के प्रति समभाव रखते हुए समस्त प्राणियों के कल्याण में संलग्न रखते हुए **माम् एव प्राप्नुवन्ति -** मुझ को ही प्राप्त होते हैं। अनिर्देश्यम्, ,, अक्षरम् च ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् , अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं , देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

क्लेशः अधिकतरः तेषाम् , अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिः दुःखम् , देहवद्भिः अवाप्यते ॥

तेषाम् अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम् क्लेशः अधिकतरः - उन अव्यक्त (ब्रह्म) में आसक्त चेतनवालों (की साधना में) कष्ट अधिक है, **हि देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखम् अवाप्यते -** क्योंकि देहभिमानिओं (अर्थात् वे जो देह भाव से मुक्त नहीं हो पाए हैं उनके) द्वारा अव्यक्त विषयक साधना में प्रगति कर पाना दुष्कर होता है।

अध्याय-११ में अर्जुन को भगवान ने अपना जो विश्वरूप और फिर विष्णु रूप दिखाकर उसे जिस अनन्य भक्ति का उपदेश दिया था उस मार्ग को भली प्रकार जानने के लिए अर्जुन ने यहाँ प्रश्न किया है कि सब प्राणियों में व्यक्त होने वाले आपके इस व्यक्त स्वरूप की उपासना अथवा उस अव्यक्त ब्रह्म रूप की उपासना जो कि सन्यासी लोग करते देखे जाते हैं इन दोनों में से उत्तम मार्ग कौन सा है(श्लोक-१)। इसके उत्तर में भगवान ने श्लोक-२ में स्पष्ट घोषणा की कि जो साधक परम श्रद्धा पूर्वक निरंतर मेरे व्यक्त स्वरूप की कर्मयोग द्वारा उपासना करता है वह निस्संदेह अधिक श्रेष्ठ है। साथ ही उन्होंने एक सच्चे गुरु की भांति (श्लोक-३,४) में यह भी बता दिया कि अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले भी मुझे ही प्राप्त करते हैं यदि इन तीन शर्तों का पालन करते हैं- १. मन सहित अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण कर लें, २. सब के प्रति समभाव रखें तथा ३. सब प्राणियों के लिए कल्याणकारी कार्यों में संलग्न रहें। निर्गुण उपासना की सफलता के लिए इन तीन शर्तों में से प्रथम दो तो आंतरिक होकर मन-बुद्धि के नियमन वाली हैं और तीसरी कर्मयोग से भिन्न नहीं हैं। सन्यास मार्ग के साधक के लिए भी यह कर्मयोग की साधना बताने का क्या तात्पर्य है, इसे हमें समझ लेना चाहिए।

भगवान पहले (श्लोक-५.६) में कह चुके हैं कि कर्मयोग के बिना कर्मसन्यास वाले मार्गों में असफलता का दुख ही प्राप्त होता है क्योंकि अंतःकरण की शुद्धि के लिए कर्मयोग आवश्यक है(श्लोक-५.११)। तात्पर्य यह कि जब तक स्वार्थ भाव के संस्कारों का कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्मों के अभ्यास द्वारा नाश नहीं हो जाता तब तक सन्यास मार्ग की कोई भी साधन पद्धति वांछित परिणाम देने में असफल ही रहेगी।

सन्यास मार्ग में सफल होने के लिए उपरोक्त आवश्यक शर्तों का उल्लेख (श्लोक- २ से ४ में) करने के बाद भगवान ने (श्लोक-५ में) एक और वास्तविक कठिनाई की ओर इस मार्ग को अपनाने के इच्छुक साधक का ध्यान आकर्षित किया है। यहाँ भगवान ने कहा है कि अव्यक्त ब्रह्म की उपासना के इच्छुक साधक के लिए आवश्यक है कि वह पहले देहाभिमान से मुक्त हो जाए क्योंकि देहाभिमान रहते अव्यक्त ब्रह्म की उपासना असफलता का दुख ही देगी।

अगले कुछ श्लोकों (क्रमांक-६ से १२) में भक्ति मार्ग अर्थात् भगवत् भाव सहित कर्मयोग वाले पथ की विवेचना की गई है। इन श्लोकों में भगवान ने इस मार्ग के क्रमिक आठ सोपानों का वर्णन किया है। ये सोपान (चरण) उतरते क्रम में वर्णित हैं। वस्तुतः गीता ने जहाँ कहीं किसी भी साधना के सोपानों (क्रमिक चरणों) का वर्णन किया है वहाँ उतरते क्रम में वर्णन किया है और जहाँ परिणाम रूप प्राप्त गुणों का वर्णन है वह बढ़ते क्रम में है। (साधना के उतरते क्रम का अन्य उदाहरण श्लोक-४.२४ से ३० में यज्ञों का वर्णन हम देख चुके हैं। वहाँ उच्चतम ब्रह्म यज्ञ का वर्णन सबसे पहले करके उतरते क्रम में अन्य यज्ञों का वर्णन करते हुए सबसे निचले चरण वाले 'नियत आहार' वाले यज्ञ का वर्णन सबसे अंत में १२वें यज्ञ के रूप में किया गया था)।

उपरोक्त सामान्य प्रेक्षणों के प्रकाश में अब हम भक्ति साधना का वर्णन करने वाले निम्न लिखित सात श्लोकों (क्रमांक-६ से १२) का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम अनन्य भक्ति रूप सबसे उच्च चरण का वर्णन दो श्लोक (क्रमांक ६ और ७) में इस प्रकार किया गया है-

ये तु सर्वाणि कर्माणि , मयि संन्यस्य मत्परः ।
अनन्येनैव योगेन , मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्-पराः । अनन्येन एव योगेन माम् ध्यायन्तः उपासते ॥

तेषामहं समुद्धर्ता , मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ , मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

तेषाम् अहम् समुद्धर्ता , मृत्यु-संसार-सागरात् । भवामि न चिरात् पार्थ , मयि आवेशित-चेतसाम् ॥

तु ये सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य- परंतु जो सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके, **मत्-पराः ध्यायन्तः अनन्येन योगेन माम् एव उपासते-** मेरे परायण हुए, निरंतर चिंतन करते हुए अनन्य भक्ति योग से मेरी (मुझ सगुण रूप परमेश्वर की) ही उपासना करते हैं, **पार्थ-** हे प्रथा पुत्र अर्जुन ! **तेषाम् मयि आवेशित-चेतसाम् -** उन

मुझ में सम्पूर्ण चेतना लगा देने वालों का **अहम् न चिरात् मृत्यु-संसार-सागरात् समुद्धर्ता भवामि -** मैं बिना विलम्ब के जन्म-मृत्यु वाले संसार सागर से उद्धार करने वाला होता हूँ।

मयि आवेशित चेत्साम् : संपूर्ण चेतना भगवान को समर्पित कर देने का अर्थ है- प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार इन चारों स्तरों की चेतना का समर्पण। प्राण शक्ति से कर्म संपन्न होते हैं अतः प्राण समर्पण का अर्थ है कर्मों का समर्पण, मन-बुद्धि के समर्पण का अर्थ है निज सुख की कोई कामना और विचार न रखते हुए सब प्राणियों में स्थित भगवान के लिए ही चिंतन मनन करना। इसी प्रकार अहंकार के समर्पण का अर्थ होगा अपने को भगवान का दास या सेवक समझते हुए भगवान की प्रसन्नता के लिए कार्य करना। यह भक्ति का सर्वोच्च रूप है जिसे यहाँ 'अनन्य भक्ति' के नाम से संबोधित किया गया है।

किन्तु अहंकार छोड़ना या अहंकार का समर्पण करना भी बड़ा दुष्कर कार्य है अतः वे जो इस स्तर तक अभी नहीं पहुंच सकते हैं वे सेवा कर्म करते हुए मन और बुद्धि के समर्पण की साधना करें। दूसरे चरण की इस साधना को अगले श्लोक (क्रमांक-८) में वर्णित किया गया है-

मय्येव मन आधत्स्व , मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव , अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मयि एव मनः आधत्स्व , मयि बुद्धिम् निवेशय । निवसिष्यसि मयि एव , अतः ऊर्ध्वम् न संशयः ॥

मयि मनः आधत्स्व, मयि एव बुद्धिम् निवेशय- मुझ में मन लगा (और) मुझ में ही बुद्धि को लगा, **अतः ऊर्ध्वम् मयि एव निवसिष्यसि संशयः न -** इसके उपरांत (तू) मुझ में ही निवास करेगा इसमें संशय नहीं है।

यदि मन और बुद्धि (अर्थात् चित्त) को मुझ में लगाना भी किसी के लिए अभी कठिन हो तो वह अपने मन में मुझको प्राप्त करने की इच्छा करने का (कर्म साधना के साथ) बारंबार अभ्यास करें। यह उतरते क्रम में भक्ति साधना का तीसरा सोपान है जिसे श्लोक-९ में वर्णित किया गया है।

अथ चित्तं समाधातुं , न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो , मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अथ चित्तम् समाधातुम् , न शक्नोषि मयि स्थिरम् । अभ्यास-योगेन ततः , माम् इच्छ आप्तुम् धनञ्जय ॥

अथ चित्तम् मयि स्थिरम् समाधातुम् न शक्नोषि- और यदि तू (अथवा कोई भी साधक) चित्त (अर्थात् मन और बुद्धि) को मुझ में स्थिर करने में समर्थ न हो, **ततः धनञ्जय -** तो हे धनञ्जय ! **अभ्यास-योगेन माम् आप्तुम् इच्छ -** अभ्यास योग के द्वारा मुझको प्राप्त होने की इच्छा कर ।

चित्त : आठवें श्लोक में मन और बुद्धि को 'मुझ में' लगाने की बात कही थी और यहाँ कहा गया है कि यदि चित्त को मुझ में स्थिर न कर सके, (यहाँ चित्त शब्द का प्रयोग 'मन + बुद्धि' के लिए हुआ है), तो अभ्यास योग की साधना अपेक्षित है।

अभ्यास योग : इन शब्दों की यथा तथ्य और सर्वोत्तम विवेचना विनोबा की 'गीताई-चिंतनिका' में मिलती है। उन्होंने लिखा है कि मार्ग के अनुरूप इन शब्दों का भावार्थ किया जाना चाहिए। 'योग मार्ग के अभ्यास में प्राणायाम, धारणा आदि, ज्ञान मार्ग के अभ्यास में श्रवण मनन आदि, तथा भक्ति मार्ग में अभ्यास का स्वरूप होगा तीव्र इच्छा, छटपटाहट' क्योंकि यहाँ भक्ति के संबंध में अभ्यास योग की बात है अतः यहाँ इसका संबंध 'तीव्र इच्छा' से है।

भगवत् प्राप्ति हेतु तीव्र इच्छा का अभ्यास वस्तुतः मन के स्तर की साधना है जो यहाँ उस साधक के लिए निर्धारित की गई है जो श्लोक-८ के अनुरूप (कर्म के साथ) मन तथा बुद्धि को भगवान में लगाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इस प्रकार, इस तीसरे चरण की साधना में व्यक्तित्व के केवल दो पहलुओं- कर्म और मन- का भगवत् सत्ता को समर्पण करके आगे बढ़ने (अगले उच्च चरण की ओर बढ़ने) की बात कही गई है।

अब जो साधक मन का समर्पण करने में भी अपने को असमर्थ पायें उनके लिए केवल कर्म समर्पण से भक्ति प्रारंभ करने का निर्देश अगले चौथे पायदान की भक्ति साधना के रूप में श्लोक-१० में दिया गया है-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि , मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि , कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यासे अपि असमर्थः असि , मत्-कर्म-परमः भव । मत्-अर्थम् अपि कर्माणि , कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥

अभ्यासे अपि असमर्थः असि - उपरोक्त तीव्र इच्छा वाले अभ्यास में यदि असमर्थ हो **मत्-कर्म-परमः भव -** (तो केवल) मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। **मत्-अर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि -** मेरे निमित्त कार्यों को करता हुआ भी (अंततः मेरी प्राप्ति रूप) सिद्धि को प्राप्त होगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि , कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं , ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अथ एतत् अपि अशक्तः असि , कर्तुम् मत्-योगम् आश्रितः । सर्व-कर्म-फल-त्यागम् , ततः कुरु यत-आत्मवान् ॥

अथ मत्-योगम् आश्रितः एतत् कर्तुम् अपि अशक्तः असि - यदि मेरी प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन करने में भी असमर्थ है, **ततः यत-आत्मवान् सर्व-कर्म-फल-त्यागम् कुरु -** तो प्रतिबद्ध होकर सभी कर्मों के फल का त्याग कर।

जो इस पांचवें चरण की साधना भी नहीं कर सकते उनके लिए श्लोक-१२ में तीन साधनाओं का क्रम वर्णित है-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् , ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागः , त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२॥

श्रेयः हि ज्ञानम् अभ्यासात् , ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते । ध्यानात् कर्म-फल-त्यागः , त्यागात् शान्तिः अनन्तरम् ॥

अभ्यासात् हि ज्ञानम् श्रेयः - अभ्यास से निश्चय ही ज्ञान श्रेष्ठ है, **ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते-** ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, (और) **ध्यानात् कर्म-फल-त्यागः -** ध्यान से कर्म फल त्याग (श्रेष्ठ है)। **त्यागात् शान्तिः अनन्तरम् -** (कर्मफल) त्याग से मन को संतुष्टि प्राप्त होगी।

इस श्लोक में व्याख्याकारों को बहुत उलझन में डाला है। यह कूट श्लोक महाभारत की उस प्रारंभिक कहानी की याद दिलाता है जिसके अनुसार भगवान व्यास बीच-बीच में एकाध ऐसे कूट श्लोक की रचनाकर कर देते थे जिसे लिखने से पूर्व भगवान गणेश को श्लोक का भाव समझने के लिए अवकाश लेना आवश्यक हो जाता था और व्यास जी को भी आगे की रचना के लिए सोचने का समय मिल जाता था। इस श्लोक में ऐसे बहु अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसके कारण टीकाकार, समुचित समय न दे सकने के कारण, भावार्थ करने में न्याय नहीं कर पाए। स्वामी अखंडानंद जी ने शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य आदि महात्माओं की व्याख्याओं का संदर्भ देकर उनके इस निष्कर्ष की पुष्टि की है कि पूर्व के श्लोकों (क्रमांक ६ से ११) में जो अवरोही क्रम वर्णित था, यहाँ उसे उलट कर आरोही क्रम कर दिया गया है। किंतु ऐसा करने से विषय प्रतिपादन में क्या कुछ उपलब्धि हुई इसकी व्याख्या नहीं की गई। वस्तुतः व्याख्या होती कैसे, उपलब्धि के स्थान पर संभ्रान्ति जो बड़ी। इसी क्रम में अगले वाक्य- 'कर्मफल त्यागात् शांतिः अनन्तरम्' का यह सामान्य शाब्दिक अर्थ है कि कर्मफल त्याग के पश्चात् शांति प्राप्त होती है, विषय की एकरसता को खंडित कर रहा है और इस रूप में अग्राह्य प्रतीत होता है कि शांति की प्राप्ति वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म के उपसकों का प्राप्य लक्ष्य होता है, सगुण परमात्मा की उपासना करने वालों का परम लक्ष्य अनन्य भक्ति की प्राप्ति है, शांति नहीं। अनन्य भक्ति के साधक तो स्वयं के लिए कुछ भी चाह नहीं रखते, शांति की चाहत भी नहीं।

हमारी दृष्टि में इस संपूर्ण प्रकरण में अवरोही और आरोही यह दो क्रम नहीं हैं वरन् एक ही क्रम बन जाता है जब हम श्लोक-१२ के कुछ शब्दों के उपयुक्त अर्थों का चुनाव करते हैं। इस हेतु हम श्लोक-१२ की विषय वस्तु का अवलोकन करते हुए इस प्रकार के शब्दों के उपयुक्त अर्थों पर विचार करेंगे।

श्लोक के प्रथम तीन चरणों में जो कहा गया है उसे उतरते क्रम में देखें तो अर्थ होगा- कर्मफल त्याग से ध्यान निम्नतम है, ध्यान से ज्ञान निम्नतम है, और ज्ञान से निम्न स्तर है अभ्यास। श्लोक-६ से ११ में भक्ति के उतरते क्रम में जिन सोपानों का वर्णन हुआ था उसमें पांचवा चरण था कर्म फल त्याग। अतः ध्यान को हमें छठा चरण, ज्ञान को सातवा और अभ्यास को आठवां चरण अवरोही क्रम में पहचाना है।

कर्मफल त्याग से नीचे जिस ध्यान को रखा गया है, सर्वप्रथम हमें इसे समझना है। जो कर्म फल त्याग करने में अपने को असमर्थ पाते हैं उनके लिए ध्यान करने का निर्देश दिया गया है इससे इंगित होता है कि यहाँ ध्यान का अर्थ अपने अंतर की खोज है। अंतर में अभी स्वार्थ वृत्तियाँ अथवा राग-द्वेष के संस्कार गहरे पड़े होंगे। इस स्थिति को जान लेना ही ध्यान है।

इन वृत्तियों को पहचान कर उनसे मुक्ति के उपाय के रूप में ज्ञान बताया गया है। निश्चय ही यहाँ ज्ञान से तात्पर्य परमात्मा की अनुभूति रूप स्वसंवेदी ज्ञान की बात नहीं है। यह परसंवेदी धार्मिक आध्यात्मिक ज्ञान है जिसे सत्संग से अथवा सत् साहित्य के अनुशीलन से प्राप्त करके, पथ पर आगे बढ़ा जा सकता है।

यदि अभी इस प्रकार की गतिविधियों में रुचि जाग्रत न हो रही हो तो उनके लिए 'अभ्यास' की बात कही गई है। जैसा कि 'अभ्यास योग' के संदर्भ में हम श्लोक-९ की टिप्पणी में कह चुके हैं, अभ्यास का स्वरुप विभिन्न योगों के संबंध में भिन्न हैं, अतः यहाँ भी हमें अभ्यास का अर्थ सबसे प्रारंभिक स्तर की साधना मानना होगा। हमारा अनुमान है कि यहाँ हठयोग जैसे किसी अभ्यास की बात हो सकती है। हठयोग के अभ्यास से जहाँ शरीर स्वस्थ होगा, वही प्राण शक्ति पर नियंत्रण से मन की शक्ति बढ़ेगी और शारीरिक-प्राणीक क्रियाओं पर नियंत्रण सिद्ध होने पर मन में संतुष्टि और प्रसन्नता आएगी तो आगे सातवें और छठे स्तर की साधना में उत्साह आएगा।

सारांश संक्षेप- व्यक्त परमात्मा की भक्ति रूप उपासना के कुल आठ सोपानों का वर्णन किया गया है। उतरते क्रम में यह इस प्रकार हैं-

1. सर्वोच्च स्थिति वह है जिसमें साधक उसे प्राप्त चेतना के चारों आयामों- प्राण (कर्म), मन, बुद्धि, अहंकार का भगवत् सत्ता को समर्पण कर दे। इसे अनन्य भक्ति कहा गया है। अनन्य अर्थात् अन्य कुछ नहीं, जो कुछ है परमात्मा का है, अपना कुछ भी नहीं। इसी रूप में जीवन के सब क्रियाकलाप हों (श्लोक-६,७)।

2. अहंकार का समर्पण सबसे कठिन कार्य होने से यदि अभी यह संभव नहीं हो रहा है तो अहंकार को रहने दे और शेष तीन- कर्म, मन, बुद्धि (विचार) को ईश्वर के प्रति समर्पित करें (श्लोक-८)।

3. क्रमांक-२ की साधना भी संभव न हो तो मन में परमात्म प्राप्ति की तीव्र इच्छा रखते हुए कर्मों का समर्पण करें।

4. यह भी न बने तो केवल भगवत् भाव से सेवा कर्म करने की साधना पर टिका रहे।

5. यह भी न बने तो कर्मफल-त्याग का अभ्यास करें।

6. यदि उपरोक्त में कठिनाई हो तो अपना अंतःकरण की वृत्तियों का अवलोकन करें (अर्थात् ध्यान)।

7. ध्यान द्वारा जो अनुचित वृत्तियाँ दिखें तो सत्संग और सत् साहित्य द्वारा इन वृत्तियों पर काबू पाए। श्लोक १२ में इसे ही ज्ञान कहा गया है।

8. उपरोक्त बौद्धिक ज्ञान को जीवन में उतारने में पर्याप्त उत्साह न बने तो साधक हठ योग का अभ्यास करें, उसमें सफलता मिलने पर उत्साह भी आएगा। तब एक एक सीढ़ी ऊपर चढ़े।

त्यागात् शांतिःअनन्तरम् : इन शब्दों के सामान्य अर्थ यह संदेश देते दिखते हैं कि कर्मफल त्याग की साधना से शांति कि वह सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो जाएगी जो कि निर्गुण ब्रह्म के उपासकों का प्राप्य लक्ष्य होता है। किंतु यहाँ तो प्राप्य अनन्य भक्ति है, शांति नहीं। दूसरे, कर्मफल त्याग भक्ति साधना का पांचवा चरण है, सर्वोच्च स्थिति नहीं। इसलिए उक्त सामान्य अर्थ के रूप में तो यह शब्द पूरे विवरण में असंगत हो जाते हैं। अतः आवश्यक है कि हम इन शब्दों के सुसंगत अर्थ की तलाश करें।

संस्कृत कोश (आप्टे) अनुसार अनंतर शब्द का अर्थ 'निकटवर्ती, लगा हुआ, पड़ोस का, सटा हुआ है' और शांति शब्द के अर्थ हैं- 'निराकरण, विश्राम, विराम, भूख की तृप्ति, सौभाग्य-लक्ष्य की प्राप्ति, आदि'। इस प्रकार, यहाँ 'त्यागात् शांतिःअनन्तरम्' का उपयुक्त अर्थ बनता है- कर्मफल त्याग के सन्निकट स्तरों पर बढ़ते जाएं तो लक्ष्य (अनन्य भक्ति) की प्राप्ति अवश्य हो जाएगी।

भक्ति के सोपानों का वर्णन समाप्त हुआ। अब आगे श्लोक-१३ से १९ तक का जो वर्णन है उसे कुछ व्याख्याकारों ने भक्ति की सफलता के लक्षण माना है तो कुछ ने उन्हें आचरणीय गुण माना है अर्थात् उनका विचार है कि उन गुणों को आचरण में लाने पर भक्ति की प्राप्ति होगी। हमारे विचार से तो यह आगामी वर्णन स्पष्ट ही लक्षणों का वर्णन है क्योंकि श्लोक-६ से १२ में जो कुछ कहा गया है वह भक्ति का चरणबद्ध क्रिया पक्ष ही तो था।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां , मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः , समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

अद्वेष्टा सर्व-भूतानां , मैत्रः करुणः एव च । निर्ममः निरहङ्कारः , सम-दुःख-सुखः क्षमी ॥

सन्तुष्टः सततं योगी , यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः , यःमद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

सन्तुष्टः सततम् योगी , यत-आत्मा दृढ-निश्चयः । मयि अर्पित-मनः-बुद्धिः , यः मत्-भक्तः सः मे प्रियः ॥

यः योगी सर्व-भूतानां अद्वेष्टा मैत्रः करुणः निर्ममः निरहङ्कारः सम-दुःख-सुखः क्षमी - जो साधक सब प्राणियों के प्रति द्वेष भाव से रहित है, सौहार्दपूर्ण है, करुणा से युक्त है, (किंतु) सांसारिक बंधनों से मुक्त है, सुख-दुख की प्राप्ति में सम है, क्षमावान है, **च एव सततम् सन्तुष्टः यत-आत्मा दृढ-निश्चयःमयि अर्पित-मनः-बुद्धिः-** और हमेशा ही संतुष्ट है, मन इंद्रियों को वश में किए हुए हैं, दृढ़ निश्चय हो जिसने मुझ में सम बुद्धि अर्पित की हुई है, **सः मत्-भक्तः मे प्रियः -** वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको , लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैः , मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

यस्मात् न उद्विजते लोकः , लोकात् न उद्विजते च यः । हर्ष-आमर्ष-भय-उद्वेगैः , मुक्तः यः सः च मे प्रियः ॥

यस्मात् लोकः उद्विजते न- जिससे कोई भी व्यक्ति उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, **च यः लोकात् उद्विजते न -** और जो (स्वयं भी) किसी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है, **च यः हर्ष-आमर्ष-भय-उद्वेगैः मुक्तः -** तथा जो प्रसन्नता-अप्रसन्नता, भय-उद्वेग (उत्तेजना) से मुक्त है **सः मे प्रियः-** वह (भक्त) मुझ को प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष , उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी , यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अनपेक्षः शुचिः दक्षः , उदासीनः गत-व्यथः । सर्व-आरम्भ-परित्यागी , यः मत्-भक्तः सः मे प्रियः ॥

यः अनपेक्षः शुचिः दक्षः - जो (भक्त) अपेक्षाओं से मुक्त होकर शुद्ध व्यवहार करने में पटु हैं, **उदासीनः गत-व्यथः -** पक्षपात से रहित (और) दुखों से मुक्त हैं, **सर्व-आरम्भ-परित्यागी -** समस्त सुखासक्ति युक्त कर्मों का परित्याग कर दिया है जिसने **सः मत्-भक्तः मे प्रियः -** वह मेरा भक्त मुझे अतिशय प्रिय है।

सर्वारम्भ परित्यागी : शाब्दिक अर्थ है- सब आरंभों का त्याग कर देने वाला। यहाँ 'आरंभ' शब्द का 'शुरू करने वाला' अर्थ नहीं हो सकता। 'आरंभ' शब्द की व्युत्पत्ति तलाशें- आरम्भ= आ+रम्+भ, जहाँ रम्=सुख या आनंद और भ=भरण,अतः आरम्भ=सुखों के भरण पोषण में संलग्न। इंद्र की अप्सरा रंभा भी संभवत: इसी अर्थ की द्योतक है, वह मन को सुख के लिए लुभाने वाली वृत्ति की द्योतक है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि , न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी , भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

यः न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति । शुभ-अशुभ-परित्यागी , भक्तिमान् यः सः मे प्रियः ॥

यः न हृष्यति न द्वेष्टि - जो न (कभी) हर्षित होता है न (कभी किसी से) द्वेष करता है, **न शोचति न काङ्क्षति -** न शोक करता है, न कामना करता है, **यः शुभ-अशुभ-परित्यागी -** जो शुभ-अशुभ का त्यागी है, **सः भक्तिमान् मे प्रियः -** वह भक्ति युक्त पुरुष मुझे प्रिय है।

शुभ अशुभ :यहाँ तात्पर्य है वह सोच जो सीमित अहम् के केंद्र से संचालित होता है। परमात्म भाव में इनका कोई स्थान नहीं होता।

समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु , समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

समः शत्रौ च मित्रे च , तथा मान-अपमानयोः । शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु , समः सङ्ग-विवर्जितः ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी , सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिः , भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

तुल्य-निन्दा-स्तुतिः मौनी , सन्तुष्टः येन केनचित् । अनिकेतः स्थिर-मतिः , भक्तिमान् मे प्रियः नरः ॥

(यः) शत्रौ मित्रे च तथा मान-अपमानयोः समः- जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम रहता है, तथा **शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु समः-** तथा सर्दी-गर्मी सुख-दुख में सम है, **च सङ्ग-विवर्जितः -** और आसक्ति से मुक्त है, **निन्दा-स्तुतिः तुल्य-** अपयश- यश को समान समझता है, **मौनी-** वाणी पर संयम रखता है (मननशील), **येन केनचित् सन्तुष्टः -** जो कुछ परिस्थितियां मिले उसमें सदा संतुष्ट रहता है, **अनिकेतः-** जो किसी स्थान विशेष को

घर नहीं बनाते (उनकी अंतः प्रेरणा उन्हें जिस कल्याणकारी कार्य के लिए जहाँ भी ले जाती है वहीं वे निवास करने लगते हैं- डॉ. राधाकृष्णन), **स्थिर-मतिः-** जो दृढ़ संकल्प है, **भक्तिमान् -** जो भक्ति को मान्यता देते हैं (श्रेष्ठ मानते है) **नरः मे प्रियः -** (वे) पुरुष मुझ को प्रिय है।

श्लोक-१३ से १९ में वर्णित भक्तों के लक्षणः इस संपूर्ण प्रकरण पर विचार करें तो कुछ महत्वपूर्ण संकेत प्रकट होते हैं। श्लोक-६ से ७ में जिस अनन्य भक्ति को परिभाषित किया गया है उसके ही लक्षण श्लोक-१३,१४ में वर्णित हुए हैं। श्लोक-६,७ में साधक की संपूर्ण चेतना अर्थात् प्राण (कर्म), मन, बुद्धि और अहंकार के समर्पण को अनन्य भक्ति कहा था और यहाँ श्लोक-१३,१४ में इन चारों चेतना-स्तरों के समर्पण को 'योग' (अर्थात् भक्तियोग), 'मयि अर्पित मन-बुद्धि', तथा 'निरहंकार'- इन शब्दों में व्यक्त करते हुए उस सिद्ध भक्त के व्यवहार में जिस प्रकार के गुणों का प्राकट्य होगा उन्हें अद्वेश, मैत्री, करुणा, क्षमा, सदा-संतुष्ट आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

श्लोक-८ में मन-बुद्धि (चित्त) का समर्पण करने वाले जिन भक्तों का वर्णन किया गया था उनके प्रमुख लक्षण श्लोक-१५ में यें बताए गए हैं कि ऐसे भक्त न तो स्वयं कभी अपने चित्त की शांति खोते हैं और न वें किसी और के लिए इसका कारण बनते हैं, और क्योंकि वें अपने चित्त को परमात्मा में लगा चुके होते हैं इसलिए वें उक्त उपलब्धि के साथ ही हर्ष, अमर्ष, भय, तथा चिंताओं से भी सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार, जिसका मन भगवान को प्राप्त कर लेने की प्रबल इच्छा में डूब गया हो (श्लोक-१२.)उस भक्त में श्लोक-१६ में वर्णित लक्षण सहज रूप में आ जाएंगे क्योंकि उसका मन उस एक परम इच्छा से सम्पृक्त हो जाने के कारण अब संसार के आकर्षणों से मुक्त ही रहेगा।

इससे निचले क्रम की भक्ति श्लोक-१० में वह बताई गई थी जहाँ व्यक्ति अपने अहंकार, मन, बुद्धि का समर्पण कर पाने में अभी समर्थ नहीं हो पाया है किंतु वह भगवत्-अर्थ कर्म करने में समर्थ है। इस स्तर के भक्तों के लिए यहाँ भक्तिमान् शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है भक्ति को मान देने वाला। ऐसे भक्त के लक्षणों का वर्णन श्लोक-१७ में किया गया है।

श्लोक-१८,१९ में वर्णित लक्षण भक्ति के अन्य आयाम से संबंधित हैं, जिस को इंगित तो पहले श्लोक-११ में किया गया था किंतु जिसकी और समुचित ध्यान इन श्लोकों के बाद सहज ही जाता है। यह लक्षण समष्टिगत परमात्मा की उपासना करने वाले भक्त

के नहीं हैं वरन् उस साधक की सिद्ध अवस्था के हैं जिसका लक्ष्य अपने व्यक्तित्व के अंतरतम सत्य (अर्थात् आत्मा) की खोज होती है और जिसे श्लोक-११ में आत्मवान शब्द से इंगित करते हुए उसकी भक्ति को 'सर्वकर्मफलत्यागः' कहा था (जबकि परमात्मा को कर्म समर्पण करने वाले साधक के लिए इससे पूर्व वाले श्लोक-१० में 'मत्कर्मपरमः' कहा गया था)। यहाँ लक्षणों के वर्णन में 'अनिकेत' (अर्थात् जिसका कोई नियत घर नहीं) और 'स्थिरमति' (स्थितप्रज्ञ,श्लोक-२.५४ से ७२) शब्दों के प्रयोग द्वारा, सर्वव्यापी भगवत् सत्ता की साधना से भिन्न, आत्मा की साधना करने वाले को 'भक्तिमान् मे प्रियः' कहकर मान्य किया है।

इस 'आत्मा के उपासक' को भी 'भक्तिमान् मे प्रियः' कह कर उसे मान्य तो किया किंतु यदि इसकी तुलना 'मद भक्त' से करना हो तो भगवान ने श्लोक-२० में श्रद्धा सहित सर्वव्यापी परमात्मा की भक्ति करने वालों के लिए 'मैं अतिव प्रियाः' शब्दों का प्रयोग करके अपना निर्णायक मत व्यक्त कर दिया है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं , यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा , भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ये तु धर्म्य-अमृतम् इदम् , यथा उक्तम् पर्युपासते । श्रद्दधानाः मत्-परमाः , भक्ताः ते अतीव मे प्रियाः ॥

तु ये श्रद्दधानाः मत्-परमाः इदम् यथा उक्तम्- परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए **धर्म्य-अमृतम् पर्युपासते-** अमृतमय धर्म तथा भक्ति पथ पर पूर्णतः चलते है , **ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः -** वे भक्त मुझ को अतिशय प्रिय है।

अध्याय-१२ का सार संक्षेप और आगे के अध्यायों से संबंध

अध्याय में भक्ति अर्थात् व्यक्त परमात्म सत्ता की उपासना की पूरी विवेचना की गई है। अध्याय का प्रारंभ अर्जुन के इस प्रश्न से हुआ है कि जिस व्यक्त परमात्म सत्ता का दर्शन भगवान ने उसे विश्वरूप में कराया था उसकी उपासना श्रेष्ठ मार्ग है अथवा निर्गुण ब्रह्म की उपासना का वह मार्ग श्रेष्ठ है जो उसने कर्म-सन्यासियों द्वारा बहुधा अनुसरण किए जाते देखा था? भगवान ने अपने उत्तर में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त परमात्म सत्ता की उपासना को श्रेष्ठ तो बताया ही, इस उपासना का पूरा विवरण भी समझाया। इस उपासना को भक्ति नाम से संबोधित करते हुए उसके विभिन्न रूपों की विवेचना भी की। सबसे ऊंची (अर्थात् श्रेष्ठतम) भक्ति उन्होंने वह बताई जब व्यक्ति उसे प्राप्त संपूर्ण चेतना शक्ति- प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार- का सब प्राणियों में उपस्थित परमात्म सत्ता के प्रति समर्पण कर दे। यदि व्यक्ति के लिए, प्रारंभिक चरणों

में, इस प्रकार अपनी संपूर्ण सत्ता का समर्पण करना संभव न हो तो उन्होंने उसके लिए जो संभव हो उस पक्ष के समर्पण से इस मार्ग पर क्रमशः आगे बढ़ने का परामर्श दिया, और साथ ही प्रत्येक चरण की इस भक्ति साधना से व्यक्ति के स्वभाव में उत्पन्न होने वाले लाक्षणिक गुणों का भी पूरा वर्णन किया है ताकि साधक स्वयं ही अपनी सफलता / असफलता का सतत आकलन करके आगे बढ़ता हुआ पूर्ण परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

सफलता प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है कि व्यक्ति को उस मार्ग का पूरा ज्ञान हो। अनन्य भक्ति के परम लक्ष्य तक पहुंचने के प्रत्येक चरण की सफलता के लिए भी आवश्यक जानकारी देने हेतु, हमारी समझ अनुसार, आगे के अध्यायों (क्रमांक-१३ से १७) की विषय-वस्तु का संयोजन हुआ है।

हम देखते हैं की अध्याय-१३ से १७ में भगवान ने जिन विषयों का समावेश किया है वे अर्जुन के किसी नए प्रश्न से नहीं उठे हैं। अर्जुन का मूल प्रश्न तो बारहवें अध्याय के प्रारंभ में ही था जिसके उत्तर में भगवान ने भक्ति मार्ग की पूर्ण विवेचना करने के बाद इन अध्ययों की विषय-वस्तु को अपनी ओर से ही चुना है। इससे प्रकट होता है कि इन अध्यायों में वर्णित विषय अनन्य भक्ति की सफलता के लिए आवश्यक पूरक विषय हैं। इसी दृष्टि से हम इन अध्ययों की विषय-वस्तु को समझने का प्रयास करेंगे।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय (अध्याय-१३) का भक्ति से संबंध

अध्याय-१३ में भगवान ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय की विवेचना बहुत विस्तार से की है। यहाँ भगवान ने बताया है कि व्यक्ति की जीवन यात्रा में उसके क्षेत्र अर्थात् कर्मक्षेत्र बदलते रहते हैं और व्यक्ति यद्यपि वही रहता है किंतु उसकी भूमिका के अनुरूप उसके संबोधन भी बदलते रहते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के जो कर्तव्य होते हैं उनको समझने वाला, जानने वाला और तदनुरूप कर्म करने वाली सत्ता को यहाँ क्षेत्रज्ञ नाम से संबोधित करते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस संबंध का विस्तार प्रकृति-पुरुष तक करते हुए उसे सार्वभौमिक स्वरूप प्रदान किया गया है, और साथ ही सृष्टि प्रक्रिया में निहित विकास की दिशा का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इस सब वर्णन का उद्देश्य यह संदेश प्रेषित करना है कि तुम एक उन्नति के पथ पर बढ़ने के लिए व्यक्ति को उसे प्राप्त होने वाले प्रत्येक क्षेत्र में सभी कर्तव्य कर्मों को परमात्मा की सेवा के भाव से समर्पित होकर करना चाहिए। आमतौर पर हम अपने सुख के लिए अथवा उनके सुख के लिए कर्म करते हैं जिन्हें हम अपना समझते हैं। यदि हम सब कर्मों को सच्चे

मन से भगवत् भाव से करेंगे तो अनन्य भक्ति का प्रथम चरण- कर्म समर्पण- की साधना सधेगी। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय की विवेचना को यहाँ सम्मिलित करने का मूल उद्देश्य तो यही मालूम होता है।किन्तु इसके कुछ आनुषंगिक विषयों की विवेचना भी यहाँ की गई है क्योंकि वें हमें सृष्टि को और उसमें हमारी यात्रा को समझने में भी सहायक होंगे।

विनोबा ने भी 'गीताई चिंतका' में यह बात तो कही है कि '१३वें अध्याय में बिना प्रश्न भगवान ने स्वयं ही बोलना शुरू किया है, उसका अर्थ है कि (दोनों अर्थात् १२ और १३) अध्यायों के बीच कुछ संबंध है', किंतु वह संबंध क्या है इसकी स्पष्ट विवेचना वहाँ नहीं है, केवल इतना कहा कि 'शरीर आत्मा का कार्यक्षेत्र होने से क्षेत्र कहा जाता है' दोनों अध्यायों के बीच उपरोक्त संबंध की अधिक पड़ताल करने का प्रयास हम आगे करेंगे।

◆ ◆ ◆

त्रयोदश: अध्याय:

क्षेत्र - क्षेत्रज्ञ की विवेचना

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय , क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः , क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

इदम् शरीरम् कौन्तेय , क्षेत्रम् इति अभिधीयते । एतत् यः वेत्ति तम् प्राहुः , क्षेत्रज्ञः इति तत्-विदः ॥

कौन्तेय- हे अर्जुन ! **इदम् शरीरम् क्षेत्रम् इति अभिधीयते -** यह शरीर 'क्षेत्र' ऐसा कहा जाता है (और) **एतत् यः वेत्ति-** इसको जो जानता है **तम् क्षेत्रज्ञः इति तत्-विदः प्राहुः -** उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस (नाम से) उनके तत्व के ज्ञाता द्वारा कहा जाता है।

यहाँ भगवान ने इस विषय को क्यों उठाया इसको न समझ पाने के कारण कुछ टीकाकारों ने अपनी कल्पना से इस श्लोक के पूर्व अर्जुनोंवाच के रूप में एक प्रश्नवाचक श्लोक रख दिया है जो गीता के श्लोकों की गिनती को भी बिगाड़ रहा है। गीता के मूल स्वरूप में ऐसी छेड़छाड़ वस्तुत: सर्वथा अवांछनीय है। भगवान ने यह विषय क्यों उठाया इस विषय में हम अपना मत इस अध्याय की पूर्व भूमिका में देकर (इसका और आगे के अध्ययों का भी) तारतम्य अध्याय-१२ में कहे गए 'अनन्य भक्ति' की लक्ष्य प्राप्ति से है ऐसा कह चुके हैं और वह बात इस विषय की आगे की विवेचना से स्पष्ट हो जाएगी।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि , सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं , यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २॥

क्षेत्रज्ञम् च अपि माम् विद्धि , सर्व-क्षेत्रेषु भारत । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः ज्ञानम् , यत् तत् ज्ञानम् मतम् मम ॥

भारत- हे अर्जुन ! **सर्व-क्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञम् माम् अपि च विद्धि -** सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे हो जान, **च क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानम् तत् ज्ञानम् -** और क्षेत्र का तथा क्षेत्रज्ञ का जो जानना है वह ही ज्ञान है, **(इति) मम मतम् -** ऐसा मेरा मत है ।

उपरोक्त श्लोक-१ और २ पर मनन करें तो इनमें नीचे लिखे विचार बिंदु प्रकट होते हैं-

1.

1.1. हमारा शरीर हमारे लिए प्रथम क्षेत्र है।

1.2. इस शरीर को जानने वाला क्षेत्र से प्रथक है और इसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है। वस्तुतः इस सत्ता को हम 'मैं' के रूप में बचपन से ही संबोधित करते रहते हैं और जब हमें अपने को इस शरीर से भिन्न सत्ता के रूप में संबोधित करना होता है तो हम इसे जीवात्मा कहते हैं।

1.3. आयु के बढ़ने पर जब शरीर से कर्म संपन्न होने लगते हैं तो क्षेत्र शब्द में कर्मक्षेत्र का भाव भी शामिल हो जाता है और जैसे किसान के लिए खेत उसका कर्मक्षेत्र होता है, हम सब का भी जो विशेष कर्मक्षेत्र हो जाता है उसे भी यहाँ से क्षेत्र शब्द से इंगित हुआ मानने से पूरा विषय सरलता से स्पष्ट हो सकेगा। व्यक्ति के ये कर्मक्षेत्र अर्थात् उससे जुड़े कर्तव्य बदलते रहते हैं।

1.4. व्यक्ति जिस संस्थान में काम करता है उसकी व्यवस्था यदि ठीक होती है तो उसकी योग्यता में वृद्धि के अनुरूप उसके कर्म / कर्तव्य क्षेत्र का भी विस्तार होता है। और यदि व्यक्ति उसे प्राप्त हुए क्षेत्र में कर्तव्य का पालन अपने स्वार्थ से मुक्त रहकर करता है तो भौतिक क्षेत्र में उन्नति के अतिरिक्त उसके मानसिक/आध्यात्मिक क्षेत्रों का भी विस्तार होता है जिन का संकेत श्लोक-२ में इस प्रकार हुआ है-

2. भगवान के शब्द हैं- 'सब क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान'। इस कथन का अर्थ है कि शरीर और उससे संबंधित जिन क्षेत्रों / कर्तव्य कर्मो को जानने वाले जीवात्मा रूप क्षेत्रज्ञ की बात श्लोक-१ में कही गई थी, उसके अतिरिक्त चेतना के कुछ अन्य क्षेत्रज्ञ रूपी सत्ताएं भी जीवात्मा की आध्यात्मिक उन्नति के साथ क्रियाशील हो जाती हैं जिन्हें भगवान ने अपना स्वरूप बताया है। वस्तुतः इस कथन का स्पष्टीकरण आगे श्लोक-२२ में हुआ है। वहाँ भगवान ने कर्ता-भोक्ता रूप जीवात्मा से उच्चतर दो और सत्ताओं का उल्लेख किया है, जिन्हें उन्होंने महेश्वर और परमेश्वर कहा है। इन सत्ताओं का

कार्यात्मक परिचय यहाँ नहीं दिया गया है क्योंकि जीवात्मा से उच्चतर इन सत्ताओं का वर्णन पहले (श्लोक-९.१८ में) भगवान दे चुके हैं (दृष्टव्य: श्लोक-९.१७,१८ पर टिप्पणीयाँ)।

उपरोक्त उच्चतर सत्ताओं को भगवान ने न केवल अपना स्वरूप बताया है, उन्हें क्षेत्रज्ञ भी कहा है और स्वयं को सभी क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ कहा है। भगवान के उक्त कथन को (जो ऊपर पेरा १.४ में वर्णित है उसे) एक भौतिक उदाहरण से समझना सरल हो जाएगा। कर्म का एक ज्ञाता तो वह कर्मचारी होता है जिसे सौंपा हुआ कर्म करना होता है। उससे उच्च अधिकारी उस कर्म का न केवल ज्ञाता होता है वह उस कर्म का श्रेष्ठ जानकार होने से मार्गदर्शक होता है और इसी क्रम में जो सर्वोच्च अधिकारी होता है वह तो उस कर्म क्षेत्र का सर्वोच्च जानकार और निर्देशक होता है। इसी प्रकार, यहाँ आध्यात्मिक स्तर पर जीवात्मा, महेश्वर, परमेश्वर को हमें क्रमशः कर्म क्षेत्र के कनिष्ठ ज्ञाता, सहकर्ता, श्रेष्ठतर और क्षेष्ठतम क्षेत्रज्ञ के रूप में जानना चाहिए। वस्तुतः समस्या हमारी बहूधा यह होती है कि हम जीवात्मा के प्रति ही अबोध रहते हैं इस कारण कर्म के श्रेष्ठ कर्ता न बनते हुए केवल भोक्ता बने रहते हैं और उच्च स्तरों तक जाग्रत होना तो दूर की बात हो जाती है। भगवान हमें इस आध्यात्मिक मार्ग के प्रति जाग्रत होने के लिए ही कृपा पूर्वक यह सब इंगित कर रहे हैं।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में जो यह कहा गया है कि 'क्षेत्र को और क्षेत्रज्ञ को ठीक-ठीक जान लेना ही ज्ञान है' इन शब्दों में कर्म, कर्ता और ज्ञान का संबंध निहित है। हमारा मत है कि भगवान के इन शब्दों का आशय यह है कि जब प्राप्त कर्म क्षेत्र के कर्तव्य कर्मो को निस्वार्थ सेवा भाव से करना व्यक्ति का सहज स्वभाव बन जाता है तो वह स्वार्थ भाव से पूर्णत: मुक्त हो जाता है और अब वह अव्यैक्तिक प्रेम अर्थात् परमात्म ज्ञान में प्रवेश पा लेता है।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को जान लेने का महत्व बताने के बाद अब भगवान क्षेत्र के मूल स्रोत का और उससे बने विभिन्न रूपों का तथा क्षेत्रज्ञ के उपरोक्त तीनों महत्वपूर्ण स्वरूपों की जानकारी देने जा रहे हैं। प्रथम यह सब सुनाने से पूर्व इस जानकारी के प्रामाणिक सूत्रों का भी वर्णन कर रहे हैं-

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च , यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च , तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

तत् क्षेत्रम् यत् च यादृक् च , यत् विकारि यतः च यत् । सः च यः यत् प्रभावः च , तत् समासेन मे शृणु ॥

तत् क्षेत्रम् यत् च यादृक् - वह क्षेत्र जो और जैसा है **च यत् विकारि च यतः यत्-** तथा (इसमें) क्या परिवर्तन होते हैं, और किससे (निर्मित होता है) और जैसा होता है , **सः यः च यत्-प्रभावः -** वह (क्षेत्रज्ञ) जो और जिस प्रभाव वाला होता है **तत् समासेन मे शृणु -** वह सब संक्षिप्त में मुझसे सुन ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं , छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव , हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

ऋषिभिः बहुधा गीतम् , छन्दोभिः विविधैः पृथक् । ब्रह्म-सूत्र-पदैः च एव , हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ॥

ऋषिभिः बहुधा गीतम् - ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया, **विविधैः छन्दोभिः पृथक् -** विविध वेद मन्त्रों द्वारा विभाग पूर्वक (कहा गया), **च विनिश्चितैः हेतुमद्भिः ब्रह्म-सूत्र-पदैः एव -** और भलीभांति निश्चित युक्तियुक्त (सिद्धांत वाले) ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी (कहा गया)।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बारे में क्या जान लेना आवश्यक है यह बात श्लोक-३ में कही गई है। क्षेत्र क्या है अर्थात् इसका मूल स्वरूप क्या है, और उसके विकार अर्थात् परिवर्तित रूप कैसे हैं, क्या है? इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ क्या है? और उसके विकसित रूप क्या है यह सब जानकारी भगवान अध्याय में वर्णन करने वाले हैं ताकि हम अपने कर्म क्षेत्र को और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को पहचान कर जीवन के विकास पथ पर आगे बढ़ें।

किंतु भगवान क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के बारे में जो बताने वाले हैं क्योंकि उसका सत्यापन तुरंत नहीं हो सकता, इसलिए उस पर श्रद्धा और धृति धारण करके ही चलना पड़ेगा, इस हेतु से वें प्रामाणिक स्रोतों का भी उल्लेख कर रहे हैं। उल्लेखित स्रोत ऊपरी तौर पर तो तीन प्रतीत होते हैं- ऋषिगण, वेदमंत्र, और ब्रह्मसूत्र- वास्तव में यह चार हैं क्योंकि अर्जुन को अपनी सर्वज्ञता विश्वरूप दर्शन द्वारा वह पहले ही सिद्ध करके अब कह रहे हैं 'मुझसे सुन' इस प्रकार उन्होंने स्वयं को सर्वाधिक प्रमाणिक स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया है।

वर्णित स्रोतों के प्रतीकात्मक रूप से समझना भी रोचक हो सकता है। आध्यात्मिक रूप में श्रीकृष्ण, ऋषि गण, ब्रह्म सूत्र और वेद मंत्र, व्यक्ति के क्रमशः यें चार चेतना स्तर माने जा सकते हैं- १. जीवात्मा से उच्चतर चेतन सत्ता महेश्वर (श्रीकृष्ण), २. अनुभव कर्ता / भोक्ता जीवात्मा (ऋषि), ३. विचार और तर्कशक्ति वाली बुद्धि (ब्रह्म

सूत्र)। तथा ४. मनन शक्ति से युक्त मन (वेद मंत्र)। इस श्लोक में उक्त स्रोतों के बारे में प्रयुक्त किए गए विशेषण भी इन आध्यात्मिक अर्थों के अनुरूप ही हैं, यह बात हमारी इस सोच को बल प्रदान करती है।

अब अगले दो श्लोकों में क्षेत्र जिन तत्वों से बना है उनका और उनके कुछ चेतना से युक्त रूपों का वर्णन किया गया है।

महाभूतान्यहङ्कारो , बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च , पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

महा-भूतानि अहङ्कारः , बुद्धिः अव्यक्तम् एव च । इन्द्रियाणि दश--एकम् च , पञ्च च इन्द्रिय-गोचराः ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं , संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन , सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

इच्छा द्वेषः सुखम् दुःखम् , संघातः चेतना धृतिः । एतत् क्षेत्रम् समासेन , सविकारम् उदाहृतम् ॥

महा-भूतानि अहङ्कारः बुद्धिः च अव्यक्तम् - (पांच) महाभूत, अहंकार , बुद्धि और मूल प्रकृति, **च दश एकम् इन्द्रियाणि च पञ्च इन्द्रिय-गोचराः एव -** तथा ग्यारह इन्द्रियां और पांच इन्द्रिय विषय **इच्छा द्वेषः सुखम् दुःखम् संघातः चेतना धृतिः-** इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह-पिण्ड, चेतना (और) धृतिः **सविकारम् एतत् क्षेत्रम् समासेन उदाहृतम् -** प्रकृति के परिवर्तित रूपों सहित (सविकारम) यह क्षेत्र संक्षिप्त में सब कुछ कहा गया है।

इन श्लोकों की अधिकांश व्याख्याऐं बहुत भिन्न प्रकार से की गई हैं जो न तो व्यवस्थित हैं, न समाधानकारक हैं। केवल तिलक की विवेचना इन सबसे भिन्न होकर विषय को समझने में बहुत सहायक है। उन्होंने 'गीता रहस्य' में दो लेखो- 'अधिदैवत पक्ष और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार' तथा 'विश्व की रचना और संहार- में सांख्य, वेदांत, तथा गीता इन तीनों मतो की तुलनात्मक विवेचना करते हुए विषय को बहुत विस्तार से समझाया है।

उन्होंने श्लोक पांच में इंगित सृष्टि के प्रादुर्भाव और विकास के रहस्य की व्याख्या जिस प्रकार उसके क्रमगत चरणों को स्पष्ट करते हुए की है वह विषय को समझने में बहुत सहायक है। हम उस विवेचना का सार, आज की वैज्ञानिक जानकारी से संयुक्त करके, यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे-

भगवान ने संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन परमात्म शक्ति द्वारा प्रकृति को क्षेत्र बनाकर उसका विकास किए जाने के रूप में किया है। इस वर्णन के हमारे लिए दो पक्ष हैं- एक तो वर्णन का उद्देश्य, दूसरा तथ्यात्मक विवरण। वर्णन के उद्देश्य को

बहुत स्पष्ट शब्दों में यहाँ वर्णित नहीं किया गया है, संभवत: हमारे चिंतन-मनन को प्रेरित करने के लिए। वस्तुतः यह उद्देश्य संपूर्ण गीता के बारम्बार अध्ययन मनन करने पर स्पष्ट प्रकट हो जाता है। वर्तमान विषय के संदर्भ में इसे यों व्यक्त किया जा सकता है- ब्रह्मांडीय स्तर पर क्षेत्रज्ञ रूप परमात्मा द्वारा क्षेत्र रूप प्रकृति के विकास का वर्णन करके मनुष्य को, जो कि ब्रह्मांड का ही एक पिण्डीय प्रतिरूप है उसे सार्वत्रिक (universal) प्रक्रिया का दर्शन करा कर उसे अपने जीवन लक्ष्य के प्रति जाग्रत किया जाना ही वर्णन का उद्देश्य है।

अब हम उस तथ्यात्मक विवरण को समझने का प्रयास करें जिस पर ध्यान देने से उक्त उद्देश्य प्रकट होगा। सृष्टि विकास को निम्न मुख्य चरणों में इंगित किया गया है- व्यक्त सृष्टि का प्रादुर्भाव प्रकृति के अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आने से प्रारंभ हुआ है। इसलिए प्रकृति की उस मूल अवस्था को जिससे व्यक्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है अव्यक्त कहा गया है। परंतु क्योंकि उस काल में परमात्म सत्ता भी पूर्णतः शांत होती है अतः वह भी अव्यक्त ही रहती है, और अव्यक्त शब्द से दोनों का संबोधन माना गया है। दोनों सत्ताओं में जहाँ विभेद किए जाने की आवश्यकता होती है वहाँ प्रकृति की इस अवस्था को 'मूल प्रकृति' अथवा 'प्रधान' कहकर विभेदित किया गया है। प्रकृति की इस अव्यक्त अवस्था को ही आज वैज्ञानिक 'कृष्णिका का विवर' अथवा 'ब्लैक होल' कह रहे हैं जिसका पता उन्होंने बहुत गहन सैद्धान्तिक अनुसंधानों द्वारा किया है और अब कुछ सृष्टि निर्माण / विनाश संबंधी खगोलीय घटनाओं के अनुविक्षण द्वारा भी पुष्ट किया गया है। इन वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि यें सृष्टि द्रव्य के ऐसे अत्यधिक घनीभूत हुए पिंड हैं कि उनके आसपास गुरुत्वाकर्षण भी इतना प्रबल है कि उनके निकट से जाती हुई प्रकाश किरण तक उसमें खींचकर एकीभूत हो जाती है तो उसके अंदर से तो किसी भी द्रव्य कण अथवा ऊर्जाकण का बाहर आना असंभव होता है अतः उसके अंदर की स्थिति के बारे में कुछ भी जानना असंभव है। इसी प्रकार, ऋषियों के उक्त वर्णन को वर्तमान युग की खगोल-भौतिकी के वैज्ञानिकों की खोज सत्य सिद्ध कर रही है।

इन वैज्ञानिकों के अनुसार लगभग १३.२ बिलियन (अरब) वर्ष पूर्व एक ब्लैक होल में भयंकर विस्फोट (Big Bang) हुआ जिससे हमारी आकाशगंगा (निहारिका) वाली सृष्टि का निर्माण हुआ। वेदांग ज्योतिष के प्रकांड विद्वान पंडित जगन्नाथ भारद्वाज ने उनकी पुस्तक 'भारतीय खगोल विज्ञान', (प्रकाशक-मोहन ब्रदर्स, अंबालाछावनी), में हमारी सृष्टि अर्थात् निहारिका की आयु १.९७ अरब वर्ष बताई है। दोनों गणनाओं में

जो थोड़ा सा अंतर है वह खगोलीय पिंडों के बनने और व्यवस्थित पथारुढ होने में लगने वाला समय होना अनुमानित है। इस सब का उल्लेख करने का हमारा तात्पर्य पुनः यह बताना है कि प्राचीन विधा (Methedology), जो संभवतः ध्यान / समाधि जैसी कुछ रही हो, उसने भी बहुत कुछ वैसी ही भौतिक जानकारी दी है जो आज भौतिक विज्ञान दे रहा है। यह बात अवश्य है कि विज्ञान घटना का बहुत विस्तृत वर्णन दे रहा है किंतु दोनों वर्णनोंमें मुख्य चरणों की और समय की जानकारी समान है।

इस सब जानकारी का उल्लेख करने का हमारा उद्देश्य पुनः यह बताना है कि प्राचीन ऋषियों की विधा ने, जो संभवत: ध्यान / समाधि द्वारा आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत करने जैसी कुछ रही होगी, उसने भौतिक क्षेत्र की भी वैसी ही जानकारी दी है जो भौतिक वैज्ञानिकगण बड़े सामूहिक प्रयासों से उपलब्ध करा पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त भौतिक विज्ञान उन क्षेत्रों में लंगड़ा अथवा अँधा सिद्ध हो जाता है जहाँ चेतन सत्ता का योगदान प्रमुख हो जाता है। ब्लैक होल के महा विस्फोट और उसके बाद के सृष्टि विकास की गाथा को समझने में, भौतिक विज्ञान की परमात्म तत्व के प्रति 'अवैज्ञानिक उदासीनता' के कारण ही वह ऐसे प्रकरणों में असफल रहता आया है।

श्लोक में वर्णित विस्फोट के बाद की घटनाएं भी उपरोक्त निष्कर्ष को पुष्ट करती हैं। अतः अब हम उन्हें समझने का प्रयास करेंगे। किंतु इससे पहले विज्ञान के वर्णन का अवलोकन करलें। यह वर्णन श्लोक को समझने में हमारे लिए सहायक होगा।

उस महा विस्फोट (The Big Bang) से निकले अति उष्म द्रव्य का फैलाव प्रारंभ हुआ। फैलाव के साथ उस द्रव्य का घनत्व और ताप कम होता गया और जब उपयुक्त स्थिति बनी उस द्रव्य में कण बनना प्रारंभ हुआ। प्रारंभिक कणों को क्वार्क कण कहा जाता है। इन कणों से आगे इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन जैसे कई स्थूल कण बने, फिर तत्वों के परमाणु / अणु, तब स्थूल पदार्थों का निर्माण होकर पृथ्वी आदि ग्रह-नक्षत्र, आकाश में व्यवस्थित रूप से घूमने लगे। पृथ्वी पर उपयुक्त परिस्थितियां बनने पर जीव जगत का विस्तार हुआ। विज्ञान का यह वर्णन, जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाया है कि उस 'ब्लैकहोल द्रव्य' में विस्फोट की घटना का और बाद में घटने वाली विकासोन्मुख घटनाओं का प्रेरक स्रोत क्या था? किंतु ऋषियों ने अपने हृदय की गहराई से उठी परा वाणी को सुनकर जिन शब्दों (terms) में उसे व्यक्त किया है उनमें उक्त प्रश्नों के उत्तर इंगित हो जाते

हैं। किंतु वह वर्णन यहाँ इतने संक्षेप में दिया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि गीताकार का उद्देश्य केवल सृष्टि के संगठनात्मक तत्वों को गिनाना भर रहा हो। वस्तुतः, यहाँ विषय का संकेत भर है, पूरा विवरण प्राचीन सांख्य / वेदांत ग्रंथों में रहा होगा किंतु अब भी हमें उसका सार पुराणों में (उदा. भागवत पुराण- ३.५,३.१० में) उपलब्ध है। इसका भी उपयोग करते हुए हम विषय को समझने का प्रयास करेंगे।

पौराणिक वर्णन के प्रकाश में श्लोकों की व्याख्या

सृष्टि के निर्माण का वर्णन दो भागों में बांटा गया है- जड़सृष्टि और जैविक सृष्टि। पुराणों में इन्हें क्रमशः सर्ग और विसर्ग कहा गया है। (द्दष्टव्यः भागवत पुराण, २.१०) और गीता में यहाँ इन्हे ही क्रमश:-श्लोक-१३.५ और श्लोक-१३.६ में इंगित किया गया है।

महाप्रलय के बाद जड़सृष्टि के प्रादुर्भाव का वर्णन निम्नलिखित मुख्य पांच चरणों में (श्लोक-५ में) वर्णित किया गया है-

1. **सृष्टि बनने से पहले केवल 'अव्यक्त'**: सांख्य दर्शन के अनुसार उस अवस्था में प्रकृति और पुरुष दोनों सुषुप्त, वेदांत के अनुसार उस अवस्था में प्रकृति थी ही नहीं, केवल परमात्मा था और वह सुषुप्त था। भौतिक विज्ञान के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्व न उस उस 'ब्लैक होल' अवस्था में न बाद में था अथवा है।
2. **अव्यक्त से महत् तत्त्व :** 'ब्लैक होल' रूप अव्यक्त प्रकृति में सृष्टि निर्माण प्रक्रिया कैसे प्रारंभ हुई इसके बारे में विज्ञान मौन है। किंतु भारतीय आस्तिक दर्शन मानते हैं कि सृष्टि निर्माण में परमात्मा की इच्छा ही, एक से बहुत हो जाने की इच्छा ही, एकमात्र कारण है। इसी बात को विभिन्न प्रकार से कहा गया है। पुराणों में कहा गया है कि परमात्मा ने इस कार्य के लिए ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया। ब्रह्मा अर्थात् प्रकृति-पुरुष का चेतन्य हुआ रूप। वेदांत के अनुसार परमात्मा ने अपने में से प्रकृति को उत्पन्न करके उससे उन्होंने सृष्टि रचना की। सांख्य अनुसार परमात्मा ने अपनी चेतन शक्ति प्रकृति में डालते हुए उसे क्रमवार रूपांतरित करते गए। प्रथम चरण में उसे महत् तत्त्व में रूपांतरित किया। महत् अर्थात् विशाल या फैला हुआ। उन्होंने अपनी जिस चैतन्यशक्ति से प्रकृति को

प्रेरित किया उसे बुद्धि (निश्चय) कहा गया है। गीता ने इस चरण की पूरी बात को केवल एक शब्द 'बुद्धि' से यहाँ इंगित कर दिया है।

3. **महत्-तत्त्व से विभिन्न कणों का उद्भव:** इस तीसरे रूपांतरण को सांख्य / वेदांत / गीता ने अहंकार कहा है। इस नाम का औचित्य हम इस रूप में समझ सकते हैं कि अहम् रूप चेतन शक्ति से प्रकृति में आकार युक्त कणों का निर्माण होने के कारण इसे प्रकृतिगत अहंकार कहा गया है। इस अहंकार को तिलक ने मनुष्य में क्रियाशील अहंकार सें भिन्न एक अचेतन अहंकार बताया है। मनुष्य में क्रियाशील अहम् तत्व जब उसमें अन्यों से अलग होने का भाव पैदा करता है तो उसे अहंकार (अहम् + आकार) कहा जाता है। किंतु यह 'स्वयंवेद्य' (स्वयं को जानने योग्य) है, सचेतन है; जबकि यहाँ प्रकृति को कणों के रूप में तोड़ने वाला यह अहंकार अचेतन है।
4. **अहंकार का तीन गुणों से युक्त होना :** भागवत में अहंकार के तीन गुणों- तम,रज और सत- का वर्णन करके उनसे आगे की सृष्टि रचना के लिए आवश्यक सामग्री किस प्रकार बनी यह वर्णन विस्तार से किया गया है। यहाँ गीता के श्लोक-१३.५ में उस निर्माण सामग्री- महाभूत, इंद्रियां आदि- के केवल नाम देकर विषय को केवल इंगित किया है। गीता में अन्यत्र इन गुणों की उत्पत्ति के बारे में भगवान के दो वचन है जिन्हें परस्पर पूरक मानने पर पूरा चित्र स्पष्ट होता है। श्लोक-७.१२ में कहा गया है कि ये गुण भगवान से उत्पन्न हुए हैं और श्लोक-१४.५ में कहा गया है कि तीनों गुणों प्रकृति में उत्पन्न होते हैं। दोनों वचनों को सम्बद्ध करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह गुण सृष्टि की रचनाओं में उनके प्राकृति अंश में परमात्म अंश की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होते हैं। तीनों में से कौन सा गुण उत्पन्न होगा इसकी व्याख्या हमें कहीं दृष्टिगत नहीं हुई किंतु हमारा यह दृढ़ युक्ति युक्त मत बना है कि प्रकृति में परमात्म शक्ति की बढ़ती मात्रा के अनुसार तम,रज, सत गुणों का प्रादुर्भाव क्रमश: होता है। अहंकार भी इन गुणों वाला इसी प्रकार होगा। इन तीनों प्रकार के अहंकारों से आगे क्या रचनाएँ बनी इसे हम अगले पांचवें चरण में देखेंगे।

5. अहंकार से बने प्रकृति के अति सूक्ष्म कणों से बनने वाली सूक्ष्म रचनाऐं जिनका उल्लेख महाभूत आदि के रूप में विवेचनाधीन श्लोक-५ में हुआ

है उनके निर्माण का विस्तृत विवरण भागवत पुराण में इस प्रकार वर्णित है। -

a. तमस अहंकार से

   i. सर्वप्रथम तन मात्राएं- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांचों का निर्माण हुआ। हम कल्पना कर सकते हैं कि तन्मात्रायें संभवत: ऐसे गुण रूप कण हों जिन्हें जीवो की ज्ञानेंद्रियों द्वारा ग्रहण किए जाने पर उत्पन्न हुई सूचना आगे मन-बुद्धि-जीव को प्रेषित होती है।
   ii. पश्चात् इन कणों (तन्मात्राओं) के परस्पर मिलने से पंच महाभूतों- आकाश, वायु, अग्नि (प्रकाश), जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

इस संबंध में बड़ी विस्तृत और बड़ी तर्क पूर्ण कल्पना की गई है। शब्द नामक तन्मात्रीय कणों के परस्पर मिलने पर आकाश महाभूत का निर्माण हुआ। आकाश के साथ स्पर्श तन्मात्रा (अर्थात् शब्द+स्पर्श) के मिलने से वायु महाभूत, वायु+रूप तन्मात्रा से अग्नि / प्रकाश महाभूत, अग्नि+रस (अर्थात् स्वाद) तन्मात्रा से जल महाभूत और अंत में जल+गंध तन्मात्रा से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति हुई। पंचमहाभूतों की उत्पत्ति का यह वर्णन यद्यपि हमें आज काल्पनिक प्रतीत होता है परंतु यह वैचारिक ढांचा है बड़ा तर्कसंगत और मनुष्य के इस अनुभव पर आधारित है कि पृथ्वी आदि सभी वस्तुओं में हमें उल्लेखित गुणों का ही अनुभव अपनी इंद्रियों से होता है, कम या ज्यादा गुणों का नहीं।

b. रजस अहंकार से मन सहित ११ इंद्रियाँ और ५ प्राण।
c. सात्विक अहंकार से उपरोक्त इन्द्रियों के देवता (चैतन्य शक्तियां)।

गीता के इस श्लोक (क्रमांक-५) में उपरोक्त पौराणिक वर्णन की सहायता से सृष्टि और शरीर रूपी दोनों क्षेत्रों के संगठक तत्वों का जो संकेत था उनकी व्याख्या पूरी हुई।

श्लोक-६ में बताया गया है कि उन तत्वों से जिन की उत्पत्ति श्लोक-५ में वर्णित की गई थी, उनसे यह जीवंत शरीर, जो कि हमें क्षेत्र रूप में मिला है हमारे लिए परमात्मा

ने किस प्रकार तैयार किया है।

शरीर रूप इस क्षेत्र में तीन उन मूल शक्तियों का जिनसे हमें यह जीवंत शरीर प्राप्त हुआ और परिणामतः हम एक लंबे समय तक जीवन धारण कर पाते हैं, तथा दो ऐसे गुण युग्मों (इच्छा-द्वेष, सुख-दुख) की उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है जो मूल गुण न होते हुए भी क्षेत्रज्ञ रूप जीवात्मा की आध्यात्मिक विकास की यात्रा में पथ प्रदर्शक का काम करते हैं।

हमें जीवन प्राप्त कराने वाली उन शक्तियों को यहाँ (श्लोक-६) में संघात, चेतना और धृति नाम से इंगित किया गया है। जैसा कि गीता में सर्वत्र दिखाई देता है, एक ही परमात्म शक्ति को ऐसे उन विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है जो उनके विशेष कार्यों का बोध कराते हैं, यहाँ उन कार्यों का बोध निम्नलिखित रूपों में करा रहे हैं।

1. **संघात :** अर्थात् पिंड बनाने वाली शक्ति। श्लोक-५ में वर्णित तत्वों को एकत्र कर उन्हें उचित रूप में जोड़ने पर प्राण रहित जो देह बनती है उस कार्य को श्लोक-६ में संघात शब्द से व्यक्त किया गया है।
2. **चेतना :** उक्त प्राण रहित देह को जब परमात्मा ने अपनी चेतन शक्ति से भरकर उसे प्राणवान बनाया तो देह में जीवन का संचार हो उठा। परमात्मा की इस शक्ति को 'चेतना' नाम से संबोधित किया गया है क्योंकि उसने शरीर को चेतनता प्रदान की है।
3. **धृति :** क्रियाओं को धारण करने वाली, उन्हें संरक्षण प्रदान करने वाली शक्ति, लंबे समय तक जीवित रखने, विघटनकारी तत्वों से बचाकर जीवन को संभाल कर उसे सुरक्षा प्रदान करने वाली शक्ति को धृति कहा गया है। गीता में धृति की यही परिभाषा 'धृत्या धारयते मनः प्राणेन्द्रिय-क्रिया' (श्लोक-१८.३३) वाले शब्दों में निहित है।

क्षेत्र के कुछ विकार- क्षेत्रज्ञ के लिए विकास की सीढ़ी के पायदान

जीवात्मा को आध्यात्मिक जाग्रति के पथ पर आगे बढ़ाने वाले सुख-दुख तथा इच्छा-द्वेष रूप गुणों का वर्णन भगवान ने क्षेत्र के 'विकार' अर्थात् सुधारात्मक परिवर्तन के रूप में किया है। इस दृष्टि से हम यहाँ इन की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं-

सुख-दुख : यह भाव व्यक्ति को विकास के पथ पर आगे ले जाते हैं इस तथ्य को भगवान ने इन्हे 'मत्तः एव भवन्ति' (श्लोक-१०.४) कहकर पहले भी व्यक्त किया था

(द्दष्टव्य:हमारी टिप्पणी उक्त श्लोक पर) ।

इच्छा-द्वेष : विनोबा ने इन शब्दों का अर्थ इस प्रकरण में 'पसंद-नापसंद' लिया है। यह हमारे विकासात्मक द्दष्टिकोण को इस रुप में पुष्ट करता है कि यह अर्थ लेने पर यें भाव उचित कर्म के प्रेरक बन जाते हैं यदि व्यक्ति की आध्यात्मिक पथ पर चलने की अभीप्सा बन चुकी है।

यहाँ तक के वर्णन में भगवान ने अर्जुन को उसकी देह को उसका क्षेत्र बता कर (इदं शरीरं क्षेत्रम्) बात प्रारंभ की और संपूर्ण सृष्टि ही उसके स्वयं के लिए क्षेत्र बन गई है यह बता कर संकेत दिया है कि व्यक्ति जिस सीमित क्षेत्र की चेतना में स्थित है उसका क्रमशः विस्तार (परिवार, समाज, मानवता और अंत में समष्ट सृष्टि तक) करते जाना उसका धर्म है, जीवन का नैसर्गिक प्रवाह है।

वस्तुतः उक्त क्षेत्र विस्तार के साथ व्यक्ति की चेतना का भी विस्तार होता जाता है यदि वह आसक्ति द्वारा अपने को बांध न दे। इसी विषय को प्रकाशित करने के लिए अब भगवान आगे के श्लोकों में क्षेत्रज्ञ के विकास की विवेचना प्रारंभ कर रहे हैं।

प्रथम अपने शरीर को और फिर अपने कर्मक्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ मनुष्य देह में ही प्रथम बार सत्ता पाता है अर्थात् जीवात्मा के रूप में उसका प्रादुर्भाव होता है। सर्वहित भाव से कर्म करने की प्रवृत्ति द्वारा क्षेत्र का विस्तार तथा क्षेत्रज्ञ रूप जीवात्मा का आध्यात्मिक विकास होता जाता है जिसे यहाँ भगवान ने २० गुणों की प्राप्ति के रूप में श्लोक-७ से ११ में चिन्हित किया है।

अमानित्वमदम्भित्वम् , अहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं , स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अमानित्वम् अदम्भित्वम् , अहिंसा क्षान्तिः आर्जवम् । आचार्य-उपासनम् शौचम् , स्थैर्यम् आत्म-विनिग्रहः ॥

१. अमानित्वम्- विनम्रता, **२.अदम्भित्वम्-** दम्भ का अभाव, **३.अहिंसा-** अहिंसा, **४.क्षान्तिः-** क्षमा/सहनशीलता, **५.आर्जवम्-** सरलता, **६.आचार्य-उपासनम्-** योग्य आचार्य के पास जाना, **७.शौचम्-** पवित्रता, **८.स्थैर्यम्-** द्दढ़ता, **९.आत्म-विनिग्रहः-** आत्मसंयम,

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् , अनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि , दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

इन्द्रिय-अर्थेषु वैराग्यम् , अनहंकारः एव च । जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि , दुःख-दोष-अनुदर्शनम् ॥

१०. इन्द्रिय-अर्थेषु वैराग्यम्- इंद्रियों के भोगों में विरक्ति, **११. च एव अनहंकारः-** और अहंकार का अभाव , **१२. जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनम्-** जन्म-मृत्यु,बुढ़ापा-बीमारी आदि के दुखों को (निरर्थक जीवन के) दोषों का निरंतर दर्शन,

असक्तिरनभिष्वङ्गः , पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वम् , इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

असक्तिः अनभिष्वङ्गः , पुत्र-दार-गृह-आदिषु । नित्यम् च सम-चित्तत्वम् , इष्ट अनिष्ट-उपपत्तिषु ॥

१३. पुत्र-दार-गृह-आदिषु असक्तिः- पुत्र-स्त्री-घर आदि में आसक्ति का न होना, **१४. च अनभिष्वङ्गः-** और उनमे ममत्व का न होना , **१५. इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु नित्यम् सम-चित्तत्वम् -** इच्छित (अथवा) अवांछित की प्राप्ति में सदा ही समचित्तता (समभाव) का रहना,

मयि चानन्ययोगेन , भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वम् , अरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मयि च अनन्य-योगेन , भक्तिः अव्यभिचारिणी । विविक्त-देश-सेवित्वम् , अरतिः जन-संसदि ॥

१६. मयि अनन्य-योगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः- मुझ (परमेश्वर) में अनन्य योग द्वारा स्थिर एकरस भक्ति, **१७. विविक्त-देश-सेवित्वम्-** एकांत सेवन , **१८. जन-संसदि अरतिः-** और सामान्य गपशप में अरुचि ,

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं , तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् , अज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम् , तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम् । एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् , अज्ञानम् यत् अतः अन्यथा ॥

१९. अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्- अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति , **२०. तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम्-** तत्व ज्ञान के लक्षण रूप परमात्मा का (सर्वत्र) दर्शन , **एतत् ज्ञानम् -** यह सब ज्ञान है (और) **यत् अतः अन्यथा -** जो इससे इतर है **अज्ञानम् इति प्रोक्तम्-** वह अज्ञान है ऐसा कहा है ।

उपरोक्त श्लोक-७ से ११ में क्षेत्रज्ञ के एक रूप जीवात्मा की विकास यात्रा का वर्णन उसके ज्ञान के बढ़ते चरणों के रूप में किया गया है। जिन २० गुणों का वर्णन हुआ है वें वस्तुतः जीवात्मा के परमात्म ज्ञान की ओर बढ़ते २० चरण हैं जिन्हें भगवान ने ज्ञान कहा है जिसका अर्थ है कि उस प्रत्येक बढ़ते चरण में ज्ञान रूप परमात्मा का प्रकाश वर्णित गुणों के रूप में अधिकाधिक प्रकाशित हो रहा है।

जीवात्मा के ज्ञान के उस बिंदु तक पहुंचने का वर्णन करने के बाद, जहाँ पर पहुंचकर वह ज्ञान सत्ता रूप परमात्मा को प्रत्यक्ष जान सकने में सक्षम हो जाता है, अब भगवान उस सत्ता का वर्णन 'ज्ञेय' अर्थात् 'जानने योग्य' कह कर कर रहे हैं जिसे जानकर जीवात्मा अपने को उसकी अनन्य भक्ति के लिए कृत संकल्प हो जाएगा।

अगले छः श्लोकों (क्रमांक-१२ से १७) में भगवान उस 'ज्ञेय' सत्ता के विभिन्न रूपों का वर्णन कर रहे हैं-

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि , यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म , न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

ज्ञेयम् यत् तत् प्रवक्ष्यामि , यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते । अनादिमत् परम् ब्रह्म , न सत् तत् न असत् उच्यते ॥

यत् ज्ञेयम् यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते तत् प्रवक्ष्यामि - जो जानने योग्य (ज्ञेय) है, जिसे जानकर (मनुष्य) अमृत का आस्वादन करता है (अर्थात् अपने को उस अव्यय सत्ता का अंश जानकर स्वयं को भी मृत्यु से परे जान लेता है) उसको भली-भांति कहूँगा, **तत् अनादिमत् परम् ब्रह्म न सत् न असत् उच्यते -** जो अनादि माना गया है (वह) परम् ब्रह्म न सत ही , न असत ही कहा जा सकता है ।

ज्ञेय अर्थात् उस जानने योग्य परम सत्ता का एक रुप है निर्गुण ब्रह्म। उस को अनादि कहा जाता है। अनादि अर्थात् आदि रहित, नित्य, शाश्वत। वह न सत है न असत है। भगवान ने पहले (श्लोक-९.१९ में) कहा था 'मैं सत और असत दोनों हूँ (सत् असत् च अहम् अर्जुन)', और श्लोक-११.३७ में अर्जुन ने भी विश्वरूप परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा था कि आप अक्षर हैं सत हैं असत हैं तथा इनसे जो परे (ब्रह्म) हैं वह भी आप ही हैं (त्वम् अक्षरे सत् असत् तत्परे यत)'। यहाँ (श्लोक-१३.१२) में भी जब ज्ञेय रूप परमात्मा के ब्रह्म रूप का परिचय दिया जा रहा है तो भगवान इस सत्य को प्रकाशित कर रहे हैं कि परमात्म सत्ता के व्यक्त रूप असत (अर्थात् मनुष्य सहित सभी चर-अचर प्राणियों में प्राण के रूप में अभिव्यक्त परमात्मा शक्ति जिसे आगे श्लोक-१५.१६ में उन्होंने 'क्षर पुरुष' भी कहा है) और सत (अर्थात् मनुष्य में जीवात्मा / कूटस्थ-अक्षर-पुरुष)- इन दोनों के अतिरिक्त परमात्मा का जो अनाभिव्यक्त जो निर्गुण ब्रह्म रूप है वह भी साधक के लिए ज्ञेय तो है अर्थात् उसे भी जाना जा सकता है किंतु स्पष्ट है कि उसके लिए साधक को उस में प्रविष्ट होकर अपनी सत्ता खो देना पड़ेगी, सत स्थिति में रहते वह उस निर्गुण ब्रह्म को कैसे जान सकेगा?

अब अगले दो श्लोकों में परमात्मा के उन दो ज्ञेय रूपों का, जो असत और सत रूपों में व्यक्त हैं वर्णन किया जा रहा है -

सर्वतः पाणिपादं तत् , सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके , सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सर्वतः पाणि-पादम् तत् , सर्वतः अक्षि-शिरः-मुखम् । सर्वतः श्रुतिमत् लोके , सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥

तत् सर्वतः पाणि-पादम्- वह सब ओर हाथ पैर वाला, **सर्वतः अक्षि-शिरः-मुखम्-** सब ओर नेत्र-सिर-मुख वाला, **सर्वतः श्रुतिमत् -** सब ओर कानवाला (होकर) **लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति -** (जीव) लोक में सबको व्याप्त करके स्थित है ।

इस श्लोक में परमात्मा के जिस स्वरूप का वर्णन भगवान ने किया है वह वैसा ही है जैसा कि उन्होंने श्लोक-११.१६ में अपने विश्वरूप का किया था। किंतु यहाँ उद्देश्य भिन्न है। परमात्मा का असत स्वरुप क्या है यह बताना ही यहाँ उद्देश्य है। हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि परमात्मा के असत / सत रूप क्या हैं, अधिक व्याख्या हेतु कहेंगे कि प्राणियों में प्राण रूप में जो चेतना उनके जीवनकाल में क्रियाशील रहती है उसे परमात्मा का असत स्वरुप कहा गया है। असत का अर्थ केवल इतना ही है कि जो सत नहीं। वस्तुतः यहाँ सत और असत दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं जो जीवनी शक्ति के क्रमशः स्थाई और अस्थाई रूपों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। मनुष्य को दो प्रकार का जीवन प्राप्त है- प्राणिक चेतना जो व्यक्ति को जन्म से मृत्यु तक जीवित रखती है, इससे भिन्न चेतना का एक स्थाई आयाम भी है जो उसे पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा सनातन रूप प्रदान करती है। परमात्म चेतन के इन दो रूपों को वेदांत दर्शन में क्रमशः असत और असत तथा सांख्य दर्शन में क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष कहा गया है। मनुष्येतर जीवो को केवल 'असत / क्षर पुरुष' वाली चेतना मिली होती है अतः उनका पुनर्जन्म नहीं होता। (अपवाद स्वरूप कुछ घटनाओं- उदाहरण जड़ भरत- के जो वर्णन मिलते हैं वे इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि मनुष्य योनि से मनुष्येतर योनियों में जीवात्मा अपनी किसी अतृप्त प्रबल वासना की पूर्ति हेतु चला भी जाता है तो उस वासना की पूर्ति के बाद वह पुनः मनुष्य योनि में लौट आता है।)

सारांश यें कि इस श्लोक में चारों और हाथ / पैर / मुख आदि का जो वर्णन है वह मनुष्येर जीवों के असंख्य शरीरों में क्रियाशील परमात्मा की प्राणिक चेतना को रेखांकित करने के लिए है और इस प्रकार यहाँ परमात्मा के असत स्वरूप का दर्शन कराया गया है।

अगले श्लोक (क्रमांक-१४) में परमात्मा के सत स्वरूप का वर्णन है। जिन शब्दावलीयों का यहाँ प्रयोग हुआ है उससे हमारी यह धारणा बनी है कि यहाँ दो सत स्वरूपों को इंगित किया गया है- जीवात्मा और उससे उच्च चेतन सत्ता जिसे आगे श्लोक-२२ में महेश्वर कहा गया है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं , सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव , निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४॥

सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासम् , सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम् । असक्तम् सर्व-भृत् च एव , निर्गुणम् गुण-भोक्तृ च ॥

सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासम्- सब इन्द्रियों के गुणों से देदीप्यमान (अर्थात् वह सत्ता जो इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का अनुभव करती है), **सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्-** सभी इंद्रियों से रहित, **असक्तम्-** अनासक्त, **सर्व-भृत् च एव-** और सर्व पोषक, **निर्गुणम्-** गुण रहित, **च गुण-भोक्तृ-** गुणों को भोगने वाला (अनुभवकर्ता) ।

यहाँ जो विरोधाभासी गुणों का वर्णन दिखाई दे रहा है उसे टीकाकारों ने परमात्मा की विशेषता मान ली है किंतु यह बात समझ से परे है कि क्षेत्रज्ञ को इन विरोधी गुणों से युक्त बताकर भगवान 'किम्कर्तव्यविमूढ़' अर्जुन को क्या संदेश देना चाहते थे? हम पूर्व में कह चुके हैं कि यदि परमात्मा सभी गुणों का पोषक है तो फिर धर्म की स्थापना और दुष्टों के हनन के लिए भगवान के अवतार लेने के वचन और कर्मों की व्याख्या किस प्रकार हो सकेगी? हमारी मान्यता है कि उपरोक्त सोच को संशोधित करने की आवश्यकता है।

वस्तुतः यहाँ जो दो प्रकार के गुणों का वर्णन है वह मनुष्य में परमात्मा के दो क्रियाशील स्तरों को दर्शाते हुए उसके कुल चार ज्ञेय स्वरूपों जिनकी व्याख्या अगले कुछ श्लोकों में प्रकट होगी उनमें से यहाँ दो का परिचय देने के लिए है। ये दो स्तर गीता में और उपनिषदों में भी वर्णित हैं यह बात हम पहले (श्लोक-९.१७,१८) की टिप्पणियों में कह चुके हैं। इन दो में से एक है चेतना का जीवात्मा वाला स्तर जिसे यहाँ 'इंद्रियों के विषयों (गुणों) का भोक्ता / अनुभवकर्ता, तथा उन सब गुणों से पोषित' कहकर इंगित किया गया है। दूसरा है जीवात्मा से ऊपर द्दष्टा, अभोक्ता, ज्ञान से प्रकाशित स्तर जिसे आगे (श्लोक-१७) में 'ज्ञानगम्यम् हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' और श्लोक-२२ में महेश्वर नाम से वर्णित किया है उसी को यहाँ 'सर्वेन्द्रिये विवर्जितम, असक्तं,निर्गुणं' शब्दों से इंगित किया गया है।

इस प्रकार, इस श्लोक में परमात्मा के सत स्वरूप की दो अभी व्यक्तियों- जीवात्मा और महेश्वर को इंगित किया गया है। ये दोनों सत्ताएं भी ज्ञेय परमात्मा की अभिव्यक्तियों के रूप में वर्णित की गई है।

अब ज्ञेय परमात्मा के एक और स्वरूप का, उसके समष्टिगत क्रियाशील आयाम का वर्णन अगले ढाई श्लोकों (क्रमांक -१५,१६ तथा १७ की प्रथम पंक्ति) में किया जा रहा है।

बहिरन्तश्च भूतानाम् , अचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं , दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

बहिः-अन्तः च भूतानाम् , अचरम् चरम् एव च । सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम् , दूरस्थम् च अन्तिके च तत् ॥

तत् भूतानाम् बहिः अन्तः च चरम् अचरम् एव - सब भूतों के बाहर-भीतर और चर-अचर भी वही है, च **तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम् -** और वह सूक्ष्म होने से (भौतिक) इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता च तत् **अन्तिके च दूरस्थम् -** और वह अति समीप है तथा दूर भी स्थित है ।

अविभक्तं च भूतेषु , विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं , ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

अविभक्तम् च भूतेषु , विभक्तम् इव च स्थितम् । भूत-भर्तृ च तत् ज्ञेयम् , ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

तत् ज्ञेयम् भूतेषु विभक्तम् इव स्थितम् च अविभक्तम्- वह ज्ञेय परमात्मा जीवों में विभक्त-सा (पृथक-पृथक के सदृश्य) प्रतीत होता है (किन्तु वह) अविभाजित है, **च भूत-भर्तृ च प्रभविष्णु च ग्रसिष्णु -** तथा (प्रत्येक कल्प में, विष्णु से वह) प्राणियों का पालन कर्ता, (ब्रह्मा रूप से उनका) उत्पत्ति कर्ता और (रूद्र रूप से उनका) संहार करने वाला है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः , तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं , हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

ज्योतिषाम् अपि तत् ज्योतिः , तमसः परम् उच्यते । ज्ञानम् ज्ञेयम् ज्ञानगम्यम् , हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

तत् ज्योतिषाम् ज्योतिः - वह समस्त प्रकाशवानों का प्रकाश है (अर्थात् ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह ज्ञान स्वरूप परमात्मा का ही है), **तमसः परम् उच्यते-** अंधकार से परे कहा जाता है (अज्ञान का नाश करने वाला है), **ज्ञानम् अपि ज्ञेयम् ज्ञानगम्यम् सर्वस्य हृदि विष्ठितम् -** जीवात्मा रूप ज्ञान भी (वही) है (श्लोक -७ से ११), ज्ञेय रूप परमात्मा वही है (श्लोक-१२-१७ प्रथम पंक्ति), तथा श्रेष्ठ पुरुषों (सर्व=श्रेष्ठ) के हृदय में विशेष रूप से स्थापित (हो जाने वाली सत्ता जिसे) ज्ञानगम्य (कहा गया है क्योंकि वह परमात्मा के पास ले जाने में सहायक है, वह भी वही) है।

इन श्लोकों में विशेषत: श्लोक-१५ के शब्दों में परमात्म सत्ता के जिस आयाम का वर्णन हुआ है वह सर्वव्यापी ब्रह्म के वर्णन के समान प्रतीत होता है किंतु दोनों वर्णन भिन्न इस रूप में है कि ब्रह्म जबकि परमात्मा की सर्वाथा क्रियाशून्य अवस्था है यहाँ इस समष्टिगत सत्ता के चार कार्य गिनाये गए हैं- सचराचर सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार एवं चौथा कार्य सभी प्राणियों में उनकी क्षमता अनुसार ज्ञान का प्रकाश। मनुष्य तो अपनी ज्ञान धारण करने की क्षमता बढ़ा भी सकता है और इस क्रम में उसमें ज्ञान की एक उच्च स्थिति 'ज्ञान गम्य' सत्ता का उद्भव हो सकता है जो उसके लिए परमात्म प्राप्ति में सहायक होगा।

यहाँ जिस सत्ता को ज्ञानगम्य कहा गया है उसे ही अन्यत्र उसके कार्य के मान से जीवात्म का सखा, मार्गदर्शक के रूप में वर्णन करते हुए महेश्वर कहकर इंगित किया गया है...। गीता सहित प्राचीन ग्रंथों को समझने के लिए हमें यह बात हमेशा याद रखना चाहिए कि इनमे चेतना के विभिन्न आयामों (सत्ताओं) को इंगित करने के लिए उनके क्रियात्मक पक्षों का वर्णन महत्वपूर्ण है, नाम गौण है।

श्लोक-१७ की दूसरी पंक्ति के स्पष्टीकरण हेतु हम ऊपर श्लोक के अर्थ में ही आवश्यक व्याख्या का समावेश कर चुके हैं, अब इतना और कहना चाहेंगे कि यहाँ 'ज्ञान, ज्ञान गम्य और ज्ञेय का जो एक साथ उल्लेख किया गया है उसके द्वारा श्लोक-७ से १७ की प्रथम पंक्ति तक के कथन का सार संक्षेप देकर गीताकार ने हमें यह स्मरण कराया है कि यह संपूर्ण विवेचना क्षेत्र के विभिन्न आयामों को लेकर थी और अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने उसके क्रम विकास को भी इंगित कर दिया है।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-१८) में भी इसी प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस संपूर्ण विषय के समग्र चित्र को हमारे ध्यान में लाते हुए यह भी हमें स्मरण कराया गया है कि इस विषय का अध्याय-१२ के भक्ति प्रकरण से क्या संबंध था जिसके कारण भगवान ने यह विषय उठाया था।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं , ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय , मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इति क्षेत्रम् तथा ज्ञानम् , ज्ञेयम् च उक्तम् समासतः । मत्-भक्तः एतत् विज्ञाय , मत्-भावाय उपपद्यते ॥

इति क्षेत्रम्- इस प्रकार क्षेत्र को (श्लोक-५,६), **तथा ज्ञानम्-** और ज्ञान को (श्लोक-७से ११), जिनमे जीवात्मा की २० ज्ञान परक अवस्थाओं का वर्णन किया गया था), **च ज्ञेयम्-** और परमात्मा के जानने योग्य स्वरूपों को (श्लोक २ से ५ में वर्णित परमात्मा के चार आयाम - ब्रह्म, सत, असत और समष्टि में क्रियाशील परम् सत्ता) **समासतः उक्तम्-** संक्षेप से कहा गया। **मत्-भक्तः एतत् विज्ञाय -** मेरा भक्त इसको जानकर , **मत्-भावाय उपपद्यते -** मेरे भाव(=रीति) से अनुप्राणित हो मेरे पदचिन्हों पर चलता है ।

श्लोक में सृष्टि विकास के रहस्य को पूर्व में व्याख्यित केवल तीन शब्दों- 'क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय' के द्वारा इंगित कर के जो संदेश दिया गया है वह विचारणीय है। यहाँ ज्ञान और ज्ञेय से भगवान का क्या तात्पर्य है इसका पुनर्कथन हम ऊपर श्लोक के अर्थ के साथ कर चुके हैं। वस्तुतः इन दो के उल्लेख द्वारा भगवान ने व्यष्टि स्तर के और समष्टि स्तर के विकास को रेखांकित किया है।

समष्टि स्तर पर अज्ञान रूपा प्रकृति की क्रियाशक्ति को क्रमश अपने नियंत्रण में लाने के तथ्य को अपने चार 'पाद' (चरणों, कदमों) के वर्णन के रूप में इंगित किया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है परमात्मा (universal consciousness) के ये चार चरण हैं- ब्रह्म, असत (नाशवान प्राणिक सत्ता), सत (अनाशवान जीवन सत्ता) और समष्टि को उत्पत्ति, पालन, संहार, रूप चक्रीय गति में गतिमान रखने वाले त्रिदेवों- ब्रह्मा, विष्णु, महेश (रूद्र) के रूप में क्रियाशील परमेश्वर सत्ता।

व्यष्टि स्तर के विकास के जिन २० चरणों का वर्णन श्लोक-७ से ११ में (अभिमान-त्याग से लेकर परमात्म सत्ता को मानसिक रूप से देख पाने की योग्यता प्राप्त करने के रूप में) किया गया था, उसे यहाँ पुनः उस प्रकार परिभाषित शब्द 'ज्ञान' के द्वारा दर्शा दिया गया है।

इसी प्रकार, 'क्षेत्र' का यहाँ जो उल्लेख है वह पहले श्लोक-१ से ६ में व्यक्ति और समष्टि दोनों स्तरों पर व्याख्यित किया जा चुका है। व्यक्ति को शरीर रूप में जो क्षेत्र जन्म से प्राप्त होता है और फिर सांसारिक व्यवहार में उसका विस्तार होता है इसका वर्णन क्रमश: श्लोक-१ में और ६ में (दृष्टव्य: श्लोक-६ पर टिपण्णी), तथा परमेश्वर के समष्टि क्षेत्र का वर्णन श्लोक-५ में किया था। उस सबको यहाँ 'क्षेत्र' शब्द से दर्शा दिया गया है।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में भगवान इन सब वर्णन का जो उद्देश्य था उसे व्यक्त कर रहे हैं। भगवान कह रहे हैं कि जो व्यक्ति मेरा भक्त है, मेरी इच्छा के अनुरूप जीवन पथ पर चलने का जिसने संकल्प कर लिया है, वह मेरी कार्यशैली की दो बातों का, जिनको मैं पहले बता चुका हूँ का ध्यान रखते हुए उसको जो कार्य क्षेत्र मिला है उसमें कार्य करेगा तो मैं उसे आध्यात्मिक पथ पर निरंतर आगे बढ़ाऊँगा। मेरी कार्यशैली की वे दो बातें हैं- स्वयं के लाभ की दृष्टि से कार्य न करना अर्थात् सबके हित की दृष्टि से कार्य करना (श्लोक-३.२२) तथा बिना किसी आसक्ति के कार्य करना (श्लोक-९.९ में भगवान ने स्वयं अपना उदाहरण इसी संदेश को प्रेषित करने के लिए दिया था।

भगवान ने यह क्षेत्र- क्षेत्रज्ञ वार्ता क्यों प्रारंभ की थी उसका रहस्य भी भक्ति का संदर्भ देकर यहाँ प्रकाशित कर दिया गया है। इस अध्याय की पूर्व भूमिका में हमने यही अनुमान व्यक्त किया था कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय की यह विवेचना भगवान ने १२वें अध्याय के अनन्य भक्ति वाले लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जाए उसके एक पक्ष को प्रकाशित करने के लिए की है। इस श्लोक में उन्होंने स्वयं ही यहाँ यह स्पष्ट कर

दिया है कि जो मेरा भक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस विषय को भली-भांति समझ कर मेरे कर्मयोग मार्ग का अनुसरण करेगा तो वह मेरे स्वरुप को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् मैं जिस आध्यात्मिक स्थिति तक पहुंचा हूँ वह भी इस स्थिति को प्राप्त कर सकेगा।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की उपरोक्त विवेचना सनातन/ वैदिक/ उपनिषदीय दर्शन पर आधारित थी जिसका उद्देश्य था साधक को भगवत् भाव आधारित कर्मयोग साधना द्वारा अध्यात्म पथ का निर्देशन करना। अब इसी मार्ग की विवेचना (कपिल मुनि के आस्तिक) सांख्य दर्शन के आधार पर गीताकार ने अगले ७ श्लोकों (क्रमांक- १९ से २५) में की है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव , विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव , विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

प्रकृतिम् पुरुषम् च एव , विद्धि अनादी उभौ अपि । विकारान् च गुणान् च एव , विद्धि प्रकृति-सम्भवान् ॥

पुरुषम् च प्रकृतिम् अपि उभौ एव अनादी विद्धि- पुरुषों को और प्रकृति को भी, दोनों को ही अनादि जान। च **विकारान् च गुणान् प्रकृति-सम्भवान् एव विद्धि -** तथा विकार अर्थात् परिवर्तनों को और गुणों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान।

सांख्य मत में अनादि सत्ताये दो मानी गई हैं- पुरुष और प्रकृति। पुरुष तो वैदिक मत के समान ही यहाँ भी अनादि ही है किंतु यहाँ प्रकृति को भी अनादि माना गया है। वेद/वेदांत में अनादि परमात्मा में से ही प्रकृति की उत्पत्ति मानी गई है। दोनों मतों में माना गया है कि प्रकृति परिवर्तनशील है तथा पुरुष / परमात्मा, अपरिवर्तनशील और अव्यय है। सांख्य में माना गया है कि गुण प्रकृति में से उत्पन्न होते हैं क्योंकि वह उसके ही रूपांतर हैं किंतु वैदिक मतानुसार गुण प्रकृति में परमात्मा की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होते हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे , हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां , भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य-कारण-कर्तृत्वे , हेतुः प्रकृतिः उच्यते । पुरुषः सुख-दुःखानाम् , भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥

कार्य-कारण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते - कार्य, कारण (साधन) और कर्तृत्व(अभिकर्ता होने) का हेतु प्रकृति को माना गया है, **पुरुषः सुख-दुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते -** पुरुष सुख-दुखों के भोगने में हेतू कहा जाता है।

प्रत्येक कार्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है- क्रिया, कर्ता और करण। यह तीनों प्रकृति से ही होते हैं। कार्य के लिए आवश्यक क्रियाशक्ति प्रकृति देती है, इंद्रियां

और दूसरे भौतिक साधन भी प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा कर्म करने का भाव भी जीवात्मा में उसके प्रकृति अंश से उत्पन्न होता हैं, उसका चैतन्य अंश (पुरुष) कर्म की दिशा निर्धारित करता है क्योंकि वह ही सुख-दुखों का भोक्ता बन जाता है।

(कुछ टीकाओं में 'कार्य करण कर्त्तत्वे' के स्थान पर 'कार्य कारण कर्त्तत्वे' पाठ भी लिया गया है।)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि , भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य , सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थः , हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणम् गुण-सङ्गः अस्य , सत् असत् योनि-जन्मसु ॥

प्रकृतिस्थः पुरुषः हि प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते - प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है, **गुण-सङ्गः अस्य सत्-असत्-योनि-जन्मसु कारणम् -** (और) गुणों की आसक्ति (ही) इसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होती है।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-२२) में भगवान मनुष्य देह में प्रकृति-पुरुष की छः, एक से ऊपर एक श्रेष्ठतर, स्थितियों का वर्णन कर रहे हैं-

उपद्रष्टानुमन्ता च , भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो , देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

उपद्रष्टा अनुमन्ता च , भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मा इति च अपि उक्तः , देहे अस्मिन् पुरुषः परः ॥

अस्मिन् देहे परः पुरुषः - इस (मनुष्य) देह में परम पुरुष ही है (जो) **उपद्रष्टा च अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मा अपि-** उपद्रष्टा और मन तथा भर्ता, भोक्ता, महेश्वर एवं परमात्मा भी **इति उक्तः -** ऐसा कहा गया है।

श्लोक में देहस्थ पुरुष रूप चेतना के जो छः नाम आए हैं उनकी पहचानात्मा व्याख्या इस प्रकार की जाना उचित होगी-

१. उपद्रष्टा : उपसर्ग 'उप' का अर्थ होता है- सहायक (जैसा कि उपाध्यक्ष, उपसचिव आदि शब्दों में यही अर्थ सूचित है), और 'दृष्टा' अर्थात् दृष्टि में लाने वाला, जानकारी उपलब्ध कराने वाला। क्योंकि दृश्य जगत की जानकारी हमें ज्ञानेंद्रियों से मिलती है अतः 'उपद्रष्टा' शब्द का अर्थ हुआ इन इंद्रियों में स्थित पुरुष शक्ति।

२. अनुमंता : 'अनु' उपसर्ग 'साथ, पीछे, सम्बद्ध' ऐसे भावों को व्यक्त कर्ता है। अतः 'अनुमन्ता' का अर्थ है- मन के साथ सम्बद्ध चेतना'।

३. भर्ता : स्त्री के पति को भर्ता कहा जाता है। यहाँ अर्थ है- 'मालिक, प्रभु अर्थात् वह शक्ति जो मन सहित छः इन्द्रियों की मालिक है उन पर प्रभुता रखती है, अर्थात् बुद्धि।

४. भोक्ता : सुख-दुखों का भोक्ता जीवात्मा।

५. महेश्वर : महेश्वर=महा+ईश्वर और ईश्वर का अर्थ होता है नियंत्रक। जीवात्मा को भी गीता में ईश्वर शब्द से इंगित किया गया है (उदा. श्लोक-१५.८ में), क्योंकि यदि जीवात्मा चैतन्य है तो वह इंद्रियां, मन, बुद्धि पर नियंत्रण करके इन्हें दिशा प्रदान करता है। इसी कारण जीवात्मा से उच्चतर / श्रेष्ठ सत्ता को महेश्वर कहा गया है। यह भोक्ता रूप जीवात्मा से उच्चतर 'दृष्टा' स्थिति है श्लोक-९. १८ में 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत' कहकर इसको ही इंगित किया जा चुका है। (दृष्टव्य- उक्त श्लोक पर टिप्पणी)

६. परमात्मा : गीता में इस शब्द का प्रयोग सांख्य दर्शन के अनुरूप व्यक्ति में चेतना की सर्वोच्च स्थिति के लिए ही हुआ है, जबकि बोलचाल की भाषा में हम परमात्मा शब्द को सर्वव्यापी चेतना के लिए प्रयुक्त करते हैं। गीता में यह शब्द श्लोक-१३.२२ के अतिरिक्त श्लोक-६.७, १३.३१ और १५.१७ में भी आया है और प्रत्येक स्थल पर सांख्य दर्शन का ही संदर्भ होकर व्यक्ति में चेतना की उच्चतम स्थिति का द्योतक है। समतुल्य समष्टिगत सत्ता को गीता ने परमेश्वर नाम से संबोधित किया है।

उक्त सत्ता की क्रियात्मक पहचान क्या हो सकती है इस पर हमें विचार करना चाहिए। व्यक्ति में जाग्रत हुई यह सत्ता महेश्वर सत्ता से भी अधिक श्रेष्ठ या शक्तिवान इस रूप में मानी गई है कि महेश्वर का क्षेत्र संबंधित व्यक्ति तक सीमित होता है जबकि परमात्मा का क्रियाक्षेत्र उस व्यक्ति से बाहर भी हो सकता है। कभी-कभी ऐसी घटनाएं घटित होते, देखी-सुनी जाती हैं जिनमें किसी उच्च स्तर के महात्मा ने संकट में पड़े किसी दूरस्थ प्रदेश में फंसे किसी भक्त शिष्य की सहायता उस स्थान के किसी सत पुरुष को प्रेरित करके करवाई है। ऐसे प्रकरण योगानंद की विश्वप्रसिद्ध 'एक योगी की आत्मकथा' में, काशी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति स्व. कविवर गोपीनाथ के एवं विमला ठकार के आध्यात्मिक साहित्य में तो वर्णिन हैं ही, हमारे आपके जीवन में भी कभी-कभार ऐसी घटनाओं से हमारा साक्षात्कार हो जाता है जिसे हम संयोग कह कर नहीं ताल सकते।

अगले श्लोक (क्रमांक-२३) में सृष्टि के इन दो मूल तत्वों को, प्रकृति-पुरुष को भली प्रकार जान लेने से क्या उपलब्धि प्राप्त होगी यह बताया जा रहा है-

य एवं वेत्ति पुरुषं , प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि , न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

यः एवम् वेत्ति पुरुषम् , प्रकृतिम् च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानः अपि , न सः भूयः अभिजायते ॥

एवम् पुरुषम् च गुणैः सह प्रकृतिम् यः वेत्ति- इसप्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो (मनुष्य) जान लेता है, **सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते -** वह पूर्ण जीवन जीता हुआ फिर नहीं जन्मता।

पुरुष को इस प्रकार जानना : पिछले श्लोक-२२ में पुरुष के छः उत्तरोंत्तर बढ़ते स्वरूप हैं उनमे श्रेष्ठ की ओर चलते जाने के लिए प्रयासरत रहना।

प्रकृति को गुणों सहित जानना : तम-रज-सत गुणों को क्रमशः पार करते हुए प्रकृति की परवशता से अपने को अंत में पूर्ण मुक्त कर लेना है इस प्राथमिक लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील होना ही प्रकृति को गुण सहित जानना है।

उक्त प्रकार जानने का फल पुनर्जन्म से मुक्ति : प्रकृति-पुरुष को जानने का फल यह कहा गया है कि वह साधक फिर जन्म नहीं लेता, जबकि भगवत् भक्ति का फल यह बताया गया है- भगवान की प्राप्ति, परम पद की प्राप्ति। वस्तुतः भगवत् भक्त अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता, उसे मुक्ति की भी कामना नहीं होती, वह तो बस सच्चे मन से भगवान के सेवक के रूप में उनकी रची गई जीव जगत की सेवा में परम सुख का अनुभव करता है।

श्लोक-२२ में पुरुष के जिन तीन उच्च स्तरों- जीवात्मा, महेश्वर और परमात्मा- का उल्लेख हुआ था, उन सोपानों पर चढ़ने के लिए साधक को कुछ प्रयास करना आवश्यक होगा। अगले दो श्लोकों में (क्रमांक-२४ , २५) उन चार साधनों का उल्लेख किया गया है जो सांख्य मतावलंबी अपनाते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति , केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन , कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति , केचित् आत्मानम् आत्मना । अन्ये साङ्ख्येन योगेन , कर्म-योगेन च अपरे ॥

केचित् आत्मानम् आत्मना ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति - कुछ (साधक) आत्मा को अपने एकाग्र मन से ध्यान के द्वारा अपने में देखते हैं, **अन्ये साङ्ख्येन योगेन -** कुछ अन्य ज्ञान योग के द्वारा, **च अपरे कर्म-योगेन (पश्यन्ति)-** और दूसरे कुछ कर्मयोग के द्वारा (देखते हैं)।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्ये तु एवम् अजानन्तः श्रुत्वा अन्येभ्यः उपासते । ते अपि च अतितरन्ति एव मृत्युम् श्रुति-परायणाः ॥

तु अन्ये एवम् अजानन्तः - परंतु अन्य कुछ लोग इस प्रकार (योग के उपरोक्त मार्गों को)न जानते हुए **अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते-** दूसरों से सुनकर ही (तदनुसार) उपासना करते हैं, **च ते श्रुति-परायणाः अपि मृत्युम् एव अतितरन्ति-** और वे श्रवण परायण साधक भी मृत्यु को निश्चित ही तर जाते हैं (अर्थात् देह भाव से मुक्त हो जाते हैं) ।

अब दोनों निष्ठाओं, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के प्रकाश में व्यक्त सगुण सत्ता रूप परमेश्वर की उपासना तथा प्रकृति-पुरुष के ज्ञान के प्रकाश में अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना, इन दोनों मार्गों से साधक को अपेक्षित परिणाम क्या मिल सकेंगे इस विषय की विवेचना अध्याय के शेष भाग (श्लोक- २६ से ३४) में की गई है।

यावत्सञ्जायते किञ्चित् , सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसन्योगात् , तत् द्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

यावत् सञ्जायते किञ्चित् , सत्त्वम् स्थावर-जङ्गमम् । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात् , तत् विद्धि भरतर्षभ ॥

भरतर्षभ- हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! **यावत् किञ्चित् स्थावर-जङ्गमम् सत्त्वम् सञ्जायते -** जो कुछ भी चर अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं **तत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात् विद्धि-** उनको (तू) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग (मिलने) से (उत्पन्न) जान ।

समं सर्वेषु भूतेषु , तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं , यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समम् सर्वेषु भूतेषु , तिष्ठन्तम् परमेश्वरम् । विनश्यत्सु अविनश्यन्तम् , यः पश्यति सः पश्यति ॥

यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु परमेश्वरम् अविनश्यन्तम् - जो (साधक) नष्ट होते सब प्राणियों में परमेश्वर को अविनाशी (च) **समम् तिष्ठन्तम् पश्यति सः पश्यति -** और तटस्थ स्थित देखता है वही (यथार्थ) देखता है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र , समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं , ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र , समवस्थितम् ईश्वरम् । न हिनस्ति आत्मना आत्मानम् , ततः याति पराम् गतिम् ॥

हि ईश्वरम् सर्वत्र समं समवस्थितम् पश्यन् - क्योंकि (जो व्यक्ति) ईश्वर को सर्वत्र सब में, बिना अपवाद के स्थित देखता है, **आत्मना आत्मानम् न हिनस्ति -** (वह) अपने द्वारा अपनी हिंसा नहीं करता (=कर सकेगा)**, ततः पराम् गतिम् याति -** इस (एकत्व भाव) से परम गति को प्राप्त होता है।

'जो ईश्वर को सब में अपने समान ही उपस्थित देखेगा उसका किसी के भी प्रति हिंसक होने (हानि पहुंचाने) का अर्थ होगा अपनी ही हिंसा करना। ऐसा संभव नहीं है। वस्तुतः उसका भाव तो सबके प्रति प्रेम से परिपूर्ण होगा।' - विनोबा

उपरोक्त तीन श्लोकों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के द्वारा सगुण उपासना का अर्थात् सृष्टि में व्यक्त परमेश्वर की उपासना का फल यह बताया गया है कि साधक सभी चर-अचर प्राणियों में परमेश्वर की उपस्थिति को देखने लगेगा (श्लोक-२६); वह जब सब प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को देखेगा तो स्वयं भी देह भाव से मुक्ति अर्थात् स्वयं के 'अ-मृत' होने की निष्ठा में परिपक्वता बढ़ेगी तथा आसक्ति से मुक्त होकर उसमें समता का भाव भी स्थाई होने लगेगा (श्लोक-२७); और तब समता भाव से सब के प्रति प्रेम का प्रस्फुटन होने पर उसे परम गति की प्राप्ति होगी(श्लोक-२८)। 'गति' का एक अर्थ है 'लक्ष्य' अतः परम गति का यहाँ अर्थ है अनन्य भक्ति का वह सर्वोच्च लक्ष्य जिसकी प्राप्ति के प्रथम कदम के रूप में भगवान ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय को उठाया था(श्लोक-१८)।

परम सत्ता के व्यक्त रूप की उपासना से प्राप्त होने वाली उपरोक्त उपलब्धियों का वर्णन करने के बाद अब भगवान सांख्य निष्ठा की प्रकृति-पुरुष विवेचना पर आधारित उपासना के फल का वर्णन अगले पांच श्लोकों (क्रमांक-२९ से ३३) में कर रहे हैं। प्रथम दो श्लोक (क्रमांक-२९,३०) में कर्म के संबंध में प्रकृति-पुरुष तत्वों की स्थूल भूमिकाओं को रेखांकित करते हुए भगवान ने अगले तीन श्लोकों (क्रमांक-३१,३२,३३) में उक्त भूमिकाओं का सूक्ष्म विश्लेषण हमें इस बात के प्रति चेताने के लिए किया है कि हम परमात्म ज्ञान के आलोक से अपने को अधिकाधिक संपन्न करते हुए हमें प्राप्त हुए कर्मक्षेत्र में उस ज्ञान के अनुरूप कर्म करते रहें तो यह विधा जहाँ एक ओर हमारे आध्यात्मिक विकास में सहायक होगी वह अन्यों के लिए भी किसी न किसी रूप में विकास का आधार बनाएगी।

प्रकृत्यैव च कर्माणि , क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानम् , अकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

प्रकृत्या एव च कर्माणि , क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति तथा आत्मानम् , अकर्तारम् सः पश्यति ॥

च यः कर्माणि सर्वशः प्रकृत्या एव क्रियमाणानि पश्यति - और जो (व्यक्ति) कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही संपन्न किए जाते हुए देखता है, **तथा आत्मानम् अकर्तारम् पश्यति सः -** तथा आत्मा को अकर्ता देखता है वह ही (यथार्थ) देखता है।

यदा भूतपृथग्भावम् , एकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं , ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥

यदा भूत-पृथक्-भावम् , एकस्थम् अनुपश्यति । ततः एव च विस्तारम् , ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

यदा भूत-पृथक्-भावम् एकस्थम्- जब (वह साधक) भूतों की पृथकता को एक ही सत्ता में स्थित **च ततः एव विस्तारम् अनुपश्यति-** तथा उस (सत्ता) से ही (संपूर्ण भूतों का) विस्तार देखता हैं **तदा ब्रह्म सम्पद्यते -** तब(वह) ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् वह ब्रह्म को भलीभांति जान लेता है)।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् , परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय , न करोति न लिप्यते ॥३१॥

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् , परमात्मा अयम् अव्ययः । शरीरस्थः अपि कौन्तेय , न करोति न लिप्यते ॥

कौन्तेय- हे अर्जुन! **अव्ययःपरमात्मा अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अपि-** अविनाशी परम (अर्थात् प्रकृति से परे) आत्मा अनादि होने पर (और) निर्गुण होने पर भी **शरीरस्थः अयम् न लिप्यते न करोति -** (जब) शरीर में स्थित होता है (तो) यह न तो (उसमें) लिप्त होता है और न ही कोई कर्म करता है।

वह लिप्त क्यों नहीं होता इसका कारण भगवान अगले श्लोक में बता रहे है-

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात् , आकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे , तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा सर्वगतम् सौक्ष्म्यात् , आकाशम् न उपलिप्यते । सर्वत्र-अवस्थितः देहे , तथा आत्मा न उपलिप्यते ॥

यथा सर्वगतम् आकाशम् सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते- जिस प्रकार आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, **तथा देहे सर्वत्र अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते -** वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित रहता हुआ आत्मा लिप्त नहीं होता।

आत्मा देह से, उसके गुणों से तथा कर्मों से भी अलिप्त है इसे आकाश के भौतिक उदाहरण से समझाया गया है कि वह अति सूक्ष्म है। प्रकृति के दूसरे स्थूल तत्वों के सामान आत्म तत्व ने कण और फिर बड़े आकार ग्रहण नहीं किए हैं। आत्म तत्व सदा अपने मूल स्वरुप में सूक्ष्म और सर्वव्यापी तथा अलिप्त बना रहता है।

यदि वह सत्ता पूर्णतः निर्गुण है तो वह है भी यह हम क्यों माने? इसका उत्तर अगले श्लोक (क्रमांक-३३) में यह दिया जा रहा है कि उस सत्ता का 'स्वभाव' या मूल गुण एक ही है, वह है ज्ञान।

यथा प्रकाशयत्येकः , कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं , प्रकाशयति भारत ॥३३॥

यथा प्रकाशयति एकः , कृत्स्नम् लोकम् इमम् रविः । क्षेत्रम् क्षेत्री तथा कृत्स्नम् , प्रकाशयति भारत ॥

भारत- हे अर्जुन ! **यथा एकः रविः इमम् कृत्स्नम् लोकम् प्रकाशयति-** जैसे एक ही सूर्य इस संपूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, **तथा क्षेत्री कृत्स्नम् क्षेत्रम् प्रकाशयति -** वैसे ही आत्मा क्षेत्री बनकर संपूर्ण क्षेत्र को (ज्ञान से) प्रकाशित करता है।

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के सगुण परमेश्वर की उपासना अथवा प्रकृति-पुरुष के ज्ञान से निर्गुण ब्रह्म की उपासना- इन दोनों वैकल्पिक मार्गों के प्रथम चरण के रूप में कर्म की ऐसी उचित रीति को जानने-समझने की आवश्यकता इस अध्याय में बताई गई है जिससे कर्म, कर्ता को बांधने वाला न बने वरन् यह व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक बने।

अध्याय के इस सार को अंतिम श्लोक (क्रमांक-३४) में समेटते हुए आध्यात्मिक यात्रा के आगामी चरण को भी यहाँ इंगित किया गया है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम् , अन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च , ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः एवम् , अन्तरम् ज्ञान-चक्षुषा । भूत-प्रकृति-मोक्षम् च , ये विदुः यान्ति ते परम् ॥

एवम् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः अन्तरम् - किस प्रकार क्षेत्र के और क्षेत्रज्ञ के अंतर संबंधों को, च **भूत-प्रकृति-मोक्षम् -** और जीवो को परवश करने वाली प्रकृति से मुक्त होने के (लक्ष्य) को **ये ज्ञान-चक्षुषा विदुः-** जो ज्ञानी पुरुष जानते हैं, **ते परम् यान्ति -** वे परम को प्राप्त होते हैं।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अन्तरम् विदुः : क्षेत्र- क्षेत्रज्ञ के आंतरिक संबंध की व्याख्या श्लोक-१ से १८ में की गई है, उसे समझ लेना आवश्यक है। किसी मनुष्य के प्रथम आविर्भाव के समय जीवात्मा का क्षेत्र होता है उसका शरीर, जिसे श्लोक-१ में वर्णित किया गया है। जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ता है, क्षेत्र का विस्तार, परिवार, मित्रगण, समाज, देश आदि के रूप में होता जाता है। भौतिक स्तर पर व्यक्ति और क्षेत्र का यह सहविकास सर्वत्र निरापद नहीं रह पाता और तब संघर्ष और अव्यवस्था फैलती है। वस्तुतः नैसर्गिक नियम तो यही है कि क्षेत्रज्ञ के ज्ञान और उसके कर्मक्षेत्र में सुसंगतता होती है तो विकास सुव्यवस्थित होता है किंतु व्यक्ति जहाँ इस नियम का उल्लंघन करता है तो व्यक्ति के और समाज के विकास की धारा गड़बड़ा जाती है, यह देखा जा सकता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इस सह-संबंध का उल्लंघन नहीं होता। आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च स्थिति पर पहुंचने पर जीवात्मा विश्वात्मा से भिन्न नहीं रहता और तब परमेश्वर के साथ एक होकर उसका क्षेत्र संपूर्ण सृष्टि ही हो जाता है, इस तथ्य को भगवान स्वयं को 'सब क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ मैं हूँ' (श्लोक-२) कहकर और '२४ तत्वों से बनी संपूर्ण सृष्टि ही मेरा क्षेत्र है' (श्लोक-५)यह कहकर इंगित कर चुके थे। यहाँ अध्याय के

इस अंतिम श्लोक में भगवान ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के उक्त विकासात्मक आंतरिक संबंध को ही रेखांकित किया है।

भूत प्रकृति मोक्षम् : भूत शब्द का साधारण अर्थ तो जीव होता है किंतु यहाँ विशेष अर्थ जीवात्मा ही लेना होगा क्योंकि सब जीवो को प्रकृति की परवशता से मुक्त करने की बात अर्थहीन होगी। अतः संदर्भ को देखते हुए भूत का यहाँ अर्थ है जीवात्मा। इस जीवात्मा को ही प्रकृति की परवशता से मुक्त होना है, प्रकृति के तीन गुणों को क्रमशः पार करना है। इस हेतु प्रथम उन्हें ज्ञान नेत्रों से पहचानना होगा और तब उनसे क्रमश: मुक्त होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना होगा। वस्तुतः सांख्य दर्शन की प्रकृति-पुरुष विवेचना का यही पक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जो अन्य सभी साधना पद्धतियों में और अनन्य भक्ति की प्राप्ति हेतु समर्पण की सिद्धि में भी सहायक होने से यहाँ भगवान ने इसकी विवेचना बहुत विस्तार से आगे की है। अध्याय-१४ में प्रकृति की पकड़ रूप इन गुणों का आधारभूत परिचय देकर आगे अध्याय-१६,१७ और १८ में भी व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर क्रियाशील इन गुणों का सूक्ष्म दर्शन करा कर उन से मुक्त होने की आवश्यकता बताई गई है ताकि साधक अपने अनन्य भक्ति के लक्ष्य को अथवा ब्रह्म प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

परम् यान्ति : यहाँ भगवान ने 'परम्' शब्द का प्रयोग किया है। दोनों मार्गों- सगुण परमेश्वर की प्राप्ति अथवा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति- के साधकों के अपने-अपने लक्ष्य को इंगित करने के लिए सामान्य शब्द 'परम्' का उपयोग किया गया है क्योंकि 'प्रकृति मुक्ति' दोनों प्रकार के साधकों के लिए आवश्यक कदम है।

◆ ◆ ◆

चतुर्दशः अध्यायः

भूत-प्रकृति-मोक्षः अर्थात् प्रकृति के तीन गुणों से मुक्ति

पिछले अध्याय में सगुण परमेश्वर की उपासना का और निर्गुण ब्रह्म की उपासना का वर्णन करते हुए कहा गया था कि सांख्य दर्शन की प्रकृति-पुरुष धारणा के अंतर्गत गुणातीत होने की यह बात बहुत महत्वपूर्ण है, यदि वह प्रकृति प्रधान निम्न गुणों को पार कर लेता है तो आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति उसके लिए सुगम और सुनिश्चित हो जाएगी।

अब अध्याय-१४ में उक्त विधा के सैद्धांतिक पक्ष (theory) का परिचय दिया जा रहा है। इस जानकारी को भगवान ने यहाँ उत्तम ज्ञान कहा है जिसके अनुप्रयोग (applications) का वर्णन भगवान ने आगे के अध्यायों में किया है। यहाँ प्रथम चार श्लोकों में इस ज्ञान की भूमिका दी गई है तथा शेष श्लोकों में इसकी विस्तृत विवेचना की गई है।

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि , ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे , परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

परम् भूयः प्रवक्ष्यामि , ज्ञानानाम् ज्ञानम् उत्तमम् । यत् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे , पराम् सिद्धिम् इतः गताः ॥

ज्ञानानाम् उत्तमम् (तत्) परम् ज्ञानम् भूयः प्रवक्ष्यामि - ज्ञानू में अति उत्तम उस परम ज्ञान को फिर कहूँगा। **यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः पराम् सिद्धिम् गताः-** जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से (मुक्त होकर) परम सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य , मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते , प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य , मम साधर्म्यम् आगताः । सर्गे अपि न उपजायन्ते , प्रलये न व्यथन्ति च ॥

इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः- इस ज्ञान का आश्रय प्राप्त कर मेरे जैसी दिव्य स्थिति को प्राप्त हुए (साधक), **न सर्गे उपजायन्ते च न प्रलये व्यथन्ति -** न तो (सामान्य जीवों की तरह) सृष्टि में उत्पन्न होते हैं और न मृत्यु से व्याकुल होते हैं।

श्लोक-१ में भगवान के वचन 'भूयः प्रवक्ष्यामि- पुनः कहूँगा' का संदर्भ श्लोक-१३.२१ से है जहाँ कहा गया था कि जीवात्मा का अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण उसके द्वारा प्रकृति के गुणों का भोगना और फिर उसके प्रति आसक्त होना है। आगे श्लोक-१३.२३ में यह भी स्पष्ट कर दिया था कि जो साधक अपने को तीन गुणों से मुक्त कर लेता है वह फिर (दुखालयम रूप) पुनर्जन्म की बाध्यता से मुक्त होकर 'अमृतम्' अर्थात् देह भाव से मुक्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है, और यहाँ 'मम साधर्म्यम् आगतः' कहकर भगवान ने अपने उदाहरण द्वारा इसी तथ्य को पुष्ट किया है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म , तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां , ततो भवति भारत ॥३॥

मम योनिः महत् ब्रह्म , तस्मिन् गर्भम् दधामि अहम् । सम्भवः सर्व-भूतानाम् , ततः भवति भारत ॥

भारत- हे अर्जुन ! **मम महत् ब्रह्म योनिः -** महत ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृति तो योनि है (जगत की उत्पत्ति का स्थान है), **तस्मिन् अहम् गर्भम् दधामि-** उसमे मैं गर्भ स्थापित करता हूँ **ततः सर्व-भूतानाम् सम्भवः भवति -** उससे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ।

सर्वयोनिषु कौन्तेय , मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिः , अहम् बीजप्रदः पिता ॥४॥

सर्व-योनिषु कौन्तेय , मूर्तयः सम्भवन्ति याः । तासाम् ब्रह्म महत् योनिः , अहम् बीज-प्रदः पिता ॥

कौन्तेय- हे कुंती पुत्र अर्जुन! **सर्व-योनिषु मूर्तयः सम्भवन्ति याः -** सभी गर्भाशयों में जो भी आकार या रूप उत्पन्न होते हैं, **तासाम् महत् ब्रह्म योनिः -** उसकी महत् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति तो गर्भाशय है **अहम् बीज-प्रदः पिता -** मैं बीज स्थापित करने वाला पिता हूँ ।

प्रकृति और पुरुष इन दोनों से मिलकर समस्त प्राणी जगत की उत्पत्ति होती है। समस्त क्रम-विकास को प्रस्तुत करने वाला यह एक मानवीय रूपक है। इसमें विकास करने वाली शक्ति पुरुष अर्थात् परमेश्वर सत्ता है। उक्त विकासप्रद शक्ति की वृद्धि हम अपने व्यक्तित्व में कैसे कर सकते हैं इस हेतु से भगवान अब प्रकृति के तीन गुणों की विवेचना अगले श्लोकों में कर रहे हैं। प्रकृति के इन गुणों के संबंध में

भगवान पहले (श्लोक-७.१२ में) कह चुके हैं कि प्रकृति में यह गुण पुरुष तत्व से अर्थात् उसकी बढ़ती अभिव्यक्ति के फल स्वरूप प्रकट होते हैं और अब बता रहे हैं कि तम से रज, रज से सत्व और सत्व से त्रिगुणातीत अवस्थाओं में परम पुरुष की उत्तरोत्तर बढ़ोतरी के तथ्य को जानकर व्यक्ति किस प्रकार उक्त गुणों को क्रमशः पार करते हुए उस सत्ता की अधिकाधिक अभिव्यक्ति अपने में कर सकता है।

अब भगवान इन गुणों के विभिन्न पक्षों की विवेचना प्रारंभ कर रहे हैं। सर्वप्रथम उनकी उत्पत्ति और प्रभाव का वर्णन श्लोक ५ से ९ में किया जा रहा है।

सत्त्वं रजस्तम इति , गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो , देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

सत्त्वम् रजः तमः इति , गुणाः प्रकृति-सम्भवाः । निबध्नन्ति महा-बाहो , देहे देहिनम् अव्ययम् ॥

महा-बाहो- हे अर्जुन ! **सत्त्वम् रजः तमः इति प्रकृति-सम्भवाः गुणाः -** सत्व गुण, रजो गुण और तमोगुण- ये प्रकृति में उत्पन्न तीनों गुण **अव्ययम् देहिनम् देहे निबध्नन्ति -** अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् , प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति , ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

तत्र सत्त्वम् निर्मलत्वात् , प्रकाशकम् अनामयम् । सुख-सङ्गेन बध्नाति , ज्ञान-सङ्गेन च अनघ ॥

अनघ- हे निष्पाप अर्जुन ! **तत्र सत्त्वम् निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् -** उन (तीन गुणों) में सत्वगुण (तो) निर्मल होने के कारण (ज्ञान का) प्रकाश करने वाला और विकार रहित है, **(सः) सुख-सङ्गेन च ज्ञान-सङ्गेन बध्नाति -** (वह) सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि , तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय , कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

रजः राग-आत्मकम् विद्धि , तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम् । तत् निबध्नाति कौन्तेय , कर्म-सङ्गेन देहिनम् ॥

कौन्तेय- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! **विद्धि रजः तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम् राग-आत्मकम् -** (ऐसा) समझ कि रजोगुण तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न (किसी वस्तु / व्यक्ति के प्रति) आकर्षण / प्रीति है, **तत् देहिनम् कर्म-सङ्गेन निबध्नाति -** वह देहधारी (जीवात्मा) को सकाम कर्मों की आसक्ति से बांध देता है ।

तृष्णा : अप्राप्त वस्तु की चाहना।
आसक्ति : प्राप्त वस्तु अपने पास ही रहे, ऐसी इच्छा।
राग : किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति आकर्षण / प्रियता।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि , मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिः , तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

तमः तु अज्ञानजम् विद्धि , मोहनम् सर्व-देहिनाम् । प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः , तत् निबध्नाति भारत ॥

भारत- हे अर्जुन ! **सर्व-देहिनाम् मोहनम् तमः तु अज्ञानजम् विद्धि -** सब देहाभिमानिओं को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से (अर्थात् अज्ञान प्रधान प्रकृति से) उत्पन्न जाना। **तत् प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः निबध्नाति -** वह (जीवात्म को) प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है।

प्रमाद : मन-बुद्धि की व्यर्थ अर्थात् जीवन लक्ष्य को भुलाकर की जाने वाली चेष्टाएँ।
आलस्य : कर्तव्य कर्म न करते हुए निरुद्यमता में पड़े रहने की वृत्ति।
निद्रा : यहाँ निद्रा का अर्थ शरीर की थकावट मिटाने वाली नींद नहीं वरन् शिथिलता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति , रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः , प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

सत्त्वम् सुखे सञ्जयति , रजः कर्मणि भारत । ज्ञानम् आवृत्य तु तमः , प्रमादे सञ्जयति उत ॥

भारत- हे अर्जुन ! **सत्त्वम् सुखे सञ्जयति-** सत्त्वगुण (सात्विक) सुख में लगाता है, **रजः कर्मणि-** रजोगुण (राजसिक) कर्मों में, **(तथा) तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे उत सञ्जयति-** (तथा) तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगा देता है ।

ऊपर श्लोक-५,६ में कहा गया कि प्रकृति के यें गुण जो कि पुरुष तत्व की (कम / ज्यादा) अभिव्यक्ति के कारण उसमें उत्पन्न होते हैं (श्लोक-७.१२) जीवात्मा को आकर्षित कर के उसे बांध देते हैं। कौनसा गुण किस प्रकार बांधता है यह तथ्य श्लोक-७,८,९ में वर्णित किया गया है।

अब आगे भगवान बता रहे हैं कि हमें यह जान लेना चाहिए कि हमारा जीवन किस गुण से मुख्य रूप से संचालित हो रहा है, क्योंकि यह ज्ञान होने से हम उस गुण विशेष से अगले सोपान पर जाने का प्रयास कर सकेंगे। यह विवेचना श्लोक-१० से १३ में हुई है।

रजस्तमश्चाभिभूय , सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव , तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

रजः तमः च अभिभूय , सत्त्वम् भवति भारत । रजः सत्त्वम् तमः च एव , तमः सत्त्वम् रजः तथा ॥

हे अर्जुन ! **तमः च रजः अभिभूय सत्त्वम् भवति-** तमोगुण और रजोगुण को पार करके (उनपर हावी होकर) सत्वगुण प्रधान बनता है, **तथा एव भारत रजः (च) सत्त्वम् तमः-** वैसे ही हे अर्जुन रज और सत्व पर हावी होकर

तमोगुण,**(तथा) तमः सत्त्वम् (अभिभूय) रजः(भवति)-** (और) तम-सत्त्व पर हावी होकर रजोगुण प्रभावी होता है ।

वस्तुतः यहाँ यह कहा गया है कि व्यक्ति का जीवन मुख्यतः किसी एक गुण से संचालित होता है और इस कारण उसे यह पहचान करके कि वर्तमान में वह किस गुण में स्थित है फिर उस गुण से उच्च स्थिति को प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए।

इस हेतु से भगवान अगले तीन श्लोकों (क्रमांक-११,१२,१३) में बता रहे हैं कि व्यक्ति अपने अंतःकरण की वृत्तियों का परीक्षण करके यह देख सकता है कि सत्व गुण, रजोगुण अथवा तमोगुण- इनमें से किस गुण में उसकी स्थिति है और तदनुसार उसे उस स्थिति से उच्च स्थिति के गुणों को धारण करने का प्रयास करना चाहिए।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् , प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात् , विवृद्धम् सत्त्वमित्युत ॥११॥

सर्व-द्वारेषु देहे अस्मिन् , प्रकाशः उपजायते । ज्ञानम् यदा तदा विद्यात् , विवृद्धम् सत्त्वम् इति उत ॥

यदा अस्मिन् देहे सर्व-द्वारेषु - जब देह के सभी द्वारों में (अर्थात् इन्द्रियों-मन-बुद्धि में) **प्रकाशः (च) ज्ञानम् उपजायते-** समझ और ज्ञान अर्थात् विवेक उत्पन्न होता है, **तदा इति विद्यात् उत सत्त्वम् विवृद्धम् -** तब ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि हुई है ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः , कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते , विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

लोभः प्रवृत्तिः आरम्भः , कर्मणाम् अशमः स्पृहा । रजसि एतानि जायन्ते , विवृद्धे भरतर्षभ ॥

भरतर्षभ- हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! **रजसि विवृद्धे -** रजोगुण की विशेष वृद्धि (की स्थिति) होने पर **लोभः कर्मणाम् आरम्भः प्रवृत्तिः अशमः स्पृहा -** लोभ, सकाम कर्मों को करने की प्रवृत्ति, अशांति और भोगों की लालसा **एतानि जायन्ते-** से सब (वृत्तियाँ) उत्पन्न होती है ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च , प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते , विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च , प्रमादः मोहः एव च । तमसि एतानि जायन्ते , विवृद्धे कुरु-नन्दन ॥

कुरुनन्दन- हे अर्जुन ! **तमसि विवृद्धे -** तमोगुण के बढ़ने (की स्थिति) पर **अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च प्रमादः च मोहः -** समझ का अभाव, कर्तव्य कर्मों को करने में अरुचि और अनवधान या लापरवाही तथा मोह **एतानि एव जायन्ते -** ये सब ही उत्पन्न होते है ।

उपरोक्त श्लोकों में भगवान ने उन वृत्तियों का वर्णन किया है जिन्हें व्यक्ति स्वयं अपने में प्रत्यक्ष देखकर अपनी गुण संबंधी स्थिति का आकलन कर सकता है।

अब अगले सात श्लोकों (क्रमांक-१४ से २०) में उन तथ्यों का उल्लेख कर रहे हैं जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान भगवान ने स्वयं अथवा अन्य ऋषियों ने योग साधना द्वारा प्राप्त किया था। प्रथम, श्लोक-१४,१५ में सत्व, रज अथवा तमोगुण की दशा में मृत्यु होने पर मनुष्य जिस प्रकार का लोक प्राप्त करेगा उसका वर्णन कर रहे हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु , प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकान् , अमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु , प्रलयम् याति देह-भृत् । तदा उत्तम-विदाम् लोकान् , अमलान् प्रतिपद्यते ॥

यदा देह-भृत् सत्त्वे प्रवृद्धे प्रलयम् याति- जब कोई मनुष्य सत्त्व गुण का उत्कर्ष होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है **तदा तु उत्तम-विदाम् अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते -** तब तो (वह) श्रेष्ठ ज्ञानियों के निर्मल पवित्र लोकों (परिवेश) को प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं गत्वा , कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि , मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजसि प्रलयम् गत्वा , कर्म-सङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनः तमसि , मूढ-योनिषु जायते ॥

रजसि प्रलयम् गत्वा कर्म-सङ्गिषु जायते - रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त होने पर वह सकाम कर्मियों की संगति में जन्म लेता है, **तथा तमसि प्रलीनः मूढ-योनिषु जायते -** तथा तमोगुण में मृत्यु को प्राप्त हुआ (मनुष्य) अज्ञानियों के यहाँ जन्म लेते हैं।

उपरोक्त श्लोक-१४,१५ में सत्त्वगुणी/रजोगुणी का पुनर्जन्म ज्ञानियों/सकाम-कर्मियों के यहाँ होने की जो बात कही गई है, उस तथ्य के पीछे कर्म और गुण का जो मूल संबंध है उसकी व्याख्या श्लोक-१६ में की जा रही है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः , सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखम् , अज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

कर्मणः सुकृतस्य आहुः , सात्त्विकम् निर्मलम् फलम् । रजसः तु फलम् दुःखम् , अज्ञानम् तमसः फलम् ॥

सुकृतस्य कर्मणः सात्त्विकम् निर्मलम् फलम् आहुः - अच्छे कर्मों का फल निर्मल होता है अर्थात् उनसे व्यक्ति का अंतःकरण (मन-बुद्धि-अहंकार) शुद्ध होता है, (ये कर्म) सात्विक कहे जाते हैं, **तु रजसः फलम् दुःखम् तमसः फलम् अज्ञानम् -** किंतु राजस कर्मों का फल (अंततः) दुख तथा तामस कर्मों का फल अज्ञान है।

गुणों का, मानसिक वृत्तियों से जो गहरा संबंध है उसे श्लोक-१७ में वर्णित किया गया है-

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं , रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो , भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् , रजसः लोभः एव च । प्रमाद-मोहौ तमसः , भवतः अज्ञानम् एव च ॥

सत्त्वात् ज्ञानम् सञ्जायते - सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, **रजसः लोभः एव च-** रजोगुण से लोभ आदि, **च तमसः प्रमाद-मोहौ भवतः अज्ञानम् एव भवतः -** तथा तमोगुण से प्रमाद,मोह, अज्ञान आदि होते है ।

ज्ञान मानसिक स्तर पर सुख और शांति के रूप में प्रकट होता है तथा यह वृत्तियें सत्व गुण से उत्पन्न होती हैं। रजोगुण और तमोगुण से षट विकार अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर होते हैं। इनमें से प्रथम तीन अर्थात् काम, क्रोध और लोभ, जिन्हें यहाँ 'लोभ एवच' कहकर इंगित किया गया है, रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः भगवान पहले (श्लोक-३.३७ में) 'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः' कहकर काम-क्रोध की उत्पत्ति रजोगुण से होने की बात कह भी चुके हैं, अतः यहाँ 'लोभ एवच' का यही अर्थ लेना उपयुक्त होगा। इसी प्रकार, 'प्रमाद, मोह, अज्ञान' का अर्थ 'मद, मोह, मत्सर' लेना उपयुक्त होगा। मत्सर का अर्थ होता है दूसरों से ईर्ष्या / ढाह / दूसरों की प्रगति से मन में जलन रखना और ये भाव निश्चित ही व्यक्ति अज्ञान या अपनी निरी मूर्खता से ही धारण कर लेता है क्योंकि इन भावों से वह मानसिक शांति खोकर स्वयं अपना ही नुकसान कर रहा होता है।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-१८) में व्यक्ति की जीवन यात्रा में ये गुण उसे किस दिशा की ओर ले जाते हैं इसका वर्णन किया जा रहा है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था , मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था , अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

ऊर्ध्वम् गच्छन्ति सत्त्वस्थाः , मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्य-गुण-वृत्तिस्थाः , अधः गच्छन्ति तामसाः ॥

सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वम् गच्छन्ति- सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति उच्चता की ओर जाता है, **राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति -** राजसगुणी मध्य में ही बने रहते हैं, **तामसाः जघन्य-गुण-वृत्तिस्थाः अधः गच्छन्ति -** तामसगुणी गर्हित गुण वाली वृत्तियों में लगा रहकर (अर्थात् नीच कर्मों में संलग्न रहकर) नीचे की ओर गिरता है।

तीन गुणों के विभिन्न पक्षों की विवेचना करने के बाद अब भगवान इन गुणों से परे जाने की महिमा का वर्णन श्लोक-१९,२० में कर रहे हैं-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं , यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति , मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

न अन्यम् गुणेभ्यः कर्तारम् , यदा द्रष्टा अनुपश्यति । गुणेभ्यः च परम् वेत्ति , मत्-भावम् सः अधिगच्छति ॥

यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति- जब द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता, **च गुणेभ्यः परम् वेत्ति सः मत्-भावम् अधिगच्छति -** और तीनों गुणों से परे (जो सत्ता) है उसे जान लेता है, मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता हैं।

इस श्लोक का भाव यह है कि त्रिगुणातीत अवस्था में पहुंचा व्यक्ति कर्म तो करता है किंतु जानता है कि कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं, वह अर्थात् उसकी आत्मा अकर्ता है केवल दृष्टा है। क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं उस स्थिति को प्राप्त कर चुके थे इसलिए वें कह रहे हैं कि त्रिगुणातीत अवस्था को पहुंचा वह व्यक्ति 'मेरे स्वरुप' को प्राप्त हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् , देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैः , र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् , देही देह-समुद्भवान् । जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः , विमुक्तः अमृतम् अश्नुते ॥

देही देह-समुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य- जब जीवात्मा शरीर से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जाता है, **जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः विमुक्तः अमृतम् अश्नुते -** (तब वह) जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था के दुखों से मुक्त होकर शाश्वतता का अनुभव करता है।

शरीर में उत्पन्न त्रिगुण : इन शब्दों में विशेष अर्थ निहित है। सांख्य दर्शन अनुसार आत्मा निर्गुण हैं अतः यें गुण प्रकृति के हैं। शरीर भी प्रकृति से बना है अतः गुणों को 'शरीर से अथवा शरीर में उत्पन्न' कहा गया है। व्यक्त परमेश्वर सत्ता के उपासकों के लिए अभी पूर्व में (श्लोक-६ में) भगवान कह ही चुके हैं कि ये गुण प्रकृति में उत्पन्न होते हैं, एवं पहले (श्लोक-७.१२ में) कहा था कि 'इन गुणों में मैं हूँ, ये मेरे में नहीं है'। इन वचनों के परिप्रेक्ष्य में 'शरीर में उत्पन्न त्रिगुण' शब्दों का भाव बनता है कि ये गुण मनुष्य के स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर अर्थात् अंतःकरण के प्रकृति अंश में परम चैतन्य सत्ता की न्यूनाधिक् अभिव्यक्ति के कारण उत्पन्न होते हैं।

श्लोक का सार यह है कि जब जीवात्मा तम, रज तथा सत्वगुणो के बंधन से क्रमशः मुक्त होता हुआ इनके परे चला जाता है तो वह देह भाव से मुक्त होकर 'अमृत' अर्थात् अपनी शाश्वतता की अनुभूति में स्थित हो जाता है।

त्रिगुणातीत अवस्था की महिमा सुनकर अर्जुन ने इस संबंध में श्लोक-२१ में वर्णित ये ३ प्रश्न किए-

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान् , अतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतान् , त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

कैः लिङ्गैः त्रीन् गुणान् एतान् , अतीतः भवति प्रभो । किम् आचारः कथम् च एतान् , त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥

अर्जुन ने पूछा- **प्रभो-** हे भगवान ! **एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः कैः लिङ्गैः भवति-** इन तीन गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन लक्षणों से (युक्त) होता है? **च किम् आचारः-** और (वह) किस प्रकार के आचरणों वाला होता है? **कथम् एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते-** (वह) कैसे इन तीन गुणों से अतीत होता है?

अर्जुन के उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में भगवान ने प्रथम दो प्रश्नों- त्रिगुणातीत हुए पुरुष के लक्षण क्या है और उसका आचरण कैसा होता है- इन दो के उत्तर एक साथ श्लोक-२२ से २५ में दिए हैं। वस्तुतः इन चारों श्लोकों में एक ही वाक्य है अतः इनका अध्ययन हम एक साथ करेंगे।

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च , मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि , न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च , मोहम् एव च पाण्डव । न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि , न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

उदासीनवदासीनो , गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव , योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उदासीनवत् आसीनः , गुणैः यः न विचाल्यते । गुणाः वर्तन्ते इति एव , यः अवतिष्ठति न इङ्गते ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः , समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः , तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

सम-दुःख-सुखः स्वस्थः , सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः । तुल्य-प्रिय-अप्रियः धीरः , तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः ॥

मानापमानयोस्तुल्यः , तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी , गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मान-अपमानयोः तुल्यः , तुल्यः मित्र-अरि-पक्षयोः । सर्व-आरम्भ-परित्यागी , गुणातीतः सः उच्यते ॥

टीकाओं में इन श्लोकों के जो शब्दार्थ और भावार्थ मिलते हैं वे अंशत: बेढब प्रतीत होते हैं क्योंकि वें इस भाव को प्रकट करते हैं कि त्रिगुणातीत हुआ साधक उसमें जब भी कोई गुण क्रियाशील होगा तो वह उस स्थिति को उदासीनवत निरपेक्ष भाव से देखता रहेगा, किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होने देगा- उनके प्रकट होने पर न तो उनसे घृणा करेगा और न उनके लुप्त रहने पर उनके होने की इच्छा करेगा। वस्तुतः ऐसा अर्थ करते हुए इस बात पर संभवत ध्यान नहीं गया दिखता है कि त्रिगुणातीत हुए साधक में कोई भी गुण (उदा. द्वेषयोग्य तमोगुण) आएगा ही क्यों? वहाँ केवल शब्दार्थ कर दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः यहाँ गुणों के प्रवृत्त होने अथवा निवृत्त होने की जो बात कही गई है वह निश्चित ही गुणातीत हुए व्यक्ति के बारे में न होकर उन अन्य लोगों के बारे में ही हो सकती है जो अभी गुणों में स्थित हैं और जिनसे इस त्रिगुणातीत का संपर्क अथवा व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ, यदि वह दूसरा व्यक्ति तमोगुणी व्यवहार करता है तो भी त्रिगुणातीत उससे द्वेष नहीं करेगा और न उस स्थिति से निवृत्त होकर तुरंत सतोगुणी होने की आशा करेगा। वह तो गुणों की माया (दृष्टव्य: श्लोक-७.१३.१४) के पीछे काम कर रही भगवत् शक्ति की कार्यप्रणाली (दृष्टव्य:श्लोक-१८.६१ और उस पर टिप्पणी) को देख-समझकर निरपेक्ष भाव से अपने कर्तव्य का निर्धारण करेगा (सर्वोत्तम प्रत्यक्ष उदाहरण महाभारत ग्रंथ में वर्णित भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र है ही)। गीता के मूल भाव के अनुरूप यह भावार्थ श्लोकों के शब्दों से भी व्यक्त हो रहा है जो कि इन श्लोकों के हमारे निम्नलिखित अनुवाद में देखी जा सकती है।

पाण्डव- हे अर्जुन ! **प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च मोहम् एव च-** (सत्त्व गुण से होने वाले) प्रकाश को, और (रजोगुण से होने वाली सकाम कर्मों की) प्रवृत्ति को, तथा (तमोगुण से होने वाले) मोह को **सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि -**(दूसरों में) क्रियाशील देखकर (उनसे) द्वेष नहीं करता, **न निवृत्तानि काङ्क्षति -** (तथा उनमें किसी उच्च गुण के) न होने पर उनके होने की अपेक्षा नहीं करता, **उदासीनवत् आसीनः -** निरपेक्ष की भांति स्थित हुआ, **गुणैः यः न विचाल्यते-** गुणों के द्वारा जो कभी विचलित नहीं होता, **गुणाः वर्तन्ते इति एवम् यः अवतिष्ठति न इङ्गते -** गुण ही कार्यशील होते हैं, इस प्रकार जानते हुए जो जीवात्मा को अलग समझता है (और) उस स्थिति से कभी डोलायमान नहीं होता(२२ से २३), **स्वस्थः सम-दुःख-सुखः -** आत्मा भाव में स्थित, दुख-सुख में सम रहने वाला, **सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः-** मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला, **धीरः-** जो धीर है, **तुल्य-प्रिय-अप्रियः-** जो अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्रति समान बना रहता है, **तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः-** जो प्रशंसा तथा बुराई में समान भाव वाला है, **मान-अपमानयोः तुल्यः-** जो मान और अपमान में सम रहता है, **तुल्यः मित्र-अरि-पक्षयोः-** जो मित्र और शत्रु के प्रति एक सा है, **सर्व-आरम्भ-परित्यागी -** जिसने सब काम्य कर्मों का परित्याग कर दिया है **गुणातीतः सः उच्यते -** उसे गुणातीत कहा जाता है ।

यद्यपि उपरोक्त चारों श्लोकों में गुणातीत पुरुष के लक्षण और उसके आचरण का वर्णन एक ही वाक्य में किया गया है तथापि देखा जा सकता है कि श्लोक-२२,२३ में लक्षणों का तथा श्लोक-२४,२५ में आचरणों का वर्णन तो हुआ ही है, ये आचरण ही ज्ञान मार्गी के लिए गुणातीत होने के उपाय भी हैं। टीकाकारों ने केवल श्लोक-२६ में तीसरे प्रश्न का अर्थात् गुणातीत होने के उपाय का वर्णन है ऐसा माना है किन्तु उनकी यह मान्यता भी अर्ध सत्य ही है क्योंकि श्लोक-२५ के अंतिम पद के शब्द- 'गुणातीतः सः उच्यते' से स्पष्ट है कि श्लोक-२४,२५ में वर्णित आचरण भी गुणातीत होने के उपाय है और ये उपाय निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले कर्म-सन्यास मार्ग के साधकों के लिए कहे गए हैं(द्दष्टव्य: श्लोक-१८.५०,५३)। भक्ति द्वारा सगुण परमेश्वर की उपासना करने वाले साधकों को भी गुणातीत अवस्था तो प्राप्त हो ही जाती है, ये उपासक परम सत्ता की निर्गुण ब्रह्म से उच्चतर जो चार (आगे श्लोक-२७ में वर्णित) अवस्थाएं हैं उनका भी ज्ञान प्राप्त करते हुए निश्चल अनन्य भक्ति की ओर बढ़ते जाते हैं। यह बात श्लोक-२६ और २७ में इस प्रकार वर्णित है-

मां च योऽव्यभिचारेण , भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् , ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

माम् च यः अव्यभिचारेण , भक्ति-योगेन सेवते । सः गुणान् समतीत्य एतान् , ब्रह्म-भूयाय कल्पते ॥

च यः अव्यभिचारेण भक्ति-योगेन माम् सेवते- और जो अनन्य भक्ति योग से मेरी सेवा करता है, **सः एतान् गुणान् समतीत्य ब्रह्म-भूयाय कल्पते -** वह (भी) इन त्रिगुणों को पूरी तरह लांघ कर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् , अमृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य , सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ब्रह्मणः हि प्रतिष्ठा अहम् , अमृतस्य अव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य , सुखस्य एकान्तिकस्य च ॥

हि अहम् ब्रह्मणः - वस्तुतः मैं ही (सगुण) ब्रह्म का, **च अव्ययस्य अमृतस्य -** तथा सनातन अमृत अर्थात् जीवात्मा का, **च शाश्वतस्य धर्मस्य -** और शाश्वत धर्म का, **च एकान्तिकस्य सुखस्य प्रतिष्ठा (अस्मि) -** एवं अंतिम निर्णायक तत्व (अर्थात् सभी प्राणियों में जीवन जीने की इच्छा के प्रेरक तत्व) सुख का आश्रय भूत तत्त्व हूँ ।

श्लोक-२६,२७ में भगवान के वचनों का भावार्थ यह है कि जो साधक अव्यभिचारिणी भक्ति अर्थात् मनसा-वाचा-कर्मणा से एकरस होकर भक्ति का मार्ग चुनता है उसको त्रिगुणातीत होने के लिए अपनी ओर से कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता। भक्त को वह अवस्था स्वतः ही प्राप्त हो जाती है तथा वह ब्रह्म भूत अवस्था भी प्राप्त करते हुए इस सृष्टि की प्रत्येक विकास परख घटना में उनकी

(परमेश्वर) ज्ञान शक्ति का हाथ देखता हुआ उस परम शक्ति के प्रति समर्पित जीवन जीता है। दूसरी ओर स्वप्रयास वाली साधना का वर्णन श्लोक-२३ से २५ में किया गया था। उस वर्णन से प्रकट होता है कि वहाँ वर्णित आचरणों का सतत अभ्यास करते रहने पर भी त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त तो हो जाएगी किंतु एक तो साधक को इसके लिए अपनी वृत्तियों और दृष्टियों में जो परिवर्तन करना होंगे वे संसार से व्यवहार पूर्णतः तोड़े बिना संभव नहीं होंगे (उदाहरण- समलोष्टाश्म काञ्चनः वाली दृष्टि तो सन्यास आश्रम के संचालक भी धारण नहीं कर पाएंगे)। दूसरे जो उपलब्धि होगी वह भी सीमित इस रूप में होगी कि वह ब्रह्म अर्थात् परम सत्ता के केवल एक स्वरूप, संभवतः अक्रिय अवस्था का दर्शन अथवा उसमें अपनी सत्ता के विलय की अनुभूति कर पाएगा (द्रष्टव्य: अध्याय-५ के श्लोक 18 से 26 तथा अध्याय-६ के श्लोक-२७,२८), उस परम सत्ता के जो चार क्रियात्मक पक्ष हैं, और जो यहाँ श्लोक-२७ में इंगित कर के अध्याय-१५ में विस्तार से वर्णित किए गए हैं, उनसे तो वह स्वप्रयास वाला साधक अज्ञ ही रहेगा। इन्हीं तथ्यों को तुलसी ने मानस (अरण्य,दोहा ४२ के बाद) में भगवान राम के मुंह से इस प्रकार कहलाया है -

मोरें प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
करऊँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।

श्लोक-२६ में जो 'ब्रह्म' शब्द है तथा श्लोक-२७ में ब्रह्म के अतिरिक्त 'अमृत, शाश्वत धर्म तथा एकांतिक सुख' शब्द है उनका संबंध अगले अध्याय-१५ की विषय वस्तु से है। अध्याय-१५ में भगवान ने सृष्टि में अनुष्यूत और उसे गति देने वाली परम सत्ता के चारों पादों (पक्षों) का जो वर्णन किया है उन्हीं को यहाँ इन चार शब्दों / पदों से इंगित किया गया है। इसके अनुरूप ही हमने श्लोक-२७ का भावार्थ किया है। परम सत्ता के उक्त चार व्यक्त रूपों की विवेचना तो हम आगे अध्याय-१५ के अध्ययन के अंतर्गत करेंगे ही, यहाँ हम एक संक्षिप्त जानकारी पूर्व भूमिका के रूप में दे रहे हैं।

ब्रह्म : गीता में ब्रह्म के दो रूपों का संदर्भ है- निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म। निर्गुण ब्रह्म का सन्दर्भ कर्म-सन्यास साधनाओं की उपलब्धि के रूप में अध्याय-५ और ६ में था। यहाँ (अध्याय-१४ में) संदर्भ सगुण ब्रह्म का है जिसकी व्याख्या स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने ('श्री गीता- रस रत्नाकर') में बहुत स्पष्ट की है। उनके शब्द हैं- '१४वें अध्याय (श्लोक-२६,२७) में जो ब्रह्म शब्द है वह संकोच विस्तार को प्राप्त होने वाली जो प्रकृति है उसकी प्रतिष्ठा है। ... भगवान के शब्द हैं- ब्रह्मणो ही प्रतिष्ठा अहं'। हमारी धारणा है कि इस ब्रह्म की प्राप्ति हेतु यहाँ दो प्रकार की साधनाओं का वर्णन

हुआ है- १. स्वप्रयास वाली साधना का वर्णन श्लोक-२४,२५ में और २. पूर्ण समर्पण रूप भक्ति का उल्लेख श्लोक-२६ में तथा विस्तृत वर्णन पहले श्लोक-१२.६ से १२ में किया गया था।

ब्रह्म रूप में क्रियाशील भगवत् सत्ता के इस अंश से सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय की क्रियाएं सतत गतिमान है, इसे अगले अध्याय (श्लोक-१ से ३) में अश्वत्थ वृक्ष के रूपक से वर्णित किया गया है।

अमृत : भगवत् सत्ता द्वारा प्रकृति में विकास प्रक्रिया का दूसरा चरण है मनुष्य शरीर में जीवात्मा का प्रादुर्भाव और पुनर्जन्म की प्रक्रिया द्वारा उसका आध्यात्मिक विकास। जीवात्मा को ही 'अमृत' नाम से संबोधित किया गया है और उसकी पुनर्जन्म यात्रा को अध्याय-१५ के श्लोक-७ से ११ में वर्णित किया गया है।

शाश्वत धर्म : यहाँ धर्म का अर्थ है मूल स्वभाव। भगवत् सत्ता का शाश्वत धर्म है- विकास। वह सत्ता जिस क्षेत्र में भी प्रकृति की विध्वंसक क्रियाओं को नियंत्रित कर लेती है वहाँ उसे विकास पथ पर आगे बढ़ाती है। हमारे सौरमंडल के क्षेत्र में चलने वाली विकास प्रक्रियाओं- नुक्लियर क्रियाओं द्वारा सूर्य के जलने से लेकर पृथ्वी पर जैविक विकास की कड़ियों का तथा उसी क्रम में मनुष्य के आविर्भाव और उसके मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की मुख्य कड़ियों का वर्णन भगवान ने श्लोक-१५.१२ से १५ में किया है, उसे ही यहाँ श्लोक-१४.२७ में उस सत्ता का शाश्वत धर्म कहा गया है।

एकांतिक सुख : संपूर्ण जीव जगत में जीवन जीने की जो लालसा देखी जाती है, उसका कारण सुखाननुभूति है। सुख का स्वरूप जीव की विकास स्थिति के अनुरूप प्राणिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक हो सकता है किंतु है वह सुखानुभूति के रूप में परमात्म शक्ति रूप चेतना ही जो जीवन मात्र में जिजीविषा (जीने की प्रबल इच्छा) और मनुष्य में उच्च जीवन की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। चेतना के इन तीनों स्तरों को अध्याय-१५ (श्लोक-१६ से १८) में क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष के रूप में वर्णित किया गया है।

अध्याय-१५ की भूमिका

अध्याय-१४ की विषय वस्तु सांख्य मार्ग के साधकों के लिए थी तो अब अध्याय-१५ कर्मयोग/ भक्ति मार्ग के साधकों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अध्याय-१४ के अंतिम श्लोक में, जैसा कि हम वहाँ कह चुके हैं, इस अध्याय-१५ के विषय को सार रूप में किया गया था। व्यक्ति परम सत्ता के चार पाद कहे गए थे- १. अव्यय(सतत वर्तमान) संसार रूप व्यक्त ब्रह्म, २. अमृत रूप जीवात्मा, ३. शाश्वत धर्म के रूप में इंगित सतत विकास करने वाली चेतन शक्ति, ४. संपूर्ण जीव जगत में जीने की प्रबल इच्छा का मूल तत्त्व ' एकांतिक सुख'।

अब अध्याय-१५ मैं परमात्म सत्ता के उक्त चार पादों की विवेचना क्रमशः श्लोक-१ से ६, श्लोक-७ से ११, श्लोक-१२ से १५ और श्लोक-१६ से १९ में करके श्लोक-२० में भक्त साधकों के लिए इस वार्ता का महत्व बताया गया है।

◆ ◆ ◆

पञ्चदशः अध्यायः

परमात्म सत्ता के चार पाद

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् , अश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि , यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

ऊर्ध्व-मूलम् अधः-शाखम् , अश्वत्थम् प्राहुः अव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि , यः तम् वेद सः वेदवित् ॥

श्री भगवान ने (फिर) कहा- **ऊर्ध्व-मूलम् अधः-शाखम् छन्दांसि यस्य पर्णानि अव्ययम् अश्वत्थम् प्राहुः -** जिसकी मूल जड़ ऊपर है, शाखाएं नीचे फैली हुई है, वैदिक ऋचायें जिसके पत्ते हैं, जिसे सनातन अश्वथ (पीपल/वट) वृक्ष कहा गया है, **तम् यः वेद सः वेदवित् -** उसका जो जानता है वह ज्ञानवान है।

भगवान ने अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त जगत की सृष्टि को अश्वत्थ वृक्ष की उपमा से समझाया है। गीता में यह उपमा कठोपनिषद (२.३.१) से ली गई है जहाँ यह अपेक्षाकृत कम विस्तार से कही गई है। दोनों वर्णनों में इतनी बात समान है कि इस सनातन अश्वत्थ वृक्ष का मूल तो ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर फैली हुई हैं। इसके भावार्थ को हृदयंगम करने हेतु हमें यहाँ प्रयुक्त हुए कुछ शब्दों के भावार्थ पर विचार करना होगा।

अश्वत्थ वृक्ष : अश्वत्थ वृक्ष को सामान्यतः पीपल का वृक्ष माना गया है और कठोपनिषद के वर्णन में अश्वत्थ वृक्ष को पीपल मानने से कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती है किंतु गीता में क्योंकि उस उपमा का विस्तार किया गया है अतः यहाँ पीपल वृक्ष की उपमा ठीक नहीं बैठती है। आगे श्लोक-३ में अश्वत्थ वृक्ष की उन उपजड़ों का भी वर्णन है जो शाखाओं से निकल कर भूमि में समाकर वृक्ष को सुदृढ़ता और दीर्घकालीनता प्रदान करती हैं और जिन्हे काट डालना आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए आवश्यक बताया गया है, अतः इस वर्णन के परिप्रेक्ष्य में अश्वत्थ वृक्ष का अर्थ वट ही लिया जाना उचित है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि में वट, पीपल और अंजीर- इन तीनों वृक्षों को समान माना गया है (द्रष्टव्यः विष्णुसहस्रनाम,

श्लोक-१०१), अतः गीताकार ने वटवृक्ष की उपमा देते हुए कठोपनिषद के अश्वत्थ नाम को उससे सतत परिवर्तन होने वाले गुण को अभिव्यक्त करने वाला होने के कारण (अश्वत्थ=अ+श्व+त्थ,श्व=आने वाला कल, अतः अश्वत्थ = जो कल ऐसा नहीं रहेगा, निरंतर परिवर्तनशील) यथावत रखा है, यद्यपि वर्णन वट वृक्ष का है। तिलक ने 'गीता रहस्य' में उपनिषदों के अनेक उध्दरण देकर यह सिद्ध किया है कि उस काल में अश्वत्थ नाम वटवृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता था।

उर्ध्व मूलम् अधःशाखम् : उक्त संसार वृक्ष की जड़ ऊपर है और शाखाएं नीचे है इस कथन में 'उर्ध्व और नीचे' शब्दों के अर्थ ज्यामितीय रूप में न लेते हुए 'उर्ध्व' का अर्थ श्रेष्ठ /पवित्र और 'नीचे' का अर्थ अश्रेष्ठ / अज्ञानपरक जानना चाहिए। विनोबा ने ऊपर-नीचे शब्दों के एक और भाव को व्यक्त किया है- नीचे जो है वह सहज प्राप्य है, ऊपर जो है वह सहज प्राप्य नहीं है, उस परम को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। श्रुति ने हमारी साधारण दृष्टि से ओझल उस परम तत्व को, जो कि संसार को अदृश्य रूप से संचालित कर रहा है और उसे विकास की दिशा भी प्रदान कर रहा है, जानने और अपने जीवन को तदनुरूप उसे समर्पित करने की प्रेरणा देने के लिए यह वर्णन किया है।

अव्यय : संसार वृक्ष को यहाँ अव्यय अर्थात् शाश्वत कहा गया है जबकि पहले कहा गया था कि प्रत्येक कल्प में संसार की उत्पत्ति, स्थिति और अंत में विनाश होता है (श्लोक-९.७),अतः यहाँ संसार वृक्ष को अव्यय कहने का एक विशेष अर्थ है। यहाँ अर्थ है कि 'संसार का प्रवाह' नित्य है, संसार परिवर्तनशील है, नदी में जल के प्रभाव की तरह है। जैसे किसी भी स्थान पर नदी का जल वही नहीं रहता किंतु नदी बनी रहती है उसी तरह संसार में सब कुछ परिवर्तन शील होते हुए भी संसार का स्वरूप प्रलय काल तक बना रहता है।

छन्दासि यस्य पर्णानि : वेदों के छंद (अर्थात् मंत्र/श्लोक) इस संसार वृक्ष के पत्ते हैं, इस कथन की मीमांसा दो प्रकार से की गई है। विनोबा ने कहा कि सृष्टि रूप इस वृक्ष के पत्ते-पत्ते में ज्ञान भरा है। दूसरा अर्थ इस रूप में किया गया है- छन्दासि शब्द में छद् धातु है जिसका अर्थ ढकना होता है, इस आधार पर तिलक महोदय ने और स्वामी अखंडानंद सरस्वती ने वृक्ष को ढकने वाले पत्तों से वेदो के शब्दों की समता बताई है और स्वामी जी ने उक्त समता की एक चित्ताकर्षक व्याख्या इस रूप में की है कि उक्त संसार रूपी वृक्ष में काम, क्रोध, लोभ आदि जो दोष हैं उनका परिमार्जन क्रमशः विवाह, धर्मयुद्ध, व्यापार-वाणिज्य आदि के विधान बनाकर किया गया है, इस

तरह श्रुतियों के ये विधान ही इस वृक्ष के पत्ते हैं जिन्होंने दोषों को ढक कर उसे सुंदर रुप प्रदान कर दिया है। इस व्याख्या का विस्तार हम एक और रूप में भी कर सकते हैं। सुचारू सामाजिक जीवन रूपी वृक्ष के लिए भी निर्देशों का स्वरूप जीवनदायी पत्तों की तरह होता ही है। इसका एक और महत्वपूर्ण पक्ष भी है- पत्ते वृक्ष को जीवन प्रदान करते हैं किंतु वें कभी स्थाई नहीं होते, पुराने पत्तों का स्थान नए पत्ते लेते हैं और इस प्रक्रिया से ही वृक्ष की आयु लंबी होती है। इसी प्रकार, समाज स्वस्थ और 'सर्वे भवंतु सुखीन:' के मार्ग पर अग्रसर तभी रह पाएगा जब उसका निर्देशन करने वाले विधान में समयानुकूल परिवर्तन होते रहेंगे। जहाँ ऐसी व्यवस्था नहीं होगी, वह समाज न तो सुखी होगा और न ही मानसिक, आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर हो सकेगा। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे यहाँ श्रुतियों और स्मृतियों में भेद किया गया है- श्रुतियों के निर्देश सार्वकालिक होते हैं और स्मृतियों के निर्देश काल सापेक्ष होते हैं।

'संसार वृक्ष को जानने' का अर्थ : सृष्टि की सभी रचनाओं की भांति संसार वृक्ष में भी दो शक्तियां क्रियाशील हैं- क्रियाशक्ति रूप प्रकृति और ज्ञान शक्ति रूप पुरुष। ज्ञान शक्ति के निर्देशन में क्रियाशक्ति कार्य करे तो सर्वत्र सुख-शांति की स्थापना होती है, यह जानना ही वेद के तात्पर्य को जानना (वेदवित्त होना) है।

श्लोक-१ में अव्यय संसार वृक्ष का जो वर्णन किया गया है वह उसके समष्टि रूप का वर्णन था। अब अगले तीन श्लोकों में मनुष्य लोक में अर्थात् मानव मन में संबंधों का जैसा अश्वत्थ वृक्ष 'मैं' रूप बीज से प्रस्फुटित होकर फैलता है और उसे जकड़ कर परमात्मा से दूर कर देता है उसके स्वरूप का वर्णन और उससे छूटने का उपाय भी भगवान बता रहे हैं।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अधः च ऊर्ध्वम् प्रसृताः तस्य शाखाः , गुण-प्रवृद्धाः विषय-प्रवालाः ।
अधः च मूलानि अनुसन्ततानि , कर्म-अनुबन्धीनि मनुष्य-लोके ॥

मनुष्य-लोके तस्य शाखाः विषय-प्रवालाः गुण-प्रवृद्धाः अधः च ऊर्ध्वम् प्रसृताः- मनुष्य लोक में उसकी विषय भोग रूप कोपलों से युक्त शाखाएं (त्रि)-गुणों से पुष्ट होकर नीचे और ऊपर फैली हुई हैं **च कर्म-अनुबन्धीनि मूलानि अधः अनुसन्ततानि -** और कर्म बंधन रूप जड़ें नीचे बहुत गहरी चली जाती हैं ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

न रूपम् अस्य इह तथा उपलभ्यते , न अन्तः न च आदिः न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थम् एनम् सुविरूढ-मूलम् , असङ्ग-शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये ।
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

ततः पदम् तत् परिमार्गितव्यं , यस्मिन् गताः न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव च आद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये , यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

अस्य रूपम् इह तथा न उपलभ्यते - इस (संसार वृक्ष) का स्वरूप (यहाँ मानसिक स्तर पर) ठीक वैसा नहीं पाया जाता, **न आदिः न अन्तः च न सम्प्रतिष्ठा -** न (तो इसका) आदी है, न अंत है, और न (इसका) उचित आधार है, **(अतः) एनम् अश्वत्थम् सुविरूढ-मूलम् दृढेन असङ्ग-शस्त्रेण छित्त्वा -** (इसलिए) इस अश्वत्थ वृक्ष की (मूल जड़ से) विपरीत दिशा वाली कर्म बंधन वाली जड़ों को दृढ़ अनासक्ति रूपी शस्त्र से काटकर **ततः तत् पदम् परिमार्गितव्यं (अहम्) तम् एव आद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये -** तब उन आदि पुरुष को (इस भाव से) खोजना चाहिए कि मैं उनके शरण हूँ **यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता च यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति -** जिनसे इस सनातन (संसार वृक्ष की) प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है और जिन को प्राप्त कर लेने वाले (साधक) लौटकर संसार में नहीं आते।

उपरोक्त तीन श्लोकों में उस भिन्न प्रकार के अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन किया गया है जो परमेश्वर द्वारा नहीं वरन मनुष्य के 'मैं' रूप अहम् द्वारा अपने मानस में उत्पन्न और वृद्धित कर लिया जाता है तथा उसमें ही वह जन्म-जन्मांतर के लिए तब तक फंसा रहता है जब तक कि उसे इस स्थिति का ज्ञान नहीं हो जाता। श्लोक-२ में तो अज्ञानाधकार से ग्रस्त स्वनिर्मित इस अश्वत्थ वृक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है और श्लोक ३ तथा ४ में उसकी भिन्नता परमेश्वर द्वारा निर्मित संसार वृक्ष से (जिसका वर्णन श्लोक-१ में किया गया है) बताकर उसके मकड़जाल से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। इस बात को भली प्रकार समझ लेने के लिए हमें उन शब्दों की थोड़ी विवेचना कर लेनी होगी जिनका प्रयोग गीताकार ने यहाँ किया है।

गुण-प्रवृद्धाः अधः च ऊर्ध्वम् शाखा : उक्त मानसिक वृक्ष की कोपलें सुख भोग की कामनाओं से प्रस्फुटित होती हैं और तम,रज, सत्व गुणों से पुष्ट हो कर क्रमशः नीचे, बीच में और ऊपर फैलने वाली शाखा रूप दृढ़ वृत्तियाँ बन जाती है। तमोगुण से पनपने वाली वृत्तियाँ क्योंकि मनुष्य को परमात्मा से विपरीत दिशा में ले जाती है इसलिए उनको नीचे की ओर बढ़ने वाली शाखाओं से, रजोगुण से पुष्ट होने वाली वृत्तियों को बीच वाली शाखाओं से तथा सत्वगुण से पुष्ट होने वाली वृत्तियों को ऊपर की ओर जाने वाली शाखा से निरूपित किया गया है।

कर्म-अनुबन्धीनि मूलानि अधः अनुसन्ततानिः रज और तम वृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्य जिन सकाम कर्मों को करके उनके फल रूप सुखों का उपभोग करता है वें सखानुभूतियाँ वट वृक्ष की शाखाओं से निकलने वाली जटाओं की तरह नीचे मनस रुपी पृथ्वी में पैठकर उन वृत्तियों को मजबूती प्रदान करते हुए अहम् चेतना को इन वृत्तियों में दृढ़ता से बांध देती हैं और उसे परमात्म अनुभूति की ओर बढ़ने से दूर हटा देती है।

अस्य रूपम् ... न आदिः न अन्तः च न सम्प्रतिष्ठा : यहाँ वर्णित मानस वृक्ष पहले श्लोक-१ में वर्णित संसार वृक्ष से इस रूप में भिन्न है कि संसार वृक्ष को उत्पन्न, पालन और अंत करने वाला परमेश्वर ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र रूप में उसका नियमन करता है, जबकि व्यक्ति के इस मानस वृक्ष का आधार परम सत्ता न होकर उसकी 'मैं' रूप आभासित सत्ता है जो सुख-दुखों के झंझावातों से चैतन्य होकर अंततः ज्ञान अर्जित करने पर अपनी मूल सत्ता को जब प्राप्त कर लेता है तब न तो इस 'मैं' का स्वतंत्र अस्तित्व रहेगा और न यह मानस वृक्ष रहेगा। इसलिए यह वृक्ष न तो स्वयं अव्यय है और न ही इसकी प्रतिष्ठा किसी अव्यय सत्ता पर टिकी है।

इन मानसिक अश्वत्थ वृक्ष से मुक्ति का उपाय : अज्ञान से पनपे इस मानसिक वृक्ष से हम कैसे यथाशीघ्र मुक्त होकर अपने परम पद (लक्ष्य) को प्राप्त कर सकते हैं, इसका उपाय बताया गया है कि आसक्तिरूप रूप इसकी जड़ों को काट दिया जाए। यह कार्य 'लोके अस्मिन् द्विविधा निष्ठां' (श्लोक-३.३) वाले सूत्रानुरूप दो प्रकार से किया जाता है- कुछ साधक कर्म-सन्यास अपनाते हुए संसार से यथासंभव संबंध विच्छेद कर केवल परम-आत्मा के चिंतन में अपने को पूरी तरह से लगाने का प्रयास करते हैं, और अन्य साधक कर्मयोग अर्थात् अनासक्त होकर कर्मों को भगवत् प्रीत्यर्थ (अर्थात् भक्ति के रूप में) करते हुए भगवत् प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। यद्यपि भगवान ने इस दूसरे मार्ग की ही अनुशंसा गीता में बार-बार की है किंतु

दोनों मार्गों की तुलना प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने कर्म-सन्यास मार्ग वाली साधना की विवेचना साथ-साथ प्रस्तुत की है। यहाँ यद्यपि वें ब्रह्म से संसार वृक्ष की उत्पत्ति को सर्वव्यापक परमात्मा सत्ता की अभिव्यक्ति के प्रथम चरण के रूप में वर्णित कर रहे हैं तथापि वें उन कर्म-सन्यास मार्ग के साधकों के हितार्थ जो कि संसार को इतना त्याज्य समझते हैं कि संसार में पुनःजन्म लेना नहीं चाहते और इस कारण परम सत्ता के आदि स्वरूप, निर्गुण ब्रह्म में ही समा जानेकी इच्छा से साधना करते हैं, उनके लिए अगले दो श्लोकों (क्रमांक-५ और ६) में वर्णित गुणों को धारण करने की आवश्यकता बता रहे हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्-
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

निर्मान-मोहाः जितसङ्गदोषाः , अध्यात्म-नित्याः विनिवृत्त-कामाः ।
द्वन्द्वैः विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञैः , गच्छन्ति अमूढाः पदम् अव्ययं तत् ॥

न तद्भासयते सूर्यो ,न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते , तद्धाम परमं मम ॥६॥

न तत् भासयते सूर्यः , न शशाङ्कः न पावकः । यत् गत्वा न निवर्तन्ते , तत् धाम परमम् मम ॥

निर्मान-मोहाः- जो अभिमान और मुंह से मुक्त हो गए हैं, **जितसङ्गदोषाः-** जिन्होंने आसक्ति रूपी दोष को जीत लिया है, **अध्यात्म-नित्याः -** जिन्होंने अध्यात्म ज्ञान में शाश्वतता प्राप्त कर ली है, **विनिवृत्त-कामाः, सुख-दुःख-संज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः -** (वे) सुख-दुख नामक द्वंदों से विमुक्त ज्ञानी जन **तत् अव्ययं पदम् गच्छन्ति -** अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं **यत् गत्वा न निवर्तन्ते -** जिसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर इस संसार में लौट कर नहीं आते, **तत् परमम् न सूर्यः न शशाङ्कः न पावकः भासयते -** उस परम को न तो सूर्य, न चंद्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित करता है, **तत् मम धामः -** वह मेरा घर है (जहाँ में विश्राम करता हूँ)।

जो संसार में लौटकर नहीं आना चाहते वें निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति हेतु साधना करते हैं और जब वें उपरोक्त गुणों को धारण करने में सफल होते हैं तब ही उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य हो पाते है।

दूसरी और सगुण परमेश्वर को भक्ति से प्राप्त करने के इच्छुक साधकों कों मार्गदर्शन देने हेतु भगवान अपना यह मूल स्वभाव बता रहे हैं कि वें अधिक से अधिक लोगों को प्रकृति की दासता से मुक्त, एकत्व अनुभूति के आनंद में स्थित अपने समान अवस्था

में पहुंचना चाहते हैं, यही उनके सृष्टि विकास का मूल उद्देश्य है। जो उनके इस उद्देश्य में सहयोगी बनने को तत्पर हों वही उनके प्रिय भक्त हैं। विकास के इस कार्यक्रम का चित्र स्पष्ट करने हेतु ही वें सृष्टि विकास की अपनी चार चरण वाली क्रियात्मक योजना का सारांश समझा रहे हैं। संसार की उत्पत्ति और फैलाव वाले प्रथम चरण का, जिसमें प्रकृति की प्रबलता अधिक होने के कारण पुरुष तत्व रूप चेतना स्थाई स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाती है, वह केवल क्षर पुरुष के रूप में ही अभिव्यक्त होती है, उसका वर्णन करने के बाद भगवान अब उस दूसरे चरण का वर्णन करने जा रहे हैं जिसमें उनका प्रकृतिस्थ चेतना अंश (जीवात्मा) 'अमृत' अर्थात् स्थाई स्वरूप ग्रहण करके प्रकृति को वश में करने की दिशा में विकास पथ पर पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा आगे बढ़ता है।

जीवात्मा की इस यात्रा को श्लोक-७ से ११ में वर्णित किया गया है-

ममैवांशो जीवलोके , जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि , प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मम एव अंशः जीव-लोके , जीव-भूतः सनातनः । मनः-षष्ठानि-इन्द्रियाणि , प्रकृति-स्थानि कर्षति ॥

जीव-लोके मम एव अंशः सनातनः जीव-भूतः - जीव जगत में मेरा ही अंश सनातन जीवात्मा होकर **प्रकृति-स्थानि इन्द्रियाणि मनः-षष्ठानि कर्षति -** प्रकृति स्थित पांचों इंद्रियों और छठे मन को (इनसे विषयों को भोग कर इन्हें) आकर्षित करता है।

शरीरं यदवाप्नोति , यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति , वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

शरीरम् यत् अवाप्नोति , यत् च अपि उत्क्रामति ईश्वरः । गृहीत्वा एतानि संयाति , वायुः गन्धान् इव आशयात् ॥

वायुः आशयात् गन्धान् इव ईश्वरः अपि - वायु (गंध के) स्थान से गंध को जैसे (ग्रहण करके ले जाता है वैसे ही इंद्रिय मन का) स्वामी जीवात्मा भी **यत् उत्क्रामति एतानि गृहीत्वा -** जिस (शरीर का) त्याग करता है, (उससे) इनको ग्रहण करके **च यत् शरीरम् अवाप्नोति (तस्मिन्) संयाति -** फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है (उसमें) ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च , रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं , विषयानुपसेवते ॥९॥

श्रोत्रम् चक्षुः स्पर्शनम् च , रसनम् घ्राणम् एव च । अधिष्ठाय मनः च अयम् , विषयान् उपसेवते ॥

अयम् श्रोत्रम् चक्षुः च स्पर्शनम् च रसनम् - यह (जीवात्मा) श्रोत्र,चक्षु और त्वचा को तथा रसना को **घ्राणम् च मनः अधिष्ठाय एव विषयान् उपसेवते -** घ्राणेन्द्रिय को और मन को अधिकार में करके ही विषयों का सेवन

करता है।

उपरोक्त श्लोकों में विषय भोगों में लिप्त अज्ञानी जीवात्मा के बार-बार जन्म लेने और मरने के चक्र का वर्णन करके यह बताया गया है कि जब तक उसे अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य का अर्थात् इन्द्रिय सुखों से उच्चतर/उच्चतम सुखों का पता नहीं चलता तब तक वह इन्ही तुच्छ सुखों को भोगने की कामनाओं से प्रेरित होकर पुनर्जन्म लेता रहेगा।

यहाँ जो वर्णन है वह केवल मार्गदर्शक होने से संक्षिप्त है, यहाँ शास्त्रीय विवेचन नहीं है, अतः कुछ इस प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है कि जीवात्मा द्वारा इंद्रियों और मन के जिन सूक्ष्म रूपों को पुनर्जन्म यात्रा में साथ ले जाने की जो बात कहीं गई है तो उनका वास्तविक स्वरूप क्या हो सकता है और यहाँ बुद्धि तथा अहंकार के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है, क्या जीवात्मा उन्हें साथ नहीं ले जाता? क्या इस जन्म में इन्हे परिमार्जित किए जाने वाले प्रयत्नों के परिणाम शून्य हो जाएंगे? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर हमें जीवात्मा रूप चेतना की उन क्रियात्मक विशेषताओं (functional characteristicks) के परिप्रेक्ष्य में सरलता से मिल सकते हैं जिनका उल्लेख गीता में अन्यत्र किया गया है। श्लोक-१३.२२ में जीवात्मा को भोक्ता अर्थात् अनुभव कर्ता कहा गया है, अतः वह इंद्रियां, मन आदि उपकरणों के माध्यम से भोगे हुए अनुभवों, जिन्हे वस्तुतः हम संस्कार कह सकते हैं, को ही साथ ले जाता है, यह अर्थ ही यहाँ अपेक्षित है। वस्तुतः साथ जाने वाली बुद्धि और अहंकार भी, जो कि विचारों के ही रूप हैं, अनुभवों को समझने की प्रक्रिया से जुड़े होते हैं। इसी कारण कहा गया है कि मनुष्य जैसा सोचता रहता है वैसा ही वह बन जाता है। इस प्रकार, निश्चित है कि जीवात्मा बुद्धि और अहंकार रूप विचारों के संस्कारों को भी निश्चित रूप से साथ ले जाता है, यहाँ गीताकार ने इन सूक्ष्म तत्वों का उल्लेख करना संभवतः इसलिए आवश्यक नहीं समझा होगा की सुधि पाठक जब उक्त स्थूल प्रभावों को समझने का प्रयास करेगा तो उसे उक्त सूक्ष्म प्रभावों की बात भी स्वतः स्पष्ट हो जाएगी।

अब अगले दो श्लोकों में भगवान इस प्रकार की शंकाओं का उत्तर दे रहे हैं कि जीवात्मा द्वारा एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाकर सुख भोगने की जो बात कही गई है उसके प्रत्यक्ष देखे जाने का क्या कोई प्रमाण है? इसी प्रकार की अर्जुन की मौन शंका का उत्तर भगवान ने पहले 'देहांतर प्राप्ति' के संबंध में दिया था, (द्दष्टव्य: २.१४ से १६ पर टिप्पणी), यहाँ जीवात्मा के संबंध में उसी प्रकार की शंका का उत्तर निम्न दो श्लोकों (क्रमांक-१० और ११) में दे रहे हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि , भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति , पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

उत्क्रामन्तम् स्थितम् वा अपि , भुञ्जानम् वा गुण-अन्वितम् । विमूढाः न अनुपश्यन्ति , पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः ॥

उत्क्रामन्तम् वा स्थितम् वा गुण-अन्वितम् भुञ्जानम् अपि - शरीर छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को अथवा गुणयुक्त हो विषयों को भोंगते हुए को भी **विमूढाः न अनुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः -** अज्ञानी जन तो कभी नहीं देख पाते/ जान पाते, देख या जान पाते हैं तो केवल ज्ञान रूप नेत्रों वाले।

यतन्तो योगिनश्चैनं , पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो , नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यतन्तः योगिनः च एनम् , पश्यन्ति आत्मनि अवस्थितम् । यतन्तः अपि अकृत-आत्मानः , न एनम् पश्यन्ति अचेतसः ॥

यतन्तः योगिनः आत्मनि अवस्थितम् एनम् पश्यन्ति- यत्न करने वाले योगी जन (अर्थात् सिद्ध योगी ही) अपने में स्थित इस (जीवात्मा) को देखते हैं, अर्थात् देख सकते है, **च अकृत-आत्मानः अचेतसः यतन्तः अपि एनम् न पश्यन्ति -** किंतु जिन्होंने अपने अंतःकरण को (कर्मयोग द्वारा) शुद्ध नहीं किया है ऐसे अज्ञानी जन (तो) यत्न करने पर भी इस (जीवात्मा) को नहीं देख सकते या जान पाते।

अब तीसरे चरण का वर्णन करते हुए भगवान बता रहे हैं कि मेरी ज्ञान शक्ति रूप चेतना का प्रकृति में क्रमिक रूप से प्रवेश करता हुआ 'मैं' किस प्रकार उसे विकास पथ पर अग्रसर करता हूँ और जीवन के प्रादुर्भाव एवं संपूर्ण जैविक विकास से लेकर मनुष्य लोक में अमर जीवात्मा के प्रादुर्भाव से आगे उसके ज्ञानात्मक विकास के उस संपूर्ण पसारे (क्षेत्र) का वर्णन अगले चार श्लोकों (क्रमांक-१२ से १५) में कर रहे हैं जिसे उन्होंने श्लोक-१४.२७ में अपना शाश्वत धर्म कहा था।

यदादित्यगतं तेजो , जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ , तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

यत् आदित्य-गतं तेजः , जगत् भासयते अखिलम् । यत् चन्द्रमसि यत् च अग्नौ , तत् तेजः विद्धि मामकम् ॥

आदित्य अखिलम् जगत् भासयते - सूर्य प्रकाश संपूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, **यत् गतं तेजः-** जो (उसमें) स्थित तेज है **च यत् चन्द्रमसि-** और जो चंद्रमा में है **च यत् अग्नौ -** तथा जो अग्नि में है, **तत् तेजः विद्धि मामकम् -** उस तेज को (तू) मेरा ही (तेज) जान ।

'तेज' का अर्थ साधारण प्रकाश या ऊष्मा नहीं है, जैसा कि बहुधा कह दिया जाता है, यह इन भौतिक ऊर्जाओं में छिपे उस अंश का नाम है जिसे परमेश्वर ने अपने कल्याणकारी शक्ति से अनुप्राणित करके जीवन विकास का सामर्थ्य प्रदान किया है।

वस्तुतः 'तेज' का शब्दार्थ ही 'प्रभा, दीप्ति' के अतिरिक्त 'सामर्थ्य' भी है। इस दृष्टि को ग्रहण करने पर यह विडंबना भी समाप्त हो जाती है कि भारतीय संस्कृति में जल, अग्नि, ताप,वायु आदि प्रकृति की शक्तियों को, जो बहुधा रौद्र रूप धारण करके विनाशकारी हो जाती हैं, फिर भी उन्हें देवता क्यों कहा है? वस्तुतः इन शक्तियों के उन कल्याणकारी अंशों को देवता कहा गया है जो परमेश्वर के नियंत्रण में विकासशील होकर जीवो के लिए हितकारी बन जाते हैं। यहाँ विकिरण ऊर्जा के ऐसे ही जीवन पोषक बने अंश को 'तेज' नाम से संबोधित किया गया है।चन्द्रमा और अग्नि में अनुश्यूत इसी तेज को यहाँ सूचित किया गया है।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-१३) में बताया जा रहा है कि परमेश्वर द्वारा अनुप्राणित हो उनका वह 'तेज अंश' किस प्रकार जीवन के प्रादुर्भाव को गति प्रदान करते हुए वनस्पति रूप अचर जैविक सृष्टि का रचनाकार बनता है।

गामाविश्य च भूतानि , धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः , सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

गाम् आविश्य च भूतानि , धारयामि अहम् ओजसा । पुष्णामि च ओषधीः सर्वाः , सोमः भूत्वा रसात्मकः ॥

च अहम् गाम् आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि - और मैं (ही) पृथ्वी में प्रवेश करके (अपनी) ओजस शक्ति से सब भूतों को (प्राणावान वस्तुओं को) धारण करता हूँ (अर्थात् उन्हें उत्पन्न करके उनका पोषण करता हूँ) । **च रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि -** और (मैं ही) रस का निर्माण करने वाला सोम होकर सब वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ ।

उपरोक्त वचनों को समझने के लिए हमे निम्न तीन शब्दों के अर्थ परिपाटी के हटकर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ओजस : ओजस का सामान्यतः दो अर्थ हैं- १. शारीरिक सामर्थ्य, बल, शक्ति, २. वीर्य, जननात्मक शक्ति। शरीर में क्रियाशीलता प्रकट करने वाले अर्थ तो यहाँ स्पष्ट ही अनुपयुक्त हैं, बल और शक्ति वाले शब्दार्थ ही स्पष्ट स्वरूप प्रकट करने वाले न होने से हमें उपयुक्त शब्दार्थ की तलाश थी। सौभाग्य से अनाधुनिक अंग्रेजी का एक शब्द 'ओडस' (ods) जो ओजस का ही रूपांतर प्रतीत होता है दिव्यता के भाव को प्रकट करता है। ग्रीक मूल के इस शब्द को दो भिन्न क्षेत्र में किंतु दिव्यता प्रकट करने हेतु प्रयुक्त किया जाता था- भौतिक विज्ञान की गुरुत्वाकर्षण, चुंबक, विद्‌युत, प्रकाश की उन शक्तियों / बलों के लिए और जैविक क्रियाओं को संपन्न करने वाले बलों के लिए, क्योंकि उस समय इनके स्रोत को न समझ सकने के कारण इन्हें दिव्य अर्थात्

ईश्वरीय बताने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था। स्पष्ट है कि संस्कृत का ओजस शब्द और ग्रीक भाषा का ओड़स शब्द समान अर्थ वाले रहे होंगे। यहाँ श्लोक में ओजस शब्द का अर्थ 'परमेश्वर प्रदत्त जीवनी शक्ति' करने पर भावार्थ ठीक बैठ जाता है।

सोम : इस शब्द का एक अर्थ चंद्रमा भी है जो कि टीकाकारों ने लिया है किंतु यह अर्थ यहाँ बिल्कुल अनुपयुक्त है क्योंकि पेड़-पौधों की बढ़त का चंद्रमा की घट-बढ़ से कोई संबंध सिद्ध नहीं है। वस्तुतः सोम का दूसरा अर्थ है- प्रकाश (सूर्य प्रकाश की किरणें)। सूर्य प्रकाश से फोटो-संश्लेषण क्रिया द्वारा वनस्पतियों का पोषण होता है यह बात तथ्यात्मक होने से यहाँ सोम शब्द का अर्थ 'सूर्य की किरणें' लिया जाना ही समुचित है।

रसात्मक : रस के अनेक अर्थ हैं उनमें से यहाँ उपयुक्त अर्थ होगा पौधों का 'संघटक' सार तत्व जिसे विज्ञान आज कार्बोहाइड्रेट / सेल्यूलोस कहता है। फोटो संश्लेषण क्रिया द्वारा पत्तियों में बना यह पदार्थ ही वृक्षों / वनस्पतियों में सर्वाधिक उपलब्ध सार तत्व है।

अगले श्लोक में अब चर-सृष्टि रूप प्राणी जगत के विकास में निहित परमात्म शक्ति का दर्शन कराया जा रहा है-

अहं वैश्वानरो भूत्वा , प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः , पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

अहम् वैश्वानरः भूत्वा , प्राणिनाम् देहम् आश्रितः । प्राण-अपान-सम-आयुक्तः , पचामि अन्नम् चतुर्विधम् ॥

प्राणिनाम् देहम् आश्रितः अहम् - समस्त प्राणियों के शरीर में स्थित मैं **प्राण-अपान-सम-आयुक्तः-** प्राण और अपान की क्रियाओं को संतुलित रखते हुए **वैश्वानरः भूत्वा -** पाचन क्रिया शक्ति बनकर **चतुर्विधम् अन्नम् पचामि -** चारों प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ ।

प्राण अपान : साधारणतः प्राण-अपान क्रियाओं को हम स्वास अंदर खींचने और बाहर निकालने के रूप में जानते हैं। यहाँ इन्हीं शब्दों को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उन सब क्रियाओं को 'प्राण' से निरूपित किया गया है जिनके द्वारा हम शरीर के लिए आवश्यक वायु, पानी, भोजन सामग्री को बाहर से लेकर शरीर में अंदर पहुंचाते हैं तथा इसी प्रकार अपान शब्द से उन क्रियाओं को चिन्हित किया गया है जो शरीर द्वारा उपयोग के पश्चात् बचे अनुपयुक्त पदार्थों को और शेष बचे

पदार्थों को (उदा. निश्वास, मल, मूत्र, पसीना आदि के रूप में) शरीर से बाहर निकाल दिये जाते है।

पचामि चतुर्विध अन्नम् : टीकाकरों ने चार प्रकार के अन्नों की व्याख्या मुंह की क्रियाओं (चबाने, निगलने, पीने और चाटने) के आधार पर की हैं किंतु इस व्याख्या का परमात्म शक्ति वाले विषय से संबंध न होने के कारण यह असंगत लगती है। हमारा मत है कि गीताकार का भाव इस कथन से यह इंगित करना है कि जो अन्न हम खाते हैं उसके प्रमुख संघटकों में से प्रत्येक से शरीर के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराने में जो जटिल अपचयी और फिर उपचयी क्रियाएं (catabolic and anabolic reactions) होती हैं और प्रत्येक क्रिया के लिए विशिष्ट एंजाइम पदार्थों का शरीर में निर्माण होता है जिनका बनाया जाना वैज्ञानिकों के लिए आज भी संभव नहीं हुआ है वें सब क्रियाएं शरीर में ज्ञान शक्ति रूप परमेश्वर द्वारा प्रकृति को निर्देशित करके उससे करवाई जाती हैं। प्राणियों के खाद्य पदार्थों में आज हम जानते हैं कि मुख्य चार प्रकार के पोषक पदार्थ होते हैं जिन्हें विज्ञान ने कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन और मिनरल (कैल्शियम, आयरन, सोडियम, पोटेशियम आदि) नाम दिए हैं और यहाँ गीता ने भी जब चार प्रकार के अन्न का उल्लेख किया है तो यह भी आश्चर्य की बात है और इस तथ्य को प्रकट करता है कि वैज्ञानिकों ने अथक परिश्रम के बाद जो विशद ज्ञान प्राप्त किया है उसका महत्वपूर्ण सार अंश तो ऋषियों को भी परमात्मा की उपासना के फल स्वरुप अंतर्दृष्टि द्वारा प्राप्त हुआ था।

प्राणियों में प्रकट उपरोक्त विकास से आगे मनुष्य में परमात्मा की विशेष शक्ति के रूप में जो मानसिक (psychic) विकास हुआ है और आध्यात्मिक विकास का वह सामर्थ्य भी उसे प्राप्त है जिसकी सिद्धि हमें कतिपय महापुरुषों में देखने को मिल जाती है, उसका वर्णन भगवान श्लोक-१५ में कर रहे हैं-

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सर्वस्य च अहम् हृदि सन्निविष्टः , मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च ।
वेदैः च सर्वैः अहम् एव वेद्यः , वेदान्त-कृत् वेद-वित् एव च अहम् ॥

मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् च अपोहनम्- मनुष्यों में मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और तर्क शक्ति होती है, **च अहम् सर्वस्य हृदि सन्निविष्टः -** और मैं ही श्रेष्ठ मनुष्यों के हृदय (गहराई) में स्थित हूँ, **च सर्वैः वेदैः अहम् एव वेद्यः -** तथा सब ज्ञानों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, **वेद-वित् च वेदान्त-कृत् अहम् एव -** (तथा) वेदवित्त और वेदान्तकृत (भी) मैं ही हूँ ।

सर्वस्य : 'सर्व' शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त होता है- १. सब, प्रत्येक; २. पूर्ण। यहाँ दूसरा अर्थ लेना ही उपयुक्त होगा क्योंकि परमेश्वर का प्रभावी रूप तो सब मनुष्यों में भी क्रियाशील हुआ नहीं माना जा सकता, उदाहरणार्थ यही कहना पड़ेगा कि दुष्टों की वृत्ति में वह शक्ति अभी क्रियाशील नहीं हो पाई है। इसलिए हमने यहाँ 'सर्वस्य हृदि' का अर्थ श्रेष्ठ पुरुषों के हृदय में किया है। वस्तुतः गीता में अन्य कई स्थलों पर, उदाहरण श्लोक-१८.६१ में, भी यही अर्थ उपयुक्त बैठता है।

वेद, वेदवित्त और वेदांतकृत : वेद ग्रंथों के अतिरिक्त 'वेद' शब्द का अर्थ जानना और ज्ञान भी है। यहाँ उक्त तीनों शब्दों में वेद का अर्थ 'ज्ञान' लेने पर ही भावार्थ स्पष्ट हो पाता है। तब वेदवित् का अर्थ 'ज्ञानवान' होगा जिसे भगवान ने श्लोक-१३.७ से ११ में जीवात्मा की ज्ञान के बढ़ते क्रम में २० स्थितियों को 'यह सब ज्ञान है' कहकर इंगित किया था। निष्कर्ष यह कि उस जीवात्मा की सर्वोच्च ज्ञान अवस्था को ही यहाँ शब्द वेदवित् से परिलक्षित कराया गया है। भगवान के शब्दों का तात्पर्य है कि ज्ञान 'मुझ' से है और जीवात्मा की प्रकृति से मुक्त ज्ञान युक्त अवस्था 'मेरी' शुद्ध अवस्था है।

अब 'वेदांत कृत' शब्द के भावार्थ पर विचार करें। 'कृत' शब्द का अर्थ होता है- 'किया हुआ, निष्पन्न, क्रियान्वित, लक्ष्य / उद्देश्य प्राप्त अवस्था', अतः वेदांत कृत का साधारण अर्थ है साधक की ज्ञान में स्थिति हो जाने वाली अंतिम सर्वोच्च अवस्था और सूक्ष्म अर्थ है वह अवस्था जहाँ ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता भिन्न नहीं रहती। अपनी ज्ञानात्मक सत्ता की त्रिपुटी के इन तीनों अंगों की विवेचना भगवान पहले कर चुके हैं और आगे भी इन अवस्थाओं का अनेक स्थलों पर उन्होंने हवाला दिया है। उदाहरणार्थ- 'ज्ञान' के द्वारा जीवात्मा को, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं श्लोक-१३.७ से ११ में इंगित किया गया है। ज्ञाता के रूप में महेश्वर को श्लोक-१३.२२,९.१८ में तथा इसी सत्ता को अधियज्ञ (श्लोक-८.४) के रूप में एवं श्रीकृष्ण स्वयं को 'मैं' कहकर संपूर्ण गीता में इंगित कर रहे हैं, तथा 'ज्ञेय' के द्वारा सार्वभौम चैतन्य सत्ता को श्लोक-१३.३ से १७ में विस्तार से वर्णित किया है और इसे ही ईश्वर / परमेश्वर नाम से श्लोक-१८.६१,६२ में भी इंगित किया गया है।

जब तक प्रकृति पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित न हो जाए तब तक उसका परिमार्जन करते हुए तदनुरूप उस में अपनी ज्ञान शक्ति का क्रमिक रूप से अधिकाधिक आधान करते जाना यही परमात्मा का शाश्वत धर्म अर्थात् मूल स्वभाव है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रकृति की संकरता (randomness, व्यवस्था शून्यता, बेतरतीब कार्य करने वाली क्रियाशक्ति, द्दष्टव्य श्लोक-३.२४ पर टिप्पणी) पर नियंत्रण ज्ञान शक्ति रूप परमात्मा प्रकृति की रचनाओं में क्रमिक परिवर्तन करते हुए स्थापित करता है। इस प्रक्रिया में प्रकृति में जो परिवर्तन होता हमें दिखता है उसे हम विकास कहते हैं और इस संपूर्ण विकास पटल का दिग्दर्शन श्लोक-१२ से १५ में कराने के बाद *अब भगवान हमें प्राणी विकास में क्रियाशील अपनी दिव्य चेतन शक्ति के उन तीन मुख्य स्वरूपों का दर्शन करा रहे हैं जिनका अवलोकन हम सरलता से कर सकते हैं। भगवान इन स्वरूपों को क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष कहकर और उनकी समग्रता को परमात्मा कहकर हमे हमारे आगामी जीवन विकास का भान कराने के लिए श्लोक-१६, १७ में इन का वर्णन कर रहे हैं।*

द्वाविमौ पुरुषौ लोके , क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि , कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके , क्षरः च अक्षरः एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि , कूटस्थः अक्षरः उच्यते ॥

लोके क्षरः च अक्षरः एव इमौ द्वौ पुरुषौ - (प्राणी) लोक में नाशवान और अनाशवान ऐसे दो प्रकार के पुरुष हैं, **सर्वाणि भूतानि क्षरः च कूटस्थः अक्षरः उच्यते -** संपूर्ण देहधारी क्षर पुरुष तथा (मनुष्यों में जो) कूटस्थ (अर्थात् शाश्वत भी है उसे) अक्षर कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः , परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य , बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

उत्तमः पुरुषः तु अन्यः , परम्-आत्मा इति उदाहृतः । यः लोक-त्रयम् आविश्य , बिभर्ति अव्ययः ईश्वरः ॥

अन्यः उत्तमः पुरुषः तु परम्-आत्मा - इनके अतिरिक्त उत्तम पुरुष है और परमात्मा है **यः लोक-त्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययः ईश्वरः -** जो तीनों लोकों में प्रवेश करके धारण-पोषण करता है, अविनाशी हुआ है, ईश्वर हुआ है। **इति उदाहृतः-** इस प्रकार कहा जाता है।

इन श्लोकों में परमात्म तत्व का वर्णन तीन लोक और उनमे स्थित परम् आत्म तत्व के रूप में किया गया है। इस वर्णन को श्वेताश्वतर उपनिषद (श्लोक-१.१०) के वर्णन से संयुक्त करके हम बहुत स्पष्टता से समझ सकते हैं। वहाँ कहा गया है- 'क्षरं प्रधानम् अमृत अक्षरं हरः क्षर-आत्मान् आवीशते देव एकः' अर्थात् प्रकृति प्रधान क्षर को तथा आत्म तत्व प्रधान अक्षर रूप अमृत (जीवात्मा) को एक देव हरी (अर्थात्

परमात्मा) आवेशित करते हैं। गीता ने क्षर, अक्षर के अतिरिक्त उस एक और तीसरी सत्ता को भी इंगित किया है जिसका वर्णन वेद में और अन्य कई उपनिषदों में 'द्वा सुपर्णा...' मंत्र में अभोक्ता, दृष्टा, जीवात्मा के सखा के रूप में किया गया है (जिसकी विवेचना हम पूर्व में श्लोक-९.१८ तथा १३.२२ के संबंध में कर चुके हैं)। इन तीनों सत्ताओं में जो परमात्म तत्व अनुष्यूत है उसे रेखांकित करने के लिए भगवान ने यहाँ इन सत्ताओं को क्रमशः क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष इन नामों से संबोधित किया है। (पुरुष=पुरि देहे शेते) इतना ही नहीं हमें उनका स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए यहाँ यह भी वर्णित कर दिया है कि क्षर-पुरुष को हम प्राणी लोक में तथा अक्षर पुरुष को जीवात्मा के रूप में मनुष्य लोक में कार्यशील देख सकते हैं।

स्पष्ट है कि मनुष्य सहित सभी जीवो में जो प्राणिक सत्ता है उसे क्षर पुरुष और मनुष्यों में जो अनुभव करने वाला जीवात्मा है उसे अक्षर पुरुष कहा गया है क्योंकि जीवात्मा देह के साथ नष्ट नहीं होता अ-मृत रहता है।

तीसरी सत्ता 'उत्तम पुरुष' का हमें अवलोकन करना हो तो स्वाभाविक ही उस सत्ता का दर्शन हम उच्च प्राथमिक स्थिति को प्राप्त हुए महापुरुषों में ही कर सकेंगे (अधिक व्याख्या अगले श्लोक क्रमांक-१८ की विवेचना में दृष्टव्य)। उस तीसरी उच्च स्थिति को तीसरे लोक के रूप में इंगित किया गया है। हमारी धारणा है कि 'ओम भू: भुव: स्व:' मंत्र में भू,भुव, स्व को इन्ही उपरोक्त तीन लोकों तथा इनको आवेशित करने वाली सत्ता को ओम् कहा गया है।

तीन लोकों में अनुष्यूत परमात्मा के स्वरूपों की अतिरिक्त पहचान : श्लोक-१७ की दूसरी पंक्ति में क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष तथा उत्तम पुरुष- इन नामों से व्यक्त उनकी गुणात्मक पहचान के अतिरिक्त कुछ अन्य पहचान भी वर्णित की गई है। सभी जीवित प्राणियों में जो परमात्म सत्ता 'क्षर पुरुष' शब्दों से इंगित की गई है उसकी दूसरी पहचान इस गुण के रूप में इंगित की गई है कि वह सत्ता उस प्राणी की देह का धारण-पोषण करती है, 'अक्षर पुरुष' रूप जीवात्मा का क्षर पुरुष से विभेदकारी मुख्य गुण यह है कि उसकी उत्पत्ति अर्थात् स्वरूप ग्रहण के पश्चात यह सत्ता अव्यय याने शाश्वत हो जाती है, ब्रह्मा की तरह महाप्रलय तक बनी रहती है, तथा 'उत्तम पुरुष' की पहचान को यहाँ 'ईश्वर' (श्लोक-१३.२२ के महेश्वर) नाम से संबोधित करके यह सूचित किया गया है कि यह सत्ता जीवात्मा की जन्म-जन्मांतर की जीवन यात्रा का नियंत्रण करती है।

ईश्वर रूप उत्तमपुरुष की सर्वोच्च स्थिति का वर्णन करने के बाद अब पूर्व में इंगित महेश्वर से तथा अन्यत्र विभिन्न नामों और घटनाओं में वर्णित सत्ता से उसकी अभिन्नता बताने हेतु अगला श्लोक-१८ इस प्रकार है-

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् , अक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च , प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥**

यस्मात् क्षरम् अतीतः अहम् , अक्षरात् अपि च उत्तमः । अतः अस्मि लोके वेदे च , प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

यस्मात् अहम् क्षरम् अतीतः - क्योंकि मैं क्षर पुरुष से अति श्रेष्ठ **च अक्षरात् अपि उत्तमः -** तथा अक्षर रुप जीवात्मा से भी श्रेष्ठ हूँ **अतः लोके च वेदे पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि -** इसलिए लोक में (सामान्य जन में) और वेद में (अर्थात् ज्ञानियों में) पुरुषोत्तम (पुरुषों में उत्तम) कहा जाता हूँ ।

भगवान ने श्लोक-१७ में जिसे उत्तम पुरुष कहा था उसकी व्याख्या यहाँ श्लोक-१८ में पुरुषोत्तम (क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष से उत्तम) कहकर की है। टीकाकारो ने 'पुरुषोत्तम' और 'परमात्मा' शब्दों को पर्यायवाची मानकर व्याख्यायें की है, किंतु हमारी मान्यता है कि भगवान ने तीन पुरुषों- क्षर, अक्षर और उत्तम (पुरुषोत्तम) का वर्णन करके उस सत्ता को जो इन तीनों रूपों में अभिव्यक्त है उसे परमात्मा नाम से संबोधित किया है। हमारी यह मान्यता उनके इस वचन से भी पुष्ट हो रही है कि परमात्मा तीन लोकों में प्रविष्ट हुआ है और वे तीन लोक निश्चय ही यहाँ वर्णित क्षर पुरुष, अक्षर, उत्तम पुरुष की अभिव्यक्ति के स्थल ही हो सकते हैं अन्यथा उनका उल्लेख भगवान अवश्य करते। इतना ही नहीं उन्होंने इन अभिव्यक्तियों में से प्रत्येक को एक-एक विशेष गुण से चिन्हित भी किया है- स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होने वाले क्षर पुरुष को 'बिभर्ति' अर्थात् उसके द्वारा इसके धारण पोषण किये जाने वाले गुण से, सूक्ष्म शरीर में अभिव्यक्त होने वाले अक्षर पुरुष को उसके अव्यय होने के गुण से तथा कारण शरीर में अभिव्यक्त होने वाले उत्तम पुरुष को उसके द्वारा जीवात्मा के आध्यात्मिक विकास हेतु उसकी पुनर्जन्म श्रंखला का नियंत्रक होने को 'ईश्वर' शब्द से इंगित किया है। स्पष्ट है कि उत्तम-पुरुष (पुरुषोत्तम) परमात्मा की विशेष उच्च अभिव्यक्ति है जिसकी और आध्यात्मिक व्याख्या 'लोके च वेदे अस्मि' कहकर इस हेतु से कर रहे हैं ताकि हम उसे अपने व्यक्तित्व में जाग्रत करने की इच्छा और संकल्प पैदा कर साधना पथ पर अग्रसर हो।

वेद में और लोक में पुरुषोत्तम : एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का प्रतीकात्मक वर्णन, जिसका संदर्भ हम पहले एकाधिक बार दे चुके हैं, वैदिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण उल्लेख है जिसे यहाँ भी वेदे शब्द से स्मरण कराया गया है। उक्त वर्णन में व्यक्ति के

शरीर रूपी वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों को जीवात्मा और पुरुषोत्तम (महेश्वर) का प्रतीक बनाया गया है। जीवात्मा खट्टे-मीठे फल खाने वाला पक्षी है दूसरा पक्षी अभोक्ता है, द्दष्टा है, अपने आनंद में डूबा है किंतु इस प्रथम पक्षी का कल्याण चाहने वाला सखा है। मुण्डकोपनिषद (३.१.१ से ६) और श्वेताश्वतरोपनिषद (४.६.७) में तो उन कुछ साधनों का भी वर्णन है जिनके द्वारा जीवात्मा भी पुरुषोत्तम रूप पक्षी की आनंदमयी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इन उपनिषदों में वर्णित साधनाएं कर्म-सन्यास पथ के अनुयायियों के लिए वर्णित है, हम सामान्य जनों के लिए परमात्म भाव से कर्मयोग वाली भक्ति के सरल साधन पथ से तो अन्य साधनों से प्राप्त स्थिति से भी ऊंची स्थिति प्राप्त करना संभव है, यह बात श्री कृष्ण हमें अपने स्वयं के उदाहरण से बता रहे हैं।

अब हम बात करें पुरुषोत्तम सत्ता के लोक में ज्ञात होने की। हमारी धारणा है कि समस्त संसार में उच्च आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त महापुरुषों के जीवन वृतांतों में जो अनेक अविश्वसनीय-सी किंतु सत्य घटनाएं देखी सुनी जाती हैं वें पुरुषोत्तम सत्ता की जाग्रत / चैतन्य हुई अवस्था से संबंधित मानी जा सकती है। हम यहाँ केवल कुछ एक संदर्भ उद्धृत कर रहे हैं-

पॉल ब्रंटन की प्रसिद्ध पुस्तक 'In Search of Secret India', योगानंद की जगत प्रसिद्ध कृति 'An Autobiography of A Yogi', काशी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति पंडित गोपीनाथ कविराज का विशद साहित्य, श्री अरविंद के शिष्य दिलीप कुमार राय की बांग्ला पुस्तक 'अघटन आजो घटे' (अंग्रेजी अनुवाद - Miracle Do Still Happen), विनोबा भावे की शिष्या कांता बहन के जीवन वृतांत को प्रकाशित करने वाली पुस्तक 'एकत्व की आराधना', आदि विपुल साहित्य हैं जिनमें वर्णित सत्य घटनाओं को पुरुषोत्तम सत्ता से कारण-शरीर के चैतन्य होने के आधार पर ही समझा जा सकता है। इसी क्रम में हम श्री रामकृष्ण परमहंस के आध्यात्मिक जीवन की कुछ रहस्यमयी ऐसी घटनाओं का विशेष स्मरण करना चाहेंगे जिनसे घटनाओं के पीछे क्रियाशील परम शक्ति के एकत्व की अनुभूति करा देने वाला उद्देश्य भी प्रकाशित होता है।

श्री रामकृष्ण का मां काली से प्रत्यक्ष संलाप करने की इतनी प्रबलतम अभीप्सा, कि मां के प्रकट न होने पर वह अपनी गर्दन पर तलवार चलाने को भी उद्यत हो गए थे, का ही परिणाम था कि मां काली उनको प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा मार्गदर्शन देने लगी थी। वस्तुतः श्री राम कृष्ण की मां काली भी स्वयं श्री रामकृष्ण में जाग्रत हुई पुरुषोत्तम शक्ति ही थी यह कतिपय अन्य घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है। श्री रामकृष्ण लीलामृत'

नामक ग्रंथ में वर्णित दो घटनाओं यहाँ का उल्लेख करना समीचीन होगा। ग्राम कामहारी की बाल विधवा अघोरमणी श्री कृष्ण के बाल रूप को पुत्रवत चाहती थी। रात-दिन के जप और भक्ति से बाल कृष्ण प्रकट होकर वृद्धा अघोर मणि से पुत्रवत व्यवहार करने लगे थे जब वृद्धा मां बालक कृष्ण के साथ श्रीरामकृष्ण के दर्शनार्थ जाती तो कई बार बालकृष्ण का स्वरूप श्री रामकृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हो जाता और पुनः बाहर आकर मां अघोरमणि का पल्ला पकड़ लेता। इसी प्रकार की घटना एक रामागत पंथी राम भक्त साधु के साथ भी घटित होने का वर्णन है। इन घटनाओं से यह प्रकट होता है कि उन भक्तों ने भले ही उपासना भिन्न स्वरूपों की करी थी उनमें और श्री रामकृष्ण में जाग्रत हुई पुरुषोत्तम सत्ता भिन्न नहीं थी और वह सत्ता इन सभी भक्तों को इस तथ्य का बोध भी करा रही थी।

वस्तुतः इस प्रकार के वर्णन केवल भारत के लोक साहित्य में ही नहीं, वरन बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम अथवा किसी भी अन्य धर्मावलंबी साधु-महात्माओं के जीवन चरित्रों में देखने को मिलते रहे हैं। किंतु इस संबंध में एक चेतावनी पर भी ध्यान दिया जाना वांछनीय होगा। सभी रहस्यमयी घटनाओं का संबंध जाग्रत हुई पुरुषोत्तम सत्ता से हो यह आवश्यक नहीं। इस बारे में श्री दिलीप कुमार राय (दृष्टव्य:उनकी यहाँ उद्धृत पुस्तक की भूमिका) द्वारा दी गई इस समझाइश को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए कि 'तांत्रिकों द्वारा प्रदर्शित रहस्यमयी घटनाओं और संतों के जीवन में प्रभु कृपा से घटने वाली रहस्यमयी घटनाओं में हमें स्पष्ट भेद कर लेना चाहिए'। संत का जीवन दूसरों के कल्याण हेतु ही समर्पित होता है अतः संतों में जाग्रत पुरुषोत्तम सत्ता वाली रहस्यमयी घटनाओं में भी हमेशा अन्यों का कल्याण निहित होता है। संतो के जीवन संबंधी ये घटनाएं भी हमारी चेतना को उच्च आयाम की ओर प्रेरित करती हैं।

इस प्रकार, हम देख सकते हैं कि भगवान ने 'लोके' (लोक में) शब्द से उन महामानवों, जिनमें भगवत् सत्ता के प्रत्यक्ष सानिध्य की इच्छा अति तीव्र होने पर पुरषोत्तम सत्ता भक्त के इच्छित रूप में प्रकट हो जाती है, हमें स्मरण करा कर जहाँ एक ओर वेद के उपरोक्त वचनों की सत्यता के प्रति हमारी निष्ठा को दृढ़ किया है, वहीं दूसरी ओर इस तथ्य को भी इंगित कर दिया है कि भक्ति अथवा किसी भी साधना की सिद्धि का मूल मंत्र है साधक में इच्छा का घनीभूत हो जाना। वस्तुतः जीव में इच्छा शक्ति परमात्मा का ही रूप है जो जैविक विकास से लेकर आध्यात्मिक विकास के इस सर्वोच्च पायदान तक कार्य करती हुई देखी जा सकती है। बस एक अंधकूप से बचना आवश्यक है कि साधना हमारे 'मैं' को पुष्ट करने वाली न हो जाए।

इसी तारतम्य में अब श्लोक-१९,२० में भगवान श्रीकृष्ण इस रहस्य को भी प्रकट कर रहे हैं कि वें स्वयं उक्त उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) स्थिति को प्राप्त कर चुके थे और उस ज्ञान में स्थित होकर ही बोल रहे थे-

यो मामेवमसम्मूढो , जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां , सर्वभावेन भारत॥१९॥

यः माम् एवम् असम्मूढः , जानाति पुरुषोत्तमम् । सः सर्व-वित् भजति माम् , सर्व-भावेन भारत ॥

भारत- हे अर्जुन ! **यः असम्मूढः माम् एवम् पुरुषोत्तमम् जानाति -** जो अज्ञान से मुक्त होकर मुझको इस प्रकार पुरुषोत्तम जान लेता है, **सः सर्व-वित् सर्व-भावेन माम् भजति -** वह श्रेष्ठ ज्ञानी मुझे हर भाव से पूजता है (अर्थात् उसके मन की प्रत्येक गति और उसका प्रत्येक क्रिया कलाप मुझ ईश्वर की पूजा बन जाती है।

इति गुह्यतमं शास्त्रम् , इदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् , कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति गुह्यतमम् शास्त्रम् , इदम् उक्तम् मया अनघ । एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् , कृतकृत्यः च भारत ॥

अनघ- हे निष्पाप ! **इति इदम् गुह्यतमम् शास्त्रम् मया उक्तम् -** इस प्रकार यह गहनतम जीवन दर्शन मेरे द्वारा कहा गया, **भारत-** हे भारत ! **एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् च कृतकृत्यः स्यात् -** इसको ठीक-ठीक जानकर (मनुष्य) ज्ञान को और कर्म की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ (श्लोक-१९ में) 'माम्' (मुझको) शब्द दो बार आया है। इन दोनों में श्रीकृष्ण की दो भिन्न सत्ताएं इंगित हो रही हैं। प्रथम 'माम्' का भाव है कि हे अर्जुन! तुम मुझे जिस रूप में जानते रहे हो वह मेरा बाह्य स्वरूप है, मेरे दूसरे वर्तमान आंतरिक स्वरूप को अभी तुमने नहीं पहचाना है। मैंने उत्तम पुरुष को अब अपने में जाग्रत कर लिया है। अतः अब मेरी आंतरिक हृदयस्थ सत्ता पुरुषोत्तम है जिसे मैंने उसी ज्ञान युक्त कर्म साधना से प्राप्त किया है और उस पुरुषोत्तम स्थिति में स्थित होकर ही मैं तुम्हें यह ज्ञान दे रहा हूँ। तुम अथवा कोई भी जो इस तथ्य को जान लेगा कि श्रीकृष्ण नाम का व्यक्ति जब उस स्थिति को प्राप्त कर सका है तो तुम (अथवा अन्य कोई) भी क्यों नहीं उसको प्राप्त कर सकोगे।

वस्तुतः भगवान श्रीकृष्ण यहाँ इस रहस्य को प्रकट कर रहे हैं कि वे उत्तम पुरुष / पुरुषोत्तम / महेश्वर के रूप में बोल रहे हैं। इसके पूर्व श्लोक-९.१८ (प्रथम पंक्ति) में भी उन्होंने अपने को इसी रूप में व्यक्त किया था। तात्पर्य यह है कि समस्त साधनाओं का लक्ष्य और उनकी सिद्धि अपने अंदर इसी सत्ता को जाग्रत करना है। कठोपनिषद (१.३.१४) में भी कहा गया है- 'उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत, उठो,

जागो और गुरु से उत्तम बोध को प्राप्त करो'। वहाँ ऋषि ने कर्म सन्यास मार्ग की कोई एक विशिष्ट पद्धति का निर्देश किया है जो योग्य गुरु की कृपा बिना प्राप्त नहीं हो सकती। किंतु यहाँ गुरु श्रीकृष्ण ने भगवत् भाव से जीव सेवा अर्थात् भक्ति मार्ग से उसी स्थिति की प्राप्ती का अपेक्षाकृत सहज, सरल, स्वानुभूति से प्रमाणित मार्ग निर्देशित किया है।

एतत बुद्धवा बुद्धिमान च कृत्कृत्यः स्यात् : श्लोक-२० के शब्दों में निहित भावार्थ पर विचार करना वांछनीय होगा। 'एतत बुद्धवा' का भावार्थ है कि 'मेरे' द्वारा उत्तम-पुरुष की प्राप्ति (उसकी जाग्रति) का रहस्य जान लेने वाला कोई भी साधक उस पथ पर चलकर मेरे समान पूर्ण ज्ञान और पूर्ण कर्म से गुंथित व्यक्तित्व की प्राप्ति कर

◆ ◆ ◆

षोडशः अध्यायः

अवचेतन मन में संग्रहित कामनाओं की दो दिशाएं

पूर्वापद संबंध : अध्याय-१४ में जिन तीन गुणों का वर्णन करके परमात्म प्राप्ति की दिशा इंगित की गई थी, उनका क्षेत्र चेतन-मनस (conscious mind, अर्थात् मन+बुद्धि) था। अब इस अध्याय में अवचेतन मन में पड़ी कामनाओं का और अगले अध्याय (क्रमांक-१७) में अवचेतन बुद्धि में संग्रहीत निर्णयों- जिन्हें गीता ने श्रद्धा कहा है- का विवेचन भगवान इस हेतु से कर रहे हैं ताकि हमारे जीवन के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले इन क्षेत्रों का भी शोधन करके हम उस परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें।

अध्याय-१६ और १७ मुख्य रूप से सांख्य मार्ग के साधकों के लिए ही वर्णित हैं। स्वप्रयास पर आधारित साधना के इन चरणों का वर्णन करके इन दोनों अध्यायों के अंत के कुछ श्लोकों में भगवान ने यहाँ भी अपना यह निष्कर्ष दिया है कि अवचेतन स्तर की वृत्तियों के निरसन के लिए भी कर्मयोग/ भक्ति मार्ग ही सरलतम और श्रेष्ठ है क्योंकि इस पथ पर चलने वालों की मन-बुद्धि में पड़े संस्कार भी धीरे-धीरे स्वतः गल जाते हैं और साधक अनन्य भक्ति प्राप्त करके सांख्य साधकों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने वाली सिद्ध अवस्था से भी श्रेष्ठतर मुझे प्राप्त कराने वाली स्थिति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

अवचेतन मन में संग्रहित कामनाओं को दो भागों में बांटा गया है- १. वे कामनाएं जो जीवात्मा को भौतिक सुख-भोग की श्रृंखला में बांधकर उसे उच्च आयामों की ओर विकसित होने से रोक देती हैं, २. श्रेष्ठ कोटी की वे कामनाएं जो इन भोग वृत्तियों से जीवात्मा को मुक्त कर उसे जीवन की नैसर्गिक विकास-धारा की ओर ले जाने में सहायक बन जाती हैं। इन्हे क्रमशः आसुरी और दैवी सम्पद नाम से संबोधित किया गया है। सम्पद शब्द का प्रचलित अर्थ तो 'धन, दौलत, समृद्धि' आदि है किंतु मूल

अर्थ है 'अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति का साधन', और यहाँ इसी अर्थ में शब्द का प्रयोग हुआ है।

श्लोक-१ से ३ में भगवान वर्णन कर रहे हैं कि दैवी अर्थात् दिव्यता को प्राप्त करने की कामना से युक्त जीवात्मा देह धारणकर किन उत्तम गुणों को ग्रहण करता है।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः , ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च , स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अभयम् सत्त्व-संशुद्धिः , ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः । दानम् दमः च यज्ञः च , स्वाध्यायः तपः आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधः , त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं , मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा सत्यम् अक्रोधः , त्यागः शान्तिः अपैशुनम् । दया भूतेषु अलोलुप्त्वम् , मार्दवम् ह्रीः अचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम् , अद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीम् , अभिजातस्य भारत ॥३॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम् , अद्रोहः न अति-मानिता । भवन्ति सम्पदम् दैवीम् , अभिजातस्य भारत ॥

भगवान ने कहा **भारत-** हे भारत वंशी अर्जुन ! **अभयम् सत्त्व-संशुद्धिः ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः-** निर्भयता, अंतःकरण की निर्मलता, ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति, **दानम् च दमः च यज्ञः स्वाध्यायः तपः आर्जवम्-** दान, संयम, समष्टि हितार्थ कर्मों में संलग्नता, शास्त्रों का अध्ययन मनन, परमात्म शक्ति की उपासना, सरलता, **अहिंसा सत्यम् अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनम्-** मन, वाणी और कर्म से किसी को कष्ट न देना, सत्य व्यवहार, क्रोध विहीनता, त्याग, चित्त की शांति, परनिंदा से मुक्त रहना, **भूतेषु दया अलोलुप्त्वम् मार्दवम् ह्रीः अचापलम् -** समस्त जीवो पर दया, लोभ विहीनता, भद्रता, अनुचित कार्यों में लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं में असंलग्नता, **तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहः न अति-मानिता -** उचित कर्मों के करने में तत्परता, अपकार करने वाले के प्रति भी क्षमा भाव, धीरता, पवित्रता, ईर्ष्या न रखना, अपने लिए बड़प्पन भाव का न होना **दैवीम् सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति -** दैवी संपदा लेकर जन्म लेने वाले के ये गुण है।

दैवी सम्पद वाले पुरुष के उपरोक्त २६ गुणों का वर्णन करने के बाद भगवान अब पहले अति संक्षेप में श्लोक-४ में आसुरी कामनाओं का संग्रह करने वाले मनुष्यों के अवगुणों का परिचय दे रहे हैं-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च , क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य , पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

दम्भः दर्पः अभिमानः च , क्रोधः पारुष्यम् एव च । अज्ञानम् च अभिजातस्य , पार्थ सम्पदम् आसुरीम् ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **आसुरीम् सम्पदम् -** आसुरी कामनाओं का संग्रह करने वाला मनुष्य **दम्भः दर्पः अभिमानः च क्रोधः पारुष्यम् च अज्ञानम् एव अभिजातस्य -** दंभ, घमंड, अभिमान तथा क्रोध व क्रूरता एवं अज्ञान भी- इनका अपने में विकास कर लेते हैं।

दोनों प्रकार की कामनाओं से मनुष्य के जीवन में किन-किन गुणों अथवा दुर्गुणों का संग्रह होता है इसका वर्णन करने के बाद अब श्लोक-५ में भगवान इनके परिणाम बता रहे हैं कि दैवी कामनाएं और तत्संबंधी गुण तो मनुष्य की मुक्ति (अहंकार से मुक्ति) के लिए और आसुरी उसे बांध देने वाली मानी गई हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय , निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीम् , अभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पत् विमोक्षाय ,निबन्धाय आसुरी मता । मा शुचः सम्पदम् दैवीम् , अभिजातः असि पाण्डव ॥

दैवी सम्पत् विमोक्षाय आसुरी निबन्धाय मता - दैवी सम्पद मुक्ति प्रदान करने वाली तथा आसुरी बंधनों में जकड़ देने वाली मानी गई है। **पाण्डव-** हे अर्जुन ! **मा शुचः -** तू शोच (चिंता) न कर, **दैवीम् सम्पदम् अभिजातः असि-** (तूने तो) दैवी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए ही जन्म लिया है।

अब आगे भगवान श्लोक-६ से १८ तक असुर स्वभाव वालों का विस्तार से वर्णन कर रहे हैं ताकि हम अपने सोच-विचार और आचरण को परख कर यदि आसुरी वृत्तियों से युक्त पाऐं तो असत कामनाओं का त्याग करके और सतकामनाओं को ग्रहण करते हुए कल्याण पथ पर आगे बढ़ने के लिए सतत प्रयासरत हो जावें।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् , दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त , आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

द्वौ भूत-सर्गौ लोके अस्मिन् , दैवः आसुरः एव च । दैवः विस्तरशः प्रोक्तः , आसुरम् पार्थ मे शृणु ॥

पार्थ- हे प्रथा पुत्र अर्जुन ! **भूत-सर्गौ अस्मिन् लोके द्वौ एव दैवः च आसुरः -** प्राणियों की सृष्टि में इस मनुष्य लोक में दो ही प्रकार के मनुष्य हैं - दैवी स्वभाव वाले और आसुरी स्वभाव वाले। **दैवः विस्तरशः प्रोक्तः आसुरम् मे शृणु -** (उनमें से) दैवी स्वभाव वालों का वर्णन तो विस्तार पूर्वक कह दिया है, (अब तू) आसुरी स्वाभाव वालों का (वर्णन भी विस्तार से) मुझसे सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च , जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो , न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च , जनाः न विदुः आसुराः । न शौचम् न अपि च आचारः , न सत्यम् तेषु विद्यते ॥

आसुराः जनाः प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च न विदुः - आसुरी स्वाभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति को और निवृत्ति को (दोनों के वास्तविक आशय को) भी नहीं जानते। **तेषु न शौचम् न आचारः च न सत्यम् अपि विद्यते -** उनमें न तो पवित्रता होती है, न श्रेष्ठ आचरण और न सत्य निष्ठा ही होती हैं ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं न विदुः : साधारण अर्थ है कि आसुरी स्वभाव वाले यह नहीं जानते कि कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा नहीं करना चाहिए। यहाँ यह विशेष अर्थ भी सुसंगत होगा कि वें कर्मयोग और कर्म-सन्यास के वास्तविक तत्व को न जानते हुए बहुधा अपने दायित्वों से मुंह मोड़कर कर्मसन्यास की राह पकड़ लेते हैं और भटककर 'माया मिली न राम' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

आसुरी स्वभाव वाले जगत का हेतु ईश्वर को नहीं मानते और इस कारण वे सभी के लिए अपकारी, क्रूरकर्मी तथा जगत की व्यवस्था का नाश करने वाले हो जाते हैं, यह बात श्लोक-८ और ९ में कही गई है-

असत्यमप्रतिष्ठं ते , जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं , किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

असत्यम् अप्रतिष्ठम् ते , जगत् आहुः अनीश्वरम् । अपरस्पर-सम्भूतं , किम् अन्यत् काम-हैतुकम् ॥

ते आहुः - वे (आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य) कहा करते हैं (कि) **जगत् अनीश्वरम् अप्रतिष्ठम् असत्यम् -** जगत बिना ईश्वर के, बिना उसके आश्रय के, केवल प्रकृति से है। **अपरस्पर-सम्भूतं काम-हैतुकम् -** (प्राणियों की) अनवरत उत्पत्ति का कारण केवल काम है **अन्यत् किम् -** इसके सिवा और क्या है ?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य , नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः , क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य , नष्ट-आत्मानः अल्प-बुद्धयः । प्रभवन्ति उग्र-कर्माणः , क्षयाय जगतः अहिताः ॥

एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य - इस (नास्तिक) दृष्टि का अवलंबन करके **नष्ट-आत्मानः अल्प-बुद्धयः अहिताः उग्र-कर्माणः -** जिनका आत्म भाव भी नष्ट हो गया है (वे) अल्प बुद्धि वाले क्रूर कर्मी होकर, **जगतः क्षयाय प्रभवन्ति -** जगत के नाश के लिए (भी) प्रभावी कारण बन जाते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं , दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान् , प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कामम् आश्रित्य दुष्पूरम् , दम्भ-मान-मद-अन्विताः । मोहात् गृहीत्वा असत् ग्राहान् , प्रवर्तन्ते अशुचि-व्रताः ॥

दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य - किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, **दम्भ-मान-मद-अन्विताः -** दंभ, मान और मद से युक्त मनुष्य **मोहात् गृहीत्वा अशुचि-व्रताः असत् ग्राहान् प्रवर्तन्ते -** मोह से ग्रसित होकर, अपवित्र संकल्पों को लेकर, असत को ग्रहण करके जीवन जीते हैं ।

उपरोक्त दो श्लोकों में आसुरी स्वभाव वालों का जो वर्णन हुआ है वह दुर्योधन के दृष्टांत से बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भगवान ने अर्जुन के समक्ष दुर्योधन के चरित्र का ही चित्रण, बिना उसका नाम लिए, विषय को समझाने के लिए किया है। इस वर्णन में 'असत को ग्रहण करके जीवन जीने' का जो उल्लेख है वह दुर्योधन के छल-कपट-मय जीवन का स्मरण कराता है। संपूर्ण राज्य हड़प लेने की कामना से प्रेरित होकर दुर्योधन द्वारा बालवय से ही पांडव भ्राताओं के प्रति जो षडयंत्र किए जाते रहे वे उसके आसुरी स्वभाव का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बालपन में ही भीम को विष देकर मार डालने का प्रयास करना, फिर पूज्य चाची कुंती माँ सहित पांचों पांडवों को लाक्षागृह में जलाकर मार डालने का षड़यंत्र रचने, फिर पांडवों द्वारा स्थापित और सुसम्पन्न बनाए गए इंद्रप्रस्थ के साम्राज्य से कपट पूर्ण जूए के द्वारा उन्हें १३ वर्ष के लिए वंचित और निर्वासित करने और उस अवधि के बाद भी राज्य लौटाने से इंकार कर देने वाली घटनाओं का संकेत 'असत जीवन जीने वाले' कथन से किया गया है।

उक्त प्रकार का जीवन जीने वालों का जीवन यद्यपि सुख-शांति से वंचित होता है किंतु वें इस प्रकार के जीवन को किस रूप में स्वीकार कर लेते हैं यह श्लोक-११ और १२ में वर्णित किया गया है-

चिन्तामपरिमेयां च , प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा , एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

चिन्ताम् अपरिमेयाम् च , प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः । काम-उपभोग-परमाः , एतावत् इति निश्चिताः ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः , कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थम् , अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

आशा-पाश-शतैः बद्धाः , काम-क्रोध-परायणाः । ईहन्ते काम-भोगार्थम् , अन्यायेन अर्थ-सञ्चयान् ॥

इति निश्चिताः - बस यह निश्चित करके कि **एतावत् काम-उपभोग-परमाः -** मात्र इंद्रिय तृप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है, **प्रलय अन्ताम् अपरिमेयाम् चिन्ताम् उपाश्रिताः -** मरण काल तक अपार चिंताओं से बंध जाते हैं (श्लोक-११) **शतैः आशा-पाश-बद्धाः -** सैकड़ों आशा रूप बंधनों से बंधे हुए **काम-क्रोध-परायणाः -** काम और क्रोध के वशीभूत होकर **काम-भोगार्थम् -** इंद्रिय भोगों के निमित्त **अन्यायेन अर्थ-सञ्चयान् ईहन्ते -** अन्याय पूर्वक धन संचय की चेष्टा करते रहते हैं।

अब अगले तीन श्लोकों में भगवान आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति के अहंकार आधारित सोच-विचार का वर्णन करते हुए अगले श्लोक में इसका परिणाम बता रहे

हैं।

इदमद्य मया लब्धम् , इमम् प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे , भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

इदम् अद्य मया लब्धम् , इमम् प्राप्स्ये मनोरथम् । इदम् अस्ति इदम् अपि मे , भविष्यति पुनः धनम् ॥

मया अद्य इदम् लब्धम् - मैंने आज यह (इतना धन) प्राप्त कर लिया है, **इमम् मनोरथम् प्राप्स्ये -** (और) इस मनोरथ को (भी) प्राप्त कर लूंगा। **मे इदम् धनम् अस्ति -** (अभी) मेरे पास यह (इतना) धन है **पुनः इदम् अपि भविष्यति -** फिर यह (इतना और) भी हो जायगा ।

असौ मया हतः शत्रुः , हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी , सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

असौ मया हतः शत्रुः , हनिष्ये च अपरान् अपि । ईश्वरः अहम् अहं भोगी , सिद्धः अहम् बलवान् सुखी ॥

असौ शत्रुः मया हतः - वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, **च अपरान् अपि हनिष्ये -** और अन्य दूसरों को भी मैं मार डालूंगा, **अहम् ईश्वरः भोगी-** मैं ऐश्वर्य का स्वामी हूँ अतः उनको भोगने का अधिकारी हूँ, **अहम् बलवान् सिद्धः सुखी -** मैं बलशाली और सफल होकर सुखी हूँ ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि , कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य , इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

आढ्यः अभिजनवान् अस्मि , कः अन्यः अस्ति सदृशः मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये , इति अज्ञान-विमोहिताः ॥

(अहं) आढ्यः अभिजनवान् अस्मि - मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुंब वाला हूँ, **मया सदृशः अन्यः कः अस्ति -** मेरे समान दूसरा कौन है? **(अहं) यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये -** (मैं) यज्ञ करूंगा, दान करूंगा, आमोद-प्रमोद करूँगा **इति अज्ञान-विमोहिताः-** इस प्रकार (वे) अज्ञान और मोह से ग्रस्त हो जाते है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता , मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु , पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः , मोह-जाल-समावृताः । प्रसक्ताः काम-भोगेषु , पतन्ति नरके अशुचौ ॥

अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः - अनेक प्रकार से भ्रमित मन-बुद्धि वाले, **मोह-जाल-समावृताः -** मोह के जाल से घिरे हुए **काम-भोगेषु प्रसक्ताः -** विषय भोगों में आसक्त हुए, **अशुचौ नरके पतन्ति -** (वे) अपवित्र नरक में गिरते है ।

नरक : उस स्थिति को नरक कहा गया है जहाँ व्यक्ति क्लेश/दुख प्राप्त करता है (नरक=नृणाति क्लेशं प्राप्यति)। पुराणों में प्रतीकात्मक रूप से और सामान्य व्यक्ति को संभवत: भय दिखाकर उसे सतपथ पर चलाने के लिए इन्हें दंड देने के स्थानों के

रूप में वर्णित किया गया है किंतु वास्तव में यह कोई स्थान नहीं है वरन् व्यक्ति की ऐसी मानसिक स्थितियां है जो उसे क्लेशकारक परिस्थितियों में धकेल देती हैं।

उपरोक्त चार श्लोकों में विकृत अहम् की उत्पत्ति और बढ़त का वर्णन इस रूप में हुआ है कि इस का उद्भव मन की असंयमित कामनाओं से होता है जो बढ़कर बुद्धि के सोच-विचार को अपने घेरे में लेता हुआ संपूर्ण चेतना को स्वकेंद्रित और संकुचित करता जाता है जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति क्लेश और दुख उठाता है।

इस स्थिति में भी यदि उसमें दुख के कारण की समझ जाग्रत नहीं होती है तो अब अहम् अहंकार के रूप में घनीभूत होकर किस प्रकार उसके कर्मों को भी प्रभावित करता हुआ उसे अधिक नारकीय परिस्थितियों में तब तक अधिकाधिक गहरा धकेलता रहता है जब तक कि दुख के थपेड़े उसमें समझ का अंकुर स्फुरित न कर दे। यह वर्णन भगवान अगले श्लोक-१७,१८ और १९,२० में कह रहे हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा , धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते , दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

आत्म-सम्भाविताः स्तब्धाः , धन-मान-मद-अन्विताः । यजन्ते नाम-यज्ञैः ते , दम्भेन अविधि-पूर्वकम् ॥

धन-मान-मद-अन्विताः - धन, सम्मान, अभिमान में डूबे हुए, **आत्म-सम्भाविताः -** अपनी श्रेष्ठता के भाव में लीन **स्तब्धाः -** हठी (दूसरों की बात पर ध्यान न देने वाले), **दम्भेन अविधि-पूर्वकम् नाम-यज्ञैः यजन्ते -** पाखंड पूर्वक, यज्ञ भाव (अर्थात् त्याग और सेवा भाव) से रहित, केवल नाम के लिए ही वे यज्ञ कर्म भी करते है ।

अहंकारं बलं दर्पं , कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु , प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकारम् बलम् दर्पम् , कामम् क्रोधम् च संश्रिताः । माम् आत्म-पर-देहेषु , प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः ॥

अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् संश्रिताः - अहंकार, बल, अभिमान, कामना, (तथा) क्रोध के वश में होने वाले च **आत्म-पर-देहेषु माम् अभ्यसूयकाः प्रद्विषन्तः -** और अपने तथा दूसरों के शरीर में (स्थित) मुझसे ही ईर्ष्या करने वाले और द्वेष करने वाले होते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान् , संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् , आसुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

तान् अहम् द्विषतः क्रूरान् , संसारेषु नराधमान् । क्षिपामि अजस्रम् अशुभान् , आसुरीषु एव योनिषु ॥

तान् द्विषतः क्रूरान् अशुभान् नर अधमान् - उन द्वेष करने वाले क्रूरकर्मी अशुभ (अर्थात् पापचारी) अधम पुरुषों को **अहम् संसारेषु अजस्रम् आसुरीषु योनिषु एव क्षिपामि -** मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही

डालता हूँ ।

आसुरीं योनिमापन्ना , मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय , ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरीम् योनिम् आपन्नाः , मूढाः जन्मनि जन्मनि । माम् अप्राप्य एव कौन्तेय , ततः यान्ति अधमाम् गतिम् ॥

कौन्तेय- हे अर्जुन ! **मूढाः माम् अप्राप्य एव जन्मनि जन्मनि आसुरीम् योनिम् आपन्नाः -** (वे) मूढ़ मुझको प्राप्त न होकर निश्चय ही जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं **ततः अधमाम् गतिम् यान्ति -** उससे भी अति नीच गति (अर्थात् राक्षसी योनि) को प्राप्त होते हैं।

'अधमाम् गतिम्' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने कुत्ते, बिल्ली, सूकर जैसी योनियों में जन्म लेना माना है, जो उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि दुख के थपेड़ों से ज्ञान जाग्रति की संभावना तो केवल मनुष्य योनि में ही हो सकती है। इस हेतु सोच विचार के लिए जिस प्रकार के मस्तिष्क की जरूरत होगी वह तो उन योनियों में उपलब्ध न हो सकने के कारण जीवात्मा के पुनरुद्धार की संभावना ही नहीं बन पाएगी। सतत विकास करना जिसका स्वभाव है, ऐसी परम सत्ता भला अपने ही अंश रूप जीवात्मा को हमेशा के लिए क्यों कर वैसी परिस्थिति में फेंकेंगा? अतः अधम गति का अर्थ यह ही लिया जाना उचित होगा कि आसुरी स्वभाव वाले जीवात्मा का पुनर्जन्म मनुष्य योनि में ही किंतु ऐसी अधिक दुखदायक परिस्थितियों में होगा जहाँ तीव्र दुखों के आघात से उसकी ज्ञान चेतना का जागरण संभव हो सके। वस्तुतः 'पुरुषोत्तम-सत्ता / कारण-शरीर' द्वारा जीवात्मा को अधोगति प्राप्त कराने का उद्देश्य तो चेतना जाग्रति द्वारा उसके विकास में सहायक होना ही होगा क्योंकि वह सत्ता जीवात्मा की सखा है सुहृत है (द्दष्टव्य: श्लोक-१५.१८ पर टिप्पणी)।

दोनों मार्गों की विवेचना करने के बाद अब भगवान, उनके लिए जो पतन मार्ग से मुड़कर कल्याण पथ पर चलना चाहते हैं, उपाय बता रहे हैं कि वें तीन बातों का त्याग करें- काम (इंद्रिय सुखों की इच्छायें), क्रोध (दूसरों के प्रति उग्रता) और लोभ अधिकाधिक संग्रह की प्रवृत्ति।

त्रिविधं नरकस्येदं , द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः , तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

त्रिविधम् नरकस्य इदम् , द्वारम् नाशनम् आत्मनः । कामः क्रोधः तथा लोभः , तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत् ॥

कामः क्रोधः तथा लोभः इदम् आत्मनः नाशनम् - काम, क्रोध तथा लोभ- ये जीवात्मा का नाश करने वाले **त्रिविधम् नरकस्य द्वारम् -** तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं **तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत् -** अतः इन तीनों को त्याग

देना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय , तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयः , ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

एतैः विमुक्तः कौन्तेय , तमो-द्वारैः त्रिभिः नरः । आचरति आत्मनः श्रेयः , ततः याति पराम् गतिम् ॥

कौन्तेय- हे अर्जुन ! **एतैः त्रिभिः तमो-द्वारैः विमुक्तः नरः -** इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष **आत्मनः श्रेयः आचरत्-** अपने कल्याण का आचरण करता है **ततः पराम् गतिम् याति -** इससे (वह) परम गति को प्राप्त करता है।

प्रमुख विकार छः माने गए हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। किंतु यहाँ उल्लेख केवल तीन का नरक के द्वार के रूप में किया गया है, इसके तात्पर्य को समझ लेना उपयुक्त होगा। वस्तुतः व्यक्ति के जीवन को विकास पथ से विपरीत दिशा अर्थात् आसुरी सम्पद् की ओर ले जाने वाले ये छ: और इनसे उद्भूत जितने भी विकार हैं उनके क्रियाक्षेत्र का विचार करें तो वें हैं- मन,बुद्धि और अहंकार। उदाहरणार्थ, उपरोक्त छः विकारों के क्षेत्र का निर्धारण करें तो स्पष्ट होता है कि मन के विकार हैं काम (कामनाएं) और मोह, बुद्धि के हैं, लोभ और मत्सर (ईर्ष्या), तथा अहंकार के हैं क्रोध और मद। प्रत्येक संवर्ग में जो सबसे अधिक उत्पाती है उसे यहाँ नरक का द्वार अर्थात् क्लेश प्राप्त कराने वाले दुर्गुणों का प्रवेश मार्ग कहा गया है। इस दृष्टि से मन रूपी क्षेत्र का ऐसा सबसे प्रमुख विकार है 'काम' (अर्थात् इंद्रिय सुखों की कामनाएं), बुद्धि का 'लोभ' तथा अहंकार का है 'क्रोध'। इन्हें द्वार कहने का तात्पर्य है कि यदि बारम्बार सावधानता और दृढ़ संकल्प शक्ति का प्रयोग करते हुए उल्लेखित तीन में से जिस एक का निरसन कर दिया जाएगा तो उस संवर्ग के अन्य गौण विकार स्वमेव मिट जाएंगे। इस प्रकार व्यक्ति अपने अंतःकरण को स्वप्रयास से शुद्ध करने के उपरान्त तत्वदर्शी आचार्य के निर्देशन में आत्म-प्राप्ति रूप परम लक्ष्य को प्राप्त करता है (श्लोक-४.३४,३५)।

दूसरा अपेक्षाकृत बहुत सीधा सच्चा मार्ग है कर्मों को शास्त्र निर्देशानुसार करना अर्थात् भगवत् भाव से कर्मयोग का अनुपालन करना। उक्त भक्ति मार्ग के संदेश को यहाँ अध्याय के अंत में निष्कर्ष रूप में भगवान ने श्लोक-२३,२४ में पुनः स्थापित किया है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य , वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति , न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

यः शास्त्र-विधिम् उत्सृज्य , वर्तते काम-कारतः । न सः सिद्धिम् अवाप्नोति , न सुखम् न पराम् गतिम् ॥

यः शास्त्र-विधिम् उत्सृज्य, काम-कारतः वर्तते- जो (व्यक्ति) शास्त्र विधि को त्याग कर अपनी इच्छाओं के अनुसार मन माना आचरण करता है, **सः न पराम् गतिम् न सुखम् न सिद्धिम् अवाप्नोति -** वह न तो परम लक्ष्य को, न सुख को और न (दुखों की) समस्या के समाधान को प्राप्त होता है ।

शास्त्र विधि : यहाँ 'शास्त्र विधि' की बात 'वर्तते' के संबंध में कर्मयोग को लक्ष्य करके कही गई है। भगवान ने कर्मयोग को भगवत् भाव से करने की जो शिक्षा गीता में सर्वत्र वर्णित की है वह शास्त्रों में वर्णित एक प्रमुख मार्ग रहा है। वस्तुतः ईशावास्योपनिषद के प्रथम दो मंत्र इसी मार्ग का निर्देश करते हैं। भगवान ने भगवत् सत्ता संबंधि जिस ज्ञान का वर्णन किया है वह तो ईशावास्योपनिषद सहित अन्य उपनिषदों में भी वर्णित है और उनके शब्दों में ही उद्धृत किया गया है किंतु क्रियात्मक पक्ष, जो कि कर्म-युक्त भक्ति है, प्रमुखतः ईशावास्योपनिषद से लिया गया है, विद्वतजनों का यह सर्वमान्य मत है। निष्कर्ष यह कि यहाँ जो शास्त्र विधि का उल्लेख है उसका तात्पर्य, स्वामी विवेकानंद की वाणी में 'शिव भाव से जीव सेवा द्वारा' परमात्मा प्राप्ति करना है। इसी को गीता ने भक्ति कहा है।

परम गति / सुख / सिद्धि : परम गति अर्थात् परम लक्ष्य- परमात्मा की प्राप्ति, उस सत्ता की सर्वव्यापकता की ऐसी अनुभूति कि जीवन के समस्त व्यवहार उसके अनुरूप हो जाएं। यदि वह सर्वोच्च फल न भी मिल सके और यदि परमसुख ही मिल जाए तो इतनी सफलता भी परम संतोष का विषय होगा। यह भी प्राप्त न हो और यदि साधना उचित रीति से की गई है तो इतना परिणाम तो प्राप्त होना ही चाहिए कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दुखों की जो समस्या रहती है उसका ही समाधान (अर्थात् सिद्धि) हो जाए। भगवत् भक्ति से तो यें तीनों ही वर्णित क्रम से उलट क्रम में प्राप्त होते जाते हैं अर्थात् प्रथम 'सिद्धि' फिर सुख और अंत में परमात्मा प्राप्ति। किंतु जो शास्त्र विधि का पालन नहीं करते और कर्मयोग से आत्म शुद्धि किए बिना ही कर्मसन्यास मार्ग का अनुसरण करते हैं वे असफल होते हैं (द्दष्टव्यः श्लोक-५.६,६.३)और यहाँ उल्लेखित वांछित परिणामों में से निम्नतम भी प्राप्त नहीं कर पाते, यह चेतावनी यहाँ पुनः दी गई है।

अब विवेचना का निष्कर्ष देते हुए अर्जुन को भगवान कह रहे हैं कि अवचेतन मन की वृत्तियों के निरसन हेतु भी शास्त्र सम्मत मार्ग कर्मयोग ही है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते , कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं , कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

तस्मात् शास्त्रम् प्रमाणम् ते , कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्र-विधान-उक्तम् , कर्म कर्तुम् इह अर्हसि ॥

कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ ते शास्त्रम् प्रमाणम् - कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करने के बारे में तेरे लिए शास्त्र प्रमाण हैं, **तस्मात् शास्त्र-विधान-उक्तम् ज्ञात्वा -** अतः इस कहे गए शास्त्र विधान को जान लेने पर **कर्म कर्तुम् अर्हसि -** (तुझे) कर्तव्य कर्म करना ही चाहिए।

अध्याय का सार संक्षेप : जैसा कि अध्याय की भूमिका में कहा जा चुका है, भगवान ने यहाँ व्यक्ति के अवचेतन मन में संग्रहित कामनाओं का विवेचन करते हुए अर्जुन को आश्वस्त किया है कि वह तो आध्यात्मिक उत्थान की कामना से युक्त है (श्लोक-५), और अब उसे केवल उपयुक्त साधन पद का अवलंबन करना है। श्रीकृष्ण का यह आश्वासन तथ्यपरक ही था क्योंकि अर्जुन राज्य सत्ता का भी लोभ छोड़कर सन्यास पथ से आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्ध के लिए उत्सुक हुआ था। वस्तुतः आसुरी वृत्तियों का वर्णन करना अर्जुन के लिए वैसे आवश्यक नहीं होता परंतु अर्जुन ने पहले (श्लोक-३.३६ में) भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि को अधर्मी कौरवों की ओर खड़ा देखकर यह प्रश्न किया था कि मनुष्य किस बल से प्रेरित होकर पाप की ओर झुक जाता है और वहाँ भगवान ने उन्ही कुछ वीरों को लक्ष्य करके उत्तर दिया कि काम क्रोध ही उसका कारण था। अब यहाँ उन्होंने उन सबको, जो अन्यायी कौरव पक्ष के समर्थन में खड़े थे, लक्ष्य करके आसुरी वृत्ति वालों की विवेचना पूरे विस्तार से इसी अध्याय के श्लोक-४ एवं ७ से १८ में की है। इसके पश्चात् इन वृत्ति वालों के उत्थान के लिए उन्ही दो वैकल्पिक मार्गों का वर्णन प्रकारांतर से किया है जिन्हें वे पूर्व में अध्याय-३ और ५,६ में विस्तार से कर चुके थे। एक मार्ग बताया- भगवत् सत्ता को मान कर न चलते हुए स्वप्रयास से अपने अंदर खोज करने वाले लोगों के लिए काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को जीतने के बाद योग्य गुरु के मार्गदर्शन में सत्य का अन्वेषण करना (श्लोक-४.३४) और दूसरा बताया- उस सत्ता की प्राणी जगत में सगुण अभिव्यक्ति को बुद्धिगम्य करके उसके प्रति पूर्ण समर्पण करते हुए उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करना। स्वप्रयास वाले प्रथम मार्ग को यहाँ श्लोक-२१,२२ में तथा भक्ति वाले दूसरे मार्ग को शास्त्र-प्रमाणे कहकर श्लोक-२३,२४ में वर्णित किया गया है।

◆ ◆ ◆

सप्तदश: अध्याय:

श्रद्धा अर्थात् अवचेतन बुद्धि की वृत्तियों का शुद्धिकरण

पूर्वा पर संबंध : हम पहले (अध्याय-१६) की भूमिका में कह चुके हैं कि मन-बुद्धि-अहंकार में क्रियाशील चेतना के शुद्धिकरण की विवेचना अध्याय-१४ में त्रिगुणों के रूप में, अवचेतन मन के शुद्धिकरण की विवेचना अध्याय-१६ में और अवचेतन बुद्धि के शोधन की विवेचना इस अध्याय-१७ में की गई है। हमने अध्याय-१४ और १६ में यह देखा है कि भगवान ने दोनों अध्ययों में पहले विस्तारपूर्वक स्वप्रयास से अपने को निर्मल बनाने के लिए अवांछित गुणों को त्यागने और उच्च गुणों को जीवन में धारण करने का वर्णन करने के बाद प्रत्येक अध्याय के अंतिम कुछ श्लोकों में भक्ति से उसी लक्ष्य की सिद्धि और उससे भी उच्च अध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त होना बताया है। अब इस अध्याय में अवचेतन बुद्धि में संग्रहित निर्णयों को, जिन्हें यहाँ श्रद्धा कहा गया है, की विवेचना भी इसी रूप में की गई है।

गीता में 'श्रद्धा' शब्द का विशेष अर्थ : श्रद्धा के संबंध में हमारा उक्त मत आजकल प्रचलित अर्थ से थोड़ा भिन्न है किन्तु विषय के मान से यही अर्थ लेना आवश्यक है। आज श्रद्धा को हम सात्विक दृढ़विश्वास का सहचारी भाव समझते हैं किंतु अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने श्रद्धा को न केवल त्रिगुणात्मक बताया (श्लोक-२,३), वरन् उन्हें श्रद्धा के तीनों रूपों की विवेचना के अंतर्गत ही इष्ट पूजन, आहार रुचि, यज्ञ,तप और दान के त्रिगुणात्मक भेद (श्लोक-४ से २२ में) बताएं हैं। क्योंकि यहाँ श्रद्धा को तामसिक भी माना गया है, अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ श्रद्धा का वह अर्थ नहीं है जैसा आज आमतौर पर हम समझते हैं। श्रद्धा शब्द के जो अनेक अर्थ शब्दकोष में मिलते हैं उनमें से यहाँ निष्ठा, स्थिर या निश्चित ज्ञान, स्थिरमत जैसे अर्थ लेना उपयुक्त होगा क्योंकि तभी श्रद्धा को त्रिगुणी कहा जा सकेगा और इस

अध्याय की विषय-वस्तु से मेल बैठ पाएगा। वस्तुतः 'श्रद्धा' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी अर्थ की पुष्टि करती है।

श्रद्धा = श्रत्+धा, धा = धारण करना (संस्कृत धातु 'धा' = धारण/पोषणयोः),श्रत्= श्री+डति, (संस्कृत धातु 'श्री'= पकाना,परिपक़्व करना), श्री के अन्य अर्थ जैसे शोभा, कांति, लावण्य, संपत्ति, वैभव, कल्याण, प्रतिष्ठा, सौंदर्य, समृद्धि, लक्ष्मी आदि अर्थ इसी मूल 'परिपक्व करना' वाले धात्वार्थ से निकले हैं ऐसा प्रकांड विद्वान और चिंतक काका कालेलकर ने निर्णय किया है (द्रष्टव्यः 'गीता-रत्न-प्रभा, पृष्ठ-२८१)। अतः हमारा मत है कि गीता में 'श्रद्धा' शब्द बुद्धि के उन परिपक्व निष्कर्षों को इंगित करता है जो व्यक्ति के अवचेतन मनस के बुद्धि वाले अंश, जिसे हम अवचेतन बुद्धि कह सकते हैं, में उसी प्रकार संग्रहित होते हैं जिस प्रकार, कामनाएं अवचेतन मन में संस्कारों / वृत्तियों के रूप में संग्रहित होती हैं। इस प्रकार, अवचेतन बुद्धि में संग्रहित निर्णयों को गीता में श्रद्धा नाम दिया जाना शब्द की व्युत्पत्ति के भी अनुरूप सिद्ध होता है।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य , यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण , सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

ये शास्त्र-विधिम् उत्सृज्य , यजन्ते श्रद्धया अन्विताः । तेषाम् निष्ठा तु का कृष्ण , सत्त्वम् आहो रजः तमः ॥

कृष्ण- हे कृष्ण ! **ये शास्त्र-विधिम् उत्सृज्य श्रद्धया अन्विताः यजन्ते-** जो व्यक्ति शास्त्र विधि को त्याग कर श्रद्धा युक्त हो यज्ञ करते हैं, **तु तेषां निष्ठा का सत्त्वम् रजः आहो तमः -** तो फिर उनकी अवस्था कौन सी है? सात्त्विकी की है, राजसी है, अथवा तामसी ?

भगवान ने विगत अध्याय के अंतिम दो श्लोकों में शास्त्र विधि को त्याग कर मन माना आचरण करने वालों का जीवन निष्फल हो जाने की बात कही थी। वहाँ हमने 'शास्त्र विधि' का भावार्थ भगवत् भाव से निष्काम सेवा करना किया था, और अर्जुन ने भी यहाँ उसी परिपेक्ष में यह प्रश्न किया है। कर्मसन्यास मार्ग के प्रति दृढ़ श्रद्धा के परिपेक्ष्य में किए गए उसके इस प्रश्न का आशय था कि उन सन्यासियों का मार्ग यदि आप शास्त्र विधानुकूल न भी माने फिर भी यह तो निश्चित है कि कोई भी बिना श्रद्धा के तो उस तपस्वी जीवन को नहीं जी सकेगा। तब फिर उन सन्यासियों की स्थिति कौन सी मानी जाएगी- सात्विक, राजसिक, अथवा तामसिक ?

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान निम्नांकित दो श्लोकों (क्रमांक-२ और ३) में बता रहे हैं कि जो उक्त शास्त्र विधि का पालन अर्थात् कर्मयोग साधना का अभ्यास न करते हुए सीधे ही कर्म-सन्यास मार्ग का अवलंबन करने लगते हैं उनकी त्रिगुणात्मक स्थिति में सुधार नहीं होता और श्रद्धा रूप आंतरिक सोच भी पूर्ववत बने रहने से ऐसे साधक की संपूर्ण तपस्या निष्फल सिद्ध हो जाती है। यहाँ भगवान ने जो बात पहले (श्लोक-५.६ और ६.३ में) कही थी उसकी ही पुष्टि गहन मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषण करके की है।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा , देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव , तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा , देहिनाम् सा स्वभावजा । सात्त्विकी राजसी च एव , तामसी च इति ताम् शृणु ॥

भगवान ने कहा- **देहिनाम् स्वभावजा सा श्रद्धा-** मनुष्यों की अपनी गुणात्मक अवस्था से उत्पन्न (स्वभावजा) वह श्रद्धा, **सात्त्विकी च राजसी च तामसी -** सात्त्विकी,राजसी और तामसी **इति त्रिविधा एव भवति -** ऐसे तीन प्रकार की होती है, **ताम् शृणु -** उसे सुन ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य , श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो , यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

सत्त्व-अनुरूपा सर्वस्य , श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयः अयम् पुरुषः , यः यत् श्रद्धः सः एव सः ॥

भारत- हे अर्जुन ! **सर्वस्य श्रद्धा सत्त्व-अनुरूपा भवति-** प्रत्येक मनुजशय की श्रद्धा (उसके द्वारा ग्रहीत) विचार-सार के अनुरूप होती है, **अयम् पुरुषः श्रद्धामयः -** यह पुरुष श्रद्धामय है, **(अतः) यः यत् श्रद्धः सः एव सः -** इसलिए जो जैसी श्रद्धावाला है वह निश्चय ही वैसा ही होता है ।

सत्व : शब्दार्थ होता है 'सार'। यहाँ भाव है- मनुष्य ने जिन विचारों को निर्णय उपरांत सार रूप में अपने अंतर में, अवचेतन स्तर पर, ग्रहण कर लिया है वह अन्तस्थ विचार-सार।

श्रद्धा अनुरूप व्यक्तित्व : अवचेतन स्तर चेतन स्तर की अपेक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व का उसके सोच-विचार और व्यवहार का निर्धारण करने में अधिक प्रभावी होता है, यह हम सबका अनुभव है। बहुधा हम वैसा व्यवहार कर बैठते है जैसा न करने का हमने सचेतन अवस्था में निर्णय किया था। उदाहरणार्थ, हमने सचेतन अवस्था में निर्णय किया कि मैं अमुक व्यक्ति पर क्रोध नहीं करूंगा किंतु परिस्थिति

बनती है और क्रोध हम पर हावी हो जाता है, तथा बाद में हम पछताते भी हैं। इसका कारण अवचेतन में पड़े वें विचार हैं जो चेतन में उतर कर क्रोध के रूप में प्रकट होते हैं। इसी तथ्य को यहाँ 'यः यत् श्रद्धः सः एव सः' कहकर प्रकट किया गया है।

अब अगले कुछ श्लोकों (क्रमांक-४ से २२) में त्रिगुणी श्रद्धा व्यक्ति के सभी आचार / व्यवहारों को कैसे प्रभावित और निर्धारित करती है इस बात को उसके इष्ट देव पूजन (श्लोक-४), शास्त्र वचनों की अवहेलना कर घोर तप करने (श्लोक-५,६), आहार रुचि (श्लोक-७ से १०) यज्ञ करने (श्लोक-११ से १३), तप करने (श्लोक-१४ से १९) तथा दान करने (श्लोक-२० से २२) में वर्णित किया गया है।

सर्व प्रथम श्लोक-४ में वर्णन किया गया है कि व्यक्ति जिस प्रकार के इष्टदेव का वरण करता है इससे इस बात का पता चलता है कि उसकी श्रद्धा किस गुण वाली है?

यजन्ते सात्त्विका देवान् , यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये , यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

यजन्ते सात्त्विकाः देवान् , यक्ष-रक्षांसि राजसाः । प्रेतान् भूतगणान् च अन्ये , यजन्ते तामसाः जनाः ॥

सात्त्विकाः देवान् यजन्ते- सात्त्विक श्रद्धा वाले देवी-देवताओं को पूजते है, **राजसाः यक्ष-रक्षांसि च अन्ये -** राजस श्रद्धा में स्थित यक्ष, राक्षस तथा अन्यों को, **च तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् यजन्ते -** एवं तामस जन प्रेतों को, भूतगणों को पूजते है।

व्यक्ति की श्रद्धा किस गुण वाली है उसके अनुरूप उसकी मनोकामनाएं और तदनुरूप उसके प्रयास होते हैं। स्वर्ग-सुख अथवा अन्य मानसिक ऐषणाओं की पूर्ती के उद्देश्य से जो लोग देवों की उपासना करते हैं उन्हें सात्विक श्रद्धा वाले कहा गया है। धनार्जन की उत्कट कामनाओं की पूर्ति में डूबे लोगों के आदर्श यक्ष और राक्षस बताए गए हैं। पौराणिक आख्यानों में कुबेर को यक्षों के राजा के रूप में वर्णित किया गया है जिसनें सोने की लंका और पुष्पक विमान का निर्माण करवाया था। तात्पर्य यह कि व्यापार और उद्योग-धंधे स्थापित करके सुखों का उपभोग करने के लिए अटूट संपत्ति एकत्रित करने वालों को यहाँ यक्ष कहा गया और दूसरों की संपत्ति लूटकर उस पर आधिपत्य कर लेने वालों को राक्षस कहा गया है जिसका प्रसिद्ध उदाहरण रावण था जिसने कुबेर से लंका छीन कर उसे भगा दिया था। इसी क्रम में 'अन्य को पूजने' से तात्पर्य उक्त प्रकार के रईस जनों को येन-केन सहयोग कर उन्हें खुश करके अपना उल्लू सीधा करने वालों से हो सकता है, इन्हें भी राजसिक श्रद्धा वाला कहा गया है।

भूत-प्रेत का पूजन : भूत-प्रेत क्या हैं? इस संबंध में विनोबा और स्वामी चिन्मयानंद की टिप्पणियां ज्ञान परक है। विनोबा ने कहा है- 'तामसिक संहारक शक्ति से युक्त योनि विशेष प्रेत है, और वासना देह से संचार करने वाली योनि विशेष भूत है'। इनके उपासकों द्वारा इन योनियों में पड़े जीवात्माओं से अपनी निकृष्ट कामनाओं की पूर्ति का सौदा करना ही उक्त तामसिक उपासको का भूत-प्रेतों का पूजन करना कहलाता है।

स्वामी चिन्मयानंद ने उन लोगों के लिए जो इस प्रकार की स्थूल देह रहित मानसिक सत्ताओं को स्वीकार नहीं करते, उनके लिए भूत-प्रेत शब्दों की सर्वथा नवीन और सुंदर व्याख्या की है। उन्होंने कहा है ऐसे गुंडे-बदमाश जो जीवन की अच्छाइयों के प्रति मर चुके हैं और जो दूसरों की तामसिक/आसुरी कामनाओं की पूर्ति करने के लिए उन्हें प्राप्त क्षमताओं का सौदा करने के लिए उपलब्ध होते हैं उन्हें ही भूत-प्रेत समझा जा सकता है।

उक्त तामसी श्रद्धा वालों से भी निम्न श्रेणी की आसुरी श्रद्धा वाले लोग भी होते हैं जो अपने अहंकार में डूबे होने के कारण किसी बाह्य शक्ति का सहारा न लेते हुए, घोर तप करते हुए अपने उस अहंकार का ही पूजन कर रहे होते हैं। इसका वर्णन श्लोक-५ और ६ में किया गया है।

अशास्त्रविहितं घोरं , तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः , कामरागबलान्विताः ॥५॥

अशास्त्र-विहितम् घोरम् , तप्यन्ते ये तपः जनाः । दम्भ-अहंकार-संयुक्ताः , काम-राग-बल-अन्विताः ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं , भूतग्रामममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं , तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

कर्षयन्तः शरीरस्थम् , भूत-ग्रामम् अचेतसः । माम् च एव अन्तः-शरीरस्थम् , तान् विद्धि आसुर-निश्चयान् ॥

ये जनाः दम्भ-अहंकार-संयुक्ताः - जो लोग दम्भ-अहंकार से युक्त हो **काम-राग-बल-अन्विताः -** कामनाओं और राग के बल के पराधीन होकर **अशास्त्र-विहितम् घोरम् तपः तप्यन्ते-** शास्त्रों के निर्देशों का पालन न करते हुए घोर तप करते है, **च एव शरीरस्थम् भूत-ग्रामम् अन्तः-शरीरस्थम् (च) माम् कर्षयन्तः -** और इस प्रकार अपने शरीरस्थ पंच भूतों के तथा अंतःकरण के कार्यों को संपन्न करने वाली चेतना को तथा मुझे (अर्थात् मेरे अंश रूप जीवात्मा को भी) कृश करने वाले बन जाते है। **तान् अचेतसः आसुर-निश्चयान् विद्धि -** उन अज्ञानिओं को तू आसुरी श्रद्धा वाला मान ।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य है- १. श्रद्धा व्यक्ति के वे निश्चयात्मक विचार हैं जो उसके अवचेतन स्तर पर संग्रहित होते हैं, जैसा कि अध्याय की भूमिका में कहा गया था; २. घोर तप यदि अहंकार वश न भी किया गया हो और किसी को देख-सुनकर भी किया जाता है तो भी वह व्यक्ति की चेतना को ऊपर उठाने के स्थान पर उसे दुर्बल और अक्षम ही बनाएगा, यह बात भगवान बुद्ध के जीवन की उस घटना से पुष्ट होती है जिसका वर्णन है कि कई दिनों तक निराहार रहते हुए ध्यान करते रहने पर भी उन्हें ज्ञान की अनुभूति न होकर उल्टे उनका मन और शरीर चेतना-शून्यवत हो गया था और जब एक ग्रामीण बालिका ने उनकी वह स्थिति देखकर उन्हें थोड़ी खीर खिलाई तो उन्हें उस तपस्या की निरर्थकता की समझ आई तथा उसके बाद सम्यक् साधना करने पर उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ।

अब आगे भगवान वर्णन कर रहे हैं कि व्यक्ति ने जैसी श्रद्धा अर्थात् निश्चयात्मक विचार अपने अंत: स्तर पर संग्रहित कर रखे हैं वें मन के क्षेत्र में और कर्म के क्षेत्र में अवश्य प्रकट होते हैं, अतः उन पर ध्यान देकर मनुष्य को उनका परिमार्जन करना चाहिए। श्रद्धा की अपनी गुणात्मक स्थिति को जानने का सबसे सरल और प्रभावी उपाय है कि व्यक्ति अपने भोजन रूचि एवं उन यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का अवलोकन करें जो वह शास्त्र वचनानुसार ही करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार वह अपने अवचेतन स्तर का भी परीक्षण करके उसके परिमार्जन हेतु प्रयत्नशील हो सकेगा। यह बात श्लोक-७ में इंगित करके आगे विस्तृत विवेचना की गई है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य , त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं , तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहारः तु अपि सर्वस्य , त्रिविधः भवति प्रियः । यज्ञः तपः तथा दानम् , तेषाम् भेदम् इमम् शृणु ॥

सर्वस्य आहारः प्रियः तु यज्ञः तपः दानम् अपि त्रिविधः भवति - प्रत्येक की भोजन प्रियता वैसे ही यज्ञ तप तथा दान भी तीन प्रकार के होते है **तेषाम् इमम् भेदम् शृणु -** उनकी इस विविधता को सुन ।

आहार रुचि से श्रद्धा की गुणात्मकता की पहचान का वर्णन श्लोक ८ से १० में-

आयुःसत्त्वबलारोग्य , सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या , आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य , सुख-प्रीति-विवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः , आहाराः सात्त्विक-प्रियाः ॥

आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः - आयु तथा प्राण शक्ति युक्त जीवनी शक्ति, बल, स्वास्थ्य, आनंद, उल्लास बढ़ाने वाले, **रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः -** स्वादिष्ट, चिकनाई युक्त, पौष्टिक, हृदय को प्रिय लगने वाले **आहाराः सात्त्विक-प्रियाः -** (ऐसे) आहार अर्थात् भोज्य पदार्थ सात्त्विक श्रद्धावालों को प्रिय होते है।

आहार गुणों के इस वर्णन में एक बात हमारा ध्यान खींचती है कि यहाँ दो प्रकार के गुणों का वर्णन श्लोक की प्रथक-प्रथक पंक्तियों में हुआ है। प्रथम पंक्ति में आहार के उन गुणों का वर्णन है जो वह भोजन करने वाले को प्रदान करते हैं, और दूसरी पंक्ति में भोज्य पदार्थों के भौतिक स्वरूप का वर्णन है।

कट्वम्ललवणात्युष्ण , तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा , दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कट्वम्ल-लवण-अति-उष्ण , तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः । आहाराः राजसस्य इष्टाः , दुःख-शोक-आमय-प्रदाः ॥

अति कट्वम्ल-लवण-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष विदाहिनः - अधिक कटु (कड़वे), अधिक खट्टे, अति नमकीन, अधिक गर्म, अति तीक्ष्ण (चटपटे), रूखे, दाह कारक (जलन पैदा करने वाले) **दुःख-शोक-आमय-प्रदाः -** दुःख शोक (पश्चाताप) करने वाले **आहाराः राजसस्य इष्टाः -** आहार राजस श्रद्धा वालों को प्रिय होते है ।

यहाँ भी आहार के गुणों को दो संवर्ग में वर्णित किया गया है। प्रथम पंक्ति में भोज्य पदार्थ के भौतिक गुणों का और दूसरी पंक्ति में भोजनकर्ता पर होने वाले प्रभावों का वर्णन हुआ है।

यातयामं गतरसं , पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं , भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

यातयामम् गत-रसम् , पूति पर्युषितम् च यत् । उच्छिष्टम् अपि च अमेध्यम् , भोजनम् तामस-प्रियम् ॥

यत् भोजनम् यात यामम् - जो भोजन एक प्रहर से अधिक बासी हो (याम=पहर अर्थात् ३ घंटे, यात= बीता हुआ) **गत-रसम्-** बे स्वाद **पूति-** दुर्गन्ध युक्त, **पर्युषितम् -** बिगड़ा हुआ **च उच्छिष्टम् च अमेध्यम् अपि -** और जूठा तथा न जाना हुआ भी हो (मेध्= मेथ्=जानना, समझना) (**तत्-** वह भोजन) **तामस-प्रियम् -** तामस श्रद्धा वाले को प्रिय होता है ।

झूठे में पक्षियों द्वारा कुतरा हुआ फल भी शामिल है, ऐसा मानना उचित होगा क्योंकि ऐसे फलों के प्रदूषित हो जाने की संभावना रहती है। तमस व्यक्ति में सोच-विचार नहीं होता।

भोजन के प्रति रुचि पर ध्यान देने के अतिरिक्त व्यक्ति को अपनी श्रद्धा की स्थिति को जानने के लिए यज्ञ, तप और दान जैसे शास्त्र विहित कर्मों के बारे में भी अपने को परखना चाहिए, इस हेतु से अब इनकी विवेचना की जा रही है।

प्रथम यज्ञ कर्म की विवेचना श्लोक-११ से १३ में-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो , विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः , समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अफल-आकाङ्क्षिभिः यज्ञः , विधि-दृष्टः यः इज्यते । यष्टव्यम् एव इति मनः , समाधाय सः सात्त्विकः ॥

विधि-दृष्टः अफल-आकाङ्क्षिभिः - शास्त्रों के निर्देशानुसार फल की इच्छा न रखते हुए **मनः समाधाय यज्ञः यष्टव्यम् एव -** मन का समाधान करके ही कि यज्ञ करना ही कर्तव्य है **इति यः इज्यते सः सात्त्विकः -** इस प्रकार जो (यज्ञ)किया जाता है वह सात्त्विक (श्रद्धावाला) है।

अभिसन्धाय तु फलं , दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ , तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अभिसन्धाय तु फलम् , दम्भ अर्थम् अपि च एव यत् । इज्यते भरत-श्रेष्ठ , तम् यज्ञम् विद्धि राजसम् ॥

तु भरत-श्रेष्ठ- परन्तु, हे अर्जुन ! **दम्भार्थम् एव च फलम् अभिसन्धाय अपि -** केवल दंभाचरण के लिए ही अथवा फल को दृष्टि में रख कर भी **यत् इज्यते तम् यज्ञम् राजसम् विद्धि -** जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को राजस जान ।

विधिहीनमसृष्टान्नं , मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं , तामसं परिचक्षते ॥१३॥

विधि-हीनम् असृष्ट-अन्नम् , मन्त्र-हीनम् अदक्षिणम् । श्रद्धा-विरहितम् यज्ञम् , तामसम् परिचक्षते ॥

विधि-हीनम्, असृष्ट-अन्नम्, मन्त्र-हीनम्, अदक्षिणम्,श्रद्धा-विरहितम्, (च) यज्ञम् तामसम् परिचक्षते - शास्त्रविधि से रहित, बिना अन्न दान के, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के, बिना श्राद्ध के किये जाने वाले यज्ञ को तामस माना जाता है ।

अभीष्ट अर्थ : यह श्लोक भी महाभारतकार की उस विधा का उदाहरण है जिसकी चर्चा और विवेचना हमने श्लोक-१२.१२ की हमारी टिप्पणी में की थी। बहु-अर्थ वाले शब्दों के प्रयोगकी विधा यहाँ भी अपनाई गई है ताकि पाठक भी 'महाभारत को लिपि बद्ध करने वाले गणेश की तरह' सावधान होकर चिंतन करते हुए उन शब्दों में छुपे उचित अर्थ का अन्वेषण करके आगे बढ़ें। गणेश की उस कथा के माध्यम से पाठक को चेताया गया है कि उसे सावधान रहकर समाधान कारक अर्थ का अन्वेषण करना चाहिए। वस्तुतः गीता में यज्ञ का अग्नि में आहुति देने की क्रिया वाला अर्थ, जो उपरोक्त शब्दार्थ से ध्वनित हो रहा है, कहीं भी इंगित नहीं है, उसके लिए 'हुतम' शब्द का प्रयोग हुआ है (उदाहरण श्लोक-४.२४, ९.१६ और यहाँ भी आगे १७.२८ में)। गीता ने यज्ञ को सर्वत्र 'निस्वार्थ कर्म' के रूप में ही वर्णित किया है। इस

परिपेक्ष में श्लोक के निम्नांकित कूट शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करना उचित प्रतीत होता है।

विधिहीन यज्ञ : समष्टि हित सधे ऐसे कर्मों को गीता ने यज्ञ कहा है (यज्ञः कर्म समुद्भवम्,श्लोक-३.१४)। यही यज्ञ की शास्त्रीय परिभाषा है। जो यज्ञ कर्म इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते हैं वें तामस यज्ञ हैं।

अदक्षिणम् यज्ञ : 'बिना दक्षिणा वाला' ऐसा अनुवाद जो शांकर भाष्य का अनुसरण करते हुए सभी टिकाओं में मिलता है इसने ही श्लोक के वास्तविक अर्थ पर पर्दा डालने का काम किया है। दक्षिणा शब्द का अर्थ दान, भेंट, शुल्क, पारिश्रमिक आदि अवश्य हैं किंतु यहाँ प्रयुक्त शब्द 'दक्षिण' का यह अर्थ है ही नहीं। दक्षिण शब्द में धातु दक्ष है और अर्थ है योग्य, कुशल, निपुण आदि। अतः 'अदक्षिणम् यज्ञ' का वास्तविक अर्थ है 'बिना निपुणता के किया गया त्याग या सेवाकार्य'। भले ही कार्य सेवा भाव से किया जाए किंतु यदि कार्य करने में कर्ता को कुशलता/निपुणता प्राप्त नहीं हो तो परिणाम विपरीत भी हो सकता है अतः ऐसे कार्य को तामस यज्ञ कहा गया है।

असृष्टाष्टन्नम् यज्ञ : अन्न का व्यापक अर्थ है 'जीवन पोषक तत्व'। अतः 'असृष्टान्नम्' का अर्थ होगा वह जो जीवन पोषणीय प्रणाली की रचना न करें। उपरोक्त संदर्भित यज्ञ कर्मों के अतिरिक्त अन्य तथाकथित यज्ञों को, जो बहुधा कामना पूर्ति हेतु किए जाते हैं उन्हें गीता ने तामस यज्ञ कहा है। (बिना अन्नदान वाला अर्थ तो शब्दों से भी प्रकट नहीं होता!)

मंत्रहीन यज्ञ : मंत्र का अर्थ 'परामर्श' या 'सोच-विचार' भी है अतः बिना समुचित सोच-विचार के किए जाने वाले कर्म, भले ही वें समष्टिहित के भाव से किए जाएं, तामस यज्ञ ही कहे जाएंगे क्योंकि वें समष्टिहित के स्थान पर अहितकर हो सकते हैं।

श्रद्धा विरहितम् यज्ञ : कुछ लोग बिना अंत:प्रेरणा के, बिना स्वस्फूर्त सेवा भाव के, केवल नाम कमाने अथवा भविष्य में किसी स्वार्थ सिद्धि को लक्ष्य करके 'यज्ञ कर्म' का बाना ओढ़ लेते हैं। ऐसे यज्ञ कर्मों को तामस यज्ञ कहा गया है।

यज्ञ कर्मों की प्रेरक श्रद्धा की विवेचना के पश्चात् अब 'तप' की प्रेरणा रूप श्रद्धा के संबंध से तप की विस्तृत विवेचना की जा रही है। तप शब्द का यहाँ अर्थ है साधक द्वारा अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए कड़ी साधना करना। प्रथमतः श्लोक-१४ से

१६ में तप के प्रकार बताकर आगे उनकी त्रिगुणात्मक विवेचना श्लोक-१७ से १९ में की जा रही है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ , पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च , शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ , पूजनम् शौचम् आर्जवम् । ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च , शारीरम् तपः उच्यते ॥

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम् - देवताओं की, ब्राह्मणों की, गुरुओं की, प्रज्ञावानों की पूजा (अर्थात् इनके प्रति पूज्यता भाव रखना), **शौचम् आर्जवम् ब्रह्मचर्यम् च अहिंसा शारीरम् तपः उच्यते -** पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये शरीर के तप कहे जाते हैं ।

पूर्व श्लोक की तरह इस श्लोक में आए शब्दों के भी कुछ विशेष अर्थ हैं जिन पर ध्यान देना उपयोगी होगा, यें शब्द हैं-

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं : पूज्यजनों में यहाँ यें चार नाम ही गिनाए गए हैं इनमें माता-पिता का न होने से प्रथम दृष्टया आश्चर्य हो सकता है किंतु इसका भी विशेष कारण है। माता-पिता का आदर करना तो सभी के लिए अनिवार्य कर्तव्य है जबकि यहाँ उल्लेखित चार को पूज्य मानना अध्यात्म पथ पर अग्रसर होने को इच्छुक व्यक्तियों के लिए अनुशंसित किया गया है। वस्तुतः यह अध्यात्म पथ को प्रकाशित करने वाले मार्गदर्शक हैं। हमें इनकी क्रमिक भूमिका को समझते हुए इनसे मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए।

प्राज्ञ : जिनकी बुद्धि अध्यात्म ज्ञान में स्थित हो गई है वें जन प्राज्ञ हैं और इस पथ पर चलने के इच्छुक व्यक्ति को इनके प्रति आदर भाव रखते हुए इनके साथ नियमित सत्संग करना चाहिए।

द्विज : शब्दार्थ है 'दूसरा जन्म प्राप्त' अर्थात् अब जो सांसारिक जीवन से ऊपर उठकर जिन्होंने अध्यात्म पथ का अनुगमन प्रारंभ कर दिया है।

गुरु : इस पथ का थोड़ा-बहुत अनुभव प्राप्त जन। क्रियात्मक / व्यवहारपरक / प्रेक्टिकल अनुभव प्राप्त कर इस ज्ञान के स्नातक हुए व्यक्ति, जो अब दूसरों को भी इस ओर मार्गदर्शन देने में सक्षम हैं।

देव : आध्यात्मिक अनुभव में स्थित हो चुके, सिद्धि प्राप्त कर चुके, जन। श्लोक-१२.१८,१९ में वर्णित सिद्ध भक्त, अथवा श्लोक-१४.२४,२५ में में वर्णित त्रिगुणातीत हुए सिद्ध पुरुष, अथवा श्लोक-१५.१९ में वर्णित हुए उत्तम पुरुष की

जाग्रति प्राप्त कर चुके श्रीकृष्ण-सम महापुरुष, इनको गीतकार ने 'देव' कहकर संबोधित किया है।

इस प्रकार प्राज्ञ से लेकर देव तक ये जन आध्यात्मिक पथ के उत्तरोत्तर उन्नत मार्गदर्शक हैं, यह बात उपरोक्त शब्दों में वर्णित की गई है।

ब्रह्मचर्य : यह शब्द दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- १. ब्रह्म में चर्यन अर्थात् सर्वव्यापी चेतन सत्ता के अनुभव में स्थित होकर व्यवहार करना तथा २. काम वासना का नियमन करना। क्योंकि यहाँ संदर्भ शारीरिक तप से है अतः दूसरा अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

अहिंसा : सर्वविदित है कि हिंसा में अपने सुख के लिए दूसरों को दुख देने का भाव निहित रहता है अतः अहिंसा में किसी भी प्राणी को अपने सुख के लिए अथवा अकारण ही शारीरिक / मानसिक कष्ट न पहुंचे यह भाव सम्मिलित है।

श्रद्धा रूप जो बुद्धि के निश्चय व्यक्ति ने संचित कर रखे हैं उनकी अभिव्यक्ति शरीर, मन और वाणी के स्तरों पर होती है अतः इन तीनों स्तरों पर उनका परिमार्जन तप के माध्यम से करना होगा। शारीरिक तप वाली उपरोक्त साधनाओं के अतिरिक्त व्यक्ति को अपनी वाणी पर ध्यान देकर उसे भी परिमार्जित करने का प्रयास करना होगा। यह वाणी का तप उसकी श्रद्धा के गुणात्मक स्तर को ऊंचा उठाने में सहायक होगा। इस हेतु से श्लोक-१५ कहा गया है-

अनुद्वेगकरं वाक्यं , सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव , वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

अनुद्वेगकरम् वाक्यम् , सत्यम् प्रिय-हितम् च यत् । स्वाध्याय-अभ्यसनम् च एव , वाङ्मयम् तपः उच्यते ॥

यत् अनुद्वेगकरम् सत्यम् च प्रिय-हितम् च स्वाध्याय-अभ्यसनम् वाक्यम् - जो उद्वेग पैदा न करने वाले, सत्य किंतु प्रिय, हितकारी और स्वाध्याय अनुरूप वचन बोलने का अभ्यास है **(तत्) एव वाङ्मयम् तपः उच्यते -** वही वाणी संबंधी तप कहा जाता है।

हमारे सोच विचार के अनुरूप हमारी वाणी होती है जिसकी साधना को श्लोक-१५ में बताने के बाद अब मन के स्तर पर श्रद्धा के शुद्धिकरण हेतु मन संबंधी तप का वर्णन श्लोक-१६ में किया गया है-

मनः प्रसादः सौम्यत्वं , मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् , तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मनः-प्रसादः सौम्यत्वम् , मौनम् आत्म-विनिग्रहः । भाव-संशुद्धिः इति एतत् , तपः मानसम् उच्यते ॥

मनः-प्रसादः - मन की प्रसन्नता, **सौम्यत्वम् -** सौम्यता अर्थात् सब के प्रति मृदुल और कोमल भाव, **मौनम् -** मन की शांति, **आत्म-विनिग्रहः -** आत्म-संयम, **भाव-संशुद्धिः -** अंतःकरण के भावों का पवित्र बनाये रखना **इति एतत् मानसम् तपः उच्यते-** इस प्रकार यह सब मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

मन के उपरोक्त गुणों को तप क्यों कहा गया इसकी समाधान कारक व्याख्या विनोबा ने कुछ इस प्रकार की है।

मन की प्रसन्नता : दुख की परवाह न करने वाली प्रसन्न वृत्ति। परिस्थिति चुभने वाली है फिर भी प्रसन्नता है यह सामान्य बात नहीं है, इसके लिए आंतरिक सोच बदलना होगा, यह तप है।

आत्म विनिग्रह : भोग वृत्ति प्रकृति प्रदत्त है उसके विरुद्ध संयम करना तप है।

भाव संशुद्धि : व्यवहार में लोगों का गुण-दोष परीक्षण तो करना ही पड़ेगा किंतु सब के प्रति भाव प्रेम मय बना रहे इस हेतु मन को साधना पड़ेगा। यह तप है।

श्रद्धा के शुद्धिकरण हेतु व्यक्ति द्वारा शरीर, वाणी और मन संबंधी जो उपरोक्त तप किए जाएंगे वें उस श्रद्धा की वर्तमान स्थिति के मान से किसी एक स्तर के होंगे अतः तप संबंधी स्वयं के क्रियाकलापों का सतत परीक्षण करते रहकर उन्हें उत्तरोत्तर उच्च स्तर पर ले जाना होगा, इस हेतु से अगले तीन श्लोक (क्रमांक-१७,१८,१९) कहे गए हैं। प्रथम सात्विक तपों का वर्णन-

**श्रद्धया परया तप्तं , तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः , सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥**

श्रद्धया परया तप्तम् , तपः तत् त्रिविधम् नरैः । अफल-आकाङ्क्षिभिः युक्तैः , सात्त्विकम् परिचक्षते ॥

अफल-आकाङ्क्षिभिः नरैः परया श्रद्धया युक्तैः - फल की आकांक्षा न रखने वाले पुरुष परम सत्ता के प्रति श्रद्धा से युक्त होकर **तप्तम् तत् त्रिविधम् तपः सात्त्विकम् परिचक्षते -** किये हुए उन (उपरोक्त वर्णित) तीनों प्रकार के तपों को सात्विक कहा जाता है।

**सत्कारमानपूजार्थं , तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं , राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥**

सत्कार-मान-पूजार्थम् , तपः दम्भेन च एव यत् । क्रियते तत् इह प्रोक्तम् , राजसम् चलम् अध्रुवम् ॥

यत् तपः सत्कार-मान-पूजार्थम् च एव दम्भेन क्रियते - जो तप सत्कार, मान, पूजा के लिए ही या प्रदर्शन के लिए किया जाता है, **तत् अध्रुवम् चलम् इह राजसम् प्रोक्तम् -** वह अस्थिर चलायमान (तप) यहाँ राजस कहा

गया है ।

मूढग्राहेणात्मनोयत् , पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा , तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

मूढ-ग्राहेण आत्मनः यत् , पीडया क्रियते तपः । परस्य उत्सादन अर्थम् वा , तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

यत् तपः मूढ-ग्राहेण आत्मनः पीडया - जो तप मूर्खतावश आत्म-उत्पीड़न के लिए **वा परस्य उत्सादनार्थम् क्रियते-** अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है,**तत् तामसम् उदाहृतम् -** वह (तप) तामस कहा जाता है ।

श्रद्धा की गुणात्मक स्थिति दान देने की क्रिया मैं भी प्रकट होती है, अतः दान का त्रिगुणात्मक वर्णन श्लोक-२० से २२ में दिया जा रहा है-

दातव्यमिति यद्दानं , दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च , तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दातव्यम् इति यत् दानम् , दीयते अनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च , तत् दानम् सात्त्विकम् स्मृतम् ॥

यत् दानम् इति दातव्यम् - जो दान बस कर्तव्य समझकर **अन् उपकारिणे -** बिना प्रत्युपकार की आशा से **देशे च काले च पात्रे दीयते-** (समुचित) देश और काल तथा पात्र को दिया जाता है, **तत् दानम् सात्त्विकम् स्मृतम् -** वह दान स्मृतियों में सात्विक माना गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं , फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं , तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत् तु प्रति-उपकारार्थम् , फलम् उद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टम् , तत् दानम् राजसम् स्मृतम् ॥

तु यत् परिक्लिष्टम् च पुनः प्रति-उपकारार्थम् वा फलम् उद्दिश्य दीयते - परंतु जो (दान) पश्चाताप सहित (अनिच्छापूर्वक) तथा फिर प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टी में रख कर दिया जाता है, **तत् दानम् राजसम् स्मृतम् -** वह दान राजस कहा गया है ।

अदेशकाले यद्दानम् , अपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं , तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अदेश-काले यत् दानम् , अपात्रेभ्यः च दीयते । असत्कृतम् अवज्ञातम् , तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

यत् दानम् असत्कृतम् अवज्ञातम् अदेश-काले च अपात्रेभ्यः दीयते - जो दान बिना सत्कार के, तिरस्कार पूर्वक, अयोग्य देश काल में, और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, **तत् तामसम् उदाहृतम् -** वह (दान) तामस कहा गया है।

राजस और तमस दान के उदाहरण, जो आज हमारे सामाजिक जीवन में सामान्य बात हो गई है 'श्रीभगवत् गीता (गीता प्रेस की साधारण भाषा टीका वाली पुस्तक क्रमांक-१७) में पढ़ने योग्य है। उसका सार यह है कि- १. देश,काल, पात्र की आवश्यकता के अनुरूप दान का स्वरूप कैसा होना चाहिए; २. परिक्लिष्ट दान के उदाहरण- छोटे-बड़े नेताओं द्वारा राजनैतिक अथवा धार्मिक आयोजनों के नाम पर वसूले जाने वाले चंदे; ३. प्रत्युपकारी दान के उदाहरण- दान के बदले में सांसारिक कार्यों की सिद्धि हेतु दिया जाने वाला दान; ४. फलम् उद्दिश्य दान के उदाहरण- प्रतिष्ठा अथवा स्वर्गादि, पुण्य लाभ, रोग आदि निवृत्ति हेतु दिया जाने वाला दान; तथा ५. अपात्रेभ्य: दान के उदाहरण- शराब आदि व्यसनी व्यक्तियों द्वारा डरा-धमका कर 'चौथ' वसूली जाने वाली राशि।

स्वामी रंगनाथानन्द ने उत्तम दान के संबंध में तैत्तिरीय उपनिषद (१.११.३) की एक सुंदर शिक्षा को उद्धृत किया है जिसका सार यह है कि उत्तम दान वही है जो देने वाले और लेने वाले दोनों की आत्मा जाग्रति में सहायक हो।

अब इसके बाद अध्याय के अंत में 'ॐ तत् सत्' के रूप में एक प्रकरण वर्णित है, किंतु जिस रूप में उसकी व्याख्यायें की गई है उनसे अध्याय के विषय की संगति बैठती नहीं दिखती। अतः इसके भावार्थ पर अधिक विचार किए जाने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

हमारी धारणा है कि यहाँ इस अध्याय में भी गीताकार ने विषय विवेचना की वही शैली अपनाई है जो विगत अध्यायों में प्रयुक्त की थी। अध्याय-१४ और १६ की भूमिका में हमने कहा था कि उन अध्यायों में भगवान ने विषय की सैद्धांतिक विवेचना के साथ निर्गुण-ब्रह्म के उपासकों के लिए उस विवेचना के अनुरूप स्वप्रयास से प्रकृति-प्रधान गुणों से क्रमशः ऊपर उठने की विधि का और इसके बाद उस अध्याय के अंतिम कुछ श्लोकों में भक्ति से वहीं लक्ष्य सरलता से प्राप्त हो सकने की बात कही थी। यहाँ इस अध्याय में भी वही विधा अपनाई गई है। श्लोक-१ से २२ तक अवचेतन में संग्रहित बुद्धि के 'निश्चयों' का श्रद्धा के रूप में जो वर्णन किया गया है उसमें स्वप्रयास से उक्त श्रद्धा का परिमार्जन करने की विधा निहित है किंतु यदि श्रद्धा परम सत्ता के किसी भी स्वरूप के बारे में हो तो उसके निरसन या परिमार्जन का प्रयास न करते हुए उसे उपासना द्वारा पुष्ट किया जाना चाहिए।
परम सत्ता के तीन रूप माने गए हैं- व्यक्त, अव्यक्त और इन दोनों का मूल 'ब्रह्म'। इन तीनों रूपों को क्रमशः सत्,तत् और ॐ से निरूपित किया जाता है। अतः

तदनुरूप उपासना विधि के भी तीन रूपों का यहाँ वर्णन किया गया है।

**ॐ तत्सदिति निर्देशो , ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च , यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥**

ॐ तत् सत् इति निर्देशः , ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः । ब्राह्मणाः तेन वेदाः च , यज्ञाः च विहिताः पुरा ॥

ॐ तत् सत् इति त्रिविधः ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः - ' ॐ तत् सत्' ऐसे तीन प्रकार से ब्रह्म का निर्देश (संकेतात्मक वर्णन) किया गया है। **तेन पुरा ब्राह्मणाः च वेदाः च यज्ञाः विहिताः -** उससे (उस अनुरूप) प्राचीन काल से ही ब्रह्म की उपासना (ब्राह्मणा:), शुद्ध ज्ञान की उपासना (वेदा:), तथा निष्काम सेवा रूप यज्ञ कर्म उपासना (यज्ञा:) का विधान किया गया है ।

सत् : व्यक्त चेतन सत्ता जिससे चेतन जगत में समस्त क्रियाकलाप होते दिखते हैं इनकी अभिव्यक्ति के अनेक रूप हैं किंतु गीता ने इन्हें तीन मुख्य रूपों में वर्णित किया है- क्षर पुरुष (प्राणिक चेतना), अक्षर पुरुष (जीवात्मा) और उत्तम पुरुष (जीवात्मा से उच्चतर सत्ता महेश्वर) यें सभी व्यक्त ब्रह्म के रूप हैं जिन्हें सत् कहा गया है।

तत् : चेतन सत्ता का अव्यक्त रूप। चेतन सत्ता सर्वव्यापी है किंतु उसकी अभिव्यक्ति केवल प्रकृति की संरचनाओं में होती है। प्रकृति से पूर्णत: विलग चेतन सत्ता को तत् नाम से इंगित किया गया है। इसी कारण तत् रूप की उपासना को वेदा: (शुद्ध ज्ञान) शब्द से इंगित किया गया है।

ओम् : व्यक्त और अव्यक्त, समस्त चेतन ज्ञान सत्ता। इस रूप की उपासना को ब्रह्मण तथा उपासकों को ब्राह्मण कहा गया है।

**तस्मादोमित्युदाहृत्य , यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः , सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥**

तस्मात् ॐ इति उदाहृत्य , यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः । प्रवर्तन्ते विधान-उक्ताः , सततम् ब्रह्म-वादिनाम् ॥

तस्मात् ब्रह्म-वादिनाम् विधान-उक्ताः यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः - इसलिए ब्रह्मवादियों की शास्त्र-वचनों के अनुरूप की जाने वाली यज्ञ, दान और तप क्रियाएं **सततम् ॐ इति उदाहृत्य प्रवर्तन्ते -** सदा 'ॐ' इस प्रकार बोलकर (अर्थात् भाव स्मरण कर) प्रारम्भ की जाती है ।

ब्रह्म वादी : ब्रह्म-विचारक, ब्रह्म का विचार करने में कुशल।

यज्ञ दान तप : यह सभी निस्वार्थ भाव से किए जाने वाले सेवा कर्म है। गीता में समष्टि हितार्थ कर्मों को (श्लोक-३.९ से १६) तथा इस हेतु से अपने को सक्षम बनाने

वाले कर्मों को भी 'यज्ञ' कहा है (श्लोक-४.२४ से ३२)। क्योंकि गीता में दान और तप शब्द यज्ञ के साथ ही यहाँ आए हैं अतः इनके अर्थ भी कर्मकांड वाले न होकर विशिष्ट भाव से युक्त हैं। कुछ लोगों की या समाज के किसी घटक (संस्था) की सहायतार्थ किए जाने वाले कर्म को दान तथा किसी व्यक्ति की सेवा / सहायता करने वाले कर्मों को यहाँ तप कहा गया है।

ब्रह्म और ओम् : यहाँ कथन है कि ब्रह्म वादियों द्वारा सदा ओम् नाम का स्मरण किया जाकर ही यज्ञ, दान और तप कर्मों का क्रियान्वयन किया जाता है, तो एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और ओम् यें शब्द पर्यायवाची है अथवा कुछ भिन्न भावार्थ वाले होने से उक्त कथन द्वारा किसी भाव विशेष को इंगित किया गया है? स्वाभाविक प्रक्रिया तो यही होती है कि उपासक सदा अपने उपास्य के नाम का स्मरण करता है, उदाहरणार्थ राम के उपासक राम नाम का और कृष्ण के उपासक कृष्ण नाम का ही सदा उच्चारण करते हैं। हमारा मत है कि ब्रह्म और ओम् नाम एक ही सत्ता के दो भिन्न पहलुओं को निरूपित करते हैं। ब्रह्म नाम से सर्वव्यापी ज्ञान सत्ता का तथा ओम् नाम से उस सत्ता की जगत में अभिव्यक्ति का संकेत निहित है। ब्रह्मवादी जब प्रत्येक शास्त्र विहित कर्म के साथ ओम् नाम का उच्चारण करता हैं तो उसका भाव होता है कि उसमें जो चेतन सत्ता है वह ब्रह्म रूप सर्वव्यापी चेतन सत्ता की आंशिक अभिव्यक्ति है जिसकी पूर्णता चाहते हुए वह बारंबार स्मरण द्वारा उस इच्छा शक्ति को बल प्रदान करने का प्रयत्न कर रहा होता है।

अगले श्लोक (क्रमांक-२५) में भगवान बता रहे हैं कौनसा साधक ब्रह्म के तत् रूप अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म की प्राप्ति चाहते हैं और इस हेतु से क्या साधना करते हैं?

तदित्यनभिसन्धाय , फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः , क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

तत् इति अनभिसन्धाय , फलम् यज्ञ-तपः-क्रियाः । दान-क्रियाः च विविधाः , क्रियन्ते मोक्ष-काङ्क्षिभिः ॥

तत् फलम् अनभिसन्धाय - तत् के उपासक (अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म के उपासक) भौतिक सुख रूप फल प्राप्ति को लक्ष्य न बनाते हुए **इति मोक्ष-काङ्क्षिभिः -** बस मोक्ष की चाहना करने वाले **यज्ञ-तपः-क्रियाः च दान-क्रियाः विविधाः क्रियन्ते -** यज्ञ (और) तप क्रियाएं तथा दान की विभिन्न क्रियाओं को करते हैं।

कुछ लोग भौतिक सुखों से तो विरक्त हो जाते हैं किंतु मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा रखते हैं, वें अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं। इस निर्णय के पीछे उनका सोच रहता है कि अव्यक्त ब्रह्म पूर्णतः क्रियाशून्य होगा तो उसमें अपने को विलीन कर लेने वाले

स्वाभाविक रूप से जन्म रूप क्रिया से मुक्त ही रहेंगे और उन्हें पुनर्जन्म प्रक्रिया से मुक्ति मिलना सुनिश्चित हो जाएगा। (यह बात दूसरी है कि वह स्थिति एक से बहुत होने की इच्छा करने वाले परमात्मा की इच्छा से विपरीत होगी और एक प्रकार से चिर कालीन महा निद्रा वाली स्थिति के समान जैसी कुछ होगी। वस्तुतः यह भी चेतना का इच्छा अनुरूप स्थिति प्राप्त कर लेने वाले नियम का ही एक रूप होगा और अनंत परमात्मा सत्ता को इससे कुछ फर्क नहीं पड़ेगा कि उसका एक लघु-सा अंश उसके मुख्य धारा के विपरीत जाकर अचेतन स्थिति को प्राप्त कर लें।)

अब श्लोक-२६ और २७ में सत् रूप व्यक्त परमात्मा का वर्णन-

सद्भावे साधुभावे च , सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा , सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६॥

सत्-भावे साधु-भावे च, सत् इति एतत् प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा , सत् शब्दः पार्थ युज्यते ॥

यज्ञे तपसि दाने च , स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं , सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञे तपसि दाने च , स्थितिः सत् इति च उच्यते । कर्म च एव तत्-अर्थीयम् , सत् इति एव अभिधीयते ॥

विषय में अनुरूपता और स्पष्टता रहे इस हेतु से हम यहाँ दोनों श्लोकों का अलग-अलग अर्थ न करते हुए इसे एक वाक्य के रूप में इसका अर्थ कर रहे हैं।

पार्थ सत् शब्दः प्रशस्ते कर्मणि युज्यते - हे पार्थ! 'सत्' शब्द प्रशंसनीय शुभ कर्मों में जोड़ा जाता है (अर्थात् ऐसे कर्मों के लिए प्रयुक्त किया जाता है), च **यज्ञे तपसि च दाने स्थितिः एव सत् इति उच्यते -** तथा यज्ञ में, तप में, और दान में जो स्थिति (अर्थात् निश्चित नियम/ शाश्वत तत्व) है निश्चित ही वही सत् है ऐसा कहा जाता है **च तत्-अर्थीयम् कर्म एव सत् इति अभिधीयते -** एवं उसके निमित्त किया हुआ कर्म भी सत् है ऐसा कहा जाता है, **इति एतत् सत्-भावे च साधु-भावे च सत् प्रयुज्यते -** इसी प्रकार यहाँ संपूर्ण सत् (अर्थात् व्यक्त) सत्ता के लिए तथा श्रेष्ठ सत्ता के लिए सत् शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

इस प्रकार, परम् सत्ता की प्रति श्रद्धा को पुष्ट करने हेतु, ब्रह्म के तीन स्वरूपों- ॐ, तत्, सत् में से जिस भी स्वरूप की उपासना चुनने की बात श्लोक-२३ में कही गई थी, उनमें से ॐ अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त रूप समस्त ब्रह्म सत्ता की उपासना को श्लोक-२४ में, तत् रूप अव्यक्त ब्रह्म की उपासना को श्लोक-२५ में, तथा सत् अर्थात् ब्रह्म के व्यक्त रूप परमात्मा की उपासना को श्लोक-२६,२७ में इंगित किया गया है।

अब अध्याय के अंतिम श्लोक-२८ में भगवान ने शास्त्र विधि से रहित और श्रद्धा से भी रहित मन-माने कर्मों अथवा तथाकथित साधनाओं की निरर्थकता का वर्णन किया है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं , तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ , न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अश्रद्धया हुतम् दत्तम् तपः , तप्तम् कृतम् च यत् । असत् इति उच्यते पार्थ , न च तत् प्रेत्य नो इह ॥

पार्थ! अश्रद्धया यत् कृतम् च हुतम् दत्तम् तप्तम् तपः - हे अर्जुन! (किसी भी प्रकार की) श्रद्धा से रहित जो कर्म किए जाते हैं तथा (शास्त्र निर्देशों की अवहेलना कर किए जाने वाले) हवन (अर्थात् अग्नि में दी जाने वाली आहुतियों वाला कर्मकाण्डीय यज्ञ), दिया हुआ दान व तपा हुआ तप (जिनका वर्णन पूर्व में श्लोक ५ और ६ में 'आसुर निश्चयान' कह कर वर्णित किया गया था), **(तत्) असत् इति उच्यते तत् नो इह च न प्रेत्य -** उन्हें 'असत्' ऐसा कहा जाता है, वह न तो इस लोक में और न ही मरने के बाद ही (किसी के लिए भी उन्नति में सहायक होता है)।

◆ ◆ ◆

अष्टादश: अध्याय:

साधना की सिद्धि हेतु अहंकार से मुक्ति आवश्यक

भूमिका

विगत अध्यायों (क्रमांक-१४,१६,१७) में हम देख चुके हैं कि हमारी आध्यात्मिक जाग्रति में बाधक मन-बुद्धि के तीन स्तरों की अशुद्धियों के निरसन के दो प्रकार के उपायों का वहाँ वर्णन किया गया था। ये तीन स्तर थे- सचेतन स्तर पर मन-बुद्धि के त्रिगुणात्मक स्थितियां (अध्याय-१४), अवचेतन स्तर पर संग्रहित मनोगत कामनाएं (अध्याय-१६), तथा इसी प्रकार अवचेतन स्तर पर संग्रहित बुद्धि के निर्णय (निश्चय) को त्रिगुणात्मक श्रद्धा के रूप में (अध्याय-१७ में) वर्णित किया गया था। प्रत्येक स्तर की अशुद्धियों के निरसन के दो प्रकार के उपायों का वर्णन भी संबंधित अध्यायों में हुआ था। ये उपाय गीता के प्रारंभ (श्लोक-३.३) में वर्णित दो प्रकार की निष्ठाओं- निर्गुण ब्रह्म की उपासना अथवा सगुण परमात्मा की उपासना के अनुरूप दो प्रकार के वर्णित किए गए थे। अब इस अध्याय में आध्यात्मिक पथ की अंतिम किंतु कठिनतम अहंकार रूप कर्तापन की बाधा का पूरा विश्लेषण करके उसके निरसन के दोनों प्रकार के उपाय- निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म के उपासकों के लिए स्वप्रयास का उपाय और सगुण व्यक्त परमात्म सत्ता के उपासकों के लिए संपूर्ण समर्पण वाले भक्ति मार्ग का उपाय बताकर मुख्य विषय का समापन हुआ है।

अध्याय की विषय-वस्तु के बारे में हमारी यह दृष्टि, परंपरागत व्याख्याओं में प्रकट किए गए इस भाव से सर्वथा भिन्न है कि इस अध्याय में गीताकार ने बहुत कुछ पहले कही गई बातों को दोहराया है। वस्तुतः ऐसा यहाँ (तथा उपरोक्त पूर्व अध्यायों में भी) इस कारण प्रतीत होता है कि जो अज्ञान जनित अशुद्धियां इन सूक्ष्म स्तरों पर जमा हो जाती हैं उनका प्रकटीकरण तो चेतन मन-बुद्धि के स्तर पर ही होता है, किंतु इन्हे

मूलतः समाप्त करने के लिए पृथक से विशेष प्रयास करना होते हैं। यह वैसा ही है जैसा कि दो या अधिक भिन्न रोगों के बाह्य लक्षण एक समान होने पर रोग की आंतरिक पहचान (उदाहरणार्थ पेथालॉजिकल जांचे) करके जब विशिष्ट दवा दी जाती है तो रोग का समुचित इलाज हो पाता है। सारांश यह कि इस अध्याय में जिस सूक्ष्म किंतु प्रबल रोग का विवेचन है वह 'अहंकार' है जिसका प्राकट्य मन-बुद्धि आदि स्तरों पर होने के कारण वर्णन काफी कुछ पुनरावर्ती प्रतीत हो रहा है।

अध्याय की विषय वस्तु का विहंगावलोकन

अध्याय का प्रारंभ अर्जुन के संन्यास और त्याग के तत्व को जानने संबंधी प्रश्न से हुआ है। भगवान ने उसका जो विस्तृत उत्तर दिया है उससे स्पष्ट है कि भगवान ने अर्जुन के इस मनोभाव को भांपकर उत्तर दिया है कि वह अपने पूज्यजनों को मारने के अहंकृत भाव से कैसे मुक्त हो सकेगा? इस हेतु से उन्होंने अहंकृत भाव का पूरा विश्लेषण किया है। उनके उत्तर में इस तथ्य का समावेश है कि उस भाव से मुक्त होना अध्यात्म के सभी साधकों के लिए आवश्यक होता है चाहे साधक किसी भी साधना पद्धति का चयन करे। कर्तापन का भाव भी अहंकार की ही अभिव्यक्ति है और अहंकार के रहते कोई भी आध्यात्मिक साधना सफल नहीं हो सकती। वस्तुतः कर्तापन के भाव का निरसन अहंकार मुक्ति का एक उत्कृष्ट और कारगर साधन है।

क्योंकि अध्यात्म साधन पथ मूलतः दो प्रकार के हैं जैसा कि पूर्व में (श्लोक-३.३ में) कहा गया था, अतः कर्मों के कर्तापन से मुक्त रहने की भी दो ही विधियां हैं- निर्गुण ब्रह्म के उपासकों को अपने अहंकार (अहंकृत भाव) से छुटकारा अपने स्वयं के प्रयास से प्राप्त करना होता है, जबकि सगुण परमात्मा के उपासक वही स्थिति भगवत् भाव से सेवा कर्म करने के (भक्ति) मार्ग से प्राप्त करते है। साधना की सभी पद्धतियां इन दो शास्त्र सम्मत मार्ग के अंतर्गत ही आती हैं और इनकी सिद्धि के लिए अहंकार निरसन अनिवार्य शर्त बताई गई है। जो लोग अहंकार का निरसन किए बिना ही कर्म छोड़कर सन्यास मार्ग से परम सत्य की प्राप्ति हेतु चल पड़ते हैं उन्हें असफलता ही मिलती है। दुर्वासा के समान उनका अहंकार दबा पड़ा रहता है और मौका मिलते ही वह फूट पड़ता है।

विगत अध्यायों में वर्णित अन्य शुद्धिकरण साधनाओं के समान ही यहाँ भी भगवान ने अहंकार निरसन की दो विधाओं का वर्णन किया है। वे पहले कर्म-सन्यास मार्ग, जिसका आकर्षण अर्जुन के मन में बना हुआ था, उसके अंतर्गत साधक किस प्रकार

अहंकार से मुक्त होने का उपाय कर सकता है इस हेतु से भगवान ने अहंकृत भाव के कार्य करने का चित्रांकन बड़े विस्तार से किया है। यह व्यक्तित्व के किन स्तरों पर किन रूपों में प्रकट होकर कार्य करता है इस हेतु से उन्होंने बताया है कि कर्म के होने में जो स्तर क्रियाशील भूमिका निभाते हैं वे हैं- ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख-भोग (श्लोक-१८)। इन्हें चिन्हित करने के बाद प्रत्येक का त्रिगुणात्मक वर्णन (श्लोक-१९ से ३९ में) इस उद्देश्य से किया है कि व्यक्ति उक्त कारकों का यह परीक्षण कर ले और जो कारक निम्न गुणों वाले हों उन्हें वह उच्चता पर लाने का प्रयास करे। इस स्वप्रयास आधारित विधि का जिसमें अनेक बार तात्कालिक सफलता ही अहंकार को और अधिक प्रबल और विकृत बना देने की संभावना भी निहित होती है, जैसा कि नारद और विश्वामित्र की पौराणिक कथा में चित्रित किया गया है, वर्णन करने के उपरांत भगवान ने अनन्य भक्ति की विधि का वर्णन किया है और जिसकी व्याख्या करने के लिए ही चतुर्वर्ण के गुण आधारित कर्म वाले प्रकरण का यहाँ समावेश किया है, यह तथ्य संबंधित श्लोक (क्रमांक-४१ से ४८) की विवेचना के अंतर्गत अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

अहंकार मुक्ति के बाद दोनों मार्ग के साधकों को अपनी-अपनी साधनाओं को जिस प्रकार आगे बढ़ाना होगा वह वर्णन भगवान ने आगे इस प्रकार किया है- निर्गुण ब्रह्म के उपासको को संयम और सावधानी युक्त जीवन जीने की जैसी साधना करनी होगी वह श्लोक-५१ से ५५ में, तथा परमात्म भाव से जीव सेवा रूप भक्ति मार्ग की साधना का वर्णन श्लोक-५६,५७ में करते हुए अर्जुन को इस दूसरे मार्ग का निर्देश श्लोक-५८ से ६२ में दिया है। भक्ति मार्ग की प्रशंसा करते हुए उन्होंने पुनः इस बात को रेखांकित किया है कि यदि कोई साधक उसे प्राप्त प्राण(कर्म शक्ति), मन, बुद्धि और अहंकार रूप संपूर्ण व्यक्ति-सत्ता का परमात्म रूप 'मुझ' समष्टि सत्ता के प्रति समर्पण करता है तो फिर उसे और कुछ साधना करने की आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि 'मैं' उसे सभी दोषों (पापों) से मुक्त कर दूंगा और वह मुझे ही प्राप्त होगा (श्लोक-६३ से ६६)।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो , तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश , पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

संन्यासस्य महा-बाहो , तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम् । त्यागस्य च हृषीकेश , पृथक् केशि-निषूदन ॥

महा-बाहो! हृषीकेश केशि-निषूदन - हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशि असुर के संहर्ता श्रीकृष्ण! **(अहं) संन्यासस्य च त्यागस्य तत्त्वम् -** (मैं) कर्म सन्यास के और (कर्म फल) त्याग के वास्तविक स्वरूप को **पृथक् वेदितुम् इच्छामि -** पृथक- पृथक जानना चाहता हूँ!

हृषिकेश : शब्द का अर्थ है इन्द्रियों को जीत लेने वाला अर्थात् श्रीकृष्ण। हृषिक्=इन्द्रियां,ईश=स्वामी।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं , संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं , प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

काम्यानाम् कर्मणाम् न्यासम् , संन्यासम् कवयः विदुः । सर्व-कर्म-फल-त्यागम् , प्राहुः त्यागम् विचक्षणाः ॥

भगवान ने कहा- **काम्यानाम् कर्मणाम् न्यासम् कवयः संन्यासम् विदुः -** काम्य कर्मों के परित्याग को विद्वान लोग सन्यास कहते हैं, **(च) सर्व-कर्म-फल-त्यागम् विचक्षणाः त्यागम् प्राहुः -** (और) कर्मों के सब फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते है।

त्याज्यं दोषवदित्येके , कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म , न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

त्याज्यम् दोषवत् इति एके , कर्म प्राहुः मनीषिणः । यज्ञ-दान-तपः-कर्म , न त्याज्यम् इति च अपरे ॥

एके मनीषिणः इति प्राहुः कर्म दोषवत् त्याज्यम् - कुछ एक विचारक ऐसा कहते हैं (कि), कर्ममात्र दोष युक्त है (अतः) त्याज्य हैं, **च अपरे इति (आहुः) यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यम् -** और अन्य कुछ कहते हैं यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्याज्य नहीं हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र , त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र , त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

निश्चयम् शृणु मे तत्र , त्यागे भरतसत्तम । त्यागः हि पुरुष-व्याघ्र , त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥

पुरुष-व्याघ्र- हे पुरुषों में बाघ (बलवान) अर्जुन! **हि त्यागः त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः -** त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है, **भरत सत् तम-** हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन**!** **तत्र त्यागे मे निश्चयम् शृणु -** त्याग संबंधी उस सब विषय में मेरा निर्णय सुन ।

यज्ञदानतपःकर्म , न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव , पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ-दान-तपः-कर्म , न त्याज्यम् कार्यम् एव तत् । यज्ञः दानम् तपः च एव , पावनानि मनीषिणाम्

यज्ञ-दान-तपःकर्म न त्याज्यम् तत् कार्यम् एव - यज्ञ, दान और तप रूपी कर्मों का त्याग नहीं किया जाना चाहिए वह (करना) तो कर्तव्य ही है। **यज्ञः दानम् च तपः एव मनीषिणाम् पावनानि -** यज्ञ, दान तथा तप (ये) तो विचारवानों को पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ, निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

एतानि अपि तु कर्माणि , सङ्गम् त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानि इति मे पार्थ , निश्चितम् मतम् उत्तमम् ॥

तु एतानि कर्माणि अपि सङ्गम् च फलानि त्यक्त्वा इति कर्तव्यानि- परंतु इन कर्मों को भी आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग करते हुए बस कर्तव्य समझते हुए करना चाहिए। **मे निश्चितम् उत्तमम् मतम् -** (यह) मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

भगवान ने उपरोक्त श्लोकों में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में सभी प्रचलित मुख्य मान्यताओं का सारांश वर्णन करते हुए अपना सुविचारित मत भी व्यक्त किया है। सर्वप्रथम उन्होंने संन्यास और त्याग की विद्वत जनों द्वारा मान्य परिभाषाएं देकर स्पष्ट किया है कि वस्तुतः तो सकाम कर्मों के त्याग को संन्यास और सभी कर्मों के फल की आकांक्षा के त्याग को ही त्याग माना गया है (श्लोक-२)। किंतु इसके विपरीत कुछ लोगों की मान्यता है कि कर्म मात्र में दोष यह है कि उनके करने में कर्तापन का भाव पैदा होता है अतः सभी कर्म त्याज्य हैं। अन्य कुछ विचारक यज्ञ, दान, तप रूप कर्मों को त्याज्य नहीं मानते। किन्तु कुछ का विचार है कि त्याग कर्म का हो अथवा फल का हो, वह क्रिया होने से त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों से ग्रस्त होकर वह भी सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक हो सकता है। इन विभिन्न मतों का वर्णन करने के बाद भगवान ने अपना स्पष्ट निर्णय यह दिया है कि यज्ञ, दान, तप- इन कर्मों को तो व्यक्ति को नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि ये कर्म यदि ठीक प्रकार से किए जाएं तो वह कर्त्ता को पवित्र करेंगे।

यज्ञ, दान, तप- ये कर्म क्या है और वे कैसे उसे पवित्र करेंगे इसकी व्याख्या यहाँ नहीं दी गई है क्योंकि भगवान पहले (अध्याय-३ में) यज्ञ कर्म की विवेचना पूरे विस्तार से कर चुके हैं और दान तथा तप को भी उसी परिप्रेक्ष्य में समझने का काम उन्होंने हमारे चिंतन को चैतन्य करने के उद्देश्य से हमारे लिए निर्धारित किया है, अतः इन्हें हमें ही समझना होगा। क्योंकि यज्ञ को समष्टीहितार्थ कर्म के रूप में भगवान ने वर्णित किया है अतः किसी समूह / जाति / संस्था के हितार्थ किए जाने वाले कर्म को दान तथा कुछ एक व्यक्तियों की सहायतार्थ किये जाने वाले कर्म को यहाँ तप कहा गया है ऐसा मानना उचित होगा। यह अर्थ कर्ता के पवित्रिकरण की बात की भी

व्याख्या कर देता है क्योंकि व्यक्ति की अपवित्रता उसके सोच में स्वार्थीपन का होना ही है और यदि वह दूसरों के हित में कर्म करता रहेगा तो स्वार्थ भाव से वह मुक्त होता जाएगा अर्थात् इन कर्मों से उसका पवित्रिकरण होता जाएगा।

श्लोक-४ में 'तत्र त्यागे' शब्दों से कर्मसन्यास और कर्मफल त्याग इन दोनों को ही त्याग शब्द से इंगित करते हुए ये तीन प्रकार के हो सकते हैं, यह कहा गया था। श्लोक-७ से १० में भगवान अब उक्त कथन की व्याख्या कर रहे हैं।

नियतस्य तु संन्यासः , कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागः , तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियतस्य तु संन्यासः , कर्मणः न उपपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागः , तामसः परिकीर्तितः ॥

तु नियतस्य कर्मणः संन्यासः न उपपद्यते - परंतु (शास्त्रों द्वारा) निर्दिष्ट कर्मों का संन्यास (त्याग) कभी भी उचित नहीं है। **मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः -** अज्ञान के कारण उसका परित्याग तामस कहा गया है।

दुःखमित्येव यत्कर्म , कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं , नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दुःखम् इति एव यत् कर्म , काय-क्लेश-भयात् त्यजेत् । सः कृत्वा राजसम् त्यागम् , न एव त्याग-फलम् लभेत् ॥

यत् कर्म दुःखम् एव इति काय-क्लेश-भयात् त्यजेत् - जो कर्म है (वे सब) दुख रूप ही हैं ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से (उन्हें) त्याग देता है **सः राजसम् त्यागम् कृत्वा त्याग-फलम् एव न लभेत् -** वह (ऐसा) राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी भी प्रकार नहीं पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म , नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव , स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

कार्यम् इति एव यत् कर्म , नियतम् क्रियते अर्जुन । सङ्गम् त्यक्त्वा फलम् च एव , सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥

अर्जुन! यत् नियतम् कर्म कार्यम् इति एव - हे अर्जुन! जो शास्त्र विहित कर्म करना कर्तव्य है इस भाव से ही, **सङ्गम् च फलम् त्यक्त्वा क्रियते -** आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है, **सः एव त्यागः सात्त्विकः मतः -** वह ही सात्विक त्याग माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म , कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो , मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

न द्वेष्टि अकुशलम् कर्म , कुशले न अनुषज्जते । त्यागी सत्त्व-समाविष्टः , मेधावी छिन्न-संशयः ॥

सत्त्व-समाविष्टः त्यागी - सत्व गुण में समाविष्ट त्यागी है (वह जो) **अकुशलम् कर्म न द्वेष्टि कुशले न अनुषज्जते -** अप्रिय कर्म से घृणा नहीं करता (और) प्रिय कर्म से अनुराग नहीं करता (जो कर्मों को स्वयं के लिए असुरक्षित

अथवा सुरक्षित मांग कर उन्हें नहीं चुनता, और) **छिन्न-संशयः मेधावी -** निशंक होकर शुद्ध बुद्धि से युक्त हो (उन्हें करने में जुट जाता है) ।

अब भगवान निष्कर्ष दे रहे हैं कि कर्म का सर्वतः स्वरूप से त्याग तो संभव ही नहीं है, केवल फल त्याग ही संभव है जिसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करना चाहिए और जो ऐसा नहीं करते उन्हें कर्म का फल कभी न कभी अवश्य मिलता है यही कर्म बंधन है।

न हि देहभृता शक्यं , त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी , स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

न हि देह-भृता शक्यम् , त्यक्तुम् कर्माणि अशेषतः । यः तु कर्म-फल-त्यागी , सः त्यागी इति अभिधीयते ॥

हि देह-भृता कर्माणि अशेषतः त्यक्तुम् न शक्यम्- क्योंकि देहधारी मनुष्य के लिए कर्मों का संपूर्णता से त्याग किया जाना शक्य नहीं है, **(तस्मात्) यः कर्म-फल-त्यागी सः तु त्यागी इति अभिधीयते -** (अतः) जो कर्मफल का त्यागी है वही त्यागी है ऐसा समझा जाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च , त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य , न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अनिष्टम् इष्टम् मिश्रम् च , त्रिविधम् कर्मणः फलम् । भवति अत्यागिनाम् प्रेत्य , न तु संन्यासिनाम् क्वचित् ॥

अत्यागिनाम् कर्मणः इष्टम् अनिष्टम् च मिश्रम् (इति) त्रिविधम् फलम् - कर्मफल का त्याग ना करने वालों के कर्मों का अच्छा बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् भी **प्रेत्य भवति तु संन्यासिनाम् क्वचित् न -** होता है, किंतु कर्मफल का त्याग करने वालों को (कर्मफल) किसी काल में भी नहीं (मिलता) ।

कर्म फल के बारे में उपरोक्त नियम के आधार को समझने के लिए कर्म संपन्न होने में जो कारक काम करते हैं उसके बारे में सांख्य-दर्शन के विचारको के मत को भगवान ने श्लोक १३ से १५ में उसकी विवेचना इस प्रकार की है-

पञ्चैतानि महाबाहो , कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि , सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

पञ्च एतानि महा-बाहो , कारणानि निबोध मे । साङ्ख्ये कृत-अन्ते प्रोक्तानि , सिद्धये सर्व-कर्मणाम् ॥

महा-बाहो- हे वीर अर्जुन ! **सर्व-कर्मणाम् सिद्धये -** सभी कर्मों के संपन्न होने में **साङ्ख्ये कृत-अन्ते प्रोक्तानि -** सांख्य दर्शन में निष्कर्ष रूप कहे गए **पञ्च कारणानि एतानि मे निबोध -** पांच कारण है इन्हे मुझ से भलीप्रकार समझ ले ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता , करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा , दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठानम् तथा कर्ता , करणम् च पृथक्-विधम् । विविधाः च पृथक् चेष्टाः , दैवम् च एव अत्र पञ्चमम् ॥

अत्र - इस विषय में (पांच कारण हैं-) **अधिष्ठानम्-** कर्म का आश्रय स्थान (अर्थात् अगले श्लोक में वर्णित- शरीर, वाणी, मन) **तथा च कर्ता-** और कर्ता (जीवात्मा जिसे कर्ता होने की अनुभूति होती है), **च पृथक्-विधम् करणम्-** तथा भिन्न प्रकार के करण (ज्ञानेंद्रियें एवं कर्मेंद्रियें), **च विविधाः पृथक् चेष्टाः-** और अलग-अलग चेष्टाएँ (प्राणिक क्रियाऐं), **तथा पञ्चमम् दैवम् एव -** तथा पांचवां हेतु दैव भी है।

इस श्लोक में वर्णित पांच कारणों की व्याख्यायें भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई हैं और अंतिम कारण 'दैव' के बारे में तो ऐसी विभिन्न कल्पनाएं की गई है कि पाठक बहुत ही उलझन में पड़ जाता है। किसी ने दैव का अर्थ भाग्य लिया है तो किसी ने संयोग, किसी ने अतीत जन्मों के कर्मों द्वारा संचित शक्ति, किसी ने पंच प्राण, किसी ने पंच भूतों में क्रियाशील चेतन शक्ति, अथवा पंच इंद्रियों में क्रियाशील सर्वव्यापी बुद्धिमता का संकल्प, किसी ने आनुवांशिकता अथवा परिवेश का प्रभाव, तो किसी ने संस्कार बल की कल्पना की है। हमारा विचार है कि क्योंकि गीता में सर्वत्र क्रियाशील प्रकृति की, और ज्ञान शक्ति परमात्मा की बात कही गई है, अतः यहाँ वर्णित सभी पञ्चकारकों की पहचान हमें चेतन शक्ति से नियंत्रित हमारे व्यक्तित्व का निर्धारण करने वाली प्रकृति की रचनाओं के रूपों में करना चाहिए।

उक्त पहचान इस प्रकार की जा सकती है- १. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- ये पंचभूत और उनमे क्रियाशील चेतना (अधिष्ठान रूप शरीर), २. दश इंद्रियें और उनमे क्रियाशील चेतना (करण), ३. पंच प्राणिक चेतनाएं (चेष्टायें), ४. अहंकार स्थित चेतना (कर्ता), ५. तेईस में से शेष रहे दो तत्व- मन तथा बुद्धि में क्रियाशील चेतना (दैव- जिनके समष्टिगत रूपों को अन्यत्र इंद्र और ब्रहस्पति कहा भी गया है)। इस प्रकार 'दैव' की पहचान मन और बुद्धि में क्रियाशील देव शक्तियों के अंश होने के रूप में की जा सकती है।

आगे भगवान कह रहे हैं कि यद्यपि कर्म संपन्न होने में उपरोक्त पांच कारको की भूमिका होती है किंतु उनमें से केवल एक कारक है जो व्यक्ति के आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बन सकता है और वह यह है कि जीवात्मा कर्म संपन्न होने में जो छोटी सी भूमिका निभाता है अपने क्षुद्र अहं के कारण वह उसमें डूब जाता है, उसमें कर्तापन का भाव दृढ़ होकर वह कर्म फल का भोक्ता बन जाता है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् , कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा , पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर-वाक्-मनोभिः यत् , कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यम् वा विपरीतं वा , पञ्च एते तस्य हेतवः ॥

नरः शरीर-वाक्-मनोभिः यत् न्याय्यम् वा विपरीतं वा कर्म प्रारभते- मनुष्य (अपने) शरीर, वाणी, मन से जो भी उचित अथवा अनुचित कर्म करता है **तस्य एते पञ्च हेतवः -** उसके यह पांचो कारण होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारम् , आत्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् , स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

तत्र एवम् सति कर्तारम् , आत्मानम् केवलम् तु यः । पश्यति अकृत-बुद्धित्वात् , न सः पश्यति दुर्मतिः ॥

तु एवम् सति यः अकृत-बुद्धित्वात् - परंतु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण **तत्र केवलम् आत्मानम् कर्तारम् पश्यति-** उस बारे में केवल अपने आप को कर्म का कर्ता मानता है, **सः दुर्मतिः न पश्यति -** वह दुर्बुद्धि सच्चाई नहीं देखता ।

अकृत बुद्धि : स्वार्थ में डूबी बुद्धि ही मलिन है जिसे नि:स्वार्थ कर्मों से ही शुद्ध किया जा सकता है। जिन्होंने ऐसा नहीं किया है वह अकृत-बुद्धि है, स्वार्थ बुद्धि से युक्त है, मलिन बुद्धि वाला है।

अगले श्लोक में भगवान बता रहे हैं कि स्वार्थ बुद्धि से मुक्त होकर कर्म करने वाला, कर्म कैसा भी कठोर दिखता हो, वह कर्ता भाव से मुक्त पुरुष सर्वथा शुद्ध-बुद्ध ही बना रहता है।

यस्य नाहङ्-कृतो भावो , बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् , न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

यस्य न अहंकृतः भावः , बुद्धिः यस्य न लिप्यते । हत्वा अपि सः इमान् लोकान् , न हन्ति न निबध्यते ॥

यस्य अहङ्-कृतः भावः न- जिसमें 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव नहीं है, **यस्य बुद्धिः न लिप्यते-** जिसकी बुद्धि (उस भाव से) लिपामान नहीं होती, **सः इमान् लोकान् हत्वा अपि -** वह पुरुष इन सब लोगों को मारकर भी **न हन्ति न निबध्यते -** न तो मारता है, न उस कर्म से बंधता है।

अहम्-कृत भाव से मुक्त होने की महिमा तो बता दी किंतु उससे मुक्त कैसे हुआ जा सकता है उस हेतु से अब भगवान श्लोक-१८ में बताने जा रहे हैं कि उस भाव के निर्माण में व्यक्तित्व के कौन-कौन से अंग-प्रत्यंग क्या भूमिका निभाते हैं?

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता , त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति , त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञानम् ज्ञेयम् परिज्ञाता , त्रिविधा कर्म-चोदना । करणम् कर्म कर्ता इति , त्रिविधः कर्म-संग्रहः ॥

ज्ञानम्, ज्ञेयम्, परिज्ञाता त्रिविधा कर्म-चोदना - ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन प्रकार के (कारक तो) कर्म के प्रेरक है, **कर्ता करणम् कर्म इति त्रिविधः कर्म-संग्रहः -** (तथा) कर्ता, करण, और कर्म होना ये तीन कर्म-संग्रह हैं (कर्म के निष्पादक तत्त्व हैं)।

गीता ने सांख्य दर्शन की प्रकृति-पुरुष वाली जिस धारणा को स्वीकार किया है उसे हम पूर्व में भी इस रूप में व्यक्त कर चुके हैं कि वहाँ जिसे पुरुष तत्व कहा गया है वह वस्तुतः ज्ञान तत्व है जो सृष्टि में प्रकृति की क्रिया शक्ति को नियंत्रित करके कर्म की दिशा का निर्धारण करता है। उस परिप्रेक्ष्य में श्लोक-१८ को ठीक-ठीक समझा जा सकता है, ऐसा हमारा निष्कर्ष है। श्लोक की प्रथम पंक्ति में वर्णित परिज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय को जो कर्म प्रेरक बताया गया है, उसका तात्पर्य है कि ये तीन अस्तित्व पुरुष प्रधान रचनाऐं होने से कर्म की दिशा निर्धारण में इनकी भूमिका प्रधान होगी। इन तीनों अस्तित्वों में से दो- ज्ञान और ज्ञेय- की विवेचना पहले अध्याय-१३ में की जा चुकी है। यहाँ हमें परिज्ञाता के नाम से वर्णित की गई सत्ता की पहचान और कर लेना चाहिए। आगे जब इनके त्रिगुणात्मक वर्णन किए गए हैं तो परिज्ञाता को सुखों के भोक्ता के रूप में इंगित करते हुए तीन प्रकार के सुखों का वर्णन किया गया है। अतः यह मानना उचित प्रतीत होता है कि जीवात्मा की देहबद्ध स्थिति को, जहाँ वह देह-सुखों में ही डूबा रहता है, परिज्ञाता कहा गया है। इस प्रकार, कर्म की प्रेरक तीन सत्ताओं में से दो- परिज्ञाता और ज्ञान- की तीन-तीन त्रिगुणात्मक स्थितियों की विवेचना तो आगे की गई है। क्योंकि ज्ञेय रूप महेश्वर में प्रकृति पूर्णतः उसके नियंत्रण में काम करती है अतः उसकी त्रिगुणात्मक स्थिति का प्रश्न ही नहीं बनता। चाहें तो उसमें हम चेतना की त्रिगुणातीत अवस्था कह सकते हैं। जिस व्यक्ति में उस स्थिति वाली चेतना जाग्रत हो गई है उसमें वह सत्ता कर्म की दिशा प्रदान करेगी इस कारण उसे यहाँ कर्म-प्रेरक के रूप में वर्णित किया गया है।

श्लोक की दूसरी पंक्ति में प्रकृति प्रधान अस्तित्वों का वर्णन कर्म संपन्न होने में उनकी भूमिका के संदर्भ में किया गया है। यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के जिस संगठक अंग-प्रत्यंग में प्रकृति की प्रधानता होगी, कर्म के संपादन में प्रकृति की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होगी। उस दृष्टि से यहाँ करण, कर्म और कर्ता को इस दूसरे संवर्ग में रखकर उनका त्रिगुणात्मक वर्णन किया गया है।

वस्तुतः इस विश्लेषण का उद्देश्य है यह जानना कि कर्म करने में कर्ता रूप जीवात्मा में कर्तापन का जो अहंकार आ जाता है उससे व्यक्ति कैसे बचे? इस हेतु से ही कर्म के होने में जो अंग-प्रत्यंग कार्य करते हैं उनका वर्णन करके अब उनकी त्रिगुणात्मक

स्थिति की जांच-परख प्रस्तुत की जा रही है ताकि व्यक्ति स्वयं इन संघटकों में प्रकृति की प्रबलता का आकलन कर सके। वस्तुतः अहंकार का अर्थ है अलग-पने का भाव जो प्रकृति की प्रबलता के कारण होता है (और इसके विपरीत पुरुष की प्रधानता से एकत्व / प्रेमभाव की उत्पत्ति होती है)। अतः उपरोक्त संघटकों में से प्रत्येक में प्रकृति का और पुरुष का अपेक्षाकृत बल क्या है इसका पता कर लिया जाए तो अहंकार कहाँ प्रबल हो रहा है यह जाना जा सकता है और फिर उस संघटक का गुणात्मक उत्थान करके उसे अहंकार से मुक्त किया जा सकेगा। इस हेतु से अब आगे भगवान उपरोक्त संघटकों में से उन पांच का त्रिगुणात्मक वर्णन कर रहे हैं जिनमें प्रकृति अंश न्यूनाधिक हो सकते हैं। हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि क्योंकि ज्ञेय सत्ता में प्रकृति पूर्णत: ज्ञान सत्ता के नियंत्रण में होती है अतः उसकी तो केवल त्रिगुणातीत अवस्था ही होगी।

इससे पहले कि हम व्यक्तित्व के (ज्ञान आदि पांच) संघटक रचनाओं के त्रिगुणात्मक वर्णन का अध्ययन (श्लोक-२० से ३९) करें हमारे लिए एक अतिरिक्त पहलू पर भी विचार कर लेना उचित होगा। यहाँ इन घटकों के वर्णन को स्पष्टतः तीन संवर्ग में बांटा गया है। पहले संवर्ग में ज्ञान, कर्म और कर्ता- इन तीन को रखा गया है (श्लोक-१९), दूसरे संवर्ग में करण के अंतर्गत बुद्धि और धृति को (श्लोक-२९), तथा तीसरे संवर्ग में परिज्ञाता के रूप में सुख को (श्लोक-३६ की प्रथम पंक्ति) रखकर इनका त्रिगुणात्मक वर्णन किया गया है। निश्चित ही इस वर्गीकरण का भी कुछ आधार होना चाहिए। हमारा मत है कि संघटकों का यह वर्गीकरण उनकी स्थूलता के मान से है। गीता में जहाँ भी साधक के प्रयास करने की बात आई है वहाँ उतरते क्रम का वर्णन है अर्थात् अध्यात्म की चोटी पर चढ़ने की सीढ़ी के प्रथम पायदान का वर्णन अंत में किया गया है। (उदा. यज्ञों के वर्णन में आहार संयम का वर्णन अंत में और ब्रह्म दृष्टि रखने का वर्णन प्रारंभ में हुआ ह, श्लोक-४.२४ से ३०)। यहाँ भी सुख-भोग की वृत्ति जिसमें हमारा अहंकार सबसे प्रबल रूप से जुड़ा रहता है उसका वर्णन अंत में रखा गया है। अहंकार निरसन के अभ्यास में प्रवेशार्थी के लिए वह प्रथम पायदान हैं।

इस प्रकार, गीताकार ने सबसे ऊंची सीढ़ी- ज्ञान, कर्म और कर्ता- का, जहाँ अहंकार का रूप सूक्ष्म है, उनका वर्णन श्लोक-१९ में भूमिका देकर श्लोक-१९ से २१ में ज्ञान के वर्णन से प्रारंभ किया है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च , त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने , यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञानम् कर्म च कर्ता च , त्रिधा एव गुण-भेदतः । प्रोच्यते गुण-सङ्ख्याने , यथावत् शृणु तानि अपि ॥

ज्ञानम् च कर्म च कर्ता गुण-भेदतः त्रिधा एव प्रोच्यते - ज्ञान और कर्म तथा कर्ता प्रकृति के त्रिगुणों के अनुसार तीन-तीन प्रकार के कहे गए हैं **तानि गुण-सङ्ख्याने अपि यथावत् शृणु -** उन गुण संबंधी निष्कर्षों को यथावत (जैसे कहे गए हैं वैसे ही मुझसे) सुन ।

सर्वभूतेषु येनैकं , भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु , तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

सर्व-भूतेषु येन एकम् , भावम् अव्ययम् ईक्षते । अविभक्तम् विभक्तेषु , तत् ज्ञानम् विद्धि सात्त्विकम् ॥

येन विभक्तेषु सर्व-भूतेषु एकम् अव्ययम् भावम् - जिस (ज्ञान) से अनंत रूपों में बटें हुए समस्त जीवों में एक अविनाशी सत्ता को **अविभक्तम् ईक्षते-** अविभाजित देखी जाती है **तत् ज्ञानम् सात्त्विकम् विद्धि -** उस ज्ञान को सात्विक जान ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं , नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु , तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

पृथक्त्वेन तु यत् ज्ञानम् , नाना-भावान् पृथक्-विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु , तत् ज्ञानम् विद्धि राजसम् ॥

यत् तु ज्ञानम् सर्वेषु भूतेषु पृथक्त्वेन पृथक्-विधान् नाना-भावान् वेत्ति- परंतु ज्ञान (जो) समस्त प्राणियों में (उनकी) विभिन्नता के कारण (उनमें) विभिन्न प्रकार की भिन्न-भिन्न सत्ताये हैं (ऐसा) जानता है **तत् ज्ञानम् राजसम् विद्धि -** उस ज्ञान को राजस जान ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् , कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च , तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

यत् तु कृत्स्नवत् एकस्मिन् , कार्ये सक्तम् अहैतुकम् । अतत्त्वार्थवत् अल्पम् च , तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

तु यत् (ज्ञानं) अल्पम् च अहैतुकम् अतत्त्वार्थवत् - परंतु जो ज्ञान संकीर्ण हैं तथा जो बिना सोच-विचार के सत्य को बिना समझे **एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तम्-** (सृष्टि के निर्माण की) किसी एक ही वस्तु (अर्थात् प्राणी) को सब कुछ मानकर उससे आसक्त कर देता है, **तत् तामसम् उदाहृतम्-** वह तामस कहा जाता है।

अब कर्म और कर्ता की त्रिगुणात्मक स्थितियों का वर्णन क्रमशः श्लोक-२३ से २५ और २६ से २८ में किया जा रहा है-

नियतं सङ्गरहितम् , अरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म , यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

नियतम् सङ्ग-रहितम् , अराग-द्वेषतः कृतम् । अफल-प्रेप्सुना कर्म , यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥

यत् कर्म नियतम् सङ्ग-रहितम् अफल-प्रेप्सुना अराग-द्वेषतः कृतम्- जो कर्म (शास्त्र द्वारा) नियत किया गया हो, अनासक्त और फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग द्वेष के किया गया हो **तत् सात्त्विकम् उच्यते -** वह सात्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म , साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं , तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

यत् तु काम-ईप्सुना कर्म , साहंकारेण वा पुनः । क्रियते बहुल आयासम् , तत् राजसम् उदाहृतम् ॥

तु यत् कर्म काम-ईप्सुना- परंतु जो कर्म भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा **वा पुनः साहंकारेण बहुल आयासम् क्रियते-** या फिर अहंकार के कारण बहुत प्रयास से किया जाता है, **तत् राजसम् उदाहृतम् -** वह राजस कहा गया है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् , अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म , यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

अनुबन्धम् क्षयम् हिंसाम् , अनवेक्ष्य च पौरुषम् । मोहात् आरभ्यते कर्म , यत् तत् तामसम् उच्यते ॥

यत् कर्म अनुबन्धम् क्षयम् - जो कर्म भावी परिणामों से होने वाली अपनी हानि का **हिंसाम् -** दूसरों को दुख/ हानि पहुंचाने का **च पौरुषम् -** और अपनी सामर्थ्य का **अनवेक्ष्य मोहात् आरभ्यते-** विचार न करते हुए केवल अज्ञान वश किया जाता है **तत् तामसम् उच्यते -** वह तामस कहा जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी , धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः , कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

मुक्त-सङ्गः अनहं-वादी , धृति-उत्साह-समन्वितः । सिद्धि-असिद्ध्योः निर्विकारः , कर्ता सात्त्विकः उच्यते ॥

कर्ता (यत्) मुक्त-सङ्गः अनहं-वादी धृति-उत्साह-समन्वितः- कर्ता जो आसक्ति से मुक्त है, अहंकार के वचन न बोलने वाला है, धैर्य और उत्साह से युक्त है, **सिद्धि-असिद्ध्योः निर्विकारः -** कार्य के सिद्ध होने और न होने में (हर्ष-शोकादि)विकारों से मुक्त रहता है, **सात्त्विकः उच्यते -** (वह) सात्त्विक कहा जाता है ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुः , लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता , राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागी कर्म-फल-प्रेप्सुः , लुब्धः हिंसात्मकः अशुचिः । हर्ष-शोक-अन्वितः कर्ता , राजसः परिकीर्तितः ॥

कर्ता (यत्) रागी कर्म-फल-प्रेप्सुः- कर्ता जो आसक्ति से युक्त है, कर्मों के फल की चाह रखने वाला है, **हर्ष-शोक-अन्वितः-** हर्ष तथा शोक से लिप्त रहता है,**अशुचिः-** अशुद्ध आचरण वाला है, **लुब्धः हिंसात्मकः-** शिकारी होने से हिंसात्मक है, **राजसः परिकीर्तितः -** राजस कहा गया है।

लुब्धः : इसका अर्थ हमने 'लोभी' न करते हुए 'शिकारी' किया है। 'लुब्ध' शब्द का अर्थ लालची, लोभी अवश्य है किंतु 'लुब्धः' का अर्थ शिकारी ही है और यह हिंसात्मक

के साथ सर्वथा उपयुक्त बैठता है क्योंकि हिंसा तो तामसिक गुण हैं और यहाँ राजस कर्ता का वर्णन है। क्षत्रियों के लिए शिकार वाली हिंसा अमान्य नहीं है, वह राजस कर्म है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः , शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च , कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः , शठः नैष्कृतिकः अलसः । विषादी दीर्घ-सूत्री च , कर्ता तामसः उच्यते ॥

कर्ता (यत्) अयुक्तः प्राकृतः- कर्ता जो परम सत्ता से युक्त नहीं (अर्थात् स्वकेन्द्रित/ अपने क्षुद्र मैं में स्थित) है, **स्तब्धः शठः नैष्कृतिकः-** हठी है, कपटी है, दुष्कृत्य करने वाला है, **अलसः विषादी च दीर्घ-सूत्री -** आलसी है, सदा निराश रहने वाला है और काम-टालु है, **(तत्) तामसः उच्यते -** वह तामस कहा है ।

ज्ञान, कर्म और कर्ता- प्रथम संवर्ग के इन तीन घटकों का त्रिगुणात्मक वर्णन समाप्त हुआ। यहाँ भी सूक्ष्म से स्थूल वाला क्रम स्पष्ट देखा जा सकता है। 'ज्ञान' में अहंकार सूक्ष्मतम है, फिर कर्म तथा अंत में कर्ता। कर्ता की अपेक्षा कर्म में अहंकार अधिक सूक्ष्म होने के कारण ही कर्म में त्रिगुणात्मकता को देखना अधिक कठिन है और इसी कारण श्लोक-२३ से २५ में कर्म संबंधी कुछ प्रेक्षण 'कर्ता' के संबंध से वर्णित है।

अब अगले संवर्ग 'करण' के घटक- बुद्धि और धृति- के परीक्षण का वर्णन किया जा रहा है। धृति से क्या तात्पर्य है यह श्लोक-३३ में स्पष्ट किया गया है और उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि के अपेक्षा धृति अधिक स्थूल है। श्लोक-२९ में इस दूसरे संवर्ग की भूमिका देकर श्लोक-३० से ३२ में बुद्धि के तथा श्लोक ३३ से ३५ में धृति के त्रिगुणात्मक स्वरूपों का वर्णन किया जा रहा है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव , गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण , पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

बुद्धेः भेदम् धृतेः च एव , गुणतः त्रिविधम् शृणु । प्रोच्यमानम् अशेषेण , पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥

धनञ्जय- हे अर्जुन! **बुद्धेः च धृतेः एव गुणतः त्रिविधम् भेदम् -** बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद **अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानम् शृणु -** संपूर्णता से पृथक-पृथक करके कहा जाने वाला (मुझसे) सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च , कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति , बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च , कार्य-अकार्ये भय-अभये । बन्धम् मोक्षम् च या वेत्ति , बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

पार्थ- हे अर्जुन! **या प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च कार्य-अकार्ये च भय-अभये च बन्धम् मोक्षम् वेत्ति-** जो बुद्धि प्रवृत्ति मार्ग (अर्थात् कर्मयोग) और निवृत्ति मार्ग (अर्थात् कर्म सन्यास) को और कर्तव्य-अकर्तव्य को तथा भय-अभय को, बंधन और मोक्ष के यथार्थ को जानती है, **सा बुद्धिः सात्त्विकी -** वह बुद्धि सात्त्विकी है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति : कुछ टीकाकारों ने इन शब्दों की व्याख्या कर्म बनाम अकर्म के रूप में की है किंतु क्योंकि कार्य और अकार्य की बात प्रथक से कही गई है अतः वह अर्थ उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः प्रवृत्ति और निवृत्ति ये शब्द गीता में केवल तीन बार एक साथ आए हैं और वे स्थल हैं- श्लोक-१४.२२, १६.७, तथा यह श्लोक-१८.३०, और ये तीनों प्रकरण जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं, हमारी मानसिक चेतना के तीन स्तर- चेतन (conscious) मन-बुद्धि, अवचेतन (subconscious) मन-बुद्धि और अब अवचेतन अहंकार के संबंध में है। इन तीनों ही स्थलों पर प्रवृत्ति का अर्थ कर्मयोग साधना तथा निवृत्ति का अर्थ कर्म-सन्यास साधना सर्वथा ठीक बैठता है। अतः ऊपर हमने यही अर्थ लिया है।

संपूर्ण श्लोक का भावार्थ होगा- जो बुद्धि कर्मयोग बनाम कर्मसन्यास के तत्वों को ठीक-ठीक समझती है, जो करने योग्य कार्य और न करने योग्य कार्य को समझती है, जो इस बात को समझती है कि किस बात से डरकर बचना चाहिए और किस से नहीं डरना चाहिए, किस प्रकार के कर्म बंधन में डालते हैं अथवा मुक्ति प्रदान करते हैं, वह बुद्धि सात्विक होती है।

यया धर्ममधर्मं च , कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति , बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

यया धर्मम् अधर्मम् च , कार्यम् च अकार्यम् एव च । अयथावत् प्रजानाति , बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

पार्थ- हे अर्जुन! **यया धर्मम् च अधर्मम् च कार्यम् अकार्यम् एव अयथावत् प्रजानाति-** जिस बुद्धि के द्वारा (मनुष्य) धर्म और अधर्म को तथा करणीय और अकरणीय कार्य को यथार्थतः नहीं जानता (अर्थात् उसके बारे में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता) **सा बुद्धिः राजसी -** वह बुद्धि राजसी है ।

अधर्मं धर्ममिति या , मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च , बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

अधर्मम् धर्मम् इति या , मन्यते तमसा आवृता । सर्व-अर्थान् विपरीतान् च , बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

पार्थ- हे पार्थ ! **या तमसा आवृता अधर्मम् धर्मम् इति मन्यते-** जो बुद्धि अज्ञान से ग्रस्त होकर,अधर्म को 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है **च सर्व-अर्थान् विपरीतान् (मन्यते)-** (ऊपर कहे गए प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य,भय-अभय) सभी विषयों को विपरीत मान लेती है **सा बुद्धिः तामसी-** वह बुद्धि तामसी है ।

धृत्या यया धारयते , मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या , धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

धृत्या यया धारयते , मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः । योगेन अव्यभिचारिण्या , धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

धृति शब्द के अर्थ : कोश मे वर्णित- पकड़ना, दृढ़ता, दृढ़ संकल्प, धैर्य आदि। भाष्यकारों में यह भावार्थ भी किए हैं- धारणा, धारण शक्ति, ध्यान की स्थिरता, इच्छा आदि।

श्लोक के अर्थ : अधिकांश भाष्यकारों ने शांकर भाष्य का अनुसरण करते हुए इस प्रकार के भाव वाले अर्थ किए हैं- जिस स्थिर धृति से योग के द्वारा मन, प्राण, इंद्रियों की क्रियाओं को धारण किया जाता है वह धृति सात्विकी है। इसमें मुख्य भाव यह है कि योग के द्वारा मन, प्राण, इंद्रियों की क्रियाओं को नियंत्रित करना अथवा उनमें सामंजस्य बैठाना सात्विक धृति का कार्य है। किंतु अगले दो श्लोकों में धृति के राजस और तामस रूपों का जो वर्णन है उससे सात्विक धृति के इसप्रकार के वर्णन से समाधान कारक सम्बद्धता नहीं बैठती। इसकी विवेचना हम उन श्लोकों के बाद करेंगे। सात्विक धृति की इन विवेचनाओं से एक अलग विवेचना स्वामी रंगनाथानन्द ने, संभवत: इस विसंगति को दूर करने हेतु, इस प्रकार की है- 'वह धारणा जिसके द्वारा मन-प्राण-इंद्रियों के कार्य नियमित होते हैं वह योग द्वारा स्थिर होकर सात्विकी होती है'। इस अर्थ के अनुरूप हम यहाँ श्लोक के शब्दार्थ इस प्रकार कर सकते हैं।

पार्थ- हे अर्जुन ! **यया धृत्या मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः धारयते-** जिस धृति के द्वारा मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रियाएं धारण की जाती हैं, **सा धृतिः योगेन अव्यभिचारिण्या सात्त्विकी -** वह धृति योग के द्वारा स्थिरता को प्राप्त करके सात्त्विकी हो जाती है ।

धृति द्वारा मन, प्राण, इंद्रियों की क्रियाओं के धारण किए जाने का अर्थ क्या है, इस पर विचार करना वांछनीय होगा। हम बाह्य जगत की जानकारियां इंद्रियां, प्राण और मन से प्राप्त करते हैं। इंद्रियां उन्हें ग्रहण करके, नाड़ियों (ज्ञान तंतुओं, nerves) को देती है जिनकी क्रियाओं को ही व्यान नामक प्राण कहा गया होने से यहाँ 'प्राण' शब्द से इंगित किया गया है। नाड़ियों से उक्त जानकारी मन ग्रहण करता है जो उसे अपनी राग-द्वेष (प्रिय-अप्रिय) रूप प्रतिक्रियाओं के साथ जीवात्मा को देता है और जीवात्मा उसे धारण कर लेता है। इस प्रकार धारण की हुई जानकारी को ही धृति कहा गया है। जो कर्म करने या न करने की प्रेरणा में बड़ी भूमिका निभाती है। यदि धृति कहा जाने वाला यह कर्म-प्रेरक तत्व केवल परमात्म प्राप्ति के लक्ष्य के प्रति

स्थिर हो गया है तो यह सात्विक है। यह बात उपरोक्त श्लोक (क्रमांक-३३) में कही गई है।

कर्म प्रेरक इस तत्व कि अन्य दो दिशाओं का वर्णन श्लोक-३४,३५ में इस प्रकार हुआ है-

यया तु धर्मकामार्थान् , धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी , धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

यया तु धर्म-काम-अर्थान् , धृत्या धारयते अर्जुन । प्रसङ्गेन फल-आकाङ्क्षी , धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

तु पार्थ फल-आकाङ्क्षी यया धृत्या - परन्तु हे पार्थ! फल की इच्छा वाला पुरुष जिस धृति से **धर्म-काम-अर्थान् प्रसङ्गेन धारयते-** धर्म, अर्थ और कामनाओं को तीव्र आसक्ति से धारण करता है **सा धृतिः राजसी -** वह धृति राजसी है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं , विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा , धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

यया स्वप्नम् भयम् शोकम् , विषादम् मदम् एव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा , धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

पार्थ! दुर्मेधा यया (धृत्या) स्वप्नम् भयम् शोकम् विषादम् च मदम् एव न विमुञ्चति- हे पार्थ! दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धृति से स्वप्न, भय, चिंता, विषाद और उन्मत्ता आदि को नहीं छोड़ता अर्थात् उनमें डूबा रहता है, **सा धृतिः तामसी-** वह धृति तामसी है।

धर्म : आमतौर पर धर्म को अध्यात्म का पर्यायवाची शब्द मान लिया जाता है किंतु ऐसा नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में जो चार पुरुषार्थ बताए गए हैं उनमें केवल 'मोक्ष' ही अध्यात्म से संबंधित है और 'धर्म' सांसारिक संबंधों को नैतिक आधार पुष्ट करता है। यहाँ इसी अर्थ में धर्म शब्द को लिया गया है और उसे 'काम' तथा 'अर्थ अर्थात् पैसा / धन' के साथ रखा गया है।

स्वप्न : निद्रा के स्थान पर स्वप्न को तमस का द्योतक बता कर यहाँ एक विशेष अर्थ प्रेषित किया गया है। आधुनिक विज्ञान बताता है कि स्वप्न दो प्रकार के होते हैं- एक वे जो व्यक्ति गहन निद्रा के बीच-बीच में कुछ समय के लिए देखता है किंतु उनकी स्मृति उसे कुछ भी नहीं रहती, दूसरे वे जो स्वाभाविक निद्रा पूरी होने के बाद आते हैं और उनकी कुछ स्मृति रहती है। ये दूसरे प्रकार के स्वप्न अति-निद्रा, आलस्य और दीर्घ-सूत्रता से सम्बद्ध होते हैं जो जीवात्मा के तमस स्थिति में होने को दर्शाता है। क्योंकि जीवात्मा की त्रिगुणात्मक अवस्थायें उसके द्वारा संग्रहित जानकारियों से भी

निर्धारित होती है, इसलिए कहा गया है कि उक्त स्थितियां धृति की तामसिकता को दर्शाती हैं।

अब अगले चार श्लोकों (क्रमांक-३६ से ३९) में सुखों की त्रिगुणात्मकता का वर्णन किया जा रहा है। उद्देश्य है जीवात्मा के भोक्ता रूप का, परिज्ञाता स्वरूप का, स्व-आकलन। इस विवेचना द्वारा भी पहले वर्णित अन्य विवेचनाओं की भांति, व्यक्ति को अपनी सत्ता की गुणात्मक स्थिति का दर्शन कराया जा रहा है। वस्तुतः अहंकार का घनत्व इस रूप में सर्वाधिक होता है, सुखों का आकर्षण हमारे जीवन में सबसे प्रबल होता है, इसलिए यह देखना सबसे सरल किंतु महत्वपूर्ण होगा कि हम किस प्रकार के सुखों की चाह में डूबे हुए हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं , शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र , दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सुखम् तु इदानीम् त्रिविधम् , शृणु मे भरतर्षभ । अभ्यासात् रमते यत्र , दुःखान्तम् च निगच्छति ॥

यत्तदग्रे विषमिव , परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् , आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

यत् तत् अग्रे विषम् इव , परिणामे अमृत-उपमम् । तत् सुखम् सात्त्विकम् प्रोक्तम् , आत्म-बुद्धि-प्रसादजम् ॥

भरतर्षभ- हे भारत श्रेष्ठ ! **इदानीम् त्रिविधम् सुखम् तु मे शृणु-** तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुन। **यत्र अभ्यासात् रमते च दुःखान्तम् निगच्छति -** जहाँ मनुष्य दीर्घ अभ्यास के द्वारा आनंद अनुभव करता है और उसके दुखों का अंत हो जाता है, **यत् तत् अग्रे विषम् इव परिणामे अमृत-उपमम् -** जो वह आरम्भ में विष के समान (किन्तु) परिणाम में अमृत के समान है **आत्म-बुद्धि-प्रसादजम् -** (तथा) जो आत्म ज्ञान से होने वाली बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होता है **तत् सुखम् सात्त्विकम् प्रोक्तम् -** वह सुख सात्त्विक कहा गया है ।

विषयेन्द्रियसंयोगात् , यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव , तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय-इन्द्रिय-संयोगात् , यत् तत् अग्रे अमृत-उपमम् । परिणामे विषम् इव , तत् सुखम् राजसम् स्मृतम् ॥

यत् सुखम् विषय-इन्द्रिय-संयोगात् - जो सुख इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होता है **तत् अग्रे अमृत-उपमम् परिणामे विषम् इव -** वह पहले (भोग काल में) अमृत समान (किंतु) परिणाम में विष तुल्य होता है **तत् राजसम् स्मृतम् -** वह सुख राजस कहलाता है।

यदग्रे चानुबन्धे च , सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं , तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

यत् अग्रे च अनुबन्धे च , सुखम् मोहनम् आत्मनः । निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम् , तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम्- निद्रा, आलस्य, तथा प्रमाद से उत्पन्न **यत् सुखम् अग्रे च अनुबन्धे च-** जो सुख पहले (भोगकाल में) तथा परिणाम में भी **आत्मनः मोहनम् -** जीवात्मा को अज्ञान में बांधे रखता है तत् **तामसम् उदाहृतम् -** वह सुख तामस कहा गया है ।

विषय के इस पहलू की समाप्ति पर हम जो पूर्व में कह चुके हैं उसे पुनः दोहराना चाहेंगे कि अहंकार के शमन की एक कारगर विधि यह है कि व्यक्ति जो भी कर्म करें उसमें कर्म के कारक तत्वों का त्रिगुणात्मक सूक्ष्म निरीक्षण करके यह देख ले कि उनमें प्रकृति तत्व की प्रबलता किन-किन कारकों में है और तब उन पर सतत ध्यान देकर उन्हें सात्विक बनाएं। ऊपर श्लोक-२० से ३९ में यह वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है ।

अब श्लोक-४० में इस वार्ता का समापन एक चौंका देने वाली बात कह कर किया जा रहा है कि इस लोक में अथवा देव लोक कहीं भी कोई भी ऐसा नहीं है जो प्रकृति के उपरोक्त गुणों से मुक्त हो सका हो।

न तदस्ति पृथिव्यां वा , दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं , यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

न तत् अस्ति पृथिव्याम् वा , दिवि देवेषु वा पुनः । सत्त्वम् प्रकृतिजैः मुक्तम् , यत् एभिः स्यात् त्रिभिः गुणैः ॥

पृथिव्याम् वा दिवि देवेषु वा पुनः - पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग में देवताओं में या इनके अतिरिक्त और कहीं भी **तत् सत्त्वम् न अस्ति -** ऐसा कोई भी अस्तित्व नहीं है **यत् प्रकृतिजैः एभिः त्रिभिः गुणैः मुक्तम् स्यात्-** जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त है।

यदि उपरोक्त अर्थ को संदर्भ छोड़कर स्वीकार करते हैं तो भगवान का यह कथन उनके ही उस पूर्व (श्लोक-१४.२२ से २५) में कहे गए कथन से विपरीत हो जाता है जिसमें उन्होंने त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त व्यक्ति के लक्षणों का भी वर्णन किया था। इस कारण, अहंकार निरसन जो कि मूल विषय था उसके परिप्रेक्ष्य में श्लोक के भावार्थ को समझने का प्रयास करना चाहिए। किंतु पहले कुछ शब्दों को देखें-

स्वर्ग : हमारे ग्रंथों में स्वर्गलोक की कल्पना दो प्रकार की है, यह विवेचना विनोबा ने 'गीताई' में की है। उस विवेचना का सार इस प्रकार है। एक है- सप्तलोक (भू,भुव,स्व ,मह, जन, तप और सत्य) वाला स्वलोक जिसको प्राप्त करने वाले की आध्यात्मिक प्रगति उस लोक में अधिक तीव्र हो जाती है और इसका ही संदर्भ श्लोक-२.३७ में निहित था, यह सुंदर विवेचना विनोबा ने इस रूप में की है कि धर्मयुद्ध में हे अर्जुन

यदि तू मारा भी गया तो तुझे स्वर्ग अर्थात् 'स्वलोक' की प्राप्ति होगी। स्वर्ग की दूसरी संकल्पना अधिक प्रचलित है और उसे भी गीता ने श्लोक २.४३ तथा ९.२०,२१ में वर्णित की है। इसके अनुसार जो व्यक्ति अति सुख भोग के लिए सकाम साधना करता है वह मरने के पश्चात् देव लोक का सुखभोग वाला जीवन सीमित समय के लिए प्राप्त करता है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वी लोक में जन्म लेता है। यहाँ दोनों अर्थ ठीक है।

देवता : स्वर्ग का सीमित काल के लिए सुख भोगने वाले लोगों (जीवात्मा) को ही इस श्लोक में 'दिवि देवेषु अर्थात् स्वर्ग के देवता' इन शब्दों द्वारा इंगित किया गया है। यह देवता वेदों में वर्णित उन देव शक्तियों से भिन्न हैं जो परमेश्वर की इच्छा अनुरूप जगत हितार्थ विशिष्ट कार्यों का नियंत्रण करती हैं। वस्तुतः मानस में तुलसी ने जगह-जगह जिन देवताओं के स्वार्थमय रूप का वर्णन किया है वह प्रथम प्रकार की जीवात्मायें, वेदोक्त देवताओं से भिन्न हैं।

श्लोकों में भासमान विरोधाभास का निराकरण: ऊपर हमने जिस विरोधाभास का उल्लेख किया था वह संदर्भों की अनदेखी के कारण था। वस्तुतः अध्याय-१४ का विषय सचेतन मन-बुद्धि के शुद्धिकरण- उस स्तर पर उन्हें त्रिगुणों से क्रमगत मुक्त करने के संबंध में हुआ था, जबकि अध्याय-१८ में अहंकार की बाधा, कर्म करने में कर्तापन के रूप में क्रियाशील हो उठने वाले अहंकार से मुक्ति का विषय है। क्योंकि इन दोनों अध्यायों में दो भिन्न क्षेत्रों के शोधन की गवेषणा की गई है अतः उनके परिणाम सामान न हो तो यह विरोधाभास नहीं है। मन-बुद्धि की अपेक्षा अहंकार अधिक सूक्ष्म तत्व है और उसके क्रियाक्षेत्र भी भिन्न होने से मुक्ति संबंधी परिणामों में भिन्नता सहज स्वाभाविक है। अहंकार के संबंध में भगवान के वचनों का सार (श्लोक-४० में) यह है कि कर्म के विभिन्न घटकों की त्रिगुणात्मक स्थितियें, है जो श्लोक-१८ से ३९ में वर्णित की गईं, उन क्षेत्रों में तो अहंकार का शमन हो जाएगा परंतु वह समूल नष्ट नहीं हो पाएगा क्योंकि जो जागरूक रहकर निगरानी करेगा वह अहंकार-अंश तो रह ही जाएगा। वह सूक्ष्म अहंकार भी ब्रह्म में लीन होने की कामना वालों के लिए लक्ष्य सिद्धि में एक बड़ी बाधा बनी रहेगी।

ब्रह्म प्राप्ति बनाम परमात्म प्राप्ति : प्रश्न बनता है कि उन उपासकों के लिए जिन्होंने ब्रह्म में लीन होना ही परम लक्ष्य माना है, सिद्धि का उपाय क्या है? उपाय आगे श्लोक-४९ से ५९ में वर्णित किया गया है किंतु उस मार्ग की दुःसाध्यता को देखते हुए भगवान ने पहले परमात्मा प्राप्ति के अपेक्षाकृत सरल मार्ग का वर्णन किया

है। व्यक्ति में जिस प्रकार के गुण हों उनके अनुरूप कर्म यदि वह भगवत् सेवा के रूप में करता है तो वह भगवत् प्राप्ति के लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त कर लेगा। इस भक्ति मार्ग की विवेचना भगवान ने श्लोक-४१ से ४८ में की है। इस मार्ग की एक और विशेषता को भगवान ने इंगित किया है। व्यक्ति की मानसिक चेतना का विकास किसी भी स्तर तक पहुंचा हो, उस स्तर के अनुरूप स्वाभाविक कर्मों को परमात्मा की सेवा के भाव से करते हुए वह परमात्मा की प्राप्ति कर सकेगा, उसे क्रमिक रूप से इन स्तरों का पारगमन करने की आवश्यकता नहीं होगी।

मानसिक चेतना विकास के चार आयाम और संबंधित कर्म क्षेत्र : मनुष्य में मानसिक चेतना के क्रम विकास को गीता में चातुर्वर्ण के रूप में वर्णित किया गया है और यह व्यक्ति के गुण और कर्मों का नैसर्गिक वर्गीकरण है जो बाद में जन्मना माना जाकर, जाति के रूप में भयंकर रूप से विकृत हो गया। हम पूर्व में (श्लोक-४.१३ की टिप्पणी में) इसकी विवेचना कर चुके हैं। यहाँ (श्लोक-४१ से ४४ में) मानसिक विकास की उन स्थितियों को प्राप्त हुए व्यक्तियों के गुण और कर्मों का विवरण इस हेतु से दिया जा रहा है कि साधक अपने नैसर्गिक कर्म की पहचान करके उस कर्म को पूरी निष्ठा से अपने इष्ट के प्रति समर्पण भाव से करेगा तो वह कर्तापन के भाव से भी मुक्त होता चला जाएगा।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां , शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि , स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम् , शूद्राणाम् च परन्तप । कर्माणि प्रविभक्तानि , स्वभाव-प्रभवैः गुणैः ॥

परन्तप- हे अर्जुन ! **ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम् च शूद्राणाम् कर्माणि -** ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म **स्वभाव-प्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि -** स्वाभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार अलग-अलग प्रकार के होते है।

स्वभाव और गुण : 'स्वभाव' शब्द इतना प्रचलित है कि इसके अर्थ पर चर्चा कम ही होती है और प्रचलित अर्थ होता है- व्यक्ति के मन की प्रकृति अर्थात् मनोवृत्ति। किंतु यहाँ यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। स्वभाव का एक अन्य मान्य अर्थ है- 'अपनी स्थिति' और यहाँ यही अर्थ अपेक्षित है। व्यक्ति की मानसिक चेतना की जैसी स्थिति होगी उसके अनुरूप उसके गुण होंगे और तदनुरूप उसके स्वाभाविक कर्म होंगे यह भाव यहाँ व्यक्त किया गया है।
व्यक्ति के संबंध में 'गुण और स्वभाव' को हम इस प्रकार भी परिभाषित कर सकते हैं- गुण = चेतना के संयोग से प्रकृति में उत्पन्न गुण और 'स्वभाव' = प्रकृति के संयोग से बनी पुरुष की स्थिति।

श्लोक में कहा गया है कि व्यक्ति के स्वभाव (अर्थात् मानसिक चेतना की स्थिति) के अनुरूप उसका कर्म क्षेत्र होना चाहिए किंतु आज यह सौभाग्य कम को ही प्राप्त हो पाता है क्योंकि हमारी सामाजिक व्यवस्था ऐसी हो गई है की अलग-अलग कर्मों का आर्थिक मूल्य अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा इतनी भिन्न है कि व्यक्ति कर्म क्षेत्र का चुनाव अपनी नैसर्गिक प्रकृति से करे यह स्थिति अपवाद स्वरूप ही बनती है। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति आध्यात्मिकता से तो दूर होता ही है, वह मानसिक शांति खोकर अनेक बार तो तनाव और अवसाद से भी ग्रस्त हो जाता है। इस संबंध में डॉ. राधाकृष्णन की एक टीप को हम उद्धृत करना चाहेंगे। वे लिखते हैं- 'जब तक हमारा कर्म हमारे स्वभाव के अनुकूल होता रहता है, तब तक हम धर्मात्मा रहते हैं, और यदि हम उसे परमात्मा को समर्पित कर दें, तो हमारा कर्म आध्यात्मिक पूर्णता का एक साधन बन जाता है'।

शमो दमस्तपः शौचं , क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं , ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शमः दमः तपः शौचम् , क्षान्तिः आर्जवम् एव च । ज्ञानम् विज्ञानम् आस्तिक्यम् , ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् ॥

शमः दमः तपः शौचम् क्षान्तिः आर्जवम्- शम = मन का संयम, दम = इन्द्रियों का संयम, तप = शरीर, वाणी और मन का सात्विक तप (श्लोक-१७.१६,१७) अर्थात् शुद्ध व्यवहार, शौच- बाहर-भीतर की शुद्धि (उत्तम आचरण से बाह्य शुद्धि तथा राग-द्वेष के त्याग से अंतःकरण की शुद्धि),क्षान्ति = सहिष्णुता/क्षमा भाव, आजर्व = सरलता / सत्यनिष्ठा, **आस्तिक्यम्, ज्ञानम् च विज्ञानम् एव ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् -** परमात्मा सत्ता के होने में दृढ़ विश्वास, ज्ञान = परमात्मा शक्ति सर्वव्यापी है और सबका विकास करती है यह बौद्धिक ज्ञान तथा विज्ञान - परमात्म तत्व का अनुभव करना, ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण और कर्म है ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं , युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च , क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्यम् तेजः धृतिः दाक्ष्यम् , युद्धे च अपि अपलायनम् । दानम् ईश्वर-भावः च , क्षात्रम् कर्म स्वभावजम् ॥

शौर्यम् तेजः धृतिः दाक्ष्यम् च युद्धे अपलायनम् अपि - शूर वीरता, तेज, दृढ़ संकल्पता, दक्षता, तथा युद्ध से कभी भी पलायन न करना, **दानम् च ईश्वर-भावः क्षात्रम् स्वभावजम् कर्म -** दान देना और नेतृत्व- यह क्षत्रीय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं , वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म , शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यम् , वैश्य-कर्म स्वभावजम् । परिचर्या-आत्मकम् कर्म , शूद्रस्य अपि स्वभावजम् ॥

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यम् वैश्य-कर्म स्वभावजम् - खेती, गौपालन और व्यापार (अर्थात् वस्तुओं का उत्पादन और क्रय विक्रय रूप आर्थिक गतिविधियां) वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। **परिचर्या-आत्मकम् अपि कर्म शूद्रस्य स्वभावजम् -** श्रम-शुल्क (मेहनताना)के लिए ही कर्मकरना शूद्र का स्वभाव है।

मनुष्य में मानसिक चेतना के जो चार स्तर ऊपर वर्णित किए गए हैं वे सामान्यतः क्रम-विकास के नैसर्गिक चरण हैं, यह विवेचना हम पहले (श्लोक-४.१३ की टिप्पणी में) कर चुके हैं और यह क्रम-विकास भी अन्य सभी स्तरों के क्रम-विकास की तरह, जीव की इच्छा शक्ति के माध्यम से होता है।

अब भगवान इस संबंध में एक महत्वपूर्ण बात और बता रहे हैं कि यदि व्यक्ति चाहे तो इस इच्छाशक्ति को वैयक्तिक स्तर पर भी अति प्रबल करके इस क्रम-विकास के बंधन को तोड़कर वह सीधे ही मुझ (महेश्वर) को प्राप्त कर सकता है। यह विस्मयकारी कार्य वह कैसे कर सकता है इसका वर्णन अगले चार श्लोकों में किया जा रहा है-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः , संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं , यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः , संसिद्धिम् लभते नरः । स्वकर्म-निरतः सिद्धिम् , यथा विन्दति तत् शृणु ॥

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिम् लभते - अपने-अपने कर्मों में तत्परता से लगा हुआ व्यक्ति परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। **तत् शृणु यथा स्वकर्म-निरतः सिद्धिम् विन्दति -** उस विधि को सुन जिस प्रकार (वह) स्वकर्म में लगा हुआ सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां , येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य , सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

यतः प्रवृत्तिः भूतानाम् , येन सर्वम् इदम् ततम् । स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य , सिद्धिम् विन्दति मानवः ॥

यतः भूतानाम् प्रवृत्तिः - जिस (परमात्मा) से समस्त प्राणियों का उदय तथा क्रियाशीलता है (और) **येन इदम् सर्वम् ततम्-** जिससे वह समस्त (जगत) व्याप्त है, **तम् स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिम् विन्दति -** उस (परमात्मा) की अपने स्वकर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः , परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म , कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

श्रेयान् स्वधर्मः विगुणः , पर-धर्मात् सु अनुष्ठितात् । स्वभाव-नियतम् कर्म , कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् ॥

सु अनुष्ठितात् पर-धर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान् - सुसंपादित दूसरों के धर्म से कम गुणी (समझा जाने) वाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। **स्वभाव-नियतम् कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति -** स्वभाव से नियत किए हुए कर्मों को

करता हुआ (कोई भी व्यक्ति) पाप को नहीं प्राप्त होता।

श्लोक के भावार्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें निम्नलिखित दो शब्दों 'स्वधर्म और स्वभाव' के अर्थ को स्पष्ट कर लेना होगा। स्वधर्म क्या है इसकी विवेचना श्लोक-२.३१ से ३८ की टिप्पणी में की गई थी जिसका सार यह था कि व्यक्ति को जन्म से जो पारिवारिक, सामाजिक वातावरण और शिक्षा-दीक्षा प्राप्त होती है वह उसे कर्म के लिए जिस क्षेत्र विशेष के लिए योग्य और दक्ष बनाती है वही उस व्यक्ति का स्वधर्म हो जाता है, जिसे उस व्यक्ति को बदलना नहीं चाहिए। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति ने ५ वर्ष अथवा ७-८ वर्ष की मेडिकल शिक्षा प्राप्त की है और वह यदि अधिक पैसे के लालच में भवन, सड़क आदि के निर्माण की ठेकेदारी करने लगे तो निश्चित ही वह अपने क्षुद्र प्रलोभन से एक ओर जहाँ सामाजिक और राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचा रहा होगा, वहीं दूसरी ओर वह अपने स्वयं के जीवन को आध्यात्मिक लक्ष्य से विमुख कर रहा होगा।

स्वभाव जीवात्मा को पूर्व जन्मों की यात्रा के फलस्वरूप प्राप्त हुई चेतना की स्थिति विशेष है जिसे चार मुख्य प्रवर्गों (वर्णों) में बांटा गया है- देहसुख केंद्रित चेतना वाले को शूद्र, मन की ऐषणाओं में क्रियाशील चेतना को वैश्य, बुद्धि के क्षेत्र में क्रियाशील चेतना को क्षत्रिय, और आत्मतत्त्व के प्रति जाग्रत हुए व्यक्ति की चेतना को ब्राह्मण। इन चार वर्गों में ही मनुष्यों के स्वभावों को श्लोक-४१ से ४४ में बांटा गया है। इस प्रकार कर्म का क्षेत्र व्यक्ति की बाह्य परिस्थितियों से निर्धारित होकर उसके स्वधर्म का निर्माण करता है जबकि इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मानुभूति इनमें से जिस के सुख में जीवात्मा अनुरक्त रहता है वह सुख ही उसके स्वभाव का निर्धारण करता है। श्लोक की दूसरी पंक्ति का भावार्थ है कि जीवात्मा की आंतरिक यात्रा उसके स्वभाव के क्षेत्र परिगमन से आगे बढ़ती है। एक क्षेत्र में प्राप्त सुख से तृप्त होने पर जीवात्मा अगले क्षेत्र के उच्चतर सुख की तलाश में आगे बढ़ता है- देहसुख से मानसिक सुख के क्षेत्र में, फिर बौद्धिक और अंत में आत्मा के सुख की और आगे बढ़ता है। (व्यक्ति में चेतना की नैसर्गिक विकास यात्रा तो इसी प्रकार क्रमशः आगे बढ़ती है किंतु यदि उसमें सर्वोच्च स्थिति के सुख की अभीप्सा जाग्रत हो जाए तो वह उक्त क्रम का अतिक्रमण करके सीधे ही उच्चतम स्थिति को भी प्राप्त कर सकता है, इसकी चर्चा भगवान ने आगे की है)। उक्त क्रम गत यात्रा की आंशिक पुष्टि तो हममें से कुछ लोग भी अपनी वर्तमान जीवन यात्रा पर ध्यानपूर्वक एक विहंगम दृष्टि डालने पर कर सकते हैं।

सहजं कर्म कौन्तेय , सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण , धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सहजम् कर्म कौन्तेय , सदोषम् अपि न त्यजेत् । सर्वारम्भाः हि दोषेण , धूमेन अग्निः इव आवृताः ॥

कौन्तेय- हे कुन्तीपुत्र ! **सदोषम् अपि सहजम् कर्म न त्यजेत् -** दोषयुक्त होने पर भी अंतर्जात कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए **हि धूमेन अग्निः इव सर्वारम्भाः दोषेण आवृताः -** क्योंकि धुएँ से अग्नि की भांति सभी कर्म कुछ न कुछ दोष से आवृत्त होते हैं।

अग्नि और धुएँ का उदाहरण देकर जो यह कहा गया है कि दोषमय होते हुए भी कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए उसका आशय यह नहीं है कि कर्म करने के दोष को अपरिहार्य मानकर उसे स्वीकार कर लिया जाए। जिन्हें घर से बाहर लकड़ी कंडे जलाकर इस अग्नि पर बाटी सेकने का अनुभव है वे जानते हैं कि धुएँ से अपने को बचा कर किस प्रकार अग्नि का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण का तात्पर्य यह है कि कर्म करने में जिस दोष का भय है वह कर्तापन का अहंकार है अवश्य किंतु उस दोष से अपने को बचा कर कर्म किया जाना आवश्यक है, कर्म छोड़ बैठना उपाय नहीं है।

अपने स्वाभाविक कर्मों को परमेश्वर की पूजा के रूप में करने की विधि द्वारा इस मार्ग की मुख्य बाधा- कर्तापन के अहंकार- के निरसन का उपाय बताने के बाद अब भगवान उन साधकों के लिए जिन्होंने ब्रह्म में विलीन होने का लक्ष्य बनाया हुआ है, कर्म-सन्यास के दूसरे मार्ग में भी आड़े आने वाली अहंकार की बाधा को पार करने का क्या उपाय है इसका वर्णन अगले सात श्लोकों (क्रमांक-४९ से ५५) में कर रहे हैं। प्रथम दो श्लोकों में भूमिका के रूप में मार्ग का परिचय दिया जा रहा है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र , जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां , संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

असक्त-बुद्धिः सर्वत्र , जित-आत्मा विगत-स्पृहः । नैष्कर्म्य-सिद्धिम् परमाम् , संन्यासेन अधिगच्छति ॥

सर्वत्र असक्त-बुद्धिः - (जो) सर्वत्र आसक्ति से रहित बुद्धि वाला हो, **विगत-स्पृहः -** भौतिक इच्छाओं से रहित हो, **जित-आत्मा-** जिसने अपने अंतःकरण को जीत लिया है, **संन्यासेन परमाम् नैष्कर्म्य-सिद्धिम् अधिगच्छति -** (वह) सन्यास मार्ग के द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म , तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय , निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सिद्धिम् प्राप्तः यथा ब्रह्म , तथा आप्नोति निबोध मे । समासेन एव कौन्तेय , निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

या ज्ञानस्य परा निष्ठा - जो ज्ञान की परानिष्ठा है **सिद्धिम् यथा प्राप्तः ब्रह्म आप्नोति-** (उस नैष्कर्म्य) सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर (मनुष्य) ब्रह्म को प्राप्त होता है **तथा कौन्तेय! समासेन एव मे निबोध-** उसको हे कुन्तीपुत्र ! संक्षेप में ही मुझ से (आगे श्लोक ५१ से ५३ में कहे अनुसार) समझ ले।

नैष्कमर्य : इस शब्द के तीन प्रकार के अर्थ सूचित हैं- १. क्रिया हीनता, अकर्मण्यता; २. वह मुक्ति जो कर्म न कर केवल भाव, ध्यान आदि से प्राप्त की जावे; ३. कर्मों से और उनके फलों से मुक्ति। लगभग सभी टीकाकारों ने शांकर भाष्य का अनुसरण करते हुए, 'कर्मफल से मुक्ति' वाला अर्थ लेकर भाष्य किया है जिसके कारण विरोधाभास यह बन गया है कि संन्यास मार्गी जो कि सभी कर्मों का त्याग करने का मार्ग अपना चुके होते हैं उनके लिए कर्मफल त्याग का क्या अर्थ रहेगा जबकि वह कर्म करेंगे ही नहीं। यह विसंगति दूर हो जाती है जब हम नैष्कर्म्य सिद्धि का अर्थ लें 'वह मुक्ति जो कर्म न कर केवल भाव, ध्यान आदि से प्राप्त की जाए'। अतः उक्त दोनों श्लोकों में सिद्ध / नैष्कर्म्यसिद्धि का अर्थ कर्म-सन्यासियों की ध्यान आदि साधनाओं की सिद्धि अवस्था है।

ज्ञान की परा निष्ठा : निष्ठा का अर्थ होता है दृढ़ स्थिति किंतु 'परा' के सामान्य अर्थ 'श्रेष्ठ, सर्वोच्च' के अतिरिक्त एक भिन्न अर्थ भी है जो यहाँ उचित प्रतीत होता है, उसकी विवेचना हम श्लोक-५४ में आए 'पराभक्ति' की विवेचना के साथ करेंगे।

ध्यान की उक्त सिद्ध अवस्था प्राप्त होने के बाद साधक ज्ञान की उपलब्धि रूप ब्रह्म को कैसे प्राप्त कर सकेगा उसका वर्णन भगवान ने श्लोक-५१ से ५३ में इस प्रकार किया है-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो , धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा , रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः , धृत्या आत्मानम् नियम्य च । शब्द आदीन् विषयान् त्यक्त्वा , राग-द्वेषौ व्युदस्य च ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी , यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं , वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

विविक्त-सेवी लघु-आशी , यत-वाक्-काय-मानसः । ध्यान-योग-परः नित्यम् , वैराग्यम् समुपाश्रितः ॥

अहंकारं बलं दर्पं , कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो , ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अहंकारम् बलम् दर्पम् , कामम् क्रोधम् परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तः , ब्रह्म-भूयाय कल्पते ॥

विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः धृत्या आत्मानम् नियम्य - विशुद्ध बुद्धि से युक्त, धैर्य से (युक्त), स्व को वश में करके, **शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा-** शब्द आदि विषयों का त्याग करके, **राग-द्वेषौ व्युदस्य-** राग द्वेष को सर्वथा नष्ट करके, **विविक्त-सेवी लघु-आशी-** एकांत स्थान में रहते हुए अल्प भोजन करने वाला, **वाक्-काय-मानसःयत-** वाणी, शरीर, मन को वश में करके, **च अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् च परिग्रहम् विमुच्य -** तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके, **निर्ममः-** ममता छोड़ कर, **वैराग्यम् समुपाश्रितः-** वैराग्य का आश्रय लेकर, **नित्यम् ध्यान-योग-परः-** समाधि में लीन, **शान्तः-** शांति को प्राप्त पुरुष **ब्रह्म-भूयाय कल्पते -** ब्रह्म भूत होने के योग्य हो जाता है।

ब्रह्म प्राप्ति की योग्यता का वर्णन करने के बाद इस मार्ग की सर्वोच्च सिद्ध- ब्रह्म में लीन होने- का वर्णन श्लोक-५५ में और उससे पूर्व वाली ब्रह्मभक्ति का परिचय श्लोक-५४ में इस प्रकार दिया है-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा , न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु , मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्म-भूतः प्रसन्न-आत्मा , न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु , मत्-भक्तिम् लभते पराम् ॥

प्रसन्न-आत्मा ब्रह्म-भूतः न शोचति न काङ्क्षति- प्रसन्नता पूर्वक ब्रह्म को प्राप्त हुए (उस सिद्ध को) न तो कोई शोक होता है न कोई कामना रहती है, **सर्वेषु भूतेषु समः पराम् मत्-भक्तिम् लभते -** सब प्राणियों में अपने समान भाव रखने वाला (वह) मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है।

'मेरी' पराभक्ति : ब्रह्म की प्राप्ति को भगवान ने 'मेरी' पराभक्ति कहा है। ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापी सत्ता की निर्गुण (सुषुप्त) अवस्था। 'मेरी' कहकर यह सूचित किया गया है कि सगुण परमात्मा और निर्गुण ब्रह्म एक ही सत्ता की विभिन्न अवस्थाएं हैं। श्रीकृष्ण (अथवा अन्य सभी अवतारी महापुरुष) उस सत्ता की पूर्ण जाग्रत अवस्था है, हम लोग आंशिक जाग्रत तथा ब्रह्म उनकी निद्रा अवस्था है। भगवान ने उक्त निर्गुण ब्रह्म अर्थात् परमात्मा की सुषुप्त अवस्था को 'मेरी' शब्द से संबोधित करते हुए उसे प्राप्त करने वाले को 'पराभक्त' कहा है।

'भक्त' का अर्थ है- विभाजित अंश, विभक्त। भक्त=भज् + क्त, भज = हिस्से करना/ हिस्सा लेना/ आश्रय लेना; और परा शब्द के अर्थ दो प्रकार के हो सकते हैं- १. 'पर' जब स्त्रीलिंग शब्द का विशेषण होने पर 'परा' बन जाता है तो इसका अर्थ 'पर' के समान श्रेष्ठ / दिव्य /शुद्ध / सर्वोच्च हो सकता है अथवा २. एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है- 'उल्टे क्रम में, पीछे की ओर, प्रतीप' आदि। ब्रह्म उपासना के संबंध में जब यहाँ 'पराभक्ति' और श्लोक-५० में 'ज्ञान की परानिष्ठा' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है

तो यह दूसरा अर्थ आध्यात्म के एक वैज्ञानिक पक्ष को भी प्रमाणित करता है। सृष्टि की महाप्रलय अवस्था में जब सर्वव्यापी पुरुष सत्ता निद्रा (तुरीय) अवस्था में चला जाता है और प्रकृति कृष्ण-विवर (Black Hole) में समा जाती है उस अवस्था को ही निर्गुण ब्रह्म कहा गया है और यदि कोई जीवात्मा उस अवस्था को प्राप्त कर लेने की अभीप्सा में अपने को डुबो देता है तो उसको भगवान ने अपनी 'पराभक्ति' अर्थात् उल्टे क्रम की भक्ति कहा है क्योंकि परमात्मा तो सृष्टि को चेतना जाग्रति की दिशा प्रदान कर रहे हैं और वह भक्त सुषुप्त अवस्था को प्राप्त करना चाहता है। तो इस भक्ति को 'परा' अर्थात् उलटे क्रम की भक्ति कहकर संबोधित किया है। इसी प्रकार 'ज्ञान की परानिष्ठा' का भी यह आशय हो सकता है।

'परा भक्ति' की प्राप्ति के बाद वह ब्रह्म उपासक अंत में अपने चुने हुए लक्ष्य अनुरूप अनन्त शांत-ब्रह्म में विलीन होकर अपना पृथक अस्तित्व खो देता है। ब्रह्म साधना की इस अंतिम सिद्धि का वर्णन श्लोक-५५ में इस प्रकार किया गया है-

भक्त्या मामभिजानाति , यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा , विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्त्या माम् अभिजानाति , यावान् यः च अस्मि तत्त्वतः । ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा , विशते तत् अनन्तरम् ॥

भक्त्या माम् - (परा) भक्ति के द्वारा (वह) मुझको **(अहं) यः च यावान् अस्मि-** (मैं) जो हूँ और जैसा हूँ **तत्त्वतः अभिजानाति-** तत्वतः जान लेता है **ततः माम् ज्ञात्वा -** उस (भक्ति) से मुझको तत्वत: जानकर **तत् अनन्तरम् विशते-** तब (मेरे बह्म रूप में) विलीन हो जाता है।

ब्रह्म को तत्वतः जाना : व्यक्त सृष्टि दो तत्वों- प्रकृति और पुरुष से निर्मित है। प्रकृति तत्व से भिन्न जिसे पुरुष तत्त्व कहा गया है वह वस्तुतः सर्वव्यापी है जबकि प्रकृति सर्वव्यापी नहीं है, अतः प्रकृति से भिन्न इस दूसरे सर्वव्यापी तत्व को दो नामों से संबोधित किया गया है- प्रकृति की संरचनाओं में अनुष्यूत उस तत्व को पुरुष नाम से, तथा प्रकृति मुक्त को ब्रह्म कहा जाता है। इस प्रकार उसे जान लेना ही तत्वतः जान लेना है।

साधक का ब्रह्म में विलीन होना : ब्रह्म के उपासकों का लक्ष्य होता है ब्रह्म में विलीन हो जाना, अपनी प्रथक सत्ता या अस्तित्व भाव का समाप्त हो जाना, अहम् या 'मैं हूँ' इस भाव का पूर्णतः लोप हो जाना, इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के उपासक जब सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं तो उनका अहंकार ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है।

स्वाभाविक कर्मों के द्वारा भगवत् पूजन भाव से प्राणियों की सेवा रूप भक्ति द्वारा अहंकार रूपी भुजंग के विषैले दन्त को तोड़कर उसे निरापद साधन बनाने का जो उपाय भगवान ने श्लोक-४१ से ४८ में बताया था और जिसे ब्रह्म प्राप्ति वाले मार्ग की अपेक्षा सरल और श्रेष्ठ बताने के लिए ब्रह्म साधना का भी दर्शन पिछले श्लोकों (क्रमांक-४९ से ५५) में किया गया था, अब भगवान पुनः भक्ति मार्ग से प्राप्त होने वाली उच्चतर उपलब्धि का वर्णन आगे (श्लोक-५६ से ५८ की प्रथम पंक्ति) इस प्रकार कर रहे हैं-

सर्वकर्माण्यपि सदा , कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति , शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सर्व-कर्माणि अपि सदा , कुर्वाणः मत्-व्यपाश्रयः । मत्-प्रसादात् अवाप्नोति , शाश्वतम् पदम् अव्ययम् ॥

मत्-व्यपाश्रयः - मेरे पर निर्भर हुआ(कर्मयोगी) **सर्व-कर्माणि सदा कुर्वाणः अपि-** सभी कर्मों को सदा करता हुआ भी **मत्-प्रसादात् -** मेरी कृपा से **शाश्वतम् अव्ययम् पदम् अवाप्नोति -** सनातन अविनाशी पद (भक्ति) को प्राप्त हो जाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि , मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य , मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

चेतसा सर्व-कर्माणि , मयि संन्यस्य मत्-परः । बुद्धि-योगम् उपाश्रित्य , मत्-चित्तः सततम् भव ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि , मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

मत्-चित्तः सर्व-दुर्गाणि , मत्-प्रसादात् तरिष्यसि ।

चेतसा - सावधान रहकर **सर्व-कर्माणि मयि संन्यस्य-** सब कर्मों का मुझ में अर्पण करके, **बुद्धि-योगम् उपाश्रित्य-** बुद्धि योग का अवलंबन करके **मत्-परः-** मैं (वासुदेव) ही परम तत्व हूँ (इस निश्चय में) दृढ़ होकर, **सततम् मत्-चित्तः -** निरंतर मुझ में चित्त(मन-बुद्धि) को लगा। **मत्-चित्तः मत्-प्रसादात् सर्व-दुर्गाणि तरिष्यसि -** मुझ में चित्त वाला होने पर मेरी कृपा से समस्त कठिनाइयों को पार कर जाएगा।

उपरोक्त आश्वासन देकर अब भगवान अर्जुन को सामयिक चेतावनी दे रहे हैं कि यदि तुम मेरी समझाइश और आश्वासन की भी अवहेलना करते हो तो यह तुम्हारा घोर अन्धकार ही होगा जो तुम्हारे उच्च जीवन के विनाश का कारण बनेगा। कैसे बनेगा इसकी व्याख्या अगले ढाई श्लोकों (श्लोक-५८ का शेष तथा श्लोक-५९, ६०) में कर रहे हैं-

अथ चेत्त्वमहंकारान् , न श्रोष्यसि विनङ्-क्ष्यसि ॥५८॥

अथ चेत् त्वम् अहंकारात् , न श्रोष्यसि विनङ्-क्ष्यसि ॥

यदहंकारमाश्रित्य , न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते , प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यत् अहंकारम् आश्रित्य , न योत्स्ये इति मन्यसे । मिथ्या एषः व्यवसायः ते , प्रकृतिः त्वाम् नियोक्ष्यति ॥

अथ चेत् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्-क्ष्यसि - और यदि अहंकार के कारण(मेरे वचनों को) नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा (अर्थात् जीवन के पारमार्थिक उन्नति वाले उद्देश्य से वंचित हो जायगा)।

यत् अहंकारम् आश्रित्य इति मन्यसे- जो (तू) अहंकार का आश्रय लेकर यह माने **'न योत्स्ये' ते एषः व्यवसायः मिथ्या -** (कि मैं) युद्ध नहीं करूँगा, (तो)तेरा यह निश्चय मिथ्या है, **प्रकृतिः त्वाम् नियोक्ष्यति -** प्रकृति (स्वभाव) तुझे युद्ध में लगा देगी ।

स्वभावजेन कौन्तेय , निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् , करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

स्वभावजेन कौन्तेय , निबद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुम् न इच्छसि यत् मोहात् , करिष्यसि अवशः अपि तत् ॥

कौन्तेय- हे कुन्तीपुत्र ! **यत् मोहात् कर्तुम् न इच्छसि-** जिस कर्म को (तू) मोह के कारण करना नहीं चाहता, **तत् अपि स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः अवशः करिष्यसि -** उसको भी अपने स्वभावजन्य कर्मवृत्ति से बंधा हुआ परवश होकर करेगा ।

भगवान ने स्वभाव जन्य कर्मों को करने की अनिवार्यता बताते हुए उन्हें 'मुझे' समर्पण करने से 'मेरी' कृपा रूप भक्ति की सनातन स्थिति प्राप्त होने की जो बात (श्लोक -५६, ५७ में) कही थी, उसका रहस्य स्पष्ट नहीं हुआ था, अतः अगले दो महत्वपूर्ण श्लोकों में उसे इंगित कर रहे हैं-

ईश्वरः सर्वभूतानां , हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि , यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

ईश्वरः सर्व-भूतानाम् , हृत्-देशे अर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्व-भूतानि , यन्त्र-आरूढानि मायया ॥

अर्जुन- हे अर्जुन ! **यन्त्र-आरूढानि सर्व-भूतानि ईश्वरः मायया भ्रामयन् -** यंत्र पर आरूढ़ सभी प्राणियों को ईश्वर माया से भ्रमण कराता हुआ **सर्व-भूतानाम् हृत्-देशे तिष्ठति -** सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।

यहाँ कुछ शब्दों के जो विशेष अर्थ निहित हैं, पहले उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। ये शब्द हैं-

मायया : अर्थात् 'माया से'। भगवान का माया शब्द से क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण गीता में ही उनके वचनों से हो जाता है अतः हमें बाहर से इसे लेकर भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। श्लोक-७.१२ से १५ में भगवान ने अपने मंतव्य को स्पष्ट कर दिया था। श्लोक-७.१२ में कहा कि सत्व, रजस और तमस, यह तीनों गुण मुझसे ही होते हैं, श्लोक-७.१३ में कहा कि लोग इन तीनों गुणों के कारण मुझको नहीं जान पाते और श्लोक-७.१४ में उन्होंने जीवात्मा का इन गुणों से ग्रस्त होने को 'माया' कहा है। श्लोक-१४.५ में भगवान ने यह भी बताया कि तीनों गुण प्रकृति में उत्पन्न होकर जीवात्मा को देह से बांध देते हैं। इन सब वचनों का समन्वय करने पर जो निष्कर्ष प्राप्त होता है उसे हमने श्लोक-१४.२० की टिप्पणी में इस रूप में व्यक्त किया था कि माया रूप इन तीनों गुणों का स्वरूप परमात्मा की ज्ञान शक्ति द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण की मात्रा से निर्धारित होता है। जैसे-जैसे मनुष्य के मन-बुद्धि इस ज्ञान शक्ति को धारण करने में अधिक सक्षम होते जाते हैं वह व्यक्ति तमस से रजस, फिर सत्व और अंत में त्रिगुणातीत अवस्था की प्राप्ति करता जाता है, अथवा परमात्मा की अनन्य भक्ति की प्राप्ति की ओर बढ़ता जाता है। यही माया से छूटना है। यहाँ उक्त श्लोक में भगवान ने इस रहस्य को प्रकट किया है कि गुणों में से जीवात्मा की यह यात्रा परमात्मा की ज्ञान शक्ति से प्रेरित होती है। इस शक्ति को यहाँ 'ईश्वर' और पहले श्लोक-१३.२२ में महेश्वर नाम से संबोधित किया गया है।

ईश्वरः मायया भ्रामयन : इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि जीवात्मा को ईश्वर माया से अर्थात् तीन गुणों में से भ्रमण कराता हुआ उसे त्रिगुणातीत (अथवा अनन्य भक्ति) रूप उच्च आध्यात्मिक अवस्था तक ले जाता है, अतः निश्चित ही यह वह सत्ता है जिसे श्लोक-१३.२२ में महेश्वर कहा गया था, और जिसका वर्णन श्लोक-९.१८ में 'गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी निवासः शरणं सुहृत' कहकर दिया गया था, तथा वेद / उपनिषदों में जीवात्मा का सखा रूप 'दूसरा पक्षी' कहकर इंगित किया गया है।

सर्व भूत : सर्वभूतानि / सर्वभूतानाम् शब्दों में सर्वभूत का सामान्य अर्थ 'समस्त प्राणी' लेना इसलिए असंगत हो जाएगा कि मनुष्य में जीवात्मा रूप जो सत्ता है वह चेतना विकास का ऐसा उच्च रूप है जो मनुष्येतर निम्न प्राणियों को प्राप्त नहीं हुआ है। कुछ प्राणियों को तो इंद्रियां भी एक, दो अथवा पांच से कम प्राप्त हुई हैं और मन-बुद्धि भी किसी में मनुष्य के समान विकसित नहीं हैं, अतः उनमें ईश्वर/ महेश्वर स्तर की उच्चतर चेतना के विकसित होने की कल्पना नहीं की जा सकती और सब प्राणियों में 'ईश्वरः मायया भ्रामयन' वाला कथन लागू नहीं हो सकता। वस्तुतः जब

'सर्व' शब्द समास का प्रथम शब्द होता है तो अर्थ होता है- सर्वथा, पूर्ण रूप से, पूर्ण आदि। यहाँ यही अर्थ अभिप्रेत है। जीवात्मा को गीता में अव्यय / अमृत / अक्षर पुरुष, जैसे शब्दों से इंगित किया गया है तथा ईश्वर / महेश्वर रूप उच्च सत्ता तो सभी मनुष्यों में भी विकसित हुई नहीं मानी जा सकती- कुछ उस विकास की ओर बढ़ रहे हैं तो कुछ महात्माओं में जो अलौकिक कार्य की क्षमता अथवा आध्यात्मिक शक्ति दिखाई देती है वह इसी सत्ता के जाग्रत हो जाने से उनमें प्रकट हुई होती है।

ईश्वरः हृद्देशे तिष्ठिति : कहा गया है कि वह ईश्वर (महेश्वर) जिनमें जाग्रत होता है उनके हृद्देश अर्थात् हृदय में स्थित होता है। स्पष्ट है कि यह हृदय शरीर में रक्त का संचार करने वाला अंग नहीं है। यह क्या है इस बारे में हमें कहीं भी कुछ स्पष्ट कथन नहीं मिला। शब्दार्थ से और दूसरे तथ्यों से ही हमें कुछ अनुमान करना होगा। हृदय के शब्दार्थ हैं- मन, आत्मा, किसी वस्तु का आंतरिक भाग, रहस्य विज्ञान। ईश्वर हृदय में स्थित है, इन शब्दों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ 'आंतरिक भाग' वाला अर्थ अधिक उपयुक्त है। क्योंकि ईश्वर (महेश्वर) जीवात्मा से उच्चतर सत्ता है और जीवात्मा भी शरीर के किसी अंग विशेष में स्थित न होकर, चेतना के अन्य रूप- प्राण, मन अथवा आत्मा के समान, शरीर में सर्वत्र उपस्थित (दृष्टव्य-श्लोक १३.३२) माना गया है (वह शरीर के प्रत्येक भाग के सुख-दुखों का भोक्ता है) अतः जीवात्मा से उच्चतर इस महेश्वर सत्ता को भी संपूर्ण शरीर में किंतु अधिक सूक्ष्म रूप में उपस्थित माना जाना युक्ति युक्त होगा)।

यन्त्रारुढानि भ्रामयन : शरीर रूपी रथ पर बैठे जीवात्मा और महेश्वर (अर्जुन-श्रीकृष्ण) के चित्रांकन को ही यहाँ पुनः इंगित किया गया है। रथ को यहाँ यंत्र कहा गया है।भ्रामयन का सीधा अर्थ है भ्रमण कराना। अर्जुन रूप जीवात्मा को कृष्ण रूप महेश्वर गुणों की यात्रा या भ्रमण करा रहे हैं- तम से रज, रज से सत्त्व, और सत्त्व से गुणों से परे शुद्ध परमात्म शक्ति (अथवा निर्गुण ब्रह्म) की अनुभूति तक।

अब अगले श्लोक (क्रमांक-६२ में श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने अंदर के महेश्वर की पूर्ण रूप से (सर्वभावेन) शरण लेने का मार्गदर्शन दे रहे हैं-

तमेव शरणं गच्छ , सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं , स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

तम् एव शरणम् गच्छ , सर्व-भावेन भारत । तत् प्रसादात् पराम् शान्तिम् , स्थानम् प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

भारत- हे अर्जुन ! **सर्व-भावेन तम् एव शरणम् गच्छ -** सब प्रकार से (अपने हृदयस्थ) उस ईश्वर/ महेश्वर की ही शरण में जा । **तत् प्रसादात् पराम् शान्तिम् शाश्वतम् स्थानम् प्राप्स्यसि -** उस (ईश्वर) की कृपा से (तू) परम शांति को (तथा) शाश्वत स्थिति को प्राप्त होगा।

यहाँ श्रीकृष्ण मित्र अर्जुन को, जो कि मानसिक उलझन से परेशान हो रहा था, उसे आध्यात्मिक रूप से अपने स्वयं के अंदर महेश्वर रूप उच्च सत्ता के शरणागत हो उससे निर्देश मांगकर उस पर चलने की सलाह दे रहे हैं। उनके शब्दों का तात्पर्य यह है कि है मित्र! मैंने जो कुछ तुम्हें कहा है वह मैंने अपनी आध्यात्मिक सत्ता महेश्वर से एक रूप होकर ही कहा है किंतु यदि तू मेरी उस भूमिका को समझ नहीं पा रहा है तो तू स्वयं अपने अंदर की उस महेश्वर सत्ता के प्रति पूर्ण रूप से (सर्वभावेन) शरणागत हो जा तुझे यही मार्गदर्शन मिलेगा जो मैंने तुझे दिया है। तब तो अवश्य ही समस्त मानसिक उहापोह से मुक्त होकर परम शांति को प्राप्त होकर अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन करते हुए सर्वोच्च और शाश्वत स्थिति को प्राप्त हो जाएगा।

अब उपदेश का समापन करते हुए श्लोक-६३ में भगवान कह रहे हैं कि मैंने सब प्रकार से- व्यक्तिगत मित्र के रूप में, मेरे और तेरे अंदर की उच्च सत्ता महेश्वर के रूप में तथा योग के द्वारा समष्टि रूप परमात्मा से एकाकार होकर तुझे विश्वरूप का दर्शन कराकर भी सभी स्तरों से- तुझे जो कुछ समझा सकता था, बता दिया है अब विचार कर और जैसा तुझे समझ आये वैसा कर।

इति ते ज्ञानमाख्यातं , गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण , यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इति ते ज्ञानम् आख्यातम् , गुह्यात् गुह्यतरं मया । विमृश्य एतत् अशेषेण , यथा इच्छसि तथा कुरु ॥

इति गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानम् मया ते आख्यातम्- इस प्रकार (यह) गहन से गहनतम ज्ञान मेरे द्वारा तुझे कहा गया। **एतत् अशेषेण विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरु -** इस को पूर्णतया भलीभांति विचार कर जैसे चाहे वैसा कर ।

आगे के श्लोकों को समझने के लिए हम अनुमान कर सकते हैं कि श्लोक-६२ में अर्जुन को अपनी महेश्वर सत्ता की शरण में जाने की बात कहकर और श्लोक-६३ में समस्त उपदेश का समापन करने के बाद भगवान ने अर्जुन की ओर देखा किंतु वह चुप था और विचार मग्न था। भगवान समझ गए कि अर्जुन अब दूसरी सोच में पड़ गया है। भगवान ने उसे जो यह कहा था कि अपने अंदर के महेश्वर को जाग्रत करके उससे मार्गदर्शन लेकर तदनुसार मार्ग अपना सकता है उससे वह इस उलझन में पड़ गया है कि वह अपने अंदर के महेश्वर से कैसे तुरंत मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता

है? उसके लिए तो निश्चित ही उसे एक लंबी साधना करनी पड़ेगी। अर्जुन की इस कठनाई को भांपकर श्री कृष्ण अब पुनः उसे आश्वस्त कर रहे हैं कि हे अर्जुन! तू भले ही तुरंत अपनी महेश्वर सत्ता से संपर्क नहीं कर सकेगा किंतु मैं तेरा सखा कृष्ण उस महेश्वर सत्ता से, जो मेरे में और तेरे में ज्ञान के स्तर पर भिन्न नहीं है उससे एकाकार होकर ही मैंने तुझे यह उपदेश दिया है। अतः तू मेरे उक्त वचनों को अपने अंदर की महेश्वर सत्ता के ही वचन समझ।

जिस गहन से गहनतर ज्ञान की बात ऊपर श्लोक-६३ में कही गई है (और आगे गहनतम की बात भी कही गई है) उसका तात्पर्य है कि अपने जीवात्मा स्तर को- कर्ता भोक्ता स्तर को- जानना गहन ज्ञान है (श्लोक-१०.३८ में कहे गए मौन से उसका स्वरूप प्रकट हो जाता है), जीवात्मा से उच्चतर सत्ता महेश्वर (ईश्वर) को जानना गहनतर ज्ञान है (श्लोक-१८.६३), और सब में उपस्थित परमेश्वर सत्ता को जानना गुह्यतम ज्ञान है (श्लोक-१८.६४, व्यक्ति में चेतना के इन सभी स्तरों का उल्लेखात्म परिचय श्लोक-१३.२२ में किया गया था और यहाँ उनकी व्याख्या करते हुए) आगे श्लोक-१८.६५ में कहा जा रहा है कि सर्वभूतों में स्थित उस परमेश्वर के प्रति मन, कर्म और अहंकार का समर्पण करना मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है।

सर्वगुह्यतमं भूयः , शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति , ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सर्व-गुह्यतमम् भूयः , शृणु मे परमम् वचः । इष्टः असि मे दृढम् इति , ततः वक्ष्यामि ते हितम् ॥

मे दृढम् इष्टः असि - (तू) मेरा पक्का सखा है **ततः परमम् हितम् वचः ते भूयः वक्ष्यामि-** इससे परम हितकारी वचन तुझे फिर से कहूँगा **इति सर्व-गुह्यतमम् मे शृणु -** इस सबसे गहनतम मेरी (बात को) सुन ।

मन्मना भव मद्भक्तो , मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते , प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मत्-मनाः भव मत्-भक्तः , मत्-याजी माम् नमस्कुरु । माम् एव एष्यसि सत्यम् ते , प्रतिजाने प्रियः असि मे ॥

मत्-मनाः भव मत्-भक्तः- मुझ में मन लगा, मेरा भक्त हो, **मत्-याजी माम् नमस्कुरु -** मेरा पूजन करने वाला हो, मुझ को नमस्कार कर। **(एवं) माम् एव एष्यसि -** (ऐसा करने से) मुझे ही प्राप्त होगा (यह मैं) **ते सत्यम् प्रतिजाने-** तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, **मे प्रियः असि -** (तू) मेरा प्रिय सखा है ।

मत्-मनः : मुझ में मन लगाने वाला हो अर्थात् सदा मेरा चिंतन कर।
मत् भक्त भव : मेरा भक्त हो, मुझसे अलग तेरी सत्ता न रहे।

मत् याजी : मेरी पूजन करने वाला हो; अपने स्वाभाविक कर्मों से सब प्राणियों की सेवा करने वाला (मेरा भक्त बन)।

माम् नमस्कुरु : मुझ को नमन कर, अर्थात् अपने कर्तापन के अहंकार का मुझको समर्पण कर।

इस प्रकार अपनी संपूर्ण सत्ता का मुझे समर्पण करने पर तू मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त कर लेगा।

भगवान ने अगले श्लोक (क्रमांक-६६) में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' की जो बात और जोड़ी है उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने अर्जुन को भगवत् भाव से अपने कर्तव्य कर्मरूप युद्ध करने से उसे प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक लाभ से और समाज में धर्म की स्थापना होने की बात से अर्जुन की मूल शंकाओं का समुचित समाधान तो कर दिया था किंतु उन्हें लगा कि अर्जुन ने वार्ता के प्रारंभ में (अध्याय-१ में) कुछ ऐसे अनुषांगिक प्रश्न भी उठाए थे कि युद्ध में पुरुष वर्ग का नाश होने से जो सामाजिक क्षति होगी क्या उस पाप के लिए हम उत्तरदाई नहीं होंगे। उसके उत्तर में अर्जुन के प्रति भगवान के उपदेश का यह अंतिम श्लोक।

सर्वधर्मान्परित्यज्य , मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो , मोक्ष्ययिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सर्व-धर्मान् परित्यज्य , माम् एकम् शरणम् व्रज । अहम् त्वा सर्व-पापेभ्यः , मोक्ष्ययिष्यामि मा शुचः ॥

सर्व-धर्मान् परित्यज्य - सब धर्मों को त्याग कर **माम् एकम् शरणम् व्रज -** केवल एक मेरी शरण में आ जा, **अहम् त्वा सर्व-पापेभ्यः मोक्ष्ययिष्यामि शुचः मा -** मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा, चिंता मत कर।

धर्म का अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने थोड़ा भिन्न ने किया है। तिलक के अनुसार धर्म शब्द से अभिप्रेत है मोक्ष / परमेश्वर प्राप्ति के शास्त्रोंक्त उपाय और यहाँ विशेष भाव है भगवत् परायण बुद्धि से स्वधर्मानुसार कर्म करना। डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म का अर्थ किया है कर्तव्य कर्म और विनोबा ने अर्थ लिया है- धर्माधर्म का विचार। उनका कहना है कि जिसको ईश्वर शरणता सध जाए उसे फिर धर्म-अधर्म का विचार करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

विनोबा की विवेचना में कहा गया है कि यहाँ अर्जुन द्वारा अध्याय-१ में उठाई गई पाप शंका का उत्तर दिया गया है। डॉ. राधाकृष्णन और कवीश्वर महोदय ने भी प्रथम अध्याय में अर्जुन द्वारा व्यक्त की गई कर्मकांडीय और नैतिक सामाजिक चिंताओं

का इसे उत्तर माना है। भगवान के उत्तर का सार हमारे मता अनुसार यह है कि भगवान ने उन हानियों को नकारा नहीं है वरन् तुच्छ माना है। वे हानियां एक तो अल्पकालीन होगीं और इतनी महत्वपूर्ण नहीं होगीं जितने की हे अर्जुन तुम्हारे इस युद्ध से पलायन करने से होगी क्योंकि तब अन्याय और लोभ का जैसा वर्चस्व स्थापित होगा वह शताब्दियों तक सुदृढ़ रहेगा। दूसरे, यदि तुम मेरे धर्म-स्थापना के कार्य में निमित्त रूप से सहयोगी बनते हो तो तुम तो किसी भी प्रकार के पाप के भागी नहीं होगे, वरन् महान पुण्य के ही अधिकारी होगे।

'मामेकं शरणम् व्रज' ही सम्पूर्ण साधन पथ : गीतोपदेश के अंतिम दो श्लोक साधक को उसकी आध्यात्मिक यात्रा के जिस मुकाम तक पहुंचा रहे हैं वे शब्दों में जितने संक्षिप्त हैं, अर्थ में उतने ही गहन   हैं। वस्तुतः इसमें भगवान ने साधन पथ की जिस उच्च चोटी का दर्शन कराया है उसका वास्तविक लाभ तो साधक को तभी मिलेगा जब वह संपूर्ण मार्ग पर चलकर वहाँ पहुंचेगा। अतः उस पूरे मार्ग का जो वर्णन भगवान ने किया है उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा। हम यहाँ भगवान के उन कथनों को विलगित (एक तरफ रख कर) बात करना चाहेंगे जो उन्होंने अर्जुन की इस विशेष आग्रह पूर्ण दृष्टि के निराकरण के लिए कहे थे कि वह कर्म-सन्यास मार्ग की ओर इस कारण जाना चाह रहा था कि तब उसे अपने पूज्य जनों को युद्ध में मारने जैसा भीषण कार्य नहीं करना पड़ेगा और स्वयं के लिए भी अध्यात्म मार्ग पर बढ़कर वह जीवन के परम लक्ष्य की उपलब्धि प्राप्त कर सकेगा। जब हम भगवान के तत् संबंधी वचनों को छोड़ देते हैं तो गीता का मुख्य कलेवर काफी संक्षिप्त और सुस्पष्ट होकर गीता के मूल भाव को समझना और उस पर चलना सरल हो जाता है।

कर्म-सन्यास की विवेचना संबंधी कथनों को अलग रखने पर उपदेश का मूल स्वरूप इस रूप में प्रकट होता है-

1. साधना का प्रारंभ अनिवार्य रूप से निष्काम कर्म से होता है जिसे गीता ने 'यज्ञ' से निरूपित किया है। मनुष्येतर प्राणियों का जीवन नैसर्गिक रूप से समष्टि जीवन को पुष्टि प्रदान करने वाले 'यज्ञ' की आहुति के रूप में ही, बिना उस उद्देश्य को जाने, संचालित हो रहा है किंतु मनुष्य स्तर पर जानने की प्रक्रिया का बीज 'मैं' या अहम् रूप में प्रस्फुटित तो हुआ है किंतु उसका क्षेत्र अत्यंत सीमित होता है। प्राथमिक चरण देह,फिर परिवार, समाज, देश आदि में फैलाव होता हुआ अंत में समष्टि में उस

अहम् सत्ता का फैलाव ही उस आध्यात्मिक उत्थान के क्रमबद्ध चरण हैं। चेतना विकास की इस प्रक्रिया को अध्याय-३ और ४ में यज्ञ से निरूपित और व्याख्यित किया गया है।

2. निस्वार्थ कर्मों द्वारा मनुष्य की स्वार्थवृत्ति की पकड़ जब ढीली हो जाती है तो उसकी बुद्धि इस जगत का और उसके अंश रूप स्वयं का भी विश्लेषण करके यह जानने में सक्षम हो जाती है कि इस सब फैलाव में मूल रूप से दो तत्व क्रियाशील हैं। इनका परिचय अध्याय ७ और ९ में प्रकृति और पुरुष के रूप में दिया गया है। इन तत्वों को जानना 'ज्ञान' और उनके क्रियाकलापों को जानना, विज्ञान है जिनका वर्णन उक्त अध्यायों में क्रमशः किया गया है।

3. इन दो तत्वों से निर्मित जगत की कुछ उत्कृष्ट कृतियों का वर्णन विभूतियों के रूप में अध्याय-१० में और उन विभूतियों सहित संपूर्ण जगत को व्यवस्थित और विकसित करने वाली शक्ति का दर्शन अध्याय-११ में कराया गया है।

4. उपरोक्त समस्त वर्णन से अर्जुन को अध्यात्म क्या है इसकी सैद्धांतिक समझ इस रूप में हो गई कि जिस परमात्म शक्ति का दर्शन उसे भगवान ने अपने विश्वरूप द्वारा कराया था उसे वह अपने जीवन में अधिकाधिक कैसे प्राप्त कर सकता है, यह प्रश्न वह अध्याय-१२ के प्रारंभ में करता है। इसका उत्तर भगवान यह कहकर देते हैं कि ऐसा वह अनन्य भक्ति द्वारा अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त कर सकता है। अनन्य भक्ति का अर्थ है कि व्यक्ति को जो चार प्रकार की चेतन शक्तियां (प्राण अर्थात् कर्म, मन, बुद्धि और अहंकार) प्राप्त है उन सबका 'मुझ' सर्वप्राणियों में उपस्थित परमात्मा को समर्पण। ऐसा वह श्लोक-१२.६ से १२ में वर्णित अभ्यास द्वारा कर सकता है।

5. क्योंकि संपूर्ण समर्पण का प्राथमिक और शाश्वत रूप से वर्णीय चरण कर्म है तथा कर्म के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति, उसे बाह्य परिस्थितियों से मिले क्षेत्र के अनुरूप अपने कर्तव्य कर्मो का निर्धारण करके उन्हें भगवान को समर्पित करें। दूसरे शब्दों में, उसे चाहिए कि वह भगवत् भाव से, सब प्राणियों के हितार्थ, अपने क्षेत्र के कर्तव्य कर्मो का, अपनी

पूरी योग्यता से संपादन करें। अध्याय-१३ में बताया गया है कि इस प्रकार कर्म करने से क्षेत्र के विकास के साथ ही क्षेत्रज्ञ रूप जीवात्मा का भी आध्यात्मिक विकास होता है। जीवात्मा अपने कर्ता-भोक्ता वाले स्तर से ऊपर उठते हुए वह ज्ञान के (श्लोक-१३.७ से ११ में) वर्णित स्तरों को प्राप्त करता हुआ, अंत में ज्ञानगम्य अर्थात् पूर्णशुद्ध ज्ञान वाले महेश्वर स्तर तक पहुंच सकता है। (महेश्वर के संबंध में कृपया देखें श्लोक-९.१८ और १३.२२ पर हमारी टिप्पणीयां)। यहाँ हम इतना और कहना चाहेंगे कि इस सत्ता की विभिन्न भूमिकाएं होने के कारण आध्यात्मिक साहित्य में इसे किसी एक विशेष नाम से संबोधित नहीं किया गया है। अन्य स्थानों पर इसे ही 'चैति पुरुष' अथवा 'नारायण' आदि नामों से भी वर्णित किया गया है। अतः गीता में भी इसके एक से अधिक नाम होना हमें समझने में बाधक न होकर उसके कार्यक्षेत्र की जानकारी देने में सहायक होना चाहिए। हमारे लिए यहाँ यह बात जानना महत्वपूर्ण है कि इस सत्ता के जाग्रत हो जाने पर यह जीवात्मा को परमात्मा की अनुभूति कराकर उसे परमात्मा की सच्ची भक्ति में सदा के लिए स्थापित कर देती है।

6. हमारे जैसे साधारण साधक को ज्ञानगम्य / महेश्वर रूप उच्च स्थिति तक पहुंचने के लिए उसे अपने मन-बुद्धि-अहंकार में परमात्म शक्ति को क्रमिक रूप में अधिकाधिक उतारना होगा। चेतना के इस क्रमिक रूपांतरण को अध्याय-१४ में तम → रज → सत → त्रिगुणातीत/अनन्य भक्ति की अवस्था से निरूपित किया गया है।

7. अवचेतन मन के स्तर पर संग्रहित मनोकामनाओं का परिमार्जन अध्याय-१६ में तथा इसी प्रकार अवचेतन स्तर पर संग्रहित बुद्धि के त्रिगुणात्मक निर्णयों (निश्चयों श्लोक-१७.६), के परिमार्जन की साधना अध्याय-१७ में वर्णित की गई है।

8. अंत में अहंकार से मुक्त होने की साधना की विवेचना इस अध्याय-१८ में की गयी है व्यक्ति द्वारा कर्म किये जाने में , चेतन तत्व से अनुप्राणित प्रकृति के जो २३ तत्व कार्य करते हैं वे पांच प्रकार के होते हैं और प्रत्येक कोटि में से एक-एक कारक इस प्रकार कुल ५ कारक होते है जो किसी भी कर्म के संपन्न होने में अपनी भूमिका निभाते हैं(श्लोक-१८.१३,१४)।

इन पांच में से केवल एक कारक अहंकार है जो कर्ता भाव पैदा करके जीवात्मा को बांध देता है और उसके आध्यात्मिक पथ को अवरूद्ध कर देता है (श्लोक-१८.१४) अहंकार रूप यह एक कारक अति सूक्ष्म और व्यापक होने से इस पर नियंत्रण पाना काफी कठिन होता है विशेषकर उन कर्म-सन्यासी साधकों के लिए जिनका लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होता है। इन साधकों के लिए अहंकार तत्व के क्षेत्र स्थलों की बहुत विस्तृत विवेचना (श्लोक-१८.२० से ३९ में) की गई है ताकि उस पर सतत ध्यान देकर उससे मुक्त होने का उपाय किया जा सके। फिर भी, निर्गुण ब्रह्म में विलीन होने का लक्ष्य रखने वाले इन साधकों के लिए एक अंतिम कठिनाई इस रूप में शेष रह जाती है कि सतत ध्यान देने वाली सत्ता का अस्तित्व तो शेष रह ही जाता है जिसके विलय की साधना श्लोक-४९ से ५५ में बताई गई है जो भाव / ध्यान आदि के सतत अभ्यास द्वारा कतिपय विरले व्यक्ति को ही अत्यंत कठिनाई से वह सिद्धि प्राप्त होती है। सृष्टि विकास के नैसर्गिक नियम के विपरीत दिशा वाले उक्त दुर्गम लक्ष्य के स्थान पर भगवान ने अनन्य भक्ति का साधना पथ निर्देशित किया है जिसके अंतर्गत साधक स्वयं के लिए कुछ भी नहीं चाहता, यहाँ तक कि वह जन्म-मरण से मुक्ति की भी कामना नहीं रखता, उसका लक्ष्य तो स्वयं को परमात्म सत्ता का सच्चा सेवक बना देना होता है। अनन्य भक्ति के इस लक्ष्य को ही श्लोक-४१ से ४८ में वर्णित करते हुए श्लोक-४६ में सार यह कहकर व्यक्त किया है कि वह साधक अपने 'स्वभाव' (अर्थात् जीवात्मा को पूर्व-जन्मों की यात्रा के फलस्वरूप प्राप्त हुई चेतना की स्थिति विशेष, दृष्टव्य: श्लोक-१८.४७ पर टिप्पणी) अनुरूप कर्मों द्वारा उस परमात्मा की पूजा करता है जिससे यह संपूर्ण प्राणी जगत उत्पन्न हुआ है और जो उस जगत में अभिव्यक्त भी हो रहा है।

इस प्रकार, कर्ममार्ग से आध्यात्मिक जीवन यात्रा की पूर्ण सिद्धि का मार्ग बताकर अब आगे श्लोक-६७ से ७२ में भगवान यह वर्णन कर रहे हैं कि उक्त मार्ग किस धरना वाले व्यक्ति के लिए उपयोगी होता है अतः किसको इसे सुनाना उपयुक्त होगा और किसे इसे सुनाना उपयुक्त नहीं होगा-

इदं ते नातपस्काय , नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं , न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

इदम् ते न अतपस्काय , न अभक्ताय कदाचन । न च अशुश्रूषवे वाच्यम् न च , माम् यः अभ्यसूयति ॥

ते इदम् न अतपस्काय- तुझे यह (गीता उपदेश) कभी न तो तप रहित मनुष्य से, **न अभक्ताय-** न भक्तिरहित से, **च न अशुश्रूषवे-** और ना ही सुनने की अनिच्छा वाले से,**च माम् अभ्यसूयति -** तथा मुझमें दोष दृष्टि रखने वाले से (भी) **कदाचन न वाच्यम्-** नहीं कहना चाहिए ।

य इदं परमं गुह्यं , मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा , मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

यः इदम् परमम् गुह्यम् , मत्-भक्तेषु अभिधास्यति । भक्तिम् मयि पराम् कृत्वा , माम् एव एष्यति असंशयः ॥

यः मयि पराम् भक्तिम् कृत्वा - जो पुरुष मुझ में परम प्रेम करके **मत्-भक्तेषु इदम् परमम् गुह्यम् अभिधास्यति-** मेरे भक्तों को इस परम् गुह्य ज्ञान के संकेतित अर्थ को समझायेगा, **(सः) माम् एव एष्यति असंशयः -** (वह) मुझ को ही प्राप्त होगा इसमें कोई संदेह नहीं है।

अभिधा : शब्द की तीन शक्तियां- शब्दार्थ, संकेतन और बोध- में से एक वह जो सांकेतिक अर्थ को व्यक्त करती है।

न च तस्मान्मनुष्येषु , कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मात् , अन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

न च तस्मात् मनुष्येषु , कश्चित् मे प्रिय-कृत्तमः । भविता न च मे तस्मात् , अन्यः प्रियतरः भुवि ॥

मनुष्येषु कश्चित् तस्मात् में प्रिय-कृत्तमः च न - मनुष्यों में कोई भी उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला नहीं है, **च भुवि तस्मात् मे प्रियतरः अन्यः भविता न -** तथा संसार में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं।

अध्येष्यते च य इमं , धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः , स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अध्येष्यते च यः इमम् , धर्म्यम् संवादम् आवयोः । ज्ञान-यज्ञेन तेन अहम् इष्टः , स्याम् इति मे मतिः ॥

यः इमम् आवयोः धर्म्यम् संवादम् अध्येष्यते- जो व्यक्ति इस हम दोनों के धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, **तेन च अहम् ज्ञान-यज्ञेन इष्टः स्याम् -** उसके द्वारा भी मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा, **इति मे मतिः -** ऐसा मेरा मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च , शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् , प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धावान् अनसूयः च , शृणुयात् अपि यः नरः । सः अपि मुक्तः शुभान् लोकान् , प्राप्नुयात् पुण्य-कर्मणाम् ॥

च यः श्रद्धावान् नरः अनसूयः शृणुयात् अपि - और जो श्रद्धा युक्त मनुष्य दोष दृष्टि से रहित होकर (इस मेरे उपदेश का) श्रवण भी करेगा **सःअपि मुक्तः पुण्य-कर्मणाम् शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् -** वह भी (पापों से) मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ , त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः , प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

कच्चित् एतत् श्रुतम् पार्थ , त्वया एकाग्रेण चेतसा । कच्चित् अज्ञान-सम्मोहः , प्रनष्टः ते धनञ्जय ॥

पार्थ- हे अर्जुन ! **कच्चित् एतत् त्वया एकाग्रेण चेतसा श्रुतम्-** क्या इस (उपदेश) को तूने एकाग्र चित्त से श्रवण किया? **धनञ्जय-** हे धनञ्जय ! **कच्चित् ते अज्ञान-सम्मोहः प्रनष्टः-** क्या तेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हुआ?

श्लोक-७० में भगवान ने कहा है कि उनके उपदेश का जो अध्ययन करेगा तो वह ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरी पूजा कर रहा होगा। इन शब्दों का भाव यह है कि अध्ययन अर्थात् चिंतन-मनन और आचरण का फल यह होगा कि वह व्यक्ति भी श्री कृष्ण की ज्ञान वाली स्थिति को प्राप्त हो जाएगा।

उक्त कथन के बाद अर्जुन की तात्कालिक स्थिति को लक्ष्य करके भगवान ने श्लोक-७१,७२ कहे हैं जिनका भाव यह है कि हे अर्जुन! क्योंकि अभी तुझे मेरे वचनों पर भली-भांति चिंतन-मनन करने का अवसर तो प्राप्त नहीं है, फिर भी यदि तूने उन्हें श्रद्धा पूर्वक मेरे वचनों को एकाग्र चित्त से सुना है तो इतना परिणाम तो अवश्य होना चाहिए कि अब तू युद्ध न करने के उस 'दुराग्रह से मुक्त' होकर अपना कर्तव्य कर्म करते हुए श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करने को तत्पर हुआ क्या?

श्रद्धा युक्त : यहाँ श्लोक-७१ में प्रयुक्त श्रद्धा शब्द का सामान्य अर्थ ही अपेक्षित है- वचनों को सत्य मानकर उनकी सत्यता में विश्वास होना। (अध्याय-१७ का विशेष अर्थ निश्चय रूप में ग्रहण किए हुए (त्रिगुणात्मक) विचार यहाँ अपेक्षित नहीं है)।

पुण्यकर्मणाम् शुभान् लोकान् : इन शब्दों का भाव है कि हे अर्जुन! तू क्षत्रिय स्वभाव वाला है अतः तेरे लिए उत्तम कर्म है धर्म की स्थापना हेतु युद्ध करना। इस कर्तव्य कर्म को करने पर तुझे यहाँ इस जन्म में अथवा पुनर्जन्म होने पर श्रेष्ठ लोक- अर्थात् अनुभव की स्थितियें- प्राप्त होगी, जो तेरी आध्यात्मिक यात्रा को आगे बढ़ाएंगी।

अर्जुन से भगवान द्वारा पूछे गए दोनों प्रश्नों के उत्तर में अर्जुन के भी सीधे सरल उत्तर-

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा , त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः , करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

नष्टः मोहः स्मृतिः लब्धा , त्वत् प्रसादात् मया अच्युत । स्थितः अस्मि गत-सन्देहः , करिष्ये वचनम् तव ॥

अच्युत- हे स्थिर मति श्रीकृष्ण ! **त्वत् प्रसादात् (मम) मोहः नष्टः मया स्मृतिः लब्धा-** आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, **गत-सन्देहः स्थितः अस्मि-** (मैं)संशय रहित होकर स्थित हूँ, **तव वचनम् करिष्ये -** आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

अर्जुन के उत्तर में 'मोह नष्ट होने और स्मृति प्राप्त होने' संबंधी जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनकी अधिकांश टीकाकारों ने जो व्याख्याऐं की हैं वे यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होतीं। उदाहरणार्थ शांकर भाष्य का अनुसरण करते हुए डॉ. राधाकृष्णन ने भी स्मृति लब्धा को 'आत्म स्मृति लाभ' मान लिया है और अखंडानंद सरस्वती महाराज ने 'योग दर्शन' के प्रमाण से इसका आधार आत्म-अनुभूति माना है किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्जुन यदि आत्म-स्मृति होने की बात कह रहा था तो आगे जब वह अभिमन्यु वध से पगला-सा गया था तो क्या आध्यात्मिक अनुभूति का दीप भी मानसिक आवेग की आंधी में बुझ गया था? इसी प्रकार, विनोबा ने ओंकार की तीन मात्राओं (अ,उ,म) को क्रमशः मोह नाश, स्मृति लाभ, स्थितप्रज्ञता की तथा साढ़े-तीन मात्राओं की उपमा बैठाने के लिए ईश्वरशरणता को 'गुप्त' अर्ध मात्रा होने की कल्पना की है। किंतु तिलक ने इन सब व्याख्याओं को 'निराधार खींचतान' माना है। हम तिलक महोदय के मत से न केवल सहमत हैं बल्कि उपरोक्त अभिमन्यु-वध की घटना से अर्जुन के मानसिक अवसाद में जाने की घटना को इस बात का प्रमाण मानते हैं कि अर्जुन को केवल कर्तव्य बोध हुआ था, मात्र उपदेश सुनकर आत्मज्ञान जैसी कुछ भी प्राप्ति न तो उसे हुई थी और न ही किसी को भी हो सकती है, जैसा कि स्वयं भगवान के (श्लोक-७० से ७२) में कहे गए शब्दों से स्पष्ट है।

सारांश रूप में अर्जुन के 'मोह और स्मृति' शब्दों का तात्पर्य हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं-

मोह : अर्जुन को मोह था उसका वह अनिर्णित सोच कि युद्ध में उन पूज्यजनों को मार डालना उचित कार्य होगा अथवा अनुचित कार्य होगा जो किन्ही व्यक्तिगत कारणों से अन्यायी दुर्योधन के पक्ष में खड़े हो गए थे।

स्मृति : कर्तव्य की समझ।

यहाँ कृष्णार्जुन संवाद समाप्त होता है। अब गीता के अंतिम पांच श्लोकों में संजय के उद्गार हैं जो यह संदेश देते हैं कि एक शुद्ध हृदय श्रोता भी उक्त गीतोक्त संवाद को सुनकर अपने जीवन को निश्चित ही, संजय के समान, आध्यात्मिक ज्ञान से आलोकित कर सकता है-

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य , पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषम् , अमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इति अहम् वासुदेवस्य , पार्थस्य च महात्मनः । संवादम् इमम् अश्रौषम् , अद्भुतम् रोम-हर्षणम् ॥

इति अहम् वासुदेवस्य च पार्थस्य महात्मनः - इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव और अर्जुन इन दोनों महापुरुषों का **इमम् अद्भुतम् रोम-हर्षणम् संवादम् अश्रौषम् -** यह अद्भुत रोमांच कारक संवाद सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् , एतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् , साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यास-प्रसादात् श्रुतवान् , एतत् गुह्यम् अहम् परम् । योगम् योगेश्वरात् कृष्णात् , साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥

व्यास-प्रसादात् अहम् एतत् परम् गुह्यम् योगम् - व्यास भगवान की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम् गहन योग को **कथयतः स्वयम् योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् श्रुतवान् -** (अर्जुन के प्रति) कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण से प्रत्यक्ष सुना है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य , संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं , हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य , संवादम् इमम् अद्भुतम् । केशव-अर्जुनयोः पुण्यम् , हृष्यामि च मुहुः मुहुः ॥

राजन्- हे राजा धृतराष्ट्र ! **केशव-अर्जुनयोः इमम् पुण्यम् च अद्भुतम् संवादम् -** भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के इस कल्याण कारक और अद्भुत संवाद को **संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुः मुहुः हृष्यामि -** पुनः पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य , रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् , हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

तत् च संस्मृत्य संस्मृत्य , रूपम् अति-अद्भुतम् हरेः । विस्मयः मे महान् राजन् , हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

राजन्- हे राजन ! **हरेः तत् अति-अद्भुतम् रूपम् च -** श्रीहरि के उस अति अद्भुत (विश्व) रूप को भी **संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः-** पुनः पुनः स्मरण करके मुझे महान आश्चर्य होता है **च (अहं) पुनः पुनः हृष्यामि -** तथा में बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

उपरोक्त चार श्लोकों में संजय ने उन भावों को व्यक्त किया है जो उसने श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद को सुनकर और भगवान द्वारा दिखाए गए विश्व रूप को देखकर अनुभव किए थे और जिन्हें बार-बार स्मरण कर वह पुनः-पुनः आनंद-विभोर हो रहा है। उक्त दृश्य-श्रव्य अनुभूति (audio-visual experience) के पूर्व वह श्रीकृष्ण को संभवतः एक बुद्धि-ज्ञान से संपन्न व्यक्ति के रूप में ही जानता था, किंतु अब उनके ईश्वर रूप को देख समझकर वह महान आश्चर्य से भरकर आनंद विभोर हो रहा है।

इस अनुभूति के साथ ही अब उसमें एक आध्यात्मिक समझ भी उत्पन्न होती है और वह श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के आध्यात्मिक स्वरूप के भाव को भी स्पष्ट अनुभव करता है जिससे वह गीता के इस अंतिम श्लोक (क्रमांक-७८) में इस प्रकार अभिव्यक्त करता है-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो , यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिः , ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णः , यत्र पार्थः धनुर्धरः । तत्र श्रीः विजयः भूतिः , ध्रुवा नीतिः मतिः मम ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थः- जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण है (और) जहाँ धनुषधारी अर्जुन है, **तत्र श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिः -** वहीं श्री, विजय, विभूति (और) अचल नीति है, **(इति) मम मतिः -** ऐसा मेरा मत है ।

संजय के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वह श्री कृष्ण के और अर्जुन के भी सामान्य मानवीय व्यक्तित्वों की बात नहीं वरन् उनके आध्यात्मिक स्वरूपों की बात कर रहा है। उसने श्रीकृष्ण के विश्वरूप को प्रत्यक्ष देखा था और उससे पूर्व स्वयं उनसे ही उनकी विभूतियों को सुना था, तथा यह सब कुछ देख-सुनकर ही वह समझ गया था कि श्रीकृष्ण जिन्हें वह एक व्यक्ति समझ रहा था उन्होंने अब एक दिव्य आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर ली थी। साथ ही, श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उस दिव्य ज्ञान और कर्म के योग्य पात्र चुने जाने के तथ्य के परिप्रेक्ष्य में अब अर्जुन को भी श्रीकृष्ण कृपा का योग्य अधिकारी होने का उसे बोध हो गया था और इन्हीं तथ्यों को वह इस श्लोक के द्वारा शब्दों में व्यक्त कर रहा है।

प्रकृति-पुरुष संबंधी जो ज्ञान संजय ने भी श्रीकृष्ण से सुना था उसके परिप्रेक्ष्य में उसे यह बोध हो गया था कि श्रीकृष्ण ज्ञान शक्ति के मूर्तरूप हैं तथा अर्जुन प्रकृति की उस क्रिया शक्ति को निरूपित कर रहा था जिसे भगवान अपनी ज्ञान शक्ति देकर उससे जगत में अपने धर्म स्थापन कार्य करवाना चाह रहे थे। इसे ही व्यक्त करने के लिए वह श्रीकृष्ण के लिए योगेश्वर (अर्थात् एकत्व स्थापित करने वाली शक्ति) और अर्जुन

के लिए धनुर्धर विशेषणों का प्रयोग कर रहा है। जहाँ यह दोनों तत्व क्रियाशील हो वहाँ क्या उपलब्धियां होंगी इसका वर्णन उसने श्लोक की दूसरी पंक्ति में चार शब्दों- श्री, विजय, भूति और ध्रुवा नीति से व्यक्त किया है।

उपरोक्त चार शब्दों की व्याख्या टीकाकारों ने अपनी-अपनी समझ अनुसार विभिन्न प्रकार से की है तथा उन व्याख्याओं का आधार गीता से पुष्ट न होने के कारण उनमें से उपयुक्त का चुनाव करना भी कठिन है। सौभाग्य से इन चारों शब्दों का प्रयोग स्वयं भगवान ने अध्याय-१० में अपनी कुछ विभूतियों का वर्णन करते हुए किया है। अतः उनसे हमें इन्हें समझने में उचित आधार प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः कृष्णार्जुन संवाद में जिस बात से संजय सर्वाधिक भाव-विभोर हुआ था वह भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अध्याय-१० में वर्णित उनकी विभूतियों को सुनकर और अध्याय-११ में दिखाए गए उनके विश्वरूप को देखकर हुआ था क्योंकि उसे नई आध्यात्मिक दृष्टि इन्हीं बातों से प्राप्त हुई थी और उसका वर्णन ही वह यहाँ कर रहा है। अध्याय-१० के श्लोक-३४ में 'श्री', श्लोक-१०.३६ में 'विजय', श्लोक-१०.३८ में 'नीति' तथा श्लोक-१०.३९ में सब भूत (प्राणियों) की सत्ता को भगवान ने अपनी विशेष अभिव्यक्तियों के रूप में वर्णित किया था। संजय भी, हमारा मत है, यहाँ उन्हीं विभूतियों का कथन सार रूप में कर रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में इन्हें समझने का प्रयास हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं-

श्री : श्लोक-१०.३४ में 'श्री' को कीर्ति, वाक, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा के साथ ७ विभूतियों में से एक वर्णित की गई है। निष्कर्ष यह निकलता है कि 'श्री' भी व्यक्ति के मन की एक प्रवृत्ति है। शब्दकोश में दिए गए विभिन्न अर्थों में से एक सार रूप व्याख्या इस रूप में दी गई है कि मानव जीवन के मूलभूत चार उद्देश्यों- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से प्रथम तीन अर्थात् धर्म, अर्थ, काम की समष्टि का नाम 'श्री' है। वस्तुतः धन-दौलत, सौंदर्य आदि अन्य सभी भाव भी इसी परिभाषा में समाहित हो जाते हैं। अतः सांसारिक जीवन सुख-समृद्धि से युक्त हो, इस हेतु किए जाने वाले मनुष्य के पुरुषार्थ को 'श्री' नाम से संबोधित किया गया है। यह मानना उपयुक्त होगा।

विजय : श्लोक-१०.३६ में भगवान ने कहा था- 'जयो अस्मि,व्यवसायों अस्मि,सत्त्वं सत्त्वताम् अहम् अर्थात् सात्त्विक पुरुषों का सात्विक निश्चय मैं हूँ और तदनुरूप पुरुषार्थ से प्राप्त विजय मैं हूँ'।

सारांश यह कि अर्जुन रूप सात्विक स्थिति के व्यक्ति के 'श्री' और 'विजय'- ये दोनों उसके स्वाभाविक गुण हैं।

ध्रुवा नीति : श्लोक-१०.३८ में भगवान ने कहा 'नीतिः अस्मि जिगीषताम्'। जिगीषा का अर्थ है- जीतने या दमन करने की इच्छा, प्रकृति को वश में करने की प्रेरक शक्ति। नीति का सामान्य अर्थ है- दिग्दर्शन, आचरण या धर्म। यहाँ जिसे 'ध्रुवा नीति' कहा है श्लोक-१४.२७ में उसे ही 'शाश्वत धर्म' कहकर श्लोक-१५.१२ से १५ में विस्तार से वर्णित किया है। तात्पर्य है कि यह पुरुष तत्व का एक सार्वभौमिक गुण है जो प्रकृति की विध्वंसकारी (ऋणात्मक) शक्तियों को नियंत्रित करके विकास की ओर प्रेरित करता है। यह परमात्म तत्व का प्रभावी समष्टिगत गुण हैं।

भूति : श्लोक-१०.३९ में चराचर भूतों (प्राणियों) के बीज को अर्थात् उत्पत्ति की शाश्वत शक्ति रूप जीवन को भगवान ने अपनी विभूति बताया था। यहाँ संजय भी श्रीकृष्ण को संपूर्ण प्राणी जगत की जीवनी शक्ति का स्रोत बता रहे हैं।

वस्तुतः 'ध्रुवा नीति' और 'भूति'- यह दोनों परमात्म शक्ति की समष्टिगत अभिव्यक्तियां हैं।

उपरोक्त चारों विभूतियों द्वारा निरूपित शक्तियों में से दो 'श्री' और 'विजय' परमात्मा ने मनुष्य को उपलब्ध कराई हैं, और शेष दो 'ध्रुवा नीति' और 'भूति' उन्होंने समष्टि विकास के लिए अपने पास रखी हैं, इसी तथ्य को संजय ने इस श्लोक में व्यक्त किया है। इसी तथ्य को महाभारत में शिशुपाल के जन्म की गाथा में इस रूप में चित्रित किया गया है कि श्रीकृष्ण की मौसी श्रुतश्रवा ने जब एक बालक को जन्म दिया तो उसके चार हाथ और तीन नेत्र थे और वह भयंकर राक्षसी आवाज कर रहा था किंतु जब श्रीकृष्ण ने उसे गोद में लिया तो उसके अतिरिक्त दोनों हाथ और एक नेत्र विलीन होकर वह सामान्य शिशु बन गया। संपूर्ण कथा में यह चित्रित किया गया है कि मनुष्य का अहम् भी जब विकृत होकर अपने को ही 'चतुर्भुज परमात्मा' मान लेता है तो वह शिशुपाल की तरह राक्षसी बोली बोलने लगता है और इस वृत्ति का शमन परमात्मा करते हैं (द्रष्टव्य: हमारा लेख- 'महाभारत में श्री कृष्ण', 'ब्रह्मात्म शक्ति'- मासिक पत्रिका-मई २००४)

संजय द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो आध्यात्मिक निरूपण किया गया था उसकी व्याख्या के बाद अब हम गीता के अन्य वर्णनों से इन पात्रों के आध्यात्मिक स्वरूपों को पहचानने का प्रयास करना चाहेंगे। रथारूढ़ वाले चित्रांकन (द्रष्टव्य: श्लोक-१.१४

पर हमारी टिप्पणी) तथा श्लोक-१८.६१ में ईश्वर (महेश्वर) द्वारा जीवात्मा की जीवन यात्रा का संचालन किए जाने के वर्णन से यह बात पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है कि गीता में अर्जुन को जीवात्मा तथा श्रीकृष्ण को जीवात्मा के सखा रूप महेश्वर सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है।

इस लेखक द्वारा पुस्तकें

गीता में प्रकृति-पुरुष : एक विज्ञान पोषित विवेचना

जीवन के साथ कुछ न कुछ समस्याएं, सामान्यतः हर स्तर पर जुड़ी दिखाई देती हैं और इन समस्याओं को हल करने के प्रयास में ही जीव का विकास निहित होता है। मनुष्य का जीवन भी इसी प्रक्रिया से विकसित होता है। इस स्तर पर मुख्य समस्या है दु:खों से मुक्ति की। रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था होने के बाद मानसिक क्षेत्र की समस्याएं खड़ी हो जाती हैं, जिनसे पार पाने के प्रयास में ही मनुष्य अपने और समष्टि जीवन के ताने-बाने को समझने का प्रयास करता रहा है। उपनिषदों और गीता में भी इसी परिप्रेक्ष्य में जीवन की उत्पत्ति के आधारभूत दो तत्वों प्रकृति और पुरुष - की विवेचना काफी विस्तार से की गई है, किन्तु यह विवेचना एक विशिष्ट शैली में की गई है। यह शैली ऐसी है जो व्यक्ति के चिंतन को प्रेरित करके उस ज्ञान को जीवन का अंग बनाने में सहायक हो सके।

महाभारत के पात्रों का आध्यात्मिक प्रतीकात्मक स्वरुप

"महाभारत' को पांचवां वेद माना गया है और ग्रंथ की भूमिका में इसे चारों वेदों से भी अधिक गरिमावान घोषित {किया गया है (1.1.272)। ऋषियों ने इसे पुराण और इतिहास दोनों कहा है। (1.1.17,19) {किन्तु कथा के लगभग सभी प्रमुख पात्रों की उत्पत्ति दैविक अथवा परामानवीय बतलाई गई है जिससे इंगित होता है कि कथा को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान {किया गया है। वस्तुत: हमारे प्राचीन वैदिक और पौराणिक साहित्य में मनुष्य के जीवन को ऊँचा उठाने के लिये , उसे आत्मनिष्ठ / सर्वनिष्ठ बनाने के लिए, कथाओं का स्वरूप इसी प्रकार का रचा गया है। इस हेतु ऋषियों ने कथाओं में पात्रों और घटनाओं को इतिहास, भूगोल, खगोल, अर्थशास्त्र,

आयुविज्ञान, मनोविज्ञान आदि विभिन्न क्षेत्रों से लेकर उनका रूपान्तरण इस दृष्टि से किया है कि कथा पाठक को आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ाने में सहायक हो।

महाभारत के श्रीकृष्ण

भारत के प्राचीन साहित्य में श्रीकृष्ण को कहीं ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में, कहीं लीला पुरुष के रूप में तो, कहीं भगवत् सत्ता के अवतार रूप में वर्णित किया गया है। इसके मूल में भारतीय मनीषियों की यह आधारभूत दृष्टि रही है कि जगत की उत्पत्ति, संचालन और संहार की चक्रीय गतिविधियों के कारण रूप में जो मूल सत्ता है उसकी पहचान हम अपने व्यक्तित्व के तीन स्तरों- शरीर, मनस (मन-बुद्धि) और आत्मा अर्थात् आधिभौतिक, आधिमानसिक तथा आध्यात्मिक स्तरों पर कर सकते हैं, और इस कारण से ही अवतारी महापुरुषों के उक्त तीन रूपों का वर्णन हम संबंधित ग्रंथों में पाते हैं।

कृष्ण कथा संबंधित यहां प्रस्तुत हमारे इन लेखों में उक्त तीनों रूपों की झलक पाठक को देखने को मिलेगी जिससे उस मूल सत्ता के वास्तविक स्वरूप का कुछ आभास पाठक को मिल सकेगा ऐसी हमारी धारणा है।